श्री:

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत---

बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड

"बुद्धियोगमुपाश्रित्य–मच्चित्तः सततं भव" ।

—गीता १८।५७।



मोतीलालशर्म्मोपाह्वो मुक्तरक्तशर्म्मा

आङ्गिरसो भारद्वाजः

वेदवीथीपथिकः

जयपत्तनाभिजनः

श्रीः

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान–मानवाश्रम के

प्रधान–संरक्षक

महामहिम राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महाभाग

के

समर्थ करकमलों में

संस्थान की ओर से सम्मान पूर्वक

समर्पित

महामहिम राष्ट्रपति महाभाग !

अपनी सहजसिद्धा संस्कृतिनिष्ठा के सहज आकर्षण से 'राजस्थानवैदिक-तत्त्वशोधसंस्थान' के 'प्रधानसंरक्षक' बन जाने की जिस अनुमति से संस्थान को आपने अनुगृहीत किया है, तत्कृतज्ञता–ज्ञापनार्थ ही 'बुद्धियोगपरीक्षा' (पूर्वखण्ड) नामक प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीमान् के समर्थ करकमलों में अत्यन्त सम्मान, तथा विनयपूर्वक समर्पित किया जारहा है ।

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान
मानवाश्रम–दुर्गापुरा (जयपुर)
माघशुक्ल-वसन्तपञ्चमी
वि० सं० २०१३

आत्यन्तिकरूप से विनम्र—
मोतीलालशर्म्मा
आङ्गिरसो भारद्वाजः
(अध्यक्षः)



गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक–तृतीय खण्ड का

'बुद्धियोगपरीक्षा' ('ग' विभागात्मक)

पूर्वखण्ड

"बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव"

निबन्धा—
मोतीलालशर्म्मा–वेदवीथीपथिकः–
आङ्गिरसो भारद्वाजः
जयपत्तनाभिजनः

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के द्वारा
प्रकाशित

एवं—श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम दुर्गापुरा–जयपुर के द्वारा
मुद्रित



प्रथमवार ५०० प्रति

मूल्य २०)

श्रीः

बुद्धियोगसंस्मरणम्—

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु ॥
"बुद्धि" तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च ॥१॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ॥
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥२॥ (कठोपनिषत् १।३।३,६)।
यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधियो रुद्रो महर्षिः ॥
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो 'बुद्ध्या' शुभया संयुनक्तु ॥३॥ (श्वे० ३।४।)।
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ! ॥
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४॥ (गीता २।४।१।)।
दूरेण ह्यवरं कर्म्म 'बुद्धियोगाद्' धनञ्जय ! ॥
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥५॥ (गीता २।४।६।)।
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ॥
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥६॥ (गीता २।५।२।)।
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ॥
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥७॥ (गीता २।३।५।)।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ॥
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥८॥ (गीता २।६५।)।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥
ददामि 'बुद्धियोगं' तं येन मामुपयान्ति ते ॥९॥ (गीता १०।१०।)
'बुद्धियुक्तो' जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ॥
तस्माद्योगाय युज्यस्व, योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥१०॥ (गीता २।५०।)।
चेतसा सर्वकर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ॥
'बुद्धियोग' मुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ॥११॥ (गीता १८।५७।)।



श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-बुद्धियोगपरीक्षा
पूर्वखण्ड की
प्रस्तावना, परिलेख तथा विषयसूची

—•—

म

त

अ

ना

सम

रा

श्री:

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–'सर्वान्तरतमपरीक्षा' त्मक–'बुद्धियोगपरीक्षा' (पूर्वखण्ड ग विभाग)

के सम्बन्ध में

किमपि प्रास्ताविकम्—

'श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषत्' नामक गीताशास्त्र भारतीय ज्ञान–विज्ञानकोश का एक वैसा अमूल्य भण्डार है, जिसे हम प्राजापत्यशास्त्र (वेदशास्त्र) के ज्ञानविज्ञानात्मक पारिभाषिक रहस्यपूर्ण विषयों का 'सूचीग्रन्थ' कह सकते हैं। वेदशास्त्र की तात्त्विक परिभाषाएँ ब्रह्म, तथा यज्ञ भेद से दो स्वतन्त्र धाराओं में प्रवाहित हैं। ब्रह्मतत्त्व' का विश्लेषण करनें वालीं परिभाषाएँ ज्ञानप्रधाना हैं, एवं 'यज्ञतत्त्व' का विश्लेषण करनें वालीं परिभाषाएँ विज्ञानप्रधाना हैं। 'ज्ञान' का ब्रह्म से सम्बन्ध है, एवं विज्ञान का यज्ञ से सम्बन्ध है। एकत्त्वनिबन्धन ज्ञानैकघन ब्रह्म ही नानात्त्वनिबन्धन विज्ञानैकघन यज्ञ की प्रतिष्ठा माना गया है, जैसाकि–**'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'** (शत ब्रा० ६। १। १। ८।) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। अनन्त–असंख्य-भावात्मक यह सम्पूर्ण चराचर विश्व ही **'विविधं ज्ञानं विज्ञानम्'** लक्षण के अनुसार विज्ञान का मूर्त्त स्वरूप है, यही ईश्वरीय प्राकृतिक नित्य यज्ञ की स्वरूप–व्याख्या है। निश्चयेन नानाभावापन्न विज्ञानात्मक यज्ञस्वरूप इस विश्व का इसप्रकार अनेकरूप से उस ज्ञानैकघन एक ब्रह्म के आधार पर ही वितान हुआ है। यह सम्पूर्ण यज्ञवैभव उस एक ही ब्रह्म का मूर्त्त वैभव है, जिस वैभव का ऋषि ने यों यशोगान किया है—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्य्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥

—ऋक्संहिता ८। ५८। २।

इसी दृष्टिकोण के आधार पर वेदविद्या को **ब्रह्मविद्या, यज्ञविद्या,** भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, किया गया है। मूलविद्या ब्रह्मविद्या है, तूलविद्या यज्ञविद्या है। केन्द्रविद्या मूलविद्या है, पृष्ठविद्या तूलविद्या है। ज्ञानप्रधाना एकत्त्वनिबन्धना हृद्या ब्रह्मविद्या ही 'मन्त्रविद्या' है, एवं विज्ञानप्रधाना नानात्त्वनिबन्धना पृष्ठ्या यज्ञविद्या ही 'ब्राह्मणविद्या' है।

मन्त्रविद्यात्मक वेदभाग ही मूलवेद है, सूत्रवेद है। एवं ब्राह्मणविद्यात्मक वेदभाग ही तूलवेद है, व्याख्यावेद है। ब्रह्म की व्याख्या ही ब्राह्मण है। और यों –'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यादि आर्ष-आप्त-सिद्धान्तानुसार मन्त्रब्राह्मणात्मक, किंवा ब्रह्मब्राह्मणात्मक, किंवा ज्ञानविज्ञानात्मक वेदशास्त्र ही भारतीय 'विद्याशास्त्र' का संक्षिप्त स्वरूप-परिचय बन रहा है। महाविद्यात्मिका ब्रह्म-विद्या के आधार पर प्रतिष्ठिता, दूसरे शब्दों में एकत्त्वभावनिबन्धना ज्ञानविद्या के आधार पर प्रतिष्ठिता खण्ड-खण्डात्मिका यज्ञविद्या, किंवा नानात्त्वनिबन्धना विज्ञानविद्या ही सम्पूर्ण विद्याओं का फलितार्थ है। दोनों के अतिरिक्त विद्या की और कोई स्वरूप-व्याख्या शेष नहीं रह जाती। दोनों के परिज्ञानानन्तर अन्य कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता। यही वेदशास्त्र की परिपूर्णता है, जिसका सर्वात्मना एकमात्र गीताशास्त्र ही प्रातिनिध्य कर रहा है, जैसा कि इसके निम्न लिखित प्रतिज्ञासूत्र से प्रतिध्वनित है—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

—गीता ६।२।

*धर्म्म–ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य्य–यशः–श्री, इन ६ प्रकार की 'भग-सम्पत्तियों' से सर्वात्मना समन्वित, अतएव 'भगवान्' ÷ नाम से प्रसिद्ध पूर्णेश्वर पूर्णावतार वासुदेव श्रीकृष्ण के मुखपङ्कज से गीयमान–विशदीकृत-ब्रह्मयज्ञात्मक ज्ञानविज्ञान हीं गीताशास्त्र का स्वरूप-निष्कर्ष है। ज्ञानप्रधाना ब्रह्मविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित विज्ञानप्रधाना योगविद्या ही सम्पूर्ण गीताशास्त्र की स्वरूप-व्याख्या है, जैसा कि गीताध्यायों के ''इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां–योगशास्त्रे०' इत्यादि उपसंहारवाक्य से स्पष्ट प्रमाणित है।

विज्ञानात्मक विश्व ही 'योग' का स्वरूप-परिचय है, जो कि यह विश्वात्मक योग पूर्वकथनानुसार ब्रह्म पर ही प्रतिष्ठित है। हृदयस्थ यह ब्रह्मतत्त्व अपने विभूतिभाव से क्रमशः–

---

*ऐश्वर्य्यस्य च समग्रस्य, धर्म्मस्य, यशसः, श्रियः ।
ज्ञान–वैराग्ययोश्चैव षण्णां 'भग' इतीरिणा ॥

÷उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ॥

अव्ययब्रह्म, अक्षरब्रह्म, आत्मक्षरब्रह्म, विश्वसृड्ब्रह्म, भेद से चार महिमाभावों में परिणत हो रहा है। इसी आधार पर–'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' (श्रुतिः) मूलक चतुष्पाद्ब्रह्म के स्वरूप का उपबृंहण हुआ है वेदशास्त्र में। 'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः, पादोऽस्येहाभवत्पुनः, (यजुः) के अनुसार अपने अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, रूप तीन पादों से असंस्पृष्ट रहता हुआ ब्रह्म चौथे विश्वसृट् नामक पाद से ही विज्ञानयोगात्मक विश्व का उपादान बना करता है। विश्व को स्वमहि-मा से उत्पन्न कर चतुष्पाद्ब्रह्म 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार विश्वगर्भ में प्रविष्ट हो जाता है। प्रतिष्ठारूप से, अव्ययदृष्टि से वही ब्रह्म 'विश्वाधार' है, अक्षरदृष्टि से वही 'विश्वकर्त्ता' है, आत्मक्षरदृष्टि से वही 'विश्वस्रष्टा' है, एवं विश्वसृट् दृष्टि से वही 'विश्वमूर्त्ति' है। ऐसे इस ब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित विज्ञाननिबन्धन विश्वयोग का निरूपण करना हीं गीता का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। यही 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' का फलितार्थ है।

'योग' के आधारभूत ब्रह्म के तथाकथित चार विवर्त्तों के कारण 'योग' भी चतुर्द्धा विभक्त हो रहा है। अव्ययब्रह्म से समन्वित वही योग 'वैराग्ययोग' कहलाया है। अक्षरब्रह्म से समन्वित वही योग 'ज्ञानयोग' माना गया है। आत्मक्षरब्रह्म से समन्वित वही योग 'ऐश्वर्य्ययोग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। एवं विश्वसृड्ब्रह्म से संयुक्त वही योग 'धर्म्मयोग' नाम से व्यवहृत हुआ है। इन चार योगों से समन्विता ब्रह्मविद्या भी चार विद्याओं में परिणत हो रही है। जो चारों विद्याएँ वेदशास्त्र की परिभाषा में जहाँ क्रमशः अव्ययविद्या, अक्षरविद्या, आत्मक्षरविद्या, विश्वसृड्विद्या, इन नामों से उपवर्णित हैं, वहाँ ये ही चारों विद्याएँ गीताशास्त्र की परिभाषा में क्रमशः 'राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या, आर्षविद्या, इन नामों से निरूपित हैं। अव्यय-विद्यात्मिका वैराग्यविद्या ही राजर्षिविद्या है। इस प्रथमा ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित वैराग्ययोग ही गीतापरिभाषा में 'बुद्धियोग' कहलाया है। अक्षरविद्यात्मिका ज्ञानविद्या ही सिद्धविद्या है। इस द्वितीया ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित ज्ञानयोग ही गीतापरिभाषा में 'ज्ञानयोग' है। आत्मक्षरविद्या-त्मिका ऐश्वर्य्यविद्या ही राजविद्या है। इस तृतीया ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित ऐश्वर्य्ययोग ही गीता-परिभाषा में 'भक्तियोग' है। विश्वसृड्विद्यात्मिका धर्म्मविद्या ही आर्षविद्या है। इस चतुर्थी ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित धर्म्मयोग ही गीतापरिभाषा में 'कर्म्मयोग' है। आरम्भ के ६ अध्यायों में (१ से ६ पर्य्यन्त) राजर्षिविद्यानुगत 'बुद्धियोग' का निरूपण हुआ है। तदुत्तर दो अध्यायों में (७–८) सिद्धविद्यानुगत 'ज्ञानयोग' का प्रतिपादन हुआ है। तदुत्तर ४ अध्यायों में (९ से १२

पर्य्यन्त) राजविद्यानुगत **'भक्तियोग'** का उपबृंहण हुआ है। एवं तदुत्तर सर्वान्त के ६ अध्यायों में (१३ से १८ पर्य्यन्त) आर्षविद्यानुगत **'कर्म्मयोग'** का स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। यों **'ब्रह्मविद्यायां'** के फलितार्थरूप—**'अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-विश्वसृड्-ब्रह्मविद्यायां'** को आधार बना कर गीताशास्त्र ने **'योगे'** के फलितार्थरूप **'बुद्धि-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगे'** रूप से चारों योगों का ही निरूपण किया है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१-अव्ययब्रह्म— तद्विद्या वैराग्यविद्या-राजर्षिविद्या वा—	तद्योगः-वैराग्ययोगः— बुद्धियोगो वा।
२-अक्षरब्रह्म——तद्विद्या ज्ञानविद्या—सिद्धविद्या वा—–	तद्योगः-ज्ञानयोगः——ज्ञानयोगो वा।
३-आत्मक्षरब्रह्म- तद्विद्या ऐश्वर्य्यविद्या-राजविद्या वा——	तद्योगः-ऐश्वर्य्ययोगः—भक्तियोगो वा।
४-विश्वसृड्ब्रह्म-तद्विद्या धर्म्मविद्या—आर्षविद्या वा——	तद्योगः-धर्म्मयोगः-—कर्म्मयोगो वा।
सैषा चतुर्विधा ब्रह्मविद्या (४)	सोऽयं चतुर्विधो योगः (४)

सैषा ब्रह्मविद्यानुगता-योगप्रतिपादनपरा श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टादशाध्यायी

स एषः-वैज्ञानिकविषयविभागः

वेदयुगात्मक सत्ययुग में (जिसे कि पुराणशास्त्र ने 'देवयुग' भी कहा है) स्वयं अव्ययेश्वर पुरुषोत्तम भगवान् ने हीं किसी अन्य शरीरविशेषावच्छिन्न योगमायामय मानवस्वरूप से सर्वप्रथम भारतीय सम्राट् विवस्वान् को ही ब्रह्मविद्यात्मक योग का उपदेश दिया था, जो परम्परया राजर्षि-सम्प्रदाय में सम्भवतः त्रेतायुग पर्य्यन्त निरवच्छिन्नरूप से प्रचलित रहा। आगे चल कर (संशयात्मक द्वापरयुग में) यह योगनिष्ठा **कपिल की सांख्यनिष्ठा** से, तथा **हिरण्यगर्भ की कर्म्मनिष्ठा** से अभिभूत होती हुई अपने अव्ययात्मनिबन्धन समत्वभाव से सर्वथैव पराङ्मुख बन गई। इस पराङ्मुखता का प्रधान कारण बना वेदतत्त्ववाद की विस्मृति। यही कारण है कि, द्वापर के अन्त में, तथा कलि के आरम्भ में आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के महाभारतयुग में वेदसंकलनकर्त्ता

भगवान् व्यास को अपने–'सुदुर्लभा वेदविद्वांसः' (महाभारत) ये उद्गार अभिव्यक्त करने पड़े। वैदिक--तत्त्ववाद के अभिभव ने ही तथाकथित बुद्धियोगसिद्धान्त को महाभारतयुग के आते आते तो सर्वथा ही विस्मृत ही करा दिया। फलस्वरूप वेदसिद्ध निष्ठापथ के स्थान में सांख्य-कर्म्म-प्रतिद्वन्द्वितात्मक-धर्म्मविप्लव उपस्थित हो पड़ा तद्युग में, जिसके उपशम के लिए पुनः उसी गीतातत्त्वोपदेष्टा पूर्ण पुरुष को मानुषावतार धारण करना पड़ा। देवयुग में जहाँ गीतायोग के प्रथम शिष्य विवस्वान् बने थे, वहाँ महाभारत--युग में उसी योग के प्रथम शिष्य बने नरावतार इन्द्रपुत्र अर्जुन। इसी ऐतिहासिक चिरन्तन तथ्य की दृष्टि से हम महाभारत–युगानुगत गीतोपदेश को गीता का पुनःसंस्करण ही मान सकते हैं, माना जाना चाहिए।

सम्भवतः २ सहस्र वर्ष पर्य्यन्त भारतराष्ट्र इस गीतापथ का अनुगामी बना रहा तब्तक, जबतक कि भारतीय प्रज्ञा वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञानात्मक पारिभाषिक तात्त्विक अध्ययनाध्यापन में प्रवृत्त रही। नियतिचक्र के निग्रह से पुनः आगे चल कर वेदनिष्ठा शिथिल हो पड़ी। एवं तत्स्थान में लोकभावुकताओं का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया। परिणामस्वरूप पुनः गीता की बुद्धियोगनिष्ठा तो हो गई अभिभूत, एवं कल्पित मतवादों की भावुकतापरम्परा बन गई प्रधाना। मतवादाभिनिवेश-मूला इसी भावुकता के निग्रहात्मक अनुग्रह से गीताशास्त्र का वेदसम्मत दृष्टिकोण सर्वथा ही विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया, जो एकान्तवेदनिष्ठ आचार्य्यप्रवर स्व० श्रीमधुसूदनजी महाराज के अनुग्रह से पुनः नवीनरूप से व्यक्त होने जा रहा है।

वैदिक तत्त्ववाद ही इस व्यक्तीभाव की मूलप्रतिष्ठा है, जैसाकि प्रस्तुत गीतासाहित्य से सर्वात्मना विस्पष्ट है। यह केवल मान्यता ही नहीं है, अपितु श्रद्धासमन्विता पूर्ण आस्था है कि, वैदिक तत्त्ववाद को आधार बनाए बिना गीता के एक अक्षर का भी समन्वय सम्भव नहीं है। यही कारण है कि, विगत शताब्दियों में गीता पर जो भाष्य-टीका-टिप्पणियाँ हुई हैं, वैदिक-तत्त्ववाद से असंस्पष्ट रहने के कारण उन सभी का मान्यतानुबन्धी मतवादात्मक वैय्यक्तिक दृष्टिकोणों पर ही पर्य्यवसान है। व्याख्याताओं नें अपनीं मान्यताओं के अनुसार गीता के सम्बन्ध में अपना एक सिद्धान्त बना लिया है। एवं तदनन्तर अपने इस सिद्धान्त के समन्वय के लिए ही ये व्याख्याता गीतार्थ के समन्वय में प्रवृत्त हुए हैं। उदाहरण के लिए वाल्लभों की दृष्टि में गीता यदि शुद्धाद्वैतवाद की प्रतिपादिका है, तो रामानुजीय महानुभाव इसे विशिष्टाद्वैत–परक ही उद्घोषित कर रहे हैं। उधर माध्व यदि इसके द्वारा द्वैतवाद स्थापित करने के लिए आतुर हैं, तो वेदान्तनिष्ठ इसे विशुद्ध ज्ञानयोगग्रन्थ ही मान रहे हैं। किसी एक ही निश्चित तत्त्वार्थ का प्रतिपा-

दक भी गीताशास्त्र स्वप्रतिष्ठाभूत वेदशास्त्र के सैद्धान्तिक आधार से पृथक् बनाया जाकर आज यों विभिन्न वादों का अनुगामी बनता हुआ, किंवा बनाया जाता हुआ 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' घोषणा से सर्वथा विपरीत संशयनिवृत्ति के स्थान में संशयप्रवृत्ति का ही उपोद्बलक बनता जा रहा है, अथवा तो बन गया है।

और आज तो वही गीताशास्त्र एक वैसा लौकिक साधारण साहित्य ही प्रमाणित हो गया है, जिसके परिज्ञान के लिए वेदशास्त्र की कौन कहे, संस्कृतभाषा का बोध भी आवश्यक नहीं समझा जा रहा। केवल अपनी काल्पनिक अनुभूति, अपनें मनस्तन्त्रानुवर्त्ती यथेच्छ सत्यप्रयोग, एवं आस्था-श्रद्धा-शून्य रूक्ष बुद्धिवाद ही गीतार्थसमन्वय के लिए पर्य्याप्त साधन बनें हुए हैं। अपनीं इन्हीं काल्पनिक मान्यताओं के कारण वर्त्तमान युग के उन अभिनव व्याख्याताओं नें--(जिनका न तो भारतीय निगमागमपुराणस्मृत्यादि शास्त्रों से ही कोई सम्पर्क है, न संस्कृतभाषा का ही जिन्हें सम्पर्क प्राप्त है)-अनासक्तियोग, निष्कामकर्म्मयोग, साम्यवाद, झञ्झातालमृदङ्गवाद्यसमाकुलित कीर्त्तनवाद, आदि आदि अनेक वैसे मतवादों का ही सर्जन कर डाला है, जिनका गीताशास्त्र से यत्-किञ्चित भी तो सम्पर्क नहीं है। ऐसे कल्पित वादों से तो गीता के अक्षरार्थ का भी समन्वय सम्भव नहीं है। फिर रहस्यपूर्ण पारिभाषिक तत्त्वार्थ की तो कथा ही विदूर है। गीताशास्त्र के अनेक स्थल तो ऐसे हैं, जो विस्पष्टरूप से वेदवचनों के ही अनुवाद हैं।

उदाहरण के लिए- महर्षि-'दीर्घतमा' की सापिञ्ड्यविद्या से सम्बन्ध रखने वाले आत्मगति-विज्ञान का जिस 'आतिवाहिक-त्रिलोकी' के रूप में स्वयं मूलसंहिता में विस्तार हुआ है, उसका एक मन्त्र है—

द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरञ्च ॥
—ऋक्संहिता १०।८८।१२।

अक्षरार्थ मन्त्र का यही है कि--"हमनें पितरों, देवताओं, एवं मरणधर्म्मा मनुष्यों की दो ही प्रेतगतियाँ सुन रक्खीं हैं। इस पार्थिव-विश्वप्रतिष्ठा को छोड़ कर विकम्पित होने वाले प्राणी-मात्र इन्हीं दोनों गतियों में से किसी एक गति का (कर्म्मानुसार) अनुगमन करते रहते हैं, जो कि प्राणी माता पृथिवी, तथा द्यु पिता के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं"। उपनिषत् ने इन्हीं दोनों मार्गों का क्रमशः अर्चिमार्ग, तथा धूममार्ग, नामों से विश्लेषण किया है। उत्तरायणपथात्मक सौर-ज्योतिर्म्मय मार्ग अर्चिमार्ग है, यही गीता के शब्दों में 'शुक्लमार्ग' है। दक्षिणायनपथात्मक

वारुण-तमोमय मार्ग 'धूममार्ग' है, यही 'कृष्णमार्ग' है। मन्त्र-श्रुति ने-'द्वे स्रुती अशृणवम्' से इन्हीं दोनों का स्पष्टीकरण किया है, जिसका अनुवाद हुआ है गीता में इस रूप से—

शुक्ल-कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वती मते ॥
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः ॥१॥
नैते सृती पार्थ ! जानन्योगी मुह्यति कश्चन ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ! ॥२॥

—गीता ८। २६, २७।

एवमेव गीताशास्त्र का प्रत्येक सिद्धान्त सर्वात्मना वैदिक सिद्धान्तों से ही अक्षरशः अनुप्राणित है, जिस इस आर्ष-दृष्टिकोण की पुरातन-नूतन-सभी व्याख्याताओं नें आत्यन्तिक उपेक्षा कर ज्ञानविज्ञानकोशात्मक इस गीताशास्त्र को एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ ही बना डाला है। भारतोय प्रज्ञा सम्प्रदायवाद-निरपेक्ष विशुद्ध तत्त्ववाद के आधार पर गीताशास्त्र का समन्वय कर तन्मूला आचारनिष्ठा के द्वारा अपनी भावुकता का परित्याग कर ऐहिक-आमुष्मिक अभ्युदय-निःश्रेयस्-पथ का अनुशीलनात्मक (अनुकरणात्मक नहीं) अनुसरण करे, एकमात्र इसी कामना से राष्ट्रभाषा हिन्दी में यह गीतासाहित्य अनुमानतः २०००० (बीस सहस्र) पृष्ठों में उपनिबद्ध हुआ है, जिसमें से अबतक केवल ३००० तीन सहस्र-पृष्ठात्मक गीतासाहित्य ही प्रकाशित हो पाया है। दो शब्दों में गीतासाहित्य की रूपरेखा से भी नैष्ठिक पाठकों को अवगत करा दिया जाता है।

गीताभूमिका, गीताचार्य्यस्वरूपपरिचय, गीताविज्ञानभाष्य, इस रूप से गीतासाहित्य तीन स्वतन्त्र महाखण्डों में विभाजित हुआ है, जिन इन तीनों महाखण्डों के प्रत्येक के क्रमशः ६-११-२८ ये अवान्तर खण्ड हुए हैं। सम्भूय ४८ अड़तालीस अवान्तर खण्डों में, तथा तीन महाखण्डों में गीतासाहित्य सम्पन्न हुआ है। अबतक **'गीताभूमिका'** नामक प्रथम महाखण्ड के अवान्तर ६ भूमिका-खण्डों में से केवल पाँच हीं खण्ड प्रकाशित हुए हैं, जिनमें पाँचवाँ यही **'बुद्धियोगपरीक्षात्मक पूर्वखण्ड'** माना जा सकता है। 'माना जा सकता है'-यह इसलिए कहा गया कि, वस्तुतः यह पूर्वखण्ड क्रमगणना के अनुसार ८ वाँ खण्ड है। आरम्भ में चार खण्ड तो कुछ वर्ष पूर्व हमनें क्रमशः ही प्रकाशित किए थे। तदनन्तर अपनी असमर्थता के कारण सभी प्रकाशन-प्रवृत्तियाँ विगत ५-७-वर्षों से सर्वथा अवरुद्ध हीं हो गईं थीं। विगत वर्ष में पुनः **'राजस्थान-वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान'** के अनुग्रह से प्रकाशन-प्रवृत्ति प्रक्रान्त हुई। एवं संस्थान के प्रधान सञ्चालक मन्त्री महाभाग की इच्छा के कारण क्रमपथ की उपेक्षा कर हमें प्रस्तुत ८ वें भूमिका-खण्ड का ही प्रकाशन करना पड़ा। **'अकरणान्मदकरणं श्रेयः'** न्याय से कुछ न होने से जो कुछ हो रहा है संस्थान के अनुग्रह से, उसे ही श्रेयःपन्था मान लिया गया है। नीचे लिखी तालिका से तथाकथित गीतासाहित्य की रूपरेखा से पाठक भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।

(१) 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' नामक प्रथम महाखण्ड

(तदन्तर्गत अवान्तर ६ भूमिका—खण्ड)

*

१   १—गीताभूमिका—बहिरङ्गपरीक्षात्मक—प्रथमखण्ड ....(बहिरङ्गपरीक्षा)

*

	२—गीताभूमिका—अन्तरङ्गपरीक्षात्मक—'द्वितीयखण्ड'		का 'क' विभाग	(आत्मपरीक्षा)
२	३—गीताभूमिका	,, ,,	का 'ख' विभाग	(ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा)
	४—गीताभूमिका	,, ,,	का 'ग' विभाग	(कर्म्मयोगपरीक्षा)
	५—गीताभूमिका	,, ,,	का 'घ' विभाग	(ज्ञानयोगपरीक्षा)

*

	६—गीताभूमिका-सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक तृतीयखण्ड		का 'क' विभाग	(भक्तियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड)
३	७—गीताभूमिका	,, ,,	का 'ख' विभाग	(भक्तियोगपरीक्षा-उत्तरखण्ड)
	८—गीताभूमिका	,, ,,	का 'ग' विभाग	(बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड)
	९—गीताभूमिका	,, ,,	का 'घ' विभाग	(बुद्धियोगपरीक्षा-उत्तरखण्ड)

त्रिखण्डात्मिका-गीताभूमिका-अवान्तर ९ खण्डात्मिका

तद्रूप—'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' नामक

प्रथम महाखण्ड

१

———❀———

गीताभूमिका के उक्त ९ खण्डों की पृष्ठ-संख्या का अनुपात निम्न लिखित है—

१—बहिरङ्गपरीक्षा	....	६००	(प्रकाशित)
२—आत्मपरीक्षा (क)	...	५००	(,,)
३—ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा (ख)	...	६००	(,,)*
४—कर्म्मयोगपरीक्षा (ग)	...	६००	(,,)*
५—ज्ञानयोगपरीक्षा (घ)	...	५००	(अप्रकाशित)
६—भक्तियोगरीक्षा-पूर्वखण्ड (क)		८००	(,,)
७—भक्तियोगपरीक्षा उत्तरखण्ड (ख)		८००	(,,)
८—बुद्धियोगपरीक्षा पूर्वखण्ड (ग)		७००	(प्रस्तुत प्रकाशन)
९—बुद्धियोगपरीक्षा उत्तरखण्ड (घ)		८००	(अप्रकाशित)

५९०० पाँच हजार नौ सौ पृष्ठात्मक प्रथम महाखण्ड

१

——*——

२—'गीताचार्य्यस्वरूपपरिचय' नामक द्वितीय महाखण्ड

(तदन्तर्गत अवान्तर ११ आचार्य्यखण्ड)

१—गीताकृष्णरहस्य	४००	अप्रकाशित
२—परात्परकृष्णरहस्य	४००	,,
३—पुरुषकृष्णरहस्य	४००	,,
४—सत्यकृष्णरहस्य	४००	,,
५—ईश्वरकृष्णरहस्य	४००	,,
६—प्रतिष्ठाकृष्णरहस्य	४००	,,
७—ज्योतिःकृष्णरहस्य	४००	,,

* चिह्नाङ्कित ३-४ दोनों खण्ड अब अप्राप्य हैं। अतएव ये भी पुनः प्रकाशन-सापेक्ष हैं।

८—परमेष्ठीकृष्णरहस्य ४०० अप्रकाशित
९—वैहायसकृष्णरहस्य ४०० ,,
१०—पार्थिवकृष्णरहस्य ४०० ,,
११—मानुषोत्तमकृष्णरहस्य ५०० ,,

४५०० चार हजार पान्सौ पृष्ठात्मक द्वितीय महाखण्ड

—*—

३—'गीताविज्ञानभाष्य' नामक तृतीय महाखण्ड
(तदन्तर्गत अवान्तर २८ विज्ञानखण्ड)

१—विज्ञानभाष्यानुगत ऐतिहासिकगीता ३००
२— ,, कर्म्मत्यागानौचित्योपनिषद्विज्ञान ४००
३— ,, नित्यकर्म्मत्यागानौचित्योपनिषद्विज्ञान ... ३००
४— ,, बुद्धियोगविरोधिकर्म्मत्यागौचित्योपनिषद्विज्ञान ... ३००
५— ,, भगवन्मतसिद्धसनातनत्त्वोपनिषद्विज्ञान ... ३००
६— ,, लोकवृत्तोपनिषद्विज्ञान ४००
७— ,, बुद्धियोगाविरोधिकर्म्मज्ञानोपादेयत्त्वोपनिषद्विज्ञान ४००
८— ,, बुद्धियोगस्योभयात्मकत्त्वप्रतिपादनत्त्वोपनिषद्विज्ञान ४००
९— ,, बुद्धियोगसाधनकर्म्मयोगोपादेयत्त्वोपनिषद्विज्ञान ४००
१०— ,, कर्म्मफलकामासक्तिपरित्यागौचित्योपनिषद्विज्ञान ४००
११— ,, प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानोपनिषद्विज्ञान ४००
१२— ,, द्वादशविज्ञानोपनिषद्विज्ञान ४००
१३— ,, ईश्वरस्वरूपविज्ञानोपनिषद्विज्ञान ४००
१४— ,, ईश्वरीययोगविभूतिविज्ञानोपनिषद्विज्ञान ... ४००

१५—विज्ञानभाष्यानुगत-ईश्वरोपासनविज्ञानोपनिषद्विज्ञान ... ४००
१६— ,, षड्विज्ञानोपनिषद्विज्ञानोपनिषद्विज्ञान ४००
१७— ,, त्रैगुण्यविज्ञानोपनिषद्विज्ञान ४००
१८— ,, अश्वत्थविज्ञानोपनिषद्विज्ञान ४००
१९— ,, दैवासुरसम्पत्तियुक्तभूतसर्गोपनिषद्विज्ञान ... ४००
२०— ,, गुणकर्म्मप्रचयोपनिषद्विज्ञान ४००
२१— ,, अत्याज्यकर्म्मोपनिषद्विज्ञान ४००
२२— ,, ब्रह्मभूतविदेहोपनिषद्विज्ञान ४००
२३— ,, गीतानुगता राजर्षिविद्या ४००
२४— ,, गीतानुगता सिद्धविद्या ४००
२५— ,, गीतानुगता राजविद्या ४००
२६— ,, गीतानुगता आर्षविद्या ४००
२७— ,, चातुर्विद्यसारोद्धारोपनिषद्विज्ञान ३००
२८— ,, गीताफलश्रुत्युपनिषद्विज्ञान २००

१०५०० दसहजार-पान्सौ पृष्ठात्मक तृतीय-महाखण्ड

३



१–'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' नामक प्रथम महाखण्ड (९खण्डात्मक)--५९००पृष्ठात्मक
२--'गीताचार्य्यस्वरूपपरिचय' नामक द्वितीय महाखण्ड (११खण्डात्मक) ४५०० पृष्ठात्मक
३–'गीताविज्ञानभाष्य' नामक तृतीय महाखण्ड (२८खण्डात्मक) १०५०० पृष्ठात्मक
(अवान्तर ४८ खण्डात्मक, ३ महाखण्डात्मक गीतासाहित्य–२०९०० बीसहजार-नौसौ-पृष्ठात्मक)



महारम्भ इस गीतासाहित्य के माध्यम से मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र की ज्ञान-विज्ञानात्मिका परिभाषाओं का ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। हमारी आस्था है कि, एकमात्र इस गीतासाहित्य के

आद्योपान्त अवलोकन से भी भारतीय शास्त्रों का समन्वय सम्भव बन सकता है। वेदशास्त्र की संक्षिप्त सूची बने हुए गीताशास्त्र ने वास्तव में सङ्केतरूप से सभी वैदिक विषयों का संकलन कर लिया है। एवं यही गीताशास्त्र की भारतीय अन्य दर्शनादि शास्त्रों की तुलना में अपूर्वता है, जिसके आधार पर ही यह आभाणक प्रसिद्ध हुआ है कि--

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपङ्काद् विनिःसृता॥

गीता न तो ज्ञानयोगशास्त्र है, न भक्तियोगशास्त्र है, एवं न कर्म्मयोगशास्त्र ही है। अपितु-गीता तो विशुद्ध **'बुद्धियोगशास्त्र'** है। बुद्धिवादात्मक वर्त्तमान युग में 'बुद्धि' शब्द बड़ा ही भ्रामक बना हुआ है। सभी तो आज के युग में अपने आप को बुद्धिवादी मान रहे हैं। सब अपने अपने बुद्धिवाद के आधार पर ही तो भारतीय शास्त्रों की व्याख्या के लिए सन्नीभूत हैं। इसीलिए तो आज-**'हम समझलेंगे, तब मानेंगे'** इस तर्क को अग्रणी बना कर बुद्धितुला के मापदण्ड से ही बुद्धिवादी शास्त्र की स्वरूप-व्याख्या में प्रवृत्त देखे सुने जा रहे हैं। और ऐसी दृष्टि-श्रुति को ही आज नाम दिया जा रहा है--तत्त्वशोध (रिसर्च)। १०-२० ग्रन्थों को सामने बखेर कर इधर-उधर से कुछ संग्रह कर-कहीं की ईंट-कहीं का रोड़ा-एकट्ठा कर अपने बुद्धिवाद के बल पर, दूसरे शब्दों में कल्पना के द्वारा जोड़-तोड़ बैठा कर अपने आप को तत्त्वद्रष्टा (द्रष्टा-डॉक्टर) मान बैठना हीं वर्त्तमान युग के बुद्धिवाद को 'इतिश्री' है, जिसका भारतीय तत्त्वदृष्टि से यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। सम्भव है-'बुद्धियोग' शब्द से भी कुछ ऐसी ही भ्रान्त कल्पना कर ली जाय इस गीतासिद्धान्त के सम्बन्ध में भी। अतएव दो शब्दों में वेदशास्त्र-सम्मता बुद्धियोग-स्वरूप-व्याख्या का भी प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण अनिवार्य्य बन रहा है।

लोकदृष्टि से बुद्धियोग का फलितार्थ निकलता है-**'बुद्धिपूर्वक कार्य्य करना'**। शास्त्रीय दृष्टि में इस फलितार्थ का प्रवेश भी निषिद्ध है। अपितु इस दिशा में तो 'बुद्धियोग' का यही फलितार्थ निकलेगा कि-**"अपनी बुद्धि का स्वतन्त्ररूप से कोई उपयोग न कर शास्त्रप्रामाण्य के आधार पर शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुसार स्वकर्त्तव्य-कर्म्मनिष्ठा में प्रवृत्त रहना हीं गीता का एकमात्र निर्णीत सिद्धान्त है। एवं यहीं सिद्धान्त 'बुद्धियोग' कहलाया है"**। 'बुद्धियोग' शब्द से ऐसा फलितार्थ कैसे, क्यों निकल आया ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए अवश्य ही प्रज्ञाशील मानव अपनी बुद्धि का शास्त्रीय तत्त्वविषय के साथ योग कर-सकते हैं। इस साध्य बुद्धियोग (बुद्धिमानी) के द्वारा अवश्य ही आस्था-श्रद्धा-परिपूर्णा जिज्ञासा के

द्वारा सिद्ध बुद्धियोग (बुद्धि से अतीत योग) के तटस्थरूप से दर्शन किए जासकते हैं । कैसे ?, श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् ! ।

सम्पूर्ण विश्व में **ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति-अर्थशक्ति**-इन तीन शक्तियों का ही साम्राज्य उपलब्ध हो रहा है । बुद्धितन्त्र की चरम सीमा पर पहुँचे हुए नितान्त बुद्धिमान् भी मानव अपनी बुद्धि के द्वारा सुसूक्ष्म ईक्षण करते हुए इन तीन शक्तियों से अतिरिक्त चौथी शक्ति का समन्वय करने में सर्वथा असमर्थ ही बने रहते हैं । मानव का बुद्धियोग **ज्ञान-क्रिया-अर्थ**-इन तीन शक्तियों पर ही विश्रान्त है । तीनों शक्तियाँ क्रमशः **अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत**-इन तीन तन्त्रों से अनुप्राणित हैं। ज्ञानक्षेत्र अधिदैवत है, क्रियाक्षेत्र अध्यात्म है, एवं अर्थक्षेत्र अधिभूत है । इन तीन क्षेत्रों के आधार पर ही लोकनिष्ठ बुद्धिमान मानवों नें अपने बुद्धिबल पर मानव की सुख--शान्ति के लिए क्रमशः- **ज्ञान-भक्ति-कर्म्म**-नामक तीन योग आविर्भूत कर लिए हैं, जो योग बुद्धिमान् विद्वत्समाज में सु-प्रसिद्ध हैं ।

जिस योग में साधन भी अधिभूत हों, साध्य भी (प्राप्तव्य) भी अधिभूत हों, उसी का नाम **'कर्म्मयोग'** है । जिस योग में साधन तो भौतिक हों, किन्तु साध्य अधिदैवत हों, उसी का नाम **'भक्तियोग'** है । एवं जिस योग में साधन भी आधिदैविक हों, एवं साध्य भी आधिदैविक ही हों, उसी नाम--**'ज्ञानयोग'** है । भौतिक-भौतिक कर्म्मयोग का मानव के अर्थशक्ति (भूतशक्ति) प्रधान पार्थिव **शरीर** से प्रधान सम्बन्ध माना गया है । दैविक-भौतिक-भक्तियोग का मानव के क्रियाशक्ति-प्रधान आन्तरीक्ष्य चान्द्र **मनस्तन्त्र** से प्रधान सम्बन्ध माना गया है । एवं दैविक-दैविक-ज्ञानयोग का मानव के ज्ञानशक्तिप्रधान दिव्य सौर **बुद्धितन्त्र** से प्रधान सम्बन्ध माना गया है । और यों तीनों योग मानव के बुद्धि-मनः-शरीर-तन्त्रों से समन्वित रहते हुए मानव के लोक-स्वरूप के संरक्षक बने हुए हैं । ये ही तीनों तन्त्र क्रमशः मानव के उस सुप्रसिद्ध प्राकृतिक जीवभाव के स्वरूपाधार बने हुए हैं, जिस पराप्रकृति (अक्षर) रूप जीवभाव की तीनों कलाएँ क्रमशः **'वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ'** नाम से प्रसिद्ध हैं ।

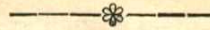
अर्थशक्ति-प्रधान पार्थिव अग्नि से अनुप्राणिता **'वैश्वानर'**-कला पार्थिव शरीर से अभिन्न रहती हुई कर्म्मयोग से समन्वित है । क्रियाशक्ति-प्रधान आन्तरीक्ष्य वायु से अनुप्राणिता **'तैजस'**-कला आन्तरीक्ष्य चान्द्र मनस्तन्त्र से अभिन्न रहती हुई भक्तियोग से समन्वित है । एवं ज्ञानशक्तिप्रधाना दिव्या-सौरी-बुद्धि से अनुप्राणिता **'प्राज्ञ'**-कला दिव्य सौर

बुद्धितन्त्र से अभिन्न रहती हुई ज्ञानयोग से समन्वित है। इसप्रकार जिस सीमापर्य्यन्त लोकनिष्ठ मानव की बुद्धिमानी अनुधावन कर सकती है, उस सीमापर्य्यन्त इन तीन लौकिक योगों से अतिरिक्त सचमुच किसी चौथे बुद्धि से अतीत अपूर्व बुद्धियोग की कल्पना भी कर लेना ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्ति-समन्वित प्राकृत बुद्धिमान् मानव के लिए सर्वथा असम्भव ही तो है। ऐसी स्थिति में यदि बुद्धिमान् भारतीय व्याख्याताओं नें गीताशास्त्र के 'योग' शब्द से **'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म'** इन तीनों योगों का ही ग्रहण करते हुए गीताशास्त्र को **'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगग्रन्थ'** मान लिया हो, तो इन बुद्धिमानों का कोई अपराध नहीं माना जासकता। इसी लोकसंग्रह दृष्टि–से लोकभावुकता के संरक्षण के अनुबन्ध से हम भी थोड़ी देर के लिए उक्त बुद्धिगम्य समन्वय के आधार पर गीताशास्त्र को इन लोकप्रचलित तीनों योगों का प्रतिपादिक लौकिक ग्रन्थ ही मान लेते हैं, जिस त्रितन्त्रात्मक बुद्धिवादपूर्ण समन्वय का नीचे लिखी तालिका से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो रहा है।

१—अधिभूतम्—(अर्थमयम्)—तदनुगता अर्थशक्तिः—पार्थिवी-आग्नेयी

२—अध्यात्मम्—(क्रियामयम्)—तदनुगता क्रियाशक्तिः—चान्द्री-वायव्या

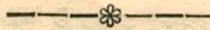
३—अधिदैवतम्—(ज्ञानमयम्)—तदनुगता ज्ञानशक्तिः—सौरी-ऐन्द्री



१—पार्थिवं—शरीरतन्त्रम् (अग्निप्रधानम्)—तत्समन्विता—वैश्वानरकला—आग्नेयी

२—चान्द्रं—मनस्तन्त्रम् (वायुप्रधानम्)—तत्समन्विता—तैजसकला—वायव्या

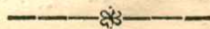
३—सौरं—बुद्धितन्त्रम् (इन्द्रप्रधानम्)—तत्समन्विता—प्राज्ञकला—ऐन्द्री



१—अर्थशक्तियुता—वैश्वानरकला—कर्म्मयोगेन समन्विता (सोऽयं कर्म्मयोगः)

२—क्रियाशक्तियुता—तैजसकला—भक्तियोगेन समन्विता (सोऽयं भक्तियोगः)

३—ज्ञानशक्तियुता—प्राज्ञकला—ज्ञानयोगेन समन्विता (सोऽयं ज्ञानयोगः)



इसप्रकार बुद्धिपूर्वक 'योग' के स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त प्राकृत मानव को प्राकृतिक विश्व में तथाकथित तीन हीं तो बुद्धियोग (बुद्धिमत्ता-पूर्ण योग) उपलब्ध हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में 'बुद्धियोग'

शब्द के द्वारा इन तीन बुद्धिव्याख्या-सम्मत योगों के अतिरिक्त चौथे अबुद्धियोगात्मक अश्रुत-अदृष्ट-पूर्व बुद्धियोग की कल्पना भी कैसे कर सकते थे गीता के व्याख्याता वे लोकमानव। इसीलिए तो देवयुगात्मक सत्ययुग से आरम्भ कर आज पर्य्यन्त सुगुप्ततम 'बुद्धियोग' सिद्धान्त यदि व्याख्याताओं के लिए परोक्ष ही बनता आ रहा हो, तो इसमें बुद्धिमान् व्याख्याताओं का कोई भी तो दोष नहीं माना जा सकता।

कैसे अबुद्धियोगात्मक बुद्धियोग का स्वरूप-बोध हो ?, प्रश्न का एकमात्र समाधान है— 'पुरुषार्थ' का अनुगमन। पुरुषार्थ से मानव अवश्यमेव परोक्ष तत्त्व का अनुग्रह प्राप्त करने में समर्थ बन जाता है। मानव का अपना (जीवभाव का) प्रयास-प्रयत्न-चेष्टा-आदि का नाम क्या पुरुषार्थ है ?। नहीं, कदापि नहीं। मानव 'पुरुष' है कहाँ ?। यह तो अपने वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूप जीवभाव से अक्षरप्रकृतिरूप ही बना हुआ है। ऐसे जीवभावात्मक प्राकृत मानव का प्रयास तो 'प्रकृत्यर्थ' ही माना जायगा, जिसे भ्रान्तिवश मानव 'पुरुषार्थ' कहता चला आ रहा है प्राकृतिक व्यामोहन के कारण। 'पुरुष' नाम है लोकातीत-विश्वातीत उस अव्ययात्मा का, जो गीता के ही शब्दों में— **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** के अनुसार मानवीय बुद्धि से सर्वथा परे है, अतीत है। बुद्धि से अतीत अव्ययपुरुष ही वास्तविक पुरुष है। इस पुरुष से सम्बद्ध प्रयास ही **'पुरुषार्थ'** है, जो कि किया नहीं जाता, अपितु स्वतः हो रहा है। इस स्वतः प्रवृत्त पुरुषार्थ के साथ मानवीय प्रकृत्यर्थरूप जीव के प्रयासों का सर्वात्मना समर्पण हीं मानव की कृतकृत्यता है, जिसका गीता ने इन शब्दों में स्वरूप— विश्लेषण किया है—

यत्करोषि, यदश्नासि, यज्जुहोसि, ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥१॥
मन्मना भव, मद्भक्तो, मद्याजी, मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥२॥

आरम्भ में पार्थिव **शरीर**, तदनन्तर **इन्द्रिय**, एवं **इन्द्रियार्थ**। तदुपरि **चान्द्र मन**। तदुपरि **सौरी बुद्धि**। प्राकृत मानव के प्राकृत जीवभाव से सम्बन्ध रखने वाली **वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूपा अग्नि-वायु-इन्द्र**-लक्षणा **अर्थ-क्रिया-ज्ञान**-शक्तियों का पर्य्यवसान इस सौरी बुद्धि पर पर्य्यवसित है। जबतक मानव इन तीनों तन्त्रों के व्यामोहन में आसक्त बना रहता है, तबतक इसे कदापि बुद्धि से पर अवस्थित 'अव्ययपुरुष' का अनुग्रह उसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता, जैसे कि त्रैलोक्य के अधिपति अग्नि-वायु-इन्द्र-नामक तीनों देवता अपनी ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियों को ही, दूसरे

शब्दों में इस शक्तिभावसमन्विता बुद्धिमानी को ही सर्वस्व मानते हुए--'**अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्**' कहते हुए विश्वविजय को अपना हीं विजय मान बैठते हुए इसी स्वस्वरूप-व्यामोहन से लोकातीत अव्ययब्रह्म के स्वरूप-बोध से वञ्चित थे। आगे चल कर '**हैमवती उमा**' के अनुग्रह से इन का यह प्राकृत व्यामोहन दूर होता है, एवं इस महाशक्ति महामाया के अनुग्रह से ही इन्हें— '**ब्रह्मणो वा विजये महीयध्वम्**' (केनोपनिषत्) रूप से उद्बोधन प्राप्त होता है। **पीताम्बरा-हैमवती उमा माहेश्वरी** से अभिन्न मायी महेश्वरावतार **पीताम्बरधारी पूर्णेश्वर अव्ययकृष्ण** ने इसी औपनिषद सिद्धान्तबिन्दु का इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है कि—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

—गीता ७।१४।

मायाशक्तिरूपिणी चिच्छक्ति के अनुग्रह से ही मानव का प्राकृत व्यामोहन–पाश टूटता है। एवं तभी–पाश-विमुक्त मानवपशु अव्ययपुरुषानुग्रह से 'पुरुष' बनता हुआ लोकातीत बुद्धियोगसिद्धान्त का अनुगामी बनने पाता है। अपने बुद्धितन्त्र को लोकातीत अव्ययपुरुष के प्रति सर्वात्मना समर्पित कर देने वाला, बुद्धिवादात्मक-व्यामोहनों से पृथक् बन जाने वाला मानव हीं अपने बुद्धितन्त्र को अव्ययपुरुष के अनुग्रह से समन्वित कर सकता है। यही इसका अबुद्धियोगात्मक सिद्धावस्थापन्न सहज वह 'बुद्धियोग' है, जिसका लोकानुगत ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'ददामि बुद्धियोगं तम्' (गीता) के अनुसार स्वयं अव्ययेश्वर के अनुग्रह से ही यह पुरुषार्थरूप बुद्धियोग प्राप्त हुआ करता है। इसी बुद्धियोगानुबन्ध से गीताशास्त्र तत्त्वतः 'बुद्धियोग-शास्त्र' ही बना हुआ है, जिसका आस्थाश्रद्धाशून्य रूक्ष बुद्धिवादों से, एवं तदनुप्राणिता बुद्धिमानियों से कोई सम्पर्क नहीं है।

अव्ययपुरुषानुगत स्वतःसिद्ध नित्य बुद्धियोग का उदय कैसे हो ?, गीताशास्त्र इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। तात्पर्य्य–जिस बुद्धियोग के द्वारा सिद्ध बुद्धियोग से मानव अनुगृहीत होता है, उस साधनभूत बुद्धियोग का स्वरूप-विश्लेषण करना हीं इस '**बुद्धियोगशास्त्र**' (गीताशास्त्र) का एकमात्र मुख्य उद्देश्य है। मानवीय बुद्धि के साथ अव्ययपुरुष का योग तो स्वतः सिद्ध है। दोष केवल यही है कि, मानव अमुक दोषों के कारण कुछ एक दोषावह संस्कारों

(कुसंस्कारों) के आवरण से अपनी बुद्धि को आवृत करता हुआ स्वतःसिद्ध भी उस अव्ययपुरुष-विभूतियोग से अपने आपको (जीव-भाव को) पृथक् कर लेता है। बुद्धि के उन असख्य दोषों का शास्त्र ने **'अविद्या--अस्मिता--आसक्ति--अभिनिवेश'** इन चार प्रधान दोषों में अन्तर्भाव मान लिया है। इन चारों दोषों की समष्टि दर्शनभाषा में जहाँ 'क्लेश' * कहलाई है, वहाँ विज्ञानभाषा में इन्हें **'कलिल'** कहा गया है। बुद्धि जबतक इन चारों में से किसी एक भी कलिलदोष से युक्त रहती है, तबतक इस का साक्षाद्रूप से अव्ययब्रह्म के साथ योग सम्भव नहीं। इन चारों कलिलों को हटाने के लिए चार प्रकार के **'भग'** भावों का बुद्धि को अनिवार्य्यरूप से अनुगमन करना पड़ता है। **'अविद्या'** नामक कलिल हटता है **'ज्ञान'** नामक भग से। **'अस्मिता'** कलिल का पलायन होता है **'ऐश्वर्य्य भग'** से। **'आसक्ति'** कलिल निवृत्त होता है **'वैराग्यभग'** से। एवं **'अभिनिवेश'** कलिल विनष्ट होता है **'धर्म्मभग'** से। इन चारों भगों का जब बुद्धि में उदय हो जाता है, तो सहैव **यश, और श्री,** नामक दो भग और उदित हो जाते हैं। प्राकृतिक विश्व में इन ६ ओं भगों के कौन से प्रमुख स्थान हैं ?, इस प्रश्न का भी दो शब्दों में समन्वय कर लीजिए।

सत्यलोकाधिष्ठाता अव्यक्त **स्वयम्भू** का **'वैराग्य'** से प्रधान सम्बन्ध है। तपोलोकाधिष्ठाता **सूत्रात्मा** का **'ज्ञान'** से प्रधान सम्बन्ध है। जनल्लोकाधिष्ठाता **परमेष्ठी** का **'ऐश्वर्य्य'** से प्रधान सम्बन्ध है। महः-एवं स्वर्लोकाधिष्ठाता **सूर्य्य** का **'धर्म्म'** से प्रधान सम्बन्ध है। भुवर्लोकाधिष्ठाता **चन्द्रमा** का **'यशः'** से प्रधान सम्बन्ध है। एवं भूलोकाधिष्ठात्री **पृथिवी** का **'श्रीः'** से प्रधान सम्बन्ध है। इसप्रकार सप्तलोकात्मक विश्व में इस क्रम से ६ ओं भग प्रतिष्ठित हैं। इस महाविश्व के केन्द्र में सूर्य्यनारायण प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि-÷ **'नैवोदेता—नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता'** (छान्दो० उप०) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। सूर्य्य ही आधिदैविक विश्व की 'बुद्धि' है। केन्द्रभाव के कारण सम्पूर्ण विश्व--भगों का केन्द्रस्थ बुद्धिस्थानीय सूर्य्य में समन्वय हो रहा है। अतएव यह षड्विध भगसम्पत्ति बुद्धि से समन्वित मान ली गई है।

---

*—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।

—पातञ्जलयोगसूत्र

÷ नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः।
उदयास्तमनं चैव दर्शनादर्शनं रवेः॥

—पुराण

अव्यक्तस्वयम्भूः—

७-सत्यलोकः	—स्वयम्भूरव्यक्तात्मा	(१)—अव्यक्तम्	(वैराग्यभगः)
६-तपोलोकः	—सूत्रात्मा	(२)—सत्त्वम्	(ज्ञानभगः)
५-जनल्लोकः	—परमेष्ठी-महानात्मा	(३)—महान्	(ऐश्वर्य्यभगः)
४-महर्लोकः ३-स्वर्लोकः	—सूर्य्यः-विज्ञानात्मा	(४)—बुद्धिः	(धर्म्मभगः)
२-भुवर्लोकः	—चन्द्रमाः-प्रज्ञानात्मा	(५)—मनः	(यशोभगः)
१-भूलोकः	—पृथिवी-भूतात्मा	(६)—शरीरम्	(श्री-भगः)

'तद्यत्-किञ्चार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्' (शत० १० के) अनुसार सूर्य्य से नीचे अवस्थित चान्द्र, एवं पार्थिव विवर्त्त मर्त्य-त्तर-प्रधान हैं। अतएव तदनुबन्धी यशः, और श्रीः, नामक दोनों चान्द्र-पार्थिव-भगों की अमृतसूर्य्यानुबन्ध से स्वतन्त्र गणना नहीं होती। फलतः अमृतसूर्य्य की दृष्टि से मध्यस्थ सूर्य्य के चार ही भग प्रधान बने रह जाते हैं। इन चार भगों से बुद्धि चतुर्विध भगसम्पत्तियों से समन्वित बनी हुई है। अतएव साधनभूत एक ही बुद्धियोग क्रमशः वैराग्यबुद्धियोग, ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, धर्म्मबुद्धियोग, इस रूप से चार भागों में विभक्त हो रहा है। साधनभूत इन चारों बुद्धियोगों से, इनके अनुष्ठान-अनुगमन से बुद्धिगत अविद्या-अस्मिता-आदि चारों कलिल निवृत्त हो जाते हैं *।

---

* यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
—गीता

बुद्धि के यच्चयावत् व्यामोहन शरदभ्रवत् विलीन हो जाते हैं। ऐसी शुद्ध-सत्त्व-बुद्धि, एवं तदनुगत शुद्ध सत्त्वनिष्ठ जीवात्मा, दोनों अव्ययब्रह्मरूप आत्मदेव के सिद्धावस्थापन्न अबुद्धि-योगात्मक सहज बुद्धियोग से युक्त बन जाते हैं, जिस इत्थंभूत बुद्धियोग की कामना निम्न लिखित वचन से अभिव्यक्त हुई है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

इसलिए

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत !
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

—गीता १८।६२।

प्राचीन जिन व्याख्याताओं नें गीताशास्त्र को **'ज्ञानयोग-ग्रन्थ'** माना है, उनकी ज्ञान-योगपरिभाषा है—**'कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा'**। कर्म्मत्याग सर्वथा असम्भव है गीता-की दृष्टि में। अतएव लोकसंग्राहक भगवान् ने इस कर्म्मत्यागलक्षणा ज्ञानयोगनिष्ठा में कर्म्म का समावेश कर इसे भी बुद्धियोगसम्पत् प्रदान की। एवं यही गीता में संशोधित 'ज्ञानयोग' कह-लाया, जिसका नामकरण हुआ—**'ज्ञानबुद्धियोग'**।

जिन व्याख्याताओं नें गीता को **'भक्तियोगग्रन्थ'** माना, उनकी भक्तिपरिभाषा में गुणभा-वान्विता कामना येनकेनरूपेण समाविष्ट रही, जो कि कामना गीतादृष्टि से सर्वथा त्याज्या है। इस कामना के त्याग का समावेश करते हुए भगवान् ने इसे भी बुद्धियोगनिष्ठा प्रदान की। एवं यही संशोधित भक्तियोग गीतापरिभाषा में **'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग'** कहलाया।

जिन कर्म्मासक्त कर्म्मठों नें गीता को **'कर्म्मयोगग्रन्थ'** माना, उन की 'कर्म्मपरिभाषा' बनी-"सम्पूर्ण इच्छाओं के पूरक यज्ञ-तप-दान-इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-"लक्षण काम्य षट्-कर्म्मों का अनु-गमन"। भगवान् ने इस में से भी 'इच्छा'-रूपा कामना का बहिष्कार किया। एवं इसे भी 'बुद्धियोगसम्पत्' प्रदान की लोकसंग्राहक भगवान् ने। यही संशोधित कर्म्मयोग गीतापरिभाषा में-**'धर्म्मबुद्धियोग'** कहलाया।

ज्ञान-ऐश्वर्य्य-धर्म्म नामक तीनों बुद्धियोग लोकप्रचलित ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों के ही संशोधितरूप बनें, जिनका गीताशास्त्र ने संग्रह कर लिया है इस विशुद्धिकरण के साथ। भगवान्

का अपना मन्तव्य है चौथा अव्ययब्रह्मानुगत 'वैराग्यबुद्धियोग' नामक 'योग', जिसे भगवान् ने गीताशास्त्र में यत्र तत्र 'योग' नाम से भी व्यवहृत किया है। यही गीताशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य 'बुद्धियोग' है, जिसके कारण गीताशास्त्र तत्त्वतः 'बुद्धियोगशास्त्र' ही प्रमाणित हो रहा है।

कामनात्यागात्मक संशोधित कर्म्मयोगात्मक 'धर्म्मबुद्धियोग' के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक भूमिकाखण्ड उपनिबद्ध हुआ है। कामनात्यागात्मक संशोधित भक्ति-योगात्मक-'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' के स्वरूपनिरूपण के लिए ही खण्डद्वयात्मिका 'भक्तियोगपरीक्षा' समन्वित हुई है। कर्म्मसंग्रहात्मक संशोधित ज्ञानयोगात्मक- 'ज्ञानबुद्धियोग' के समन्वय के लिए ही 'ज्ञानयोगपरीक्षा' नामक भूमिकाखण्ड उपनिबद्ध हुआ है। शेष रह जाता है भगवत्सम्मत गीतासिद्धान्तरूप अव्ययब्रह्मयोगानुगत 'वैराग्यबुद्धियोग' नामक 'बुद्धियोग'। इसी के स्वरूप-विश्लेषण के लिए प्रस्तुत 'बुद्धियोगपरीक्षा'-पूर्वखण्ड बुद्धियोगनिष्ठ मानवश्रेष्ठों के अनुरञ्जन के लिए प्रस्तुत हो रहा है, जिसके प्रतिपाद्य विषयों के सम्बन्ध में दो शब्द निवेदन करते हुए प्रास्ताविक उपरत किया जा रहा है।

त्रिखण्डात्मिका 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' के तृतीय-'सर्वान्तरतमपरीक्षा' नामक तृतीय-खण्ड के 'क-ख-ग-घ' इन चार अवान्तर खण्डों में से प्रकृत का 'बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड' नामक क्रमप्राप्त आठवाँ 'ग' विभागात्मक अवान्तर खण्ड है, जिसमें प्रधानरूप से निम्न लिखित तीन प्रकरण समाविष्ट हैं—

'बुद्धियोगस्वरूप-निर्वचनात्मक' प्रथम प्रकरण में चार अवान्तर स्तम्भ हैं। इन चारों अवान्तर स्तम्भों में प्रत्येक में क्रमशः १४-१५१-५६-७५-अवान्तर परिच्छेद हैं। चौदह (१४) अवान्तर-परिच्छेदात्मक 'सन्दर्भसङ्गति' नामक प्रथम स्तम्भ में पूर्वसन्दर्भसङ्गतिपूर्वक भूमिका-खण्डों के निरूपित, तथा निरूपणीय विषयों की रूपरेखा का स्पष्टीकरण हुआ है।

एकसौ इक्यावन (१५१) अवान्तर परिच्छेदात्मक-'योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप निरूपण' नामक द्वितीय स्तम्भ में बुद्धियोगाधिष्ठाता आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाङ्मय-पञ्चकल अव्ययब्रह्म

नामक सच्चिदानन्दब्रह्म की आनन्दकला-चित्कला-सत्ताकला-का सुविशद वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए सर्वयोगाधिष्ठाता-सर्वयोगप्रवर्त्तक योगेश्वर षोडशी विश्वेश्वर प्रजापति का ही उपबृंहण हुआ है।

छप्पन (५६) अवान्तर परिच्छेदात्मक तीसरे-**'योगेश्वरानुगत योग का स्वरूप निरूपण'** नामक स्तम्भ में योगेश्वर के **अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-विश्वसृट् (विकारक्षर)** नामक चार पादों से अनुप्राणित सिद्ध योगचतुष्टयी का, तथा **वैराग्यबुद्धियोग-ज्ञानबुद्धियोग-ऐश्वर्य्यबुद्धियोग-धर्म्मबुद्धियोग**-इन चार साध्य बुद्धियोगों का क्रमशः स्वरूप-विश्लेषण हुआ है।

पिचहत्तर (७५) अवान्तर परिच्छेदात्मक चौथे-**'बुद्धितत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन'** नामक स्तम्भ में प्रज्ञान मन की स्वरूप-व्याख्या करते हुए प्रज्ञान मन पर प्रतिबिम्बरूप से प्रतिष्ठित 'विज्ञान' नामक **'बुद्धि'**-तत्त्व का ही तात्त्विक नैगमिक स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। सर्वान्त में इसी चतुर्थ स्तम्भ में **१-बुद्धि, २-मनीषा, ३-धिषणा, ४-धी, ५-प्रज्ञा, ६-शेमुषी, ७-मति, ८-प्रेक्षा, ९-उपलब्धि, १०-चित्, ११-संवित्, १२-प्रतिपत्, १३-ज्ञप्ति, १४-चेतना १५-विज्ञान**, बुद्धिस्वरूप संग्राहक इन पन्द्रह शब्दों का वैज्ञानिक विभिन्न इतिहास बतलाते हुए बुद्धि-सम्बन्धी 'योग' शब्द के ही तात्त्विक स्वरूप का समन्वय हुआ है। यों इन चार स्तम्भों में प्रस्तुत खण्ड का प्रथम प्रकरण उपरत हुआ है।

(१)-'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथम प्रकरण—

१—सन्दर्भसङ्गति (१४ अवान्तरपरिच्छेदात्मक प्रथमस्तम्भ)।
२—योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप निरूपण (१५१ परि० द्वितीयस्तम्भ)
३—योगेश्वरानुगत 'योग' का स्वरूपनिरूपण (५६ परि० तृतीयस्तम्भ)।
४—'बुद्धि'तत्त्व स्वरूप दिग्दर्शन (७५ परि० चतुर्थस्तम्भ)।

१

—※—

'बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूप-निर्वचन' नामक द्वितीय प्रकरण में भी चार ही अवान्तर स्तम्भ समाविष्ट हुए हैं, जिनमें प्रत्येक में क्रमशः १२१-४१-३४-४८-अवान्तर परिच्छेदों का समावेश हुआ है।

एकसौ इक्कीस (१२१) अवान्तर परिच्छेदात्मक-'धर्म्मबुद्धियोगानुगत आर्षविद्या-स्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथम स्तम्भ में ज्ञानानुगता शास्त्रविद्या, पौरुषानुगता शस्त्रविद्या, परिग्रहसंग्रहात्मिका वाणिज्यविद्या, एवं गुणभावान्विता शिल्पविद्या, इन चार विद्याओं का दिग्-दर्शन कराया गया है। आगे चल कर भारतीय राष्ट्रकल्पना, विविध विद्यास्वरूप-परिचय, धर्म्मानुगत स्वधर्म्म-परधर्म्म-मतवादादि का स्वरूपपरिचय, आदि आदि अवान्तर अनेक विषयों का स्पष्टीकरण करते हुए निष्कामकर्म्म की वैज्ञानिक स्वरूप-व्याख्या हुई है। एवं तदाधार पर ही धर्म्मबुद्धियोगा-नुगता 'आर्षविद्या' के स्वरूप-समन्वय की चेष्टा हुई है।

इकतालीस (४१) अवान्तर परिच्छेदात्मक-'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूप-निर्वचन' नामक द्वितीय स्तम्भ में ऐश्वर्य्य-प्रवर्त्तक 'ईश्वर' के अनेक विवर्त्तों का स्पष्टीकरण हुआ है। अभिमान, और अतिमान की स्वरूपव्याख्या प्रस्तुत करते हुए मन और वाक् के अहंश्रेयोभाव का चिरन्तन इतिहास व्यक्त हुआ है। आगे चल कर ईश्वर के ऐश्वर्य्य, जीव के ऐश्वर्य्य का स्वरूप परिचय कराते हुए विभूति-महिमा-साहस्री-पुनःपद-विवर्त्त-आदि भावों का स्वरूप-सम-न्वय हुआ है। अध्यात्मतन्त्र से सम्बन्ध रखने वाले चार प्रकार के मनस्तन्त्रों का दिग्दर्शन कराते हुए ऐश्वर्य्य की प्रतिबन्धिका 'अस्मिता' का स्वरूप-निरूपण हुआ है। सर्वान्त में विकास के स्वाभाविक, तथा आगन्तुक स्वरूपों का दिग्दर्शन कराते हुए ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या की ही स्वरूपव्याख्या हुई है।

चौतीस (३४) अवान्तर परिच्छेदात्मक-'ज्ञानबुद्धियागानुगत-सिद्धविद्यास्वरूप-निर्वचन' नामक तृतीय स्तम्भ में सर्वप्रथम ज्ञानावरक 'आवरण' का स्वरूप परिचय कराया गया है। हिरण्यगर्भ सूर्य्य के चार 'पाप्मा' विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराते हुए योगत्रयी के आधारभूत आत्म-विवर्त्तों का स्पष्टीकरण हुआ है। गुण-स्वरूपपरिचय, कलिल-स्वरूपपरिचय, मोह-स्वरूपपरिचय, त्रैगुण्य संघर्ष, आदि आदि अवान्तर विषयों का दिग्दर्शन कराते हुए सर्वान्त में मोहकलिल-निवर्त्तिका ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या का ही स्वरूपोपबृंहण हुआ है।

अड़तालीस (४८) अवान्तर परिच्छेदात्मक-'वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्या-स्वरूप-निर्वचन' नामक चतुर्थ स्तम्भ में सर्वप्रथम 'वैराग्य', और 'आसक्ति' (रागासक्ति, एवं द्वेषा-सक्ति) शब्दों के लोकप्रचलित अर्थों का दिग्दर्शन कराया गया है। अनन्तर गीता में पठित 'त्याग'

शब्द की स्वरूपव्याख्या हुई है। आगे चलकर **तपस्वी-योगी-ज्ञानी-कर्म्मठ**-आदि श्रेणिविभागों का तात्त्विक स्वरूपसमन्वय हुआ हैं। तदनन्तर राग-द्वेष-मोह-भावों का वैज्ञानिक स्वरूप-परिचय कराते हुए रागाकर्षणात्मक प्रेम के **श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम-रति**-नामक पाँच भेदों की स्वरूप-व्याख्या हुई है। रजोगुणानुबन्धी तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले रजोगुण के त्रिवृद्भावों का स्वरूप परिचय कराते हुए वैराग्य के गीतासम्मत तात्त्विक स्वरूप का समन्वय हुआ है। सर्वान्त में आत्मस्थानत्रयी से सम्बन्ध रखने वाले सम-विषम-योगों का स्वरूप दिग्दर्शन कराते हुए वैराग्य-बुद्धियोगानुगत **'राजर्षिविद्या'** का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय हुआ है। और यों इन चार स्तम्भों में प्रस्तुत खण्ड का द्वितीय प्रकरण सम्पन्न हुआ है।

(२)–'बुद्धियोगानुगत–विद्यास्वरूप–निर्वचन' नामक द्वितीय प्रकरण—

१–धर्म्मबुद्धियोगानुगत—आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचन (१२१ परिच्छेदात्मक प्रथमस्तम्भ)।
२–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत–राजविद्यास्वरूपनिर्वचन (४१ परिच्छेदात्मक द्वितीयस्तम्भ)।
३–ज्ञानबुद्धियोगानुगत— सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचन (३४ परिच्छेदात्मक तृतीयस्तम्भ)।
४–वैराग्यबुद्धियोगानुगत–राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचन (४८ परिच्छेदात्मक चतुर्थस्तम्भ)।

३

—*—

तीसरा-**'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार'** नामक प्रकरण है, जिस में अवान्तर १० दस परिच्छेद समाविष्ट हैं। **तृप्ति-तुष्टि-पुष्टि-भुक्ति**--नाम की गुणचतुष्टयी की स्वरूपव्याख्या, तदनुगता बुद्धियोगचतुष्टयी, पुरुषविद्यानुगता पुरुषयोगचतुष्टयी, प्रकृत्यनुगता प्रकृतियोगचतुष्टयी, विकृति-विद्यानुगता विकृतियोगचतुष्टयी, आदि आदि परिशिष्ट विषयों का दिग्दर्शन कराते हुए विविध तालिकाओं के माध्यम से सिंहावलोकनदृष्ट्या अष्टस्तम्भात्मक उक्त दोनों प्रकरणों का स्वरूपोप-संहार ही हुआ है। और यों इन तीन प्रकरणों–आठ स्तम्भों–तथा ५५० (पान्सौ पचास) अवान्तर परिच्छेदों से कृतशरीरी प्रस्तुत **बुद्धियोगपरीक्षा**-पूर्वखण्ड बुद्धिनिष्ठों की सेवा में प्रणत-भाव से उपस्थित हो रहा है। विशेष वैज्ञानिक विषयों के स्पष्टीकरण के लिए लगभग १७ रेखाचित्र, तथा २०७ के लगभग (तालिकारूप से) परिलेख भी समाविष्ट हुए हैं। शोधसंस्थान की आर्थिक सीमाओं के अनुबन्ध से तिरङ्गे चित्र प्रकाशित नहीं किए जा सके, जो कि विभक्त विषयों की दृष्टि से आवश्यक थे। एवमेव प्रेस–प्रतिलिपि–संशोधन–आदि आदि में

सर्वथा एकाकीरूप से व्यस्त रहने के कारण प्रकाशन भी जैसा व्यवस्थित-सुन्दर होना चाहिए था, नहीं हो सका है, जिन इन अवश्यंभाविनी त्रुटियों के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं।

कृतज्ञ हैं हम उस **'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान'** के प्रति, जिसके अनुग्रह से अनेक वर्षों से अवरुद्धा प्रकाशनप्रवृत्ति को पुनः प्रक्रान्त करने में हम समर्थ बन सकें हैं। कृतज्ञ हैं हम सस्थान के मान्य मन्त्री **'श्रीवासुदेवशरण'** अग्रवाल महाभाग के प्रति, जिन की प्रेरणा से गतवर्ष 'तत्त्वशोधसंस्थान' स्थापित हुआ। एवं सर्वात्मना कृतज्ञ हैं हम उस श्रेष्ठिप्रवरत्रयी के प्रति, जिसने आज से एक वर्ष पूर्व अपनी मुक्तहस्तता का परिचय प्रदान करते हुए इस सद्योजात संस्थान को अद्यावधि जीवित रख लेने का महत्पुण्यार्जन किया है।

जिस राजस्थान-प्रान्त के परम पावन क्रोड़ में यह साहित्यसाधना प्रक्रान्त है, उस **'राजस्थान-सत्ता'** के प्रति भी 'कृतज्ञता' अभिव्यक्त कर देना इसलिए हम अपना नैष्ठिक कर्त्तव्य मान रहे हैं कि, अपने इस परम-नीतिकुशल मान्य प्रान्तीय सत्तातन्त्र (राजस्थान सरकार) के द्वारा विगत तीन वर्षों से हमारी प्रस्तुत साहित्य-सेवा के प्रति जो उद्‌बोधन सूत्र हमें उपलब्ध होते रहे हैं, (हो रहे हैं, एवं सम्भवतः भविष्य में भी होते ही रहेंगे) उन्हीं उद्‌बोधनसूत्रों के बल पर हमारी गुहानिहिता स्वाध्यायनिष्ठा उत्तरोत्तर अन्तर्मुखा ही बनती जा रही है। **सौर्य्यमारुतिक,** किंवा **वातातपिक** लोकक्षेत्रों से सम्बन्ध रखनें वालीं जिन बाह्य प्रवृत्तियों के व्यामोहन-पाशात्मक वारुण-बन्धनों से आबद्ध हो पड़ने वाला हमारा मनस्तन्त्र विगत तीन वर्षों से अपनी इतस्ततः दन्द्रम्यमाणा-अनुधावनवृत्ति से गुहानिहिता-स्वाध्यायनिष्ठा से अधिकांश में वञ्चित ही बनता आ रहा था, एकमात्र सत्तातन्त्र के तथाविध सर्वथा तटस्थतात्मक महान् अनुग्रह से ही इस अनुधावन-चङ्क्रमण-व्यामोहन से मनस्तन्त्र का परित्राण हो सका है, जिस के उपलक्ष में अपने इस उद्‌बोधनप्रदाता राजस्थानसत्ता-तन्त्र के प्रति भी अत्यन्त सम्मानपूर्वक कृतज्ञता समर्पित कर देना आत्मबुद्धिसम्मत पक्ष तो मान हीं लेंगे बुद्धियोगनिष्ठ मानवश्रेष्ठ।

अब प्रश्न शेष रह जाता है तत्त्वशोधसंस्थान के भविष्य का। तत्सम्बन्ध में इसलिए हम सर्वथा अनुद्विग्न हैं कि, ऐसे लोकानुगत संस्थान-नाममात्रों से इस प्राच्य ऋषिसंस्कृति का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। यह तो एक वैसी सामयिक कण्डूमात्र है, जो थोड़ी भी असावधानी से कालान्तर में लोकैषणात्मक महाम् व्यामोहन की जननी बन जाया करती है। नापि इस नाममात्र से वेदतत्त्वस्वाध्यायनिष्ठा के हिताहित का ही कोई सम्बन्ध। युगधर्म्मानुपात से इस 'नाम' व्याज से यदि कुछ होता रहता है प्रचारदृष्टि से, तो स्वागत है तटस्थरूप से

इस प्रचार का भी। यदि उपशान्त हो जाती है यह प्रचारैषणा, तो भी श्रेय.पन्था ही है। क्योंकि इस आर्ष-संस्कृति के संरक्षण का उत्तरदायित्त्व तो स्वयं वेदस्रष्टा उस स्वयम्भू प्रजापति से अनुप्राणित है, जिसके सम्बन्ध में ये उद्घोष प्रसिद्ध हैं कि—

"अजान् ह वै पृश्णीन्-तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भू-अभ्यानर्षत्"।
"कविर्म्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यद्धात्-
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः"।-(श्रुतिः)

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥
—(पुराण)

आत्मा-बुद्धिसमता मूलनिष्ठाओं के अन्तम्मुर्ख बन जाने से, साथ ही मनःशरीर-निबन्धना भावुकताओं के प्रधान बन जाने से जब जब भी इस पुण्य-भूमि-भारतराष्ट्र में ज्ञानविज्ञानतत्त्वात्मिका आर्षसंस्कृति पददलित हुई परप्रत्ययनेय-गतानुगतिक-भावुक मानवों के द्वारा, तब तब ही इस राष्ट्र की अमुक अज्ञात-प्रज्ञाओं नें स्वाध्यायनिष्ठा-विरोधी यच्चयावत् प्रलोभन-व्यामोहनों से आत्मत्राण करते हुए, साथ ही युगधर्म्मानुगत सभी कष्टपरम्पराओं, अपमानों, एवं तिरस्कारों का स्वागत करते हुए सर्वथा गुहानिहितरूप से अपनी एकान्तनिष्ठ स्वाध्यायसाधना से राष्ट्र के इस मूल-सांस्कृतिक बीज को अपने रक्तदान से आर्द्र-बनाए रक्खा। क्योंकि इसे अपनी चिरन्तन-परम्परा से इस स्वाध्यायनिष्ठा-संरक्षण-के लिए इसी प्रकार के आदेश उपलब्ध होते रहे हैं कि—

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्ययस्य विरोधिनः।
यथातथाध्यापयँस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥
—मनुः

अर्थात्-"स्वाध्यायनिरता उस (ब्रह्मवर्चस्) प्रज्ञा को वैसे यच्चयावत् आर्थिक-सामाजिक-प्रलोभनों का परित्याग ही कर देना चाहिए, जो इसकी स्वाध्यायनिष्ठा में विघ्न उत्पन्न कर देते हैं। युगधर्म्मानुगत सम्पूर्ण प्रलोभनों से अपने आप को बचाते हुए बड़ी कठिनता से जीवनयात्रामात्र का निर्वाह करते हुए (संस्कृतिबीजसंरक्षक) स्वाध्यायतप को अक्षुण्ण बनाए रखना ही इत्थंभूता प्रज्ञा की कृतकृत्यता है, जन्मसाफल्य है"।

युगधर्म्मानुगत मानसिक प्रभाव से कुछ वर्ष पूर्व हम भी इस लोकात्मक-प्रचार-व्यामोहन-पथ के पथिक बन जाने के लिए आतुर हो पड़े थे। फलस्वरूप इस प्रचार-तृष्णा से हमें भी तत्र

तत्र अनुधावन करते रहना पड़ा था, यत्र यत्र केवल अवमान-तिरस्कार के और कुछ भी उपलब्धि की सम्भावना न पहिले थी, न आज है। अपनी इसी भोग-भुक्त्यनुभूति के अनुग्रह से अन्ततोगत्त्वा हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि,-"सचमुच हम भ्रान्त थे, सर्वथा लक्ष्यविहीन हीं बने हुए थे दूसरे शब्दों में सर्वनाशकारिणी मोहमयी लोकैषणा के लक्ष्य बनने जारहे थे, जिस के उपक्रम में हीं परवञ्चकता-मिथ्याप्रशंसा-कल्पित आडम्बर-प्रातिभासिक प्रदर्शन-आदि आदि आसुरभाव विराजमान रहा करते हैं"। इसी उद्बोधनानुग्रह से आज हम इस लक्ष्य पर अश्माखण्डवृत्ति से पूर्ववत् पुनः आरूढ हैं कि,-"**संस्कृति-संरक्षण का एकमात्र मूलसूत्र अनन्यनिष्ठा से एकान्तनिष्ठ बन कर स्वाध्यायनिरत बने रहना हीं है**"।

जिन भारतीय चिरन्तन आर्ष-प्रज्ञाओं को इस मूलसंस्कृति के संरक्षण की चिन्ता है, उन पावन-प्रज्ञाओं का अत्यन्त प्रणतभाव से आह्वान कर रहे हैं हम अपने इस गुहानिहित ज्ञान-सत्त्रात्मक-मानवाश्रम में, जहाँ न किसी प्रकार का प्रदर्शन है, न बाह्य प्रचार है, न किसी प्रकार के लोकानुबन्धी लोकैषणा-वित्तैषणा-समुत्तेजक अन्यान्य सामयिक प्रलोभन। है केवल सर्वथा परोक्षाभावानुगता-**स्वाध्यायतपोनिष्ठा**। न्यूनतम एक शताब्दी पर्य्यन्त राष्ट्र की अमुक प्रज्ञाओं को गुहानिहित बन कर सर्वप्रथम अपनी मूलसंस्कृति के उस ज्ञानविज्ञानात्मक विशुद्ध तात्त्विकरूप को ही पुनः अभिव्यक्त करने में प्राणपण से जुट पड़ना चाहिए, जो मूलसंस्कृति विगत ३-४ हजार वर्षों से विभिन्न मतवादों के आवरण से आवृत होती हुई अपने विशुद्ध मौलिकरूप से सर्वथा ही तिरोहित बनी हुई है।

यह सर्वथा सर्वात्मना सदा संस्मरणीय, एवं अनिवार्य्यरूपेण अविस्मरणीय है कि, केवल-'संस्कृति-साहित्य-ज्ञानविज्ञान-आदर्श'-आदि आदि शब्दों की घोषणाओं से कदापि आज के उस भारतराष्ट्र का वास्तविक उद्बोधन स्वप्न में भी सम्भव नहीं है, जिस भारतराष्ट्र के **आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर**-चारों हीं मानवीय पर्व विगत २-३ सहस्र-वर्षों से नवग्रहग्राहात्मक सम्प्रदायवादों से, विध्वंसक आततायी वर्ग के द्वारा होतीं रहने वालीं आक्रमणपरम्पराओं से, सर्वोपरि विगत शताब्दी में होते रहने वाले चाणाक्षचतुर प्रतीच्य (पश्चिमी) राजनैतिकों के सर्वस्वघातक भूतवादों से सर्वथैव परायत्त प्रमाणित होचुके हैं। 'अपना' कहने के लिए, अपनाने के लिए भारतराष्ट्र के कोश में प्रत्यक्ष में आज कुछ भी शेष नहीं रह गया है।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता-प्राप्तिकाल के उपक्रम से प्रक्रान्त 'भारतीयता' के महान् उद्घोषों में अथ से इति पर्य्यन्त सर्वात्मना सबकुछ प्रतीच्य ही प्रतीच्य प्रमाणित हो रहा है। नाममात्र

के लिए 'भारतीयता' का तुमुल उद्घोष, किन्तु आचारदृष्ट्या सभी क्षेत्रों में अभारतीयता का साम्राज्य। वही शिक्षा, वही सभ्यता, वही आदर्श, वही आचार-व्यवहार, और सर्वस्वघातक अन्तर्राष्ट्रीय-व्यामोहन के माध्यम से सर्वथैव स्वस्वरूपविस्मृतिपूर्वक परस्वरूपों का अन्धानुकरण। ऐसी महाभयावहा संघर्षवेला में मूलसंस्कृति-बीज के अङ्कुरित कर लेने की आशा सर्वथा दुराशा ही मानी जायगी तबतक, जबतक ही यहाँ की अमुक प्रज्ञाएँ अपने आपको यच्चयावत् सामयिक प्रलोभनों से अवधान पूर्वक बचाते हुए, दूसरे शब्दों में लोकैषणा-वित्तैषणा-प्रवर्त्तक व्यामोहनों से जागरूकता पूर्वक अपने आपको असंस्पृष्ट बनाए रखते हुए सर्वप्रथम अपनी मूलसंस्कृति के शुद्ध स्वरूप को अभिव्यक्त नहीं कर लेतीं। इस स्वरूपबोध के अनन्तर ही (जिसमें अनुमानतः एक शताब्दी का समय अपेक्षित है) भारतराष्ट्र स्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित हो सकेगा। और उस अवस्था में किसी भी वैसे प्रचार-विजृम्भण की कोई भी आवश्यकता शेष नहीं रह जायगी, जिसके लिए आज कतिपय संस्कृतिभक्त आकुल-व्याकुल बने हुए हैं।

प्रचारकण्डू का आत्यन्तिक निरोध कदापि अभिप्रेत नहीं है। अमुक सुप्रसिद्ध न्याय * के अनुसार गच्छतः स्खलनरूप से कुछ करते रहने से भी शनैः शनैः कुछ तो सम्भव है ही। इसी आधार पर सम्भवतः--**'अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः'** आभाणक प्रसिद्ध भी है। अभिप्रेत केवल यही है कि, प्रचार के मूल में सर्वथा तत्त्वस्वाध्यायनिष्ठा ही प्रतिष्ठित रहनी चाहिए। प्राथमिकता स्वाध्याय की, एवं अपनी इस स्वाध्यायनिष्ठा का संरक्षण करते हुए, किसी भी प्रवाह में प्रवाहित न होते हुए सत्यधर्म्मपथ से अनुरूप क्षेत्रों में (आस्थाश्रद्धासमन्वित क्षेत्रों में) ऋजुभाव से प्रचार-पथ का अनुगमन। इसी निर्णीत पथ को लक्ष्य बनाते हुए अब वैसे लोकसंग्रहात्मक प्रचारव्यामोहन को सर्वथैव जलाञ्जलि समर्पित कर दी गई है, जहाँ आदि-मध्य-अवसान-तीनों भूमियों में केवल स्व-पर-प्रतारणा के अतिरिक्त और कुछ भी तो सम्भावित नहीं है। ऋजुभावात्मिका इसी आस्थामयी श्रद्धाबिन्दु के माध्यम से संस्थान के मन्त्री महोदय की बलवती प्रेरणा से हमें आस्था-श्रद्धासमन्वित **'राष्ट्रपति महाभाग** के सम्मुख इस संस्कृति के कतिपय सूत्र रख देने का गौरव प्राप्त हुआ, जिसे हम संस्कृति के भविष्य के लिए 'प्रशस्त' पथ मान सकते हैं। अतएव—

सर्वान्त में सर्वथा प्रणतभाव से भारतराष्ट्र के सर्वोच्च पद पर समासीन महामहिम राष्ट्रपति **श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महाभाग** के प्रति भी कृतज्ञताञ्जलि समर्पित कर देना हम अपना आवश्यक

---

* न हि कल्याणकृत् कश्चिद्-दुर्गतिं तात ! गच्छति ।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

कर्त्तव्य मान रहे हैं, जिन्होंनें अपनी सहजसिद्धा भारतीय प्राच्यसंस्कृति-साहित्यनिष्ठा के आकर्षण से ❀ विगत दिसम्बर मास में निरन्तर पाँच दिवस पर्य्यन्त सम्प्रदायवाद-निरपेक्ष वेदपुराणशास्त्रानुबन्धिनी ज्ञानविज्ञान-परिभाषाओं के विश्लेषण-समय के दान से हमें कृतज्ञ बनाया है। साथ ही हमें ऐसा आश्वासन उपलब्ध हुआ है मान्य-राष्ट्रपति महाभाग से कि, वे शीघ्र ही केन्द्रसत्ता का, तथा प्रान्तीय सत्ताओं का ध्यान भी आकर्षित करने का अनुग्रह करेंगे इस ओर।

विगत ३-४ वर्षों से राजस्थानसत्ता के प्रति इस दिशा में हम सर्वात्मना प्रयत्नशील थे। किन्तु सम्भवतः हम किसी अपने हीं अज्ञात दोष से निरन्तर प्रयास करते हुए भी राजस्थानसत्ता के सर्वसमर्थ प्रज्ञाशील भी सत्ताधीशों का अनुग्रह प्राप्त न कर सके। अपने हीं प्रान्त की इस आत्मीय-सत्ता से इसप्रकार उपेक्षित होने से निरतिशयरूप से उत्पीड़ित होते हुए इस दिशा में तटस्थ बन जाना हीं हमने श्रेयःपन्था मान लिया था। सहसा जनवरीमास के आरम्भ में हीं राजस्थान के संस्कृतिनिष्ठ महामान्य **श्रीराज्यपाल महाभाग** का हमें विशेष अनुग्रह प्राप्त हुआ। एवं आपने बड़े ही धैर्य्य से हमारी साहित्यसेवा का पर्य्यवेक्षण किया। साथ ही राजस्थानसत्ता के अपने हीं घर के इसप्रकार के साहित्यिक कार्य्य के प्रति उदासीन बने रहने के प्रति खेद भी प्रकट किया। और हमें यह आश्वासन प्रदान करने का निःसीम अनुग्रह किया कि, 'राज्यपाल शीघ्र ही इस दिशा में राजस्थानसत्ता के सहयोग के लिए कृतसंकल्प हैं। तदर्थ कृतज्ञता समर्पित कर रहे हैं हम हृदय से अपने महामान्य श्रीराज्यपाल महाभाग के प्रति भी।

आज से अनुमानतः तीन वर्ष पूर्व मोहमयी (बम्बई) के सुविख्यात् धनकुबेर श्रेष्ठिप्रवर **श्रीगोविन्दरामजी** महाभाग सेकसरिया के एकमात्र सुपुत्र श्रेष्ठिप्रवर मानवश्रेष्ठ आर्षसंस्कृतिपरायण **श्रीकुडीलालजी महाभाग** सेकसरिया ने लगभग पच्चीससहस्र के व्यय से **आत्मविद्या, सापिण्ड्य-विद्या** से सम्बन्ध रखने वाले दो ग्रन्थ प्रकाशित करवाने का अनुग्रह कर स्वयं अपनीं हीं ओर से इन्हें विश्व के संस्कृतिनिष्ठ विद्वानों के समीप भेजा था। **जापान-इटली-जर्म्मन-अमेरिका** आदि के संस्कृतिनिष्ठ विद्वानों की जैसी सम्मतियाँ हमें उस समय प्राप्त हुईं थीं, उनके आधार पर सहसा एक बार तो हमारी ऐसी धारणा हो गई थी कि, व्यर्थ ही जन्म लिया हमनें इस भारत देश में, जहाँ सरस्वती का मूल्याङ्कन आज केवल जड़ धातुखण्डों से ही किया जा रहा है। आज से अनुमा-

❀-महामहिम राष्ट्रपति महाभाग की प्रेरणा से गत दिसम्बर सन् ५६ की १४-१५-१६-१७-१८-तारीखों में निरन्तर पाँच दिवस पर्य्यन्त राष्ट्रपति महाभाग की समुपस्थिति में जो व्याख्यान हुए थे, वे स्वतन्त्ररूप से प्रकाशित हो गए हैं।

नतः दो वर्ष पूर्व हमारी साहित्य-सेवा से पूर्ण परिचय प्राप्त करने वाले राजस्थान के ही एक सम्मान्य मन्त्री महाभागनें अनुग्रह करते हुए हमें यह आश्वासन दिया था कि **"यदि राजस्थान सत्ता एक हजार वार्षिक भी दे दे, तो हमें कृतकृत्य बन जाना चाहिए। क्योंकि आरम्भ थोड़ा ही अच्छा है"** । यह है हमारे उस देश भारत राष्ट्र की संस्कृतिनिष्ठा, जिसने वेदशास्त्र जैसी महामहनीया लोकोत्तरा संस्कृति को जन्म दिया है । उधर जापान के विश्वविद्यालय के एक सम्मान्य प्रोफेसर ने अपने सम्मतिपत्र में इस साहित्यिक कार्य्य के प्रति अपनी यह धारणा अभिव्यक्त की है कि—**"हमारा जापान राष्ट्र युद्धक्षति की पूर्त्ति न कर सकने के कारण अभी तक इस प्रकार की साहित्य-साधनाओं में सफलता प्राप्त नहीं कर सका है । सचमुच आपका देश (भारतराष्ट्र) धन्य है, जिसने आपको ऐसी सुविधा प्रदान की ?, जिसके बल पर आपने अपनी इसप्रकार की साहित्य-साधना को सफल बनाया। अब हमने भी आपके इस साहित्यप्रचार की दृष्टि से अपनी युनिवर्सिटी में हिन्दी के क्लास खोल दिए हैं"** ।

स्पष्टतम है कि, विगत तीन हजार वर्षों से प्रक्रान्त बनी रहने वाली विविध मतवाद-सम्प्रदायवाद-निबन्धना आत्मबुद्धि-अनुगता आभ्यन्तरादासता ने, तथा विगत एक सहस्र वर्ष से प्रक्रान्त बनी रहने वाली मनःशरीरनिबन्धना बाह्य दासता ने भारतराष्ट्र की बुद्धियोगनिष्ठा को एकान्ततः अभिभूत ही कर लिया है । हमारी सांस्कृतिक-साहित्यिक चेतना सर्वात्मना प्रसुप्तवत् ही प्रमाणित हो गई है । यदा कदा जब कोई विदेशी विद्वान् यहाँ की संस्कृति, किंवा साहित्य-दिशा के सम्बन्ध में अपनी धारणा व्यक्त करता है, तो एक क्षणमात्र के लिये हमारे देश के महापुरुष एक प्रचण्ड कोहरे से मानो अपना मुख ऊपर करते हैं, और पुनः क्षणानन्तर ही उसी नीहारिका के गर्भ में प्रविष्ट हो जाते हैं, मानो इन्होंनें कुछ सुना ही न हो । भारतराष्ट्र की आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर-दासतामूला इस सर्वदासता को लक्ष्य बना कर ही कलकत्ता की गान्धीजयन्ती के अवसर पर सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता स्व० **श्री जे. एम. सेन गुप्ता** महाभाग ने अपने ये उद्गार प्रकट किये थे कि—

"जखुन एई पश्चिमेरा आमादेर चोखे आँगुल दिए देखे दाय, तखुन आमरा बुझि-एई बड़ो लोक" ।

अर्थात **"जब ये पश्चिम के विद्वान् हम भारतीयों की आँखों में अङ्गुली डाल डाल कर हमें यह बतलाते हैं कि, तुम्हारे देश में अमुक विद्याएँ हैं, अमुक श्रेष्ठ कार्य्य हैं,**

तब कहीं हमारी समझ में कुछ आता है कि, सचमुच यह राष्ट्र का महान् कार्य्य है"-(सो भी क्षणमात्र के लिए ही–भूतावेशवत्)।

भारतवसुन्धरा के महत्सौभाग्य से भारतराष्ट्र आज मनःशरीरानुबन्धिनी दासता के वारुण-पाशबन्धन से अहिःकञ्चुकिवत् विनिर्मुक्त हो चुका है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। किन्तु इस तथ्य के साथ भी कदापि गजनिमीलिका नहीं की जा सकती कि, भारतीय मौलिक प्राच्य ज्ञान–विज्ञानसंस्कृति के अभाव से हमारी आत्मबुद्धिनिबन्धना आभ्यन्तर दासता अभीतक ज्यों की त्यों सुरक्षित ही बनी हुई है। 'स्वतन्त्रता' के वास्तविक अर्थ के समन्वय के लिए हमें शीघ्र से शीघ्र इस आत्मबुद्धिदासता से राष्ट्र का परित्राण कर लेना है। यह कार्य्य कदापि स्वप्न में भी केवल पश्चिम के अन्धानुकरण से तबतक सम्भव नहीं है, जबतक कि हम अपनी मूलसंस्कृति–मौलिक प्राच्य–साहित्य को आधारशिला के रूप में ज्ञानविज्ञानदृष्टि से अपने राष्ट्रीय निर्म्माण कार्य्यों में, विविध योजनाओं में प्रतिष्ठित नहीं कर लेते।

जिस राष्ट्र के ज्ञानीय कोश में **'बुद्धियोग'** निष्ठा प्रतिपादक **'गीता'** जैसा लोकोत्तर शास्त्र सुरक्षित हो, वह भी यदि आत्मबुद्धिदासता में निमग्न रहता हुआ अपनी प्रत्येक प्रगतियों में पश्चिम का ही अन्धानुकरण करता रहे, तो सचमुच इस के लिए इससे अधिक लज्जा का और कोई क्षेत्र नहीं माना जासकता। अभिनव स्वतन्त्रता के इस उषाकाल में भारतराष्ट्र इस स्थिति को देखे, समझे, एवं अविलम्ब अपने मौलिक साहित्य की ज्ञानविज्ञान–परिभाषाओं के अन्वेषण में प्रवृत्त हो, तन्माध्यम से आत्मबुद्धिदासता का परित्याग कर वास्तविक स्वातन्त्र्य-सुख का सफल उपभोक्ता प्रमाणित हो, एकमात्र इसी मङ्गलमयी राष्ट्रीय कामना से बुद्धियोगनिष्ठात्मक यह श्रद्धा-प्रसून राष्ट्र के महामहिम संस्कृतिनिष्ठ राष्ट्रपति **श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महाभाग** के करमलों में अत्यन्त सम्मान के साथ समर्पित करते हुए यः कश्चिदपि यह मुकरक्तशर्म्मा आङ्गिरस भारद्वाज मनस्तुष्टि का ही अनुभव कर रहा है।

ओमित्येतत्

मर्गशीर्षशुक्ल–वसन्तपञ्चमी
वि० सं० २०१३

मानवाश्रमविद्यापीठ, दुर्गापुरा
(जयपुर राजस्थान),

श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक 'ग' विभागानुगत

पूर्वखण्ड की

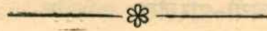
परिलेखसूची, एवं संक्षिप्त-विषयसूची

श्रीः

बुद्धियोगपरीक्षा–पूर्वखण्डानुगता–परिलेखसूची

सैषा बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्डानुगता

परिलेखसूची-उपरता



श्री :

'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक पूर्वखण्ड की संक्षिप्त

विषय-सूची

* –'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक पूर्वखण्ड का प्रकरणविभाग–

सैषा प्रकरणत्रयात्मिका बुद्धियोगपरीक्षा

——*——

तदिदं स्तम्भचतुष्टयात्मकं–प्रथमप्रकरणम्

——१——

तदिदं स्तम्भचतुष्टयात्मकं–द्वितीयप्रकरणम्

——२——

(३)-बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार———६४५ से ६६२ पर्य्यन्त

सैषा प्रकरणत्रयात्मिका नवस्तम्भानुगता बुद्धियोगपरीक्षा

——३——

स्तम्भचतुष्टयात्मक-'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक

प्रथम-प्रकरण

प्रथमप्रकरणान्तर्गत-'सन्दर्भसङ्गति' नामक प्रथम स्तम्भ के १४ अवान्तर परिच्छेद

(१ पृष्ठ से १८ पृष्ठ पर्य्यन्त)

——*——

प्रथमप्रकरणान्तर्गत 'सन्दर्भसंगति' नामक चतुर्दश (१४) अवान्तरपरिच्छेदात्मक

प्रथमस्तम्भ–उपरत

(१)–१

——*——

प्रथमप्रकरणान्तर्गत–'योगेश्वर का तात्त्विकस्वरूपनिरूपण' नामक

द्वितीय स्तम्भ के १५१ अवान्तर परिच्छेद

(१६ से २०४ पर्य्यन्त)

——*——

प्रथमप्रकरणान्तर्गत–'योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूपनिरूपणा'त्मक

१५१ अवान्तर परिच्छेदात्मक

द्वितीयस्तम्भ—उपरत

(१)—२

प्रथमप्रकरणान्तर्गत—"योगेश्वरानुगत 'योग'स्वरूपनिरूपण" नामक तृतीय स्तम्भ के ५६ अवान्तर परिच्छेद

(२०५ से २६८ पर्यन्त)

*–ज्ञानयोगात्मिका ज्ञानयोग–चतुष्टयी तृतीया (३)

—(३)—

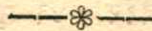
*–बुद्धियोगात्मिका बुद्धियोग–चतुष्टयी चतुर्थी (४)

प्रथमप्रकरणान्तर्गत–''योगेश्वरानुगत–'योग'–स्वरूपनिरूपणात्मक''

५६ अवान्तरपरिच्छेदात्मक

तृतीय स्तम्भ–उपरत

(१)—३



प्रथमप्रकरणान्तर्गत–"बुद्धितत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन" नामक चतुर्थस्तम्भ के ७५ अवान्तर परिच्छेद

(२६६ से ३७६ पर्य्यन्त)

प्रथमप्रकरणान्तर्गत-'बुद्धितत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन 'नामक'

७५ अवान्तरपरिच्छेदात्मक

चतुर्थस्तम्भ-उपरत

(१)-४

---*---

चतुःस्तम्भसमष्ट्यात्मक-'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक

प्रथमप्रकरण समाप्त

-१-

स्तम्भचतुष्टयात्मक–'बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक द्वितीय–प्रकरण

२

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'धर्म्मबुद्धियोगानुगत–आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथम स्तम्भ के १२१ अवान्तर परिच्छेद

(३७७ से ५०६ पृष्ठ पर्य्यन्त)

अथ–विद्यास्वरूपपरिचयः—

इति–विद्यास्वरूपपरिचयः—

स्तम्भचतुष्टयात्मक–'बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक द्वितीय–प्रकरण

२

—— ❀ ——

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'धर्म्मबुद्धियोगानुगत–आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथम स्तम्भ के १२१ अवान्तर परिच्छेद

(३७७ से ४०६ पृष्ठ पर्य्यन्त)

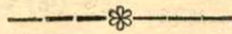
—— ❀❀ ——

अथ–विद्यास्वरूपपरिचयः—

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत-"धर्म्मबुद्धियोगानुगत-आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचना"नामक १२१ अवान्तरपरिच्छेदात्मक

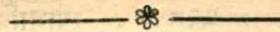
प्रथमस्तम्भ-उपरत

(२)—१



द्वितीयप्रकरणान्तर्गत-"ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत-राजविद्यास्वरूपनिर्वचन"नामक द्वितीय स्तम्भ के ४१ अवान्तर परिच्छेद

(५०७ से ५४२ पृष्ठ पर्य्यन्त)



द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत–राजविद्यास्वरूपनिर्वचना' त्मक
४१ अवान्तर परिच्छेदात्मक
द्वितीय स्तम्भ––उपरत

(२)—२

——*——

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'ज्ञानबुद्धियोगानुगत–सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक
तृतीय स्तम्भ के ३४ अवान्तर परिच्छेद
(५४३ से ५८८ पृष्ठपर्य्यंत)

——*——

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'ज्ञानबुद्धियोगानुगत–सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचना' त्मक

३४ अवान्तर परिच्छेदात्मक

तृतीय स्तम्भ–उपरत

(२)–३

———*———

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत-'वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक चतुर्थ स्तम्भ के ४८ अवान्तर परिच्छेद

(५८६ से ६४४ पृष्ठपर्य्यन्त)

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'वैराग्यबुद्धियोगानुगत–राजविद्यास्वरूपनिर्वचना' त्मक
४८ अवान्तर परिच्छेदात्मक
चतुर्थ स्तम्भ—उपरत

(२)—४

———*———

चतुःस्तम्भसमष्टयात्मक–'बुद्धियोगानुगत–विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक
द्वितीय प्रकरण–समाप्त

—२—

———*———

(३) बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार–(तृतीय प्रकरण)

तत्रैते–अवान्तरपरिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्याः
(६४५ पृष्ठ से ६६२ पृष्ठ पर्य्यन्त)

———*———

उपरतञ्चेदं–'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार'–नामकं
तृतीयं प्रकरणं–१० अवान्तरपरिच्छेदात्मकम्

——३——

उपरता चेयं'–बुद्धियोगपरीक्षा–नामक–पूर्वखण्डस्य
संक्षिप्ता विषयसूची

——*——



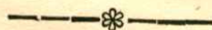
श्रीः

बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड की

संक्षिप्त परिलेख सूची

एवं

विषयसूची—समाप्त



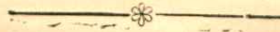
श्री:

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–प्रकरणत्रयात्मक 'बुद्धियोगपरीक्षा'
नामक पूर्वखण्ड का

'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक

प्रथम–प्रकरण

१



श्रीः

अथ-बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमे प्रकरणे

'सन्दर्भसङ्गति-' नामकः

प्रथमः स्तम्भः

(१)-१



श्रीः

बुद्धियोगपरीक्षायां-'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनम्' नाम-प्रथमं प्रकरणम्

प्रथमप्रकरणेऽस्मिन्–'सन्दर्भसङ्गति-' नामकः

प्रथमः स्तम्भः

१—माङ्गलिकसंस्मरणम्—

१—नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥
—ऋक्संहिता १०।११२।९।

२—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥
—ऋक्संहिता ६।४।२६।

३—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
—तैत्तरीयब्राह्मण २।८।८।५।

४—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥
—तै० ब्रा० २।८।८।

५—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देव-'मात्मबुद्धिप्रकाशं' मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१८।

६—ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥
—ऐतरेय आरण्यक

७—आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु ।
'बुद्धिं' तु सारथिं विद्धि, मनः-प्रग्रहवान्नरः ॥

इन्द्रियाणि हयानाहु, र्विषयाँस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्म्मनीषिणः ॥
—कठोपनिषत् १।३।३,४,।

८—यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः-प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥
—कठोपनिषत् १।३।८,६,।

६—एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रयया 'बुद्धया' सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
—कठोपनिषत् १।३।१२।

१०—स एको वर्णो बहुधा शक्तियोगात्-वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः, स नो 'बुद्धया' शुभया संयुनक्तु ॥
—श्वेता० उप० ४।१।

११—व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
—गीता २।४१।

१२—दूरेण ह्यवरं कर्म्म 'बुद्धियोगात्' धनञ्जय ! ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥
—गीता २।४६।

१३—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥
—गीता २।५०।

१४—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि 'बुद्धियोगं' तं येन मामुपयान्ति ते ॥
—गीता १।१०।

१५—चेतसा सर्वकर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
'बुद्धियोग' मुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
—गीता १८।५७।

२–शास्त्रनिष्ठा का शैथिल्य, एवं लोकनिष्ठा का प्राबल्य—

आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक, इन तीन प्रकार के तापों से सन्तप्त पुरुष अपने जन्मक्षण से आरम्भ कर मृत्युक्षण पर्य्यन्त शान्ति–सुख के लिए व्यग्र बना रहता है। इसकी यह व्यग्रता उस समय और भी अधिक प्रवृद्ध हो जाती है, जब कि शान्ति–सुख के लिए पर्य्याप्त प्रयास करने पर भी इसे शान्ति–सुख–नहीं मिलते। यावज्जीवन श्रौत-स्मार्त्त कर्म्मों में रत रहने वाले कर्म्मठ पुरुष भी वर्त्तमान युग में आध्यात्मिक शान्ति की कौन कहे, लौकिक सुख से भी वञ्चित होकर इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं। अहरोत्र नाम-ध्वनि का अनुगमन करने वाले भक्त भी लौकिक तापों से युक्त देखे सुने जाते हैं। अव्यक्त ज्ञानमार्ग का उद्घोष करने वाले वेदान्तमहानिधि भी अन्नचिन्ता से संत्रस्त हैं। भारतीय विद्वान् साभिनिवेश कहा करते हैं कि, शास्त्रीय मार्ग के परित्याग से ही मनुष्य दुःख पाया करता है। ओमित्येतत्। परन्तु, देखा–सुना यह जा रहा है कि, जो शास्त्रीय कर्म्म–भक्ति–ज्ञान-पथों के अनुगामी हैं, वे उन लौकिक मनुष्यों की अपेक्षा भी कहीं अधिक संत्रस्त हैं, जो लौकिक मनुष्य अपनी व्यावहारिकी बुद्धि के बल पर केवल व्यावहारिक मार्ग के अनुगामी बने हुए हैं। यह ठीक है कि, लौकिक मनुष्य भी आत्मशान्ति से तो वञ्चित हैं। और इस दृष्टिकोण से शास्त्र-निष्ठ, एवं लौकिक मनुष्य, दोनों वर्ग समतुलित हैं। परन्तु मानना पड़ेगा कि, योग–क्षेमानुगता लौकिक चिन्ता लोकनिष्ठ व्यवहारदक्ष पुरुष की अपेक्षा शास्त्रनिष्ठ–व्यवहारशून्य–पुरुष को ही अधिक उत्पीड़ित कर रही है। इसप्रकार प्रत्यक्षानुभव यह मानने मनवाने के लिए विवश कर रहा है कि, वर्त्तमान युग की शास्त्र-निष्ठा, एवं लोकव्यवहारनिष्ठा आत्मशान्तिप्राप्ति के स्थान में तद्विघातिका ही बन रही है। दोनों निष्ठाओं में से यदि योग–क्षेमचिन्ता को प्रधान मान लिया जाता है, तो–लोकनिष्ठा ही वर्त्तमानयुग में उपादेय, अतएव संग्राह्य मानी जासकती है। यही आज हो भी रहा है। लोकनीतिकुशल वर्त्तमानयुग के वर्त्तमानलोकशिक्षा-पटु महानुभावों का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में ऐसा ही कुछ बना हुआ है। उनका कहना है, और यह कथन तथ्यपूर्ण भी है कि, शास्त्रनिष्ठा से आत्मशान्ति तो नहीं हीं मिलती, शरीरसुख भी, योग–क्षेम भी पलायित हो जाते हैं। अतः हमें जीवन के मूलाधारभूत योग–क्षेम की रक्षा के लिए वर्त्तमान में लोकनिष्ठा का ही समादार करना चाहिए, एवं शास्त्रनिष्ठा की उपेक्षा कर देनी चाहिए। फलस्वरूप आज शास्त्रनिष्ठ समाज की संख्या क्रम–क्रमशः घटती जा रही है, और बढ़ती जा रही है लोकनिष्ठ–चतुर पुरुषों की संख्या।

३–मानव का भ्रान्तिमूलक परिताप—

क्या आज ही शान्ति-सुख को लेकर भारतवर्ष में यह सर्वथा नवीन प्रश्न खड़ा हुआ है?। नेति होवाच। आज से पहिले भी यह प्रश्न समय समय पर उपस्थित होता आ रहा है। क्या अतीत युगों में भी उपस्थित इस प्रश्न के संघर्ष में लोकनिष्ठा की ही मान्यता स्वीकार हुई है?, नेति होवाच। वर्त्तमान स्थिति से सर्वात्मना मिलते जुलते संकटकाल पुरायुगों में जब जब भी उपस्थित हुए, तब तब ही तत्त्ववेत्ताओं नें इस सम्बन्ध में अपना यही निर्णय प्रकट किया कि, शास्त्रानुगता धर्म्मनिष्ठा उसी दशा में हानि का कारण बनती है, जबकि, इसके अनुष्ठान-प्रकारों में किसी भी प्रकार के दोष का सम्बन्ध हो जाता है। साथ ही लोकानुगता अधर्म्मनिष्ठा तमोगुणप्रधान विश्व में थोड़े समय के लिए सुखसमृद्धि का कारण बनती हुई भी अन्ततोगत्वा समूल विनाश

का ही कारण बनती है +। शास्त्रीय धर्म्मनिष्ठा से यदि सुख-शान्ति प्राप्त नहीं होती, तो विश्वास करना चाहिए, अवश्य ही इसके अनुष्ठान में हमसे कोई भूल हुई है। उस भूल का अन्वेषण कर उसकी चिकित्सा करना हीं मानवधर्म्म है। इस भूल का यह अर्थ निकाल बैठना कि, शास्त्रीय पथ ही एक भूल है, महाभूल है। और इस महाभूल से समुत्पन्न परिताप का मानव को यावज्जीवन अनुगमन करना पड़ता है। क्योंकि निष्ठाभाव के स्वरूपविश्लेषक लोकसूत्र का यही निष्कर्षार्थ है, जो सूत्र इस रूप से प्रसिद्ध है कि—**"भूल देखना मानव की भूल नहीं है, क्योंकि भूल देखना मानवीय मन का सहज स्वभाव है। किन्तु भूल देखने में मानव को कदापि भूल नहीं करनी चाहिए। जो मानव दुराग्रहमूलक क्षणिक आवेश में आकर भूल देखने में भूल कर बैठते हैं, उन्हें यावज्जीवन परिताप का ही अनुगामी बना रहना पड़ता है"***। लोकनिष्ठा का तत्त्ववेत्ताओं नें विरोध नहीं किया, अपितु लोकनिष्ठाओं में मानवीय-कल्पना के आधार पर जिन प्रकृतिविरुद्ध-अशास्त्रीय भावों का समावेश हो जाता है, उनका निष्कासन करते हुए उन्होंनें इसे शास्त्रनिष्ठा की अभेद्या शिला पर प्रतिष्ठित किया है।

४–मानव का देवयुगकालीन उद्बोधन—

श्रुति हमें सुनाती है कि, एक बार भारतीय मनुष्यप्रजा ने यह कहते हुए शास्त्रनिष्ठा का परित्याग कर दिया कि,–"जो शास्त्रीय यज्ञादि कर्म्म करते हैं, वे तो दुःख पा रहे हैं, एवं जो इन कर्म्मों की उपेक्षा कर यथेच्छाचारविहारपरायण हैं, वे लौकिक मनुष्य शास्त्रनिष्ठों की तुलना में सुसमृद्ध बने हुए हैं। ऐसी स्थिति में हम भी क्यों शास्त्रनिष्ठा का अनुगमन करें। क्यों नहीं, हम भी लौकिक मनुष्यों की भाँति यथेच्छाचार-विहारपरायण बनते हुए सुखी बननें का प्रयास करें ×"। घटना उस युग की है, जो युग भारतवर्ष के लिए स्वर्णयुग माना गया है, वैदिक संस्कृतिप्रधान वह देवयुग, जिसमें प्रकृतिवत् इस पृथिवी पर ही त्रैलोक्य-व्यवस्था व्यवस्थित थी। भारतीय प्रजा की इस मनोवृत्ति के समाचार देवेन्द्र के समीप पहुँचे। देवेन्द्र ने अनुभव किया कि, शास्त्रीय निष्ठा की इस अश्रद्धा का कारण अवश्य ही कर्म्मदोष हुआ है। तत्काल देवगुरु

×–अधर्म्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥
—मनुः ४।१७४।

* खण्डचतुष्टयात्मक 'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता' नामक ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में इन लोक सूत्रों का स्वरूप सोदाहरण स्पष्ट हुआ है!

×–"स ये हाग्रे–ईजिरे, ते ह स्मावमर्शं यजन्ते। ते पापीयांस आसुः। अथ ये नेजिरे, ते श्रेयांस-आसुः। ततोऽश्रद्धा मनुष्यान्–विवेद–'ये यजन्ते–पापीयांसस्ते भवन्ति। य उ न यजन्ते, श्रेयांसस्ते भवन्ति' इति। ते ह देवा ऊचुः–बृहस्पतिमाङ्गिरसम्। अश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्, तेभ्यो विधेहि यज्ञमिति।"
—शत० ब्रा० १।२।५।२४।

बृहस्पति भारतवर्ष भेजे जाते हैं। वे यहाँ आकर अपने सम्मुख इनसे यज्ञ कराते हैं, और देखते हैं कि-अमुक अमुक स्थानों में इनके द्वारा त्रुटि हुई है, एवं यही त्रुटि कर्म्मस्वरूपविघातिका बनती हुई अश्रद्धा, तथा अनिष्ट का कारण बनी है। त्रुटि का विश्लेषण किया जाता है। आस्तिक प्रजा अपना दोष स्वीकार करती है। पुनः उसकी शास्त्रनिष्ठा पर श्रद्धा हो जाती है ÷।

५–कर्म्मकौशलानुगत–शास्त्रीय प्रकरण का वैशिष्ट्य—

उक्त भारतीयेतिवृत्तपरम्परा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, दोनों निष्ठाओं में शास्त्रनिष्ठा ही त्रिकालाबाधित शान्ति–सुखप्राप्ति का अनन्य–अन्यतम मार्ग है। शास्त्रनिष्ठा तभी हानिप्रदा बनती है, जबकि उसके अनुष्ठानप्रकार में हम अपनी ओर से कोई असावधानी कर बैठते हैं। शास्त्रनिष्ठा ही क्यों, लोकनिष्ठा भी तो इसी प्रकार सौष्ठव का समर्थन कर रही है। यथाव्यवस्थितिपूर्वक चातुर्य्य के साथ किया जाने वाला वही लौकिक कर्म्म जहाँ फलप्रद बनता है, वहाँ अनुष्ठानप्रकार की असावधानी कर्म्मस्वरूप को विकृत कर देती है, एवं ऐसे विकृत कर्म्म से कदापि अभीष्ट फलसिद्धि प्राप्त नहीं होती। कर्म्म का कुशलतापूर्वक किया जाने वाला अनुष्ठानप्रकार ही **'कर्म्मकौशल'** (कर्म्मचातुर्य्य) है। चाहे शास्त्रीय कर्म्म हो, अथवा तो लौकिक कर्म्म, कौशल ही इस कर्म्म का सौष्ठव है। यही कौशल कर्म्मविभूति का हमारे अध्यात्मजगत् के साथ योग कराने में समर्थ होता है। अतएव तत्त्वाचार्य्यों ने इस कौशल को * **'योग'** शब्द से व्यवहृत किया है। कुशल पाचक का कौशल पाककर्म्म की सफलता का रहस्य है। कुशल विद्वान् का कौशल स्वाध्यायाध्यापन–कर्म्म की सफलता का बीज है। कुशल याज्ञिक का कौशल यज्ञकर्म्म की प्रतिष्ठा है। ×। कुशल भक्त का कौशल ही भक्तिमार्ग का आलम्बन है। कुशल ज्ञानी का कौशल ही ज्ञानपथ की आधारभूमि है। यच्चयावत् मार्ग कुशलता–सम्बन्ध से योगात्मक बनते हुए उपादेय हैं, एवं यच्चयावत् मार्ग कुशलता से वञ्चित रहते हुए अनुपादेय हैं, हेय हैं, अतएव अनिष्टकर हैं।

÷–"स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः–'कथा न यजध्व' इति। ते होचुः–'किङ्काम्या यजेमहि। ये यजन्ते-पापीयांसस्ते भवन्ति। य उ न यजन्ते-श्रेयांसस्ते भवन्ति' इति। ××। स होवाच–अनवमर्शं यजध्वम्। तथा श्रेयांसो भविष्यथ-इति। स यो हैवं विद्वान्-अनवमर्शं यजते, श्रेयान् हैव भवति। तस्मादनवमर्शमेव यजेत"।
—शत० ब्रा० १।२।५।२५,२६,

*–बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व–"योगः कर्म्मसु कौशलम्" ॥ (गी० २।५०।)।

×–"तदु होवाच याज्ञवल्क्यः–ऋत्विजो हैव देवयजनम्। ये ब्राह्मणाः–शुश्रुवांसोऽनूचाना विद्वांसो याजयन्ति, सैव–अह्वला। एतन्ने–दिष्ठतमामिव मन्यामहे–इति" (शत० ३।१।१।४,५,)।

६—धर्म्म, और अधर्म्म की स्वरूपव्यवस्थिति—

तात्पर्य्य यह निकला कि, धर्म्म, अधर्म्म का कोई नियत स्वरूप नहीं है। वही तत्त्व, वही कर्म्म, अनुष्ठानप्रकाररूप कौशल से वञ्चित रहता हुआ अधर्म्म बन जाता है। वही तत्त्व कौशल के सम्बन्ध से धर्म्म बन जाता है। 'देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा' के समन्वय से ही धर्म्म का स्वरूपनिर्म्माण माना गया है ÷। वही भोजनकर्म्म एक स्वस्थ मनुष्य के लिए धर्म्म है, सन्निपातरोगग्रस्त व्यक्ति के लिए वही अधर्म्म है। वह शास्त्रनिष्ठा, धर्म्मपथ भी उस समय अशास्त्रीय निष्ठा, अधर्म्मपथ बन जाते हैं, जबकि वह निष्ठा, वह पथ कौशलरूप योग से वञ्चित हो जाते हैं। साथ ही वह लोकनिष्ठा, अधर्म्मपथ भी उस समय शास्त्रीयनिष्ठा, धर्म्मपथ बन जाते हैं, जबकि वह निष्ठा, वह पथ योग से युक्त हो जाते हैं ·|·। यहाँ आकर उस पूर्व प्रश्न का भलीभाँति समाधान हो जाता है कि, "शास्त्रनिष्ठा भी वर्त्तमान में क्यों अभ्युदय-निःश्रेयस के स्थान में आस्तिक प्रजा की अवनति का कारण बन रही है ?, एवं लोकनिष्ठा भी (लौकिक कुशलता के सम्बन्ध से) क्यों योगक्षेमनिर्वाहिका मानी जा रही है ?।"

७—कर्म्मकौशलप्रतिपादक गीताशास्त्र—

जिस कर्म्मकौशलात्मक योग के सम्बन्ध से यच्चयावत् निष्ठाएँ इष्टजननी-अनिष्टनिवारिका बन जातीं हैं, उस योग का, उस कर्म्मकौशल का स्वरूप क्या ?, एकमात्र इसी प्रश्न के समाधान के लिए 'समाधि' रूप से (बुद्धियोगरूप से) गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। मुग्ध आस्तिक प्रजा यह समझ रही होगी कि, गीता भी श्रौत-स्मार्त्त-सूत्र-ग्रन्थों, तथा मनु-याज्ञवल्क्यादि धर्म्मग्रन्थों की भाँति एक प्रकार का विधि-निषेध-ग्रन्थ होगा, आदेशग्रन्थ होगा। इसी भ्रान्ति का यह अनुग्रह है कि, आज कितने एक राष्ट्रवादियों नें गीता को ही स्व-कर्म्म-निर्णय का मूलाधारशास्त्र मानते हुए भारतीय अन्य मन्वादि-विधिनिषेधात्मक शास्त्रों की उपेक्षा करने में हीं अपना अभ्युदय मान लिया है। राष्ट्रवादियों की इस गीताभक्ति का हृदय से अभिनन्दन करते हुए भी इस सम्बन्ध में हमें उनके सम्मुख इस अप्रिय-सत्य का उद्घाटन करना ही पड़ेगा कि, यदि वे अपने कर्त्तव्य-कर्म्म के निर्णय के लिए अन्य शास्त्रों की उपेक्षा कर केवल गीताशास्त्र पर इसका उत्तरदायित्व डाल देंगे, तो उन्हें इस सम्बन्ध में सर्वथा निराश ही परावर्त्तित होना पड़ेगा। 'अमुक कर्म्म करो, अमुक कर्म्म न करो' इत्यादि विधि-निषेधभावों का गीता से कोई सम्बन्ध नहीं

÷—"देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम्।
प्राप्ते प्रदीयते यत्तत् सकलं धर्म्मलक्षणम्"॥
—या० स्मृ० १।६।

—देशं कालं वयः शक्तिं पापं चावेक्ष्य यत्नतः।
प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्याद्यत्र चोक्ता न निष्कृतिः॥
—या० स्मृ० ५।२६३।

·|·—योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥
—गीता० ५।६।

हैं। यदि किसी कर्म्म, भक्ति, ज्ञान का विधान भी हुआ है, तो उसकी वास्तविक विधि (इतिकर्त्तव्यता) का तो गीताशास्त्र ने स्पर्श भी नहीं किया है । यज्ञकर्म्म के सम्बन्ध में भगवान् ने आदेश तो अवश्य दिया है *। परन्तु अथ से इतिपर्य्यन्त अन्वेषण कर जाइए, कहीं भी यज्ञेतिकर्त्तव्यता का उल्लेख उपलब्ध नहीं होगा । यही स्थिति अन्य शास्त्रीय विधि-विधानों की है। 'कैसे करें, क्यों करें' ? इस कर्म्मकौशलात्मक प्रश्न का समाधान करना ही गीताशास्त्र का मुख्य विषय है। जब गीता से यह पूँछा जाता है कि, 'क्या करें, क्या न करें' ?, तो वह विस्पष्ट शब्दों में यही घोषणा कर देती है कि,-'कर्त्तव्य (विधि), अकर्त्तव्य (निषेध) का निर्णय शास्त्र के आधार पर ही करना चाहिए +। "

८-अभिनिविष्टा शास्त्रनिष्ठा की अनुपयुक्तता—

इसमें कोई सन्देह नहीं कि, गीता ने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के सम्बन्ध में जिस शास्त्र की ओर सङ्केत किया है, उसकी परिभाषा आज कई एक कारणों से दुरूह बन रही है । देश का यह निःसीम दुर्भाग्य है कि, जिस किसी भी रस्ते चलने वाले व्यक्ति के द्वारा केवल संस्कृतभाषा में लिखे गए पत्रों नें आज 'शास्त्र' का बाना पहिन कर आस्तिक प्रजा को व्यामोह में डाल रक्खा है। विभिन्न मतवादों का पोषण करने वाले साम्प्रदायग्रन्थों नें शास्त्र की वास्तविक परिभाषा को इसप्रकार आवृत कर लिया है कि, सार्वभौम गीताशास्त्र आज मत-विशेषों का ही उपोद्बलक बन गया है, अथवा तो बना दिया गया है। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र, एवं तदनुगामी स्मृतिशास्त्र ही वह मुख्य शास्त्र है, जिसका गीतोक्त 'शास्त्र' से संग्रह किया जा सकता है । परन्तु, तत्त्वतः शास्त्र की इस निष्ठा से भी काम चलता दिखाई नहीं देता । 'त्रैगुण्यविषया वेदाः'-'श्रुतिविप्रतिपन्ना०' इत्यादि वचनों की ओर जब हमारा ÷ ध्यान जाता है, तो शास्त्र की कुछ और ही परिभाषा माननी पड़ती है । वर्णाश्रमधर्म्मप्रतिपादक श्रुति-स्मृतिशास्त्र भी

---

*-यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
—गीता० १८।५।

+-तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥
—गीता० १६।२४।

÷-त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
—गीता० २।४५।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥
—गीता० २।५३।

आवेशदशा में राग-द्वेषासक्ति का जनक बनता हुआ आत्मपतन का कारण बन जाता है। जब तक इस शब्दशास्त्र के मूल में गुणातीत, गुह्यतम ·|· अध्यात्मशास्त्र प्रतिष्ठित नहीं कर दिया जाता, तब तक यह मान्य शास्त्र भी अशास्त्र ही बना रह जाता है। विधि-निषेध के अभिनिवेश से व्यापक अध्यात्मशास्त्र को सीमित बना कर शास्त्रपथ का अनुसरण करने वाले अभिनिविष्ट जन केवल त्रिगुणभाव के ही पथिक बने रह जाते हैं। और यह ध्रुव सत्य है कि, जब तक हमारी आध्यात्मिक संस्था त्रिगुणभावापन्ना है, तब तक रागद्वेष का साम्राज्य है। एवं जबतक रागद्वेष का साम्राज्य है, तब तक वास्तविक शान्ति-सुख की प्राप्ति असम्भव है। एवं तन्मूलिका अभिनिविष्टा शास्त्रनिष्ठा सर्वथैव अनुपयुक्ता है।

९-विलक्षण-पूर्ण, एवं अपूर्व गीताशास्त्र—

गुह्यतम अध्यात्मशास्त्र की तात्त्विक परिभाषाओं का श्रेय मिला गीताशास्त्र को। अध्यात्मविद्या ही अध्यात्मशास्त्र है, यही ब्रह्मविद्या है। इसे आधार बना कर भगवान् ने कौशलरूप 'योग' का स्वरूप-निरूपण किया। इसी योग के द्वारा बाह्य शास्त्रों का प्रतिष्ठापन किया। **'ब्रह्मविद्यायां-योगशास्त्रे'** रूप से अध्यायोपसंहार करने वाले गीताशास्त्र ने ब्रह्मविद्यात्मक आत्मशास्त्र, एवं तदनुगामी योग, इन दो तत्त्वों का ही विश्लेषण किया है। जिनके अनुगमन से, सम्बन्ध से, समन्वय से शास्त्रनिष्ठा भी त्रिगुणातीता बन कर शान्ति-सुख की प्रवर्त्तिका बन जाती है, एवं लोकनिष्ठा भी शान्ति-सुखप्रदात्री बन जाती है। शास्त्रनिष्ठापेक्षया गीताशास्त्र जहाँ भारतीय वर्णाश्रमधर्म्म के द्वारा भारतीय वर्णप्रजा का उपकारक बना हुआ है, वहाँ लोकनिष्ठापेक्षया सम्पूर्ण विश्व के मानवसमाज को अभ्युदय-पथ बतलाता हुआ सार्वभौम-शास्त्र बना हुआ है। यही इतर विधि-निषेधात्मक शब्दशास्त्रों की अपेक्षा गीताशास्त्र का विलक्षणत्व, पूर्णत्व, एवं अपूर्वत्व है, जिस विलक्षणता-पूर्णता-अपूर्वता का गीताभूमिका-प्रथमखण्ड (बहिरङ्गपरीक्षा) में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है।

१०-गीता का औपनिषद्-भाव—

अध्यात्मविद्या से युक्त योगतत्त्वों को आधार बना कर चाहे आप शास्त्रनिष्ठा का अनुगमन करें, अथवा तो विशुद्ध लोकनिष्ठा के अनुगामी बने रहें, अभ्युदय निश्चित है। इस योगाधार को छोड़ कर चाहे आप शास्त्रनिष्ठा का पालन करें, चाहे लोकनिष्ठा का, पतन निश्चित है। फलतः हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, अध्यात्मविद्यानुगत योग ही शान्ति-सुख का अनन्य, एवं अन्यतम कारण है, जिसका उपनिषदों में सूक्ष्मरूप से विश्लेषण हुआ है, एवं गीताशास्त्र में जिस का विशदरूप से उपबृंहण हुआ है। अतएव यह गीताशास्त्र एक प्रकार का स्मृतिशास्त्र होता हुआ भी **'भगवद्गीतासूपनिषत्सु'** इत्यादि रूप से **'उपनिषत्'** नाम से व्यवहृत हुआ है। मौलिकरहस्यात्मिका मौलिक उपपत्ति ही 'उपनिषत्' है। गीताशास्त्र में ब्रह्मविद्या के विविध पर्वों की, एवं योग के विविध अङ्गों की उपनिषदों (मौलिक रहस्यों) का ही विश्लेषण हुआ है। अतएव इसे **'उपनिषत्सु'** इस बहुवचनान्त-प्रयोग से सम्बद्ध माना गया है।

·|· —**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ !।**
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत !॥
—गी० १५।२०।

११—आत्मविद्या के सोपाधिक पाँच विवर्त्त—

योगतत्त्व को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाली अध्यात्मविद्या ही ब्रह्मविद्या है, यही 'आत्मविद्या' है। यह आत्मविद्या ही पहिला, एवं मुख्य दृष्टिकोण है। इस आत्मविद्या के (आत्मा के) **'ब्रह्म-कर्म्म'** नामक दो दिव्यधातु माने गए हैं। सोपाधिक-विश्वानुगत आत्मा का ब्रह्म नामक दिव्यधातु **'ज्ञान'** नाम से, कर्म्म नामक दिव्यधातु **'क्रिया'** नाम से व्यवहृत हुआ है। ब्रह्मकर्म्मात्मक वही आत्मा दिव्यात्मा है, ज्ञानक्रियात्मक वही आत्मा विश्वात्मा है। इसप्रकार उस एक ही आत्मतत्त्व के समष्टिलक्षण **'आत्मा,'** व्यष्टिलक्षण ब्रह्म-कर्म्मात्मक **'दिव्यात्मा'**, एवं व्यष्टिलक्षण ज्ञानक्रियात्मक **'विश्वात्मा'** ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। तीसरे विश्वात्मा के ज्ञान-क्रिया, इन दो विवर्त्तों के तारतम्य से अवान्तर तीन आत्मविवर्त्त हो जाते हैं। विशुद्ध ज्ञानप्रधान वही विश्वात्मा **'ज्ञानात्मा'** है। विशुद्ध क्रियाप्रधान वही आत्मा **'कर्म्मात्मा'** है, उभयात्मक मध्यस्थ वही आत्मा **'कामात्मा'** है। इस दृष्टि से अध्यात्मविद्या के **'आत्मा, ब्रह्मकर्म्ममय दिव्यात्मा, ज्ञानात्मा, कर्म्मात्मा, कामात्मा'** ये पाँच विवर्त्त हो जाते हैं। इन पाँच आत्मविवर्त्तों में से आत्मा, और दिव्यात्मा, ये दो आत्म-विवर्त्त तो योगमर्य्यादा से असंस्पृष्ट हैं। शेष तीनों विवर्त्त योगमर्य्यादा से संस्पृष्ट हैं। विश्वात्मा के ज्ञानात्मा से सम्बन्ध रखने वाला योग ही **'ज्ञानयोग'** है, कर्म्मात्मानुगत योग ही **'कर्म्मयोग'** है, एवं कामात्मानुगत योग ही **'भक्तियोग'** है। विश्वात्मांशभूत ज्ञान-काम-क्रियात्मक जीवात्मा ज्ञानद्वारा भी उस विश्वात्मा के ज्ञानात्मयोग के साथ युक्त हो सकता है, यही इसका ज्ञानयोग है। कामद्वारा भी उसके कामात्मभाग के साथ युक्त हो सकता है, यही इसका भक्तियोग है। एवं क्रियाद्वारा भी यह उसके कर्म्मात्मभाग के साथ युक्त हो सकता है, यही इसका कर्म्मयोग है। इन पाँच आध्यात्मिक विवर्त्तों के स्पष्टीकरण के लिए, एवं विश्वात्मानुगता योग-त्रयी के स्पष्टीकरण के लिए क्रमशः **'आत्मपरीक्षा, ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा, ज्ञानयोगपरीक्षा, भक्तियोगपरीक्षा,'** इन पाँच निबन्धों का पूर्व में विश्लेषण हुआ है।

१—आत्मा——————————————आत्मपरीक्षा

२—ब्रह्मकर्म्मयो दिव्यात्मा——————————ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा

३—ज्ञानप्रधानो विश्वात्मा (ज्ञानात्मा)——————ज्ञानयोगपरीक्षा

४—उभयप्रधानो विश्वात्मा (कामात्मा)——————भक्तियोगपरीक्षा

५—क्रियाप्रधानो विश्वात्मा (कर्म्मात्मा)——————कर्म्मयोगपरीक्षा

* * *

१२—नव (९) खण्डात्मिका गीताविज्ञानभाष्यभूमिका की सन्दर्भसङ्गति—

गीताशास्त्रपरीक्षा ही हमारी परिभाषा में **'गीताभूमिका'** है। यह परीक्षातत्त्व **'बहिरङ्ग, अन्तरङ्ग, सर्वान्तरतम,'** भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। इसी क्रम से गीताशास्त्रपरीक्षात्मिका गीताभूमिका तीन खण्डों में विभक्त की गई है। प्रथमखण्ड 'बहिरङ्गपरीक्षात्मक' है, जिसमें गीताकाल, गीतानाम, आदि बहिरङ्ग विषयों का विश्लेषण हुआ है। आत्मतत्त्व अन्तरङ्ग पदार्थ है। इस अन्तरङ्ग आत्मतत्त्व के **'अन्तरङ्ग'** और **'निगूढ'** (गुह्य) भेद से दो विवर्त्त परीक्षासिद्ध हैं। ज्ञान, क्रिया, इन दोनों विश्वात्मपर्वों से युक्त ज्ञानात्मा,

कर्म्मात्मा, दोनों विवर्त्त अन्तरङ्ग आत्मा है । भक्तिपर्वानुगत कामात्मा निगूढ आत्मा है । इसी आधार पर आत्मा, ब्रह्मकर्म्म, कर्म्मात्मा, ज्ञानात्मा, इन चारों की समष्टि का 'अन्तरङ्गपरीक्षा' में अन्तर्भाव मान लिया गया है । कामात्मा, एवं निष्कामात्मा, इन दो निगूढ विवर्त्तों से सम्बद्धा परीक्षा 'सर्वान्तरतमपरीक्षा' मान ली गई है । एवं इसी दृष्टिकोण को आलम्बन बना कर गीताशास्त्रपरीक्षा प्रवृत्त हुई है । अन्तरङ्गपरीक्षान्तर्गत–'आत्मपरीक्षा' का 'क' विभागात्मक एक स्वतन्त्र खण्ड में निरूपण हुआ है । ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा, एवं कर्म्मयोग–परीक्षा का अंशात्मकभाग, दोनों का 'ख' विभागात्मक स्वतन्त्र खण्ड में, शेष कर्म्मयोगपरीक्षा का 'ग' विभा–गात्मक स्वतन्त्र खण्ड में, एवं अन्तरङ्गपरीक्षात्मिका अन्तिम ज्ञानयोगपरीक्षा का 'घ' विभागात्मक स्वतन्त्र खण्ड में विश्लेषण हुआ है । इसप्रकार अन्तरङ्गपरीक्षात्मक भूमिका द्वितीयखण्ड से सम्बन्ध रखने वाली आत्म–ब्रह्मकर्म्म–कर्म्मयोग–ज्ञानयोग–इन चार परीक्षाओं का क्रमशः क–ख–ग–घ–, इन चार अवान्तर खण्डों में विश्लेषण हुआ है ।

कारणविशेष से ज्ञानात्मा को अन्तरङ्ग आत्मा मान कर तदनुगता ज्ञानयोगपरीक्षा का अन्तरङ्गपरीक्षा में अन्तर्भाव माना लिया गया है । एवं मध्यस्थ रहने वाले भी कामात्मा को कारणविशेष से निगूढ(सर्वान्तरतम) आत्मा मानते हुए तदनुगता भक्तियोगपरीक्षा का सर्वान्तरतमपरीक्षा में अन्तर्भाव माना गया है । इस भक्ति–योगपरीक्षा के क–ख–रूप से अवान्तर दो खण्ड हुए हैं । कर्म्मयोगाधिष्ठाता अन्तरङ्ग कर्म्मात्मा, ज्ञानयोगाधि–ष्ठाता अन्तरङ्ग ज्ञानात्मा, भक्तियोगाधिष्ठाता सर्वान्तरतम कामात्मा, तीनों से अतीत, तीनों में एकरसरूप से व्याप्त बुद्धियोगाधिष्ठाता निगूढ निष्कामात्मा ही अन्तिम तात्त्विक आत्मपर्व है । इसीका प्रस्तुत 'ग' विभागा–त्मक–'**बुद्धियोगपरीक्षा**' नामक सर्वान्तरतमपरीक्षा के तृतीयखण्ड में विश्लेषण अभीष्ट है । सर्वान्त में 'घ' विभागात्मक चतुर्थ खण्ड में '**गीतासारपरीक्षा**' का विश्लेषण हुआ है । इसप्रकार निगूढ आत्मानुगत योग–स्वरूप विश्लेषक सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक भूमिका तृतीयखण्ड के भी द्वितीयखण्डवत्–भक्तिपरीक्षा पूर्वखण्ड, भक्तिपरीक्षा उत्तरखण्ड, बुद्धियोगपरीक्षा, गीतासारपरीक्षा, ये चार अवान्तर खण्ड हो जाते हैं, जिनका क-ख ग–घ–रूप से विभाजन हुआ है । सम्भूय त्रिखण्डात्मिका गीतापरीक्षात्मिका गीताभूमिका के ६ खण्ड हो जाते हैं, जिनमें से ४ खण्ड गतार्थ हैं । ५–६–७–तीन खण्ड अप्रकाशित हैं । ८ वाँ खण्ड प्रक्रान्त है । नवम खण्ड प्रतीक्ष्य बना हुआ है * ।

---

*–बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्ड, एवं अन्तरङ्गपरीक्षात्मक द्वितीयखण्ड के आत्मपरीक्षा,–ब्रह्मकर्म्म-परीक्षा,–कर्म्मयोगपरीक्षा,–नामक क–ख–ग–ये तीन अवान्तरखण्ड, सम्भूय अद्यावधि ४ चार भूमिका खण्ड प्रकाशित हुए हैं । प्रस्तुत खण्ड से पूर्व अभी अन्तरङ्गपरीक्षा का 'ज्ञानयोगपरीक्षा' नामक 'घ'–कारात्मक पञ्चम-खण्ड, तथा सर्वान्तरमयपरीक्षात्मक तृतीयखण्ड के भक्तियोगपरीक्षा पूर्वखण्ड (क), उत्तरखण्ड (ख)ये–६–७ खण्ड अप्रकाशित हैं ।

नवखण्डगर्भिता–त्रिखण्डात्मिका–गीतापरीक्षात्मिका–गीताभूमिका—

१—	१-*—बहिरङ्गपरीक्षा		—बहिरङ्गपरीक्षात्मकः-प्रथमखण्डः (१)
२—	१-(क)-आत्मपरीक्षा	(आत्मानुगता)	—अन्तरङ्गपरीक्षात्मकः-द्वितीयखण्डः (२)
३—	२-(ख)-ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा	(ब्रह्मकर्म्मानुगता)	
४—	३-(ग)-कर्म्मयोगपरीक्षा	(कर्म्मात्मानुगता)	
५—	४-(घ)-ज्ञानयोगपरीक्षा	ज्ञानात्मानुगता)	
६—	१-(क)-भक्तियोगपरीक्षा (पू०खं०)	(कामात्मानुगता)	सर्वान्तरतमपरीक्षात्मकस्तृतीयखण्डः(३)
७—	२-(ख)-भक्तियोगपरीक्षा (उ०खं०)	(कामात्मानुगता)	
८—	३-(ग)-बुद्धियोगपरीक्षा	(निष्कामात्मानुगता)	
९—	४-(घ)-गीतासारपरीक्षा	(सर्वानुगता)	

१३—विद्या, एवं योगानुगत गीताशास्त्रनिष्कर्ष—

आत्मा के जिन पाँच विवर्त्तों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है। वस्तुतः एक अन्य दृष्टि से उन का चार विवर्त्तों पर ही अवसान मानना न्याय्य होगा। चार भी नहीं, दो ही विवर्त्त, एक निगूढ आत्मा,-दूसरा विश्वात्मा। निगूढात्मा विश्वातीत आत्मा है, विश्वात्मा विश्वचर है। विश्वचर विश्वात्मा ज्ञान-क्रियामय है, विश्वातीत निगूढ आत्मा ब्रह्मकर्म्ममय है। ब्रह्मकर्म्ममय निगूढ आत्मा दिव्यात्मा है, ज्ञानक्रियामय विश्वात्मा लौकिक आत्मा है। दिव्यात्मा निरुपाधिक है, लौकिक आत्मा सोपाधिक है। निरुपाधिक-आत्मविद्या गुह्यविद्या है, तदनुगत निरुपाधिक योग भी गुह्ययोग है। सोपाधिक आत्मविद्या श्रद्धाविद्या है, तदनुगत सोपाधिक योग भी श्रद्धायोग है। श्रद्धा आत्मविद्या, एवं तदनुगत श्रद्धायोग, दोनों की मूलप्रतिष्ठा गुह्ययोगानुगता गुह्य आत्म-विद्या है। यही गीतानिष्कर्ष है। श्रद्धा आत्मविद्या, एवं श्रद्धायोग भागत्रय में विभक्त है। तीनों का आधार बना हुआ अनद्धाविद्यात्मक अनद्धायोग निष्कल है। इसप्रकार निष्कल गूढ अनद्धा **'आत्मा'**, सकल-श्रद्धा **'ज्ञानात्मा-कामात्मा-कर्म्मात्मा'** ये चार तो आत्मविद्यापर्व हो जाते हैं, एवं निष्कल निगूढ अनद्धा **'बुद्धियोग'**, सकल-श्रद्धा **'ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्म्मयोग,** ये चार योग हो जाते हैं। **'ब्रह्मविद्यायाम्'** से यही चतुर्विधा आत्मविद्या अभिप्रेत है। एवं **'योगशास्त्रे'** से यही चतुर्विध योग अभिप्रेत है। यही सम्पूर्ण गीताशास्त्रनिष्कर्ष है।

१४–निरूपणीय विषय की सन्दर्भसङ्गति–

युगधर्म्मानुसार जब जब अनद्धा आत्मा से सम्बद्ध अनद्धा योग (बुद्धियोग) लुप्त हुआ, तब तब ही इस पर प्रतिष्ठित रहने वाली योगत्रयी की शृङ्खला मर्य्यादा से च्युत होती हुई अनिष्ट का कारण बनी। अनेक बार इस त्रुटि का तत्त्ववेत्ताओं के द्वारा सन्धान हुआ, काल पा कर सन्धान विच्छिन्न हुआ। महाभारत युग में भगवान् कृष्णद्वारा इसका पुनरुद्धार हुआ। आगे जाकर साम्प्रदायिक युग के अनुग्रह से पुनः वह सिद्धान्त अस्तप्राय हो गया। यही कारण है कि, उपलब्ध होने वाले यच्चयावत् गीताभाष्यों, टीकाओं में ज्ञान–भक्ति–कर्म्मयोग की ही अहमहमिका उपलब्ध हो रही है। बुद्धियोगात्मक एक धरातल से विच्युता योगत्रयी आज अभ्युदय-निःश्रेयस् के स्थान में प्रत्यवाय का कारण ही बनी हुई है। गुह्य बुद्धियोग आज पुनः एकान्ततः गुह्य बन चुका है। बुद्धियोग-निष्ठावञ्चिता निष्ठात्रयी आज शान्ति–सुख के स्थान में अशान्ति–दुःख की सन्देशवाहिका बन रही है। और इसी आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि, वर्त्तमान-युग के ज्ञानी–भक्त-कर्म्मठ, शास्त्रनिष्ठ जन, एवं लोकनिष्ठ व्यावहारिक लोग, सभी एकमात्र बुद्धियोगनिष्ठा से वञ्चित रहते हुए प्रयास करने पर भी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं कर रहे, नाँहीं बिना बुद्धियोग को आधार बनाए शान्ति–सुख सम्भव। तीनों योग तभी शान्ति–सुख के प्रवर्त्तक बन सकते हैं, जबकि इन तीनों को बुद्धियोगस्वरूप में परिणत कर दिया जाय। बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग, बु० कर्म्मयोग, बु० भक्तियोग, इन तीनों योगों का ही पूर्व में क्रमशः ज्ञानयोगपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा, भक्तियोगपरीक्षा-खण्डों में विश्लेषण हुआ है। ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा में दिव्य–गूढोत्मा के दिव्य ब्रह्म–कर्म्म पर्वों का विश्लेषण हुआ है। एवं आत्मपरीक्षा में समष्टिरूप से आत्मपरीक्षा हुई है। अब प्रस्तुत परीक्षा–प्रकरण में गीता के मूलसिद्धान्तरूप उस 'बुद्धियोग' का ही स्वरूप विश्लेषण किया जा रहा है, जो कि वर्त्तमान भाष्य–टीका–दृष्टियों से सर्वथा अतीत, प्राचीन व्याख्याताओं में से एकमात्र अभिनवगुप्ताचार्य्य के द्वारा ही 'गच्छतः स्खलनं' रूप से समर्थित है। यही प्रस्तुत प्रकरणानुगता **सन्दर्भसङ्गति** है, जिसे लक्ष्य बना कर ही निरूपणीय विषय का समन्वय करना चाहिए।

१ आत्मा	–(आत्मपरीक्षा)	
	–निष्कामात्मा—बुद्धियोगपरीक्षा	–विश्वातीतः (१)
२ ब्रह्मकर्म्ममयो दिव्यात्मा	–(ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा)	

१–ज्ञानात्मा—ज्ञानयोगाधिष्ठाता—ज्ञानयोगपरीक्षा	
२–कामात्मा—भक्तियोगाधिष्ठाता—भक्तियोगपरीक्षा	–विश्वात्मा (२)
३–कर्म्मात्मा—कर्म्मायोगाधिष्ठाता—कर्म्मयोगपरीक्षा	

* * * *

इति–बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमप्रकरणे 'सन्दर्भसङ्गति' नामकः

प्रथमस्तम्भः–उपरतः

(१)–१

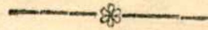
श्रीः

'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथमप्रकरणान्तर्गत

'सन्दर्भसङ्गति' नामक

प्रथमस्तम्भ—उपरत

(१)—१



श्रीः

अथ बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमप्रकरणे

'योगेश्वरस्य तात्त्विक-स्वरूपनिरूपणम्' नामकः-

द्वितीयस्तम्भः

(१)-२



श्रीः

योगेश्वरस्य तात्त्विकस्वरूपनिरूपणम्

द्वितीयस्तम्भः

---❀---

१—ब्राह्मीस्थिति का स्वरूपदिग्दर्शन—

जिस अलौकिक, अपूर्व, पूर्ण, विलक्षण योग (बुद्धियोग) का विश्लेषण अभीष्ट है, प्रथम उस अपूर्व-योग के आधारभूत योगेश्वर का स्वरूप ही विजिज्ञास्य है। योगतत्त्व की मूलप्रतिष्ठा आत्मविद्या मानी गई है, एवं इसी को 'ब्रह्मविद्या' कहा गया है। एक ही आत्मतत्त्व ब्रह्मविद्या, और योगभेद से दो भावों में परिणत हो रहा है। ब्रह्मविद्यानुगत, किंवा ब्रह्मविद्यात्मक वही आत्मा ब्रह्म है, इस ब्रह्म की स्वरूपस्थिति ही **'ब्राह्मी-स्थिति'** है। योगानुगत, किंवा योगात्मक वही आत्मा योग है, इस योग की स्वरूपस्थिति ही 'योगस्थिति' है। योगस्थिति ब्राह्मीस्थिति पर प्रतिष्ठित है, ब्राह्मीस्थिति योगस्थिति के सहयोग से विकसित है। ब्राह्मीस्थिति स्थितिलक्षणा है, योगस्थिति गतिलक्षणा है। गतिलक्षणा योगस्थिति स्थितिलक्षणा ब्राह्मीस्थिति को आधार बना कर स्वयमपि स्थितिभावात्मिका बन जाती है। ऐसे आत्मस्थितियुक्त योग के लिए ही **'तां योगमिति-मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्'** (कठोपनिषत् ६।११।) यह कहा गया है। ठीक इसके विपरीत ब्राह्मीस्थिति-रूप स्थितितत्त्व से वञ्चिता गतिरूपा योगस्थिति मृत्युलक्षण स्वानुगत गतिभाव के कारण व्यामोह का कारण बन जाती है। सहजभाषा में यों समन्वय कीजिए कि, ब्राह्मीस्थिति ब्रह्म है, योगस्थिति कर्म्म है। यदि कर्म्म ब्रह्म को आधार बना कर किया जाता है, तो असङ्ग ब्रह्म के आधार बन जाने से कर्म्मजनित संस्कारलेप का आत्मा के सम्बन्ध नहीं होने पाता। आत्मा अपनी स्वाभाविक ब्राह्मीस्थिति में बना रहता है *। यदि ब्रह्माधार का परित्याग कर दिया जाता है, तो स्वरूपतः संसक्तिधर्म्मा कर्म्म संस्कारलेप-बन्धन का प्रवर्त्तक बनता हुआ आत्मा के स्वाभाविक विकास का आवरक बन दुःखप्रवृत्ति का कारण प्रमाणित हो जाता है। निष्कर्षतः ब्राह्मीस्थिति का सम्यक् परिज्ञान ही व्यामोहनिवृत्ति का अन्यतम कारण है, जैसाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

> **एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।**
> **स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥** (गीता२।७२।)।

२—ब्राह्मीस्थितिमूलक योगेश्वर—

उक्त श्लोक से पहिले अनेक श्लोकों में 'स्थितप्रज्ञता' का विश्लेषण हुआ है। स्थितप्रज्ञता ही ब्राह्मी-स्थिति है। प्रज्ञान मन का प्रज्ञा भाग काममय वैषयिक संस्कारों से उसी प्रकार आन्दोलित हो पड़ता है, जैसे

***—ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।**
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ (गी०५।१०।)।

कि एक सरोवर पाषाणप्रक्षेप से। अथवा यों समझिए कि, जैसे समुद्रप्रवाह में शान्त-धीरगति से प्रवाहित एक नौका झञ्झावात के प्रत्याघात से डगमगा जाती है, अपनी स्वाभाविक गतिरूपा स्थिति छोड़ बैठती है, एवमेव सांसारिक कामनामय समुद्र में योगक्षेम-निर्वाह के लिए शान्त-धीरगति से प्रवाहित नौकास्थानीय प्रज्ञानमन रागासक्ति-द्वेषासक्तिरूप झञ्झावात के प्रत्याघात से डगमगा जाता है +। सर्वसाधारण की दृष्टि में लौकिक विषय बन्धन के कारण हैं। परन्तु तत्त्वतः कोई भी विषय बन्धन का कारण नहीं है। देहधारी की सत्ता विषयग्रहण पर ही जब निर्भर है, तो वह इनका आत्यन्तिक परित्याग कर भी कैसे सकता है। प्राकृतिक-ऐन्द्रियक वेगों का निरोध सर्वथा असम्भव है *। बन्धन का कारण है रागद्वेषात्मिका स्पृहा, लिप्सा, कामलिप्तता, आसक्ति। इन्द्रियों को अपना काम करने दीजिए, आत्मा के साथ मन का योग बनाए रखिए, कोई हानि नहीं है। यही तो प्रसाद की प्राप्ति का अन्यतम उपाय है ×। रागद्वेषानुगता आसक्ति से मन कामकामी बनता हुआ आत्मयोगलक्षणा ब्राह्मीस्थिति से वञ्चित रहता हुआ अशान्त बन जाता है। अशान्त मन स्वोपरि प्रतिष्ठिता बुद्धि को अशान्त कर देता है। अयुक्त मनोऽनुगता ऐसी अस्थिर बुद्धि स्थितिलक्षण स्व-स्वरूप को ही खो बैठती है। सदसद्विवेकभावना लुप्त हो जाती है, किं कर्त्तव्यं, किं न कर्त्तव्यं-लक्षणा अशान्ति उद्बुद्ध हो जाती है, फलस्वरूप शान्तिमूलक वास्तविक आत्मसुख पलायित हो जाता है ÷। ठीक इसके विपरीत रागद्वेषवियुक्तिपूर्वक विषयानुगमन करता हुआ भी मन आपूर्य्यमाण आत्मयोग की अचलप्रतिष्ठा-लक्षणा ब्राह्मीस्थिति में प्रतिष्ठित रहता हुआ शान्त-सुस्थिर बना रहता है। इसके शान्त रहने से बुद्धि शान्त रहती है, बुद्धि के स्वाभाविक व्यवसायलक्षण आत्मयोग का विकास रहता है। आत्मविकासरूप आत्मप्रसाद से युक्त ऐसा मन, और ऐसी बुद्धि दोनों प्रसादगुण से युक्त बनें रहते हैं ‡। यही ब्राह्मीस्थिति है। प्रज्ञानमन की प्रज्ञा

+-इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ (गी०२।६७)।

*-न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ (गी०३।५)।

×-रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ (गी०२।६४)।

÷-नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ (गी०२।६६)।

‡-प्रसादे सर्वदुखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥ (गी०२।६५)। (१)
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्म्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ (गी०२।७१)। (२)
आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ (गी०२।७०)। (३)

का स्थिर हो जाना ही ब्राह्मीस्थिति है,जिससे गीता में'स्थितप्रज्ञता'नाम से भी व्यवहृत किया गया है। यह स्थितप्रज्ञता कैसे प्राप्त हो ?, प्रश्न का तात्विकों नें भिन्न भिन्न समाधान किये हैं। सभी समाधान स्थितिभेद से संग्राह्य हैं। प्रकृत में इस प्रश्न के समाधान के सम्बन्ध में हम अपनी ओर से 'ब्राह्मीस्थिति' का स्वरूप विश्लेषण ही अधिक समीचीन समझ रहे हैं। ब्रह्म की तात्त्विक स्थिति (अवस्थान, व्याप्ति) ही ब्राह्मीस्थिति है। निःसंदिग्ध है कि, तत्त्वज्ञान के अभाव से, ब्रह्म के तात्त्विक स्वरूपज्ञानाभाव से ही असत् में सत् का; एवं सत् में असत् का व्यामोह हो जाता है। एक तत्त्ववादी जिसे सत् मान कर सुख का कारण कह रहा है, अतत्त्ववादी लौकिक मनुष्य की दृष्टि में वही सत् असत् बना हुआ है। जिसे इसने सत् मान लिया है, तत्त्ववादी की दृष्टि में वही असत् है, एवं यह असत्प्रवृत्ति ही उसकी दुःखप्रवृत्ति का मूलकारण बन रही है। विवेकज्ञान ही विषयस्पृहा का निवर्त्तक है। सदसद्विवेक ही विवेकज्ञान है, विवेकज्ञान ही ब्राह्मीस्थिति का स्वरूपदर्शक है। अतएव कहा जा सकता है कि, ब्राह्मीस्थिति का स्वरूपज्ञान ही शान्ति की अन्यतम प्रतिष्ठा है। ब्राह्मीस्थिति का अर्थ है ब्रह्म की लोक में स्थिति। ब्रह्म जिस रूप से विश्व में स्थित हो रहा है, ब्रह्म की वह विश्वस्थिति ही ब्राह्मीस्थिति है। इस स्थिति का परिज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान ही निःश्रेयस का कारण है— **'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'** (न्या०सू०)। तत्त्वज्ञानात्मिका ब्राह्मीस्थिति ही ब्रह्म का वास्तविक (तात्त्विक) स्वरूप है। फलतः ब्राह्मीस्थिति का स्वरूप- विश्लेषण ही ब्रह्म का स्वरूपविश्लेषण है। योगाधिष्ठाता वह ब्रह्म ही योगेश्वर है। योगेश्वर की ब्राह्मीस्थिति का विश्लेषण ही योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण है। उसी की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

३—'योगेश्वर' का 'योग', और 'ईश्वर'—

'योगेश्वर' शब्द में 'योग'-'ईश्वर' इन दो शब्दों का समन्वय है। दोनों में से 'योग' स्वरूप अगले स्तम्भ के लिए छोड़ा जाता है, एवं योग के 'ईश्वर' (अधिष्ठाता) रूप 'ईश्वर' शब्द की मीमांसा आरम्भ की जाती है। 'ईश्वर' शब्द पौराणिक है, यथाकथञ्चित् दर्शनशास्त्र के द्वारा भी संगृहीत, परन्तु सर्वसाधारण को 'ईश्वर' शब्द से जिस जगदीश्वर-जगन्नियन्ता का बोध होता है, उस अर्थ में ईश्वर शब्द वेदशास्त्र में अप्रयुक्त है। ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थलों में ईश्वर शब्द प्रयुक्त अवश्य हुआ है, परन्तु उससे विश्वेश्वर कहीं भी अभिप्रेत नहीं है, अपितु-सर्वत्र ईश्वर शब्द से-'समर्थ' अर्थ का ही ग्रहण हुआ है*। वैदिक साहित्य में इस नियन्ता के लिए 'ईश'-'ईशिता'-'सर्वज्ञ'-'परात्पर'-आदि शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं। विचार हमें गीता के बुद्धियोग का करना है, अतः अन्य प्रपञ्चों में न पड़ कर हमें गीतादृष्टि से ही 'ईश्वर' शब्द का समन्वय करना है। गीता किसे ईश्वर कहती है ?, उत्तर में गीता के ही निम्न लिखित सिद्धान्त पर दृष्टि डालिए—

> **द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।**
> **क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१॥**

---

*—'गृहा वै दुर्याः। ते हेत ईश्वरो गृहा यजमानस्य, यो ऽस्यैषोऽध्वर्युर्यज्ञेन चरति। तं प्रयन्तमनु प्रच्योतोस्तस्येश्वरः कुलं विक्षोब्धोः'। (शत०ब्रा०१।१।२।२२।)।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥२॥ (गीता१५।१६,१७,।)।

अक्षरार्थ यही है कि–'इस लोक में क्षर, अक्षर नाम के ये दो पुरुष हैं । सम्पूर्ण भूत क्षर है, कूटस्थ अक्षर कहा जाता है । उत्तम पुरुष तो (इन दोनों से) अन्य है, जो 'परमात्मा' इस नाम से व्यवहृत हुआ है । एवं जो अव्यय–ईश्वर तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सब का धारण–पोषण करता है' । जिन गीताप्रेमियों नें गीताभूमिका के पूर्वखण्डों का अवलोकन किया होगा, उनके लिए ये तीनों पुरुष सर्वथा परिचित होंगे । परन्तु व्यावहारिक जगत् की प्रवृद्ध निष्ठा के कारण जिन्हें पर्य्याप्त समय न मिला होगा, उनके लिए दो शब्दों में इस पुरुष–त्रयी के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण करना अनुचित न होगा । साथ ही दृष्टिकोण–भेद से प्रस्तुत स्तम्भ में प्रतिपादित त्रिपुरुषविज्ञान पूर्वदृष्ट महानुभावों के लिए भी अनुरञ्जक ही प्रमाणित होगा ।

४–अभिव्यक्तिच्चलक्षण व्यक्तित्त्व, एवं विश्वस्वरूपदिग्दर्शन—

चल, अचल–भावात्मक चराचर पाञ्चभौतिक विश्व में व्यष्टिलक्षण जितनें भी पदार्थ हमें प्रतीत हो रहे हैं, वे सब 'व्यक्ति' नाम से प्रसिद्ध हैं । अणु से आरम्भ कर महान् पर्य्यन्त जितनें भी पदार्थ हैं, वे सब पृथक् पृथक् आत्मसत्ता रखते हुए ही अभिव्यक्त हो रहे हैं । इसी आधार पर व्यक्ति का **'व्यक्तिस्तु पृथगात्मता'** यह लक्षण किया गया है । यह पृथगात्मता ही तत्तत्–भौतिक पदार्थों की अभिव्यक्ति का कारण है । घटात्मा घटसत्तारूप है, पटात्मा पटसत्तारूप है । घटसत्ता मनःप्राणवाङ्मयी है । घटरूप, घटनाम, घटकर्म्म, तीनों की समष्टि ही घट का घटत्त्व है । नामरूप–कर्म्मात्मक घट का आत्मा मनःप्राण-वाङ्मय है । घटात्मा के मनः पर्व से घटरूप का, प्राणपर्व से घटकर्म्म का, वाक्पर्व से घटनाम का विकास हुआ है । मनःप्राणवाङ्मय तत्त्व इसी घट का अमृतरूप है, नामरूप–कर्म्मसमष्टि इसी घट का मर्त्यरूप है । 'घटोऽस्ति' इस वाक्य में 'घटः'–'अस्ति' ये दो पर्व हैं । 'घटः' यह नामरूपकर्म्मात्मक मर्त्य पर्व है, परिवर्त्तनशील है । 'अस्ति' यह मनःप्राणवाङ्मय अमृत पर्व है, अपरिवर्त्तनीय है, जैसाकि आगे स्पष्ट होने वाला है । सर्वव्यापक अस्ति तत्त्व ही 'सत्ता' है । यही नामरूपकर्म्मोपाधिभेद से पृथक्–पृथक् भावों से युक्त होकर पृथक्–पृथक् अभिव्यक्तियों की मूलप्रतिष्ठा बन रही है । सोपाधिक सत्तारूप मनःप्राणवाङ्मय तत्त्व ही नामरूपकर्म्मात्मिका व्यक्ति की पृथगात्मता है । तभी तक उस समष्टि की अस्तित्त्वरूपेण अभिव्यक्ति है, भान है, सत्ता है, अस्तित्त्व है । अतएव कहा जा सकता है कि, नामरूपकर्म्मात्मक भौतिक पदार्थ की जो अभिव्यक्ति है, वह वस्तुतः तदाधार, तदात्मरूप, अस्तिलक्षण आत्मतत्त्व की ही अभिव्यक्ति है । आत्माभिव्यक्ति ही पदार्थाभिव्यक्ति है । पदार्थ की अभिव्यक्ति ही उसका व्यक्तित्त्व है । इसप्रकार एक एक व्यक्ति उसी की पृथक् पृथक् अभिव्यक्ति है । 'व्यक्ति' रूपा अभिव्यक्ति के गर्भ में नामरूपकर्म्म की भी अभिव्यक्ति है, मनः-प्राणवाङ्मय अस्तिभाव की भी अभिव्यक्ति है । दोनों अभिव्यक्तियों के समन्वितरूप का ही नाम 'व्यक्तित्त्व' है, यही कार्य्यात्मक विश्व का समष्टि एवं व्यष्टिरूप से संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है ।

५–आधुनिकशास्त्र का 'कारणतावाद'—

'व्यक्ति' लक्षण कार्य्यात्मक विश्व अवश्य ही कर्तृजन्य है, क्योंकि–'यद्यत् कार्य्यं–तत्तत् कर्तृजन्यम्' न्याय अपवादरहित न्याय है । घट–पट–मठादि जैसे अस्मदादि–कारणों के बिना अनुपपन्न हैं, एवमेव सूर्य्य,

चन्द्र, ग्रह, ओषधि, वनस्पति, आदि प्राकृतिक कार्य्य भी अवश्य ही किसी न किसी कारण की अपेक्षा रख रहे हैं। इन प्राकृतिक कार्य्यों का कारण कौन ?, प्रश्न के उत्तर में प्राधानिक विद्वानों नें 'कारण' शब्द ही हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। **'कार्य्यते अनेन'** निर्वचनानुसार कार्य्य का पूर्ववर्त्ती रूप ही 'कारण' कहलाया है। यही कारण कार्य्यात्मक विश्व का कारण है। कारण नामक यही कारण प्राधानिक परिभाषा में-**'कृतेः-कार्य्यस्य प्र-प्रथमावस्था'** निर्वचन से 'प्रकृति' कहलाया है। जिस प्रकृतिरूप कारण का-**'प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः, किन्तुः चेतनः'** इन शब्दों में विश्लेषण हुआ है। **'अन्यथासिद्धि-शून्यत्वे सति नियतपूर्ववर्त्तित्त्वम्'** ही कारणत्त्वं है, यही प्रकृतित्वं है, एवं यही दार्शनिक कारणतावाद की विश्रामभूमि है, जिसे मान कर ही वैज्ञानिक सन्तुष्ट नहीं हो जाते। प्रकृति के कारणतावाद को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए भी इस सम्बन्ध में हमें उस वैज्ञानिक कारणतावाद का विश्लेषण करना पड़ेगा, जिसके परिचय के बिना न तो कार्य्यस्थिति का ही समन्वय सम्भव, एवं न कार्य्यस्थिति की आधारभूता निरूपणीया ब्राह्मीस्थिति का ही समन्वय सम्भव।

६--विश्वकारणत्रयी का स्वरूपदिग्दर्शन—

वर्त्तमान युग के अनन्य सर्वश्रेष्ठ वैदिकविज्ञानाविष्कारक, विलुप्त गीतातत्त्व के पुनरुद्धारक, प्रातः-स्मरणीय श्री श्री गुरुवर का कारणवाद के सम्बन्ध में जो तात्त्विक विश्लेषण हुआ, उसके समन्वय के बिना ब्राह्मीस्थितिलक्षण योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप का स्पष्टीकरण असम्भव है, अतः उसी का संक्षेप से दिग्-दर्शन कराया जा रहा है। उक्त विज्ञानाचार्य्य का इस सम्बन्ध में यह निर्णय हुआ है कि, अभिव्यक्त रहने वाली प्रत्येक व्यक्ति के **'निष्कल, षोडशी, प्रतिमाषोडशी'** ये तीन धातु आरम्भक (उपादान) बनते हैं। इन्हीं तीनों से व्यक्ति का उद्भव (उत्पत्ति) होता है, इन्हीं तीनों पर वस्तु प्रतिष्ठित (स्थिति) रहती है, एवं इन्हीं तीनों में व्यक्ति विलीन (लय) हो जाती है। निष्कल, षोडशी, दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला प्रतिमाषोडशी व्यक्ति का उद्भव बनता है, इसी को दार्शनिक भाषा में **समवायिकारण** (उपादानकारण) कहा जासकता है। निष्कल और प्रतिमाषोडशी, दोनों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला षोडशीतत्त्व व्यक्ति का प्रतिष्ठापक बनता है, इसी को दर्शनभाषा में **'निमित्तकारण'** कहा जा सकता है। षोडशी, और प्रतिमाषोडशी, दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला निष्कलतत्त्व व्यक्ति का लयस्थान बनता है, इसी को दर्शनभाषा में **'असमवायिकारण'** कहा जा सकता है। असमवायिकारण निष्कल है, निमित्तकारण षोडशी है, समवायिकारण प्रतिमाषोडशी है। और इस दृष्टि से दार्शनिक कारणतावाद का भी इस वैज्ञानिक कारण-तावाद के साथ निर्विरोध समतुलन हो जाता है। असमवायिकारणरूप निष्कल तत्त्व आलम्बन (आवपनरूप आधार) है, इसे ही **'किं स्विदासीदधिष्ठानम्'** (ऋक्सं० १०।८१।२।) के अनुसार **'अधिष्ठान'** कहा गया है। निमित्तकारणरूप षोडशीतत्त्व कर्त्ता है। एवं समवायिकारणरूप प्रतिमाषोडशीतत्त्व कारण (उपादान) है, यही विज्ञानभाषा में-**'आरम्भणं कतमत्स्वित्'** के अनुसार **'आरम्भण'** नाम से व्यवहृत हुआ है। आलम्बन, कर्त्ता, कारण तीनों कारणों को ही कार्य्यरूप व्यक्ति के प्रति कारण माना गया है। इसी आधार पर-**'कारणसमुदायस्य कार्य्यं प्रति कारणत्त्वं, न तु कारणस्य'** यह न्याय व्यवस्थित हुआ है। सृष्टि-कर्म्म के लिए अवश्य ही तीनों कारण अपेक्षित हैं। घटनिर्म्माणप्रक्रिया को देखिए न ! आलम्बनरूप चक्र, उपादानरूप आर्द्र मृण्मय पिण्ड, स्वयं प्रजापति (कुम्भकार), तीनों के समन्वय से घटकार्य्य का स्वरूप सम्पन्न होता है। निर्म्माण का आधार, निर्म्माणसामग्री, निर्म्माता, प्रत्येक कार्य्य में तीन कारण आवश्यक

हैं । तीनों क्योंकि अविनाभूत हैं, अतएव तीनों को ही तीनों कारणताओं से युक्त माना जा सकता है । इसी आधार पर हमनें पूर्व में तीनों को व्यक्ति का आरम्भक (उत्पादक) कह दिया है । आलम्बनरूप निष्कल कारण के गर्भ में आरम्भकरूप प्रतिमाषोडशी, निमित्तरूप षोडशी दोनों हैं । अतएव निष्कल को भी आरम्भक, निमित्त कहा जा सकता है, परन्तु प्रधानरूपेण निष्कलतत्त्व को आलम्बन ही माना जायगा । एवमेव षोडशी के गर्भ में भी दोनों हैं, इसलिए यह निमित्त के साथ साथ आलम्बन, आरम्भक भी कहा जा सकेगा, परन्तु प्रधानरूप से इसे निमित्त ही माना जायगा । एवमेव प्रतिमाषोडशी के गर्भ में भी दोनों भुक्त हैं । अतएव यह भी यद्यपि निमित्त, आलम्बन माना जा सकेगा, तथापि मुख्यतः इसे आरम्भक ही कहा जायगा । तात्पर्य्य कहने का यही है कि, व्यक्तिरूप कार्य्य के प्रति निष्कल, षोडशी, प्रतिमाषोडशी, तीनों को कारणता है । इन्हीं तीनों की कारणता का क्रमशः दिग्दर्शन कराया जा रहा है ।

७–सहजरूप से उपलब्ध सच्चिदानन्दब्रह्म—

'कलौ वेदान्तिनः सर्वे' आभाणक को चरितार्थ करने वाले वर्त्तमान युग के वेदान्तभक्त **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का उद्घोष करते हुए अपने आपको ब्रह्मतत्त्ववेत्ता मानने का अभिमान कर रहे हैं । जिज्ञासुवर्ग के प्रश्न करने पर कि, भगवन् ! उस व्यापक ब्रह्म का क्या स्वरूप है ?, उत्तर मिलता है-**'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**-**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** । तात्पर्य्य–सब कुछ ब्रह्म है, वह ब्रह्म व्यापक है, नित्य है, सच्चिदानन्दघन है । यह सत्-चित्–आनन्द–क्या है ?, बस इस प्रश्न पर वेदान्ती की प्रखर प्रतिभा कहाँ और क्यों पलायित हो जाती है ?, प्रश्न का समाधान वे वेदान्ती ही कर सकेंगे । जिस भौतिक–दृश्य–अनुभूत विश्व के आधार पर ब्रह्म का बोध सुगमता से सम्भव है, वह तो वेदान्ती के द्वारा असत्य-मिथ्या-मायामय घोषित कर दिया जाता है । परिणाम यह होता है कि, सच्चिदानन्दस्वरूप का जिज्ञासु इस शब्द का कोई भी तत्त्वार्थ न समझ कर अन्धकार में टटोलता सा अपनी प्रज्ञा का दुरुपयोग करता मुँहबाए सा स्तब्ध बना रह जाता है । अन्त में यह कह कर कि, वह सर्वथा अचिन्त्य है, विश्वातीत है, परोक्ष है, अविज्ञेय है, वह अकर्मण्य बना रह जाता है । क्या यही वेदान्तनिष्ठा 'वेदान्तनिष्ठा' है ? । क्या इसी कल्पित निष्ठा के बल पर सुख–शान्ति निर्भर है ?, नेति होवाच । जगन्मिथ्यात्ववादी वेदान्तनिष्ठोंनें जिस सच्चिदानन्द को जहाँ ऐसा दुरधिगम्य बना दिया है, वहाँ एक वैज्ञानिक सर्वत्र सत्यब्रह्म का साक्षात्कार करता हुआ प्रत्यक्षवत् स्वयमपि ब्रह्म के दर्शन कर रहा है, और तत्त्वजिज्ञासु को भी दर्शन करा सकता है । सच्चिदानन्द की प्रत्यक्षदृष्टि के लिए न तो दुर्बोध्य वेदान्तग्रन्थों के स्वाध्याय ही अपेक्षा है, एवं न उच्चभूमिका में प्रतिष्ठित तत्त्वदर्शी विद्वान् मात्र ही इस बोध के अनन्याधिकारी हैं, अपितु आबालवृद्ध–वनिता, आपामर–विद्वज्जन, सब के लिए वह 'समब्रह्म' समरूप से अहोरात्र प्रत्यक्ष का विषय बन रहा है । केवल थोड़े दृष्टि के आकर्षण में विलम्ब है । दृष्टिदोष के कारण हम उसे सतत देखते हुए भी नहीं देख रहे–**'पश्यन्नपि न पश्यति'** । नामरूपकर्म्मासक्ति ने हमारा दृष्टिकोण उस ओर से परावर्त्तित कर रक्खा है । उस परावर्त्तित दृष्टिकोण को पुनरावर्त्तित करने मात्र से ही प्रत्यक्षरूपेण स्वतःसिद्ध सच्चिदानन्दब्रह्म इसी नामरूपकर्म्मात्मक भौतिक प्रपंच में उपलब्ध हो जाता है ।

८–सच्चिदानन्दब्रह्म का सर्वानुभूत 'सत्' पर्व—

'सच्चिदानन्द' शब्द के **'सत्-चित्-आनन्द'** ये तीन पर्व सब के लिए विज्ञात हैं । तीनों में से सर्वप्रथम 'सत्' पर्व को ही लक्ष्य बनाइए । एक सद्गृहस्थी स्नानादि नित्य कर्म्मों से निवृत्त होकर प्रथमो-

पास्य के माध्यम से परमोपास्य की उपासना आरम्भ करता है। संस्कारी बालक भी कुतूहलवश उपासक पिता के समीप एक ओर बैठ जाता है। भगवत्प्रतिमारूप प्रथमोपास्य पर होने वाले पिता के प्रतिमास्नान, गन्धानुलेपन, पुष्पधारण, धूप, दीप नैवैद्य, आदि उपासनोपचारों को बालक देखता जाता है, और मध्य मध्य में प्रश्न करता जाता है-पिताजी ! यह क्या है ?, यह क्या है ?। पिता उत्तर देते जाते हैं-सोम्य ! ये भगवान् हैं, अब इनका पूजन होगा। ये पुष्प हैं, यह नैवेद्य है। बालक इन उत्तरों से सन्तुष्ट होता जाता है। इस सन्तुष्टि का कारण है एकमात्र नामरूपकर्म्मानुगत 'अस्ति' तत्त्व। 'भगवान् हैं-पुष्प हैं-नैवेद्य है' इन वाक्यों में प्रतिमारूप भगवान् , पुष्प, नैवेद्य, सब माध्यम नामरूपकर्ममय हैं, एवं सबके साथ सम्बद्ध 'है' तत्त्व ही अस्तित्त्व है। नामरूपकर्म्मानुगत अस्तित्त्व के ही नाम 'भगवान् हैं-पुष्प है-नैवेद्य है' ये वाक्य हैं। सर्वथा अबोध भी बालक इसरूप से अस्ति का परिचय प्राप्त कर रहा है। यह 'अस्ति' ही सत् है, सत् ही सत्ता है, यही प्रतिष्ठातत्त्व है, जिसके तात्त्विकों नें **'सत्ता, धृति, विधृति'** ये तीन पर्व माने हैं। तीनों एक ही सत्तातत्त्व के अवान्तर तीन विवर्त्त हैं। अतः तीनों का एक 'सत्ता' रूप से ही, 'अस्तित्त्व' रूप से ही संग्रह कर लिया जाता है।

९-सत्ता, धृति, विधृति, नामक सत्ताब्रह्म के तीन विवर्त्त—

आत्मप्रतिष्ठा सत्ता है, स्वप्रतिष्ठा धृति है, एवं परप्रतिष्ठा विधृति है। पार्थिवप्रजा भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित है। भूप्रतिष्ठा को छोड़ कर अस्मदादि प्राणी अन्तरिक्ष में निरावलम्ब नहीं ठहर सकते। पृथिवी की प्रतिष्ठा ने हीं पार्थिव प्रजा का विधरण कर रक्खा है। पार्थिव प्राणियों में प्रविष्ट पार्थिवप्रतिष्ठा ही परसत्ता (अन्य-भूपिण्ड से आगत-सत्ता), किंवा परप्रतिष्ठा है। यही **'विधृति'** नामक प्रतिष्ठातत्त्व है। **'गृहा वै प्रतिष्ठाः'** से यही विधृतिप्रतिष्ठा गृहीत है। मञ्जूषा वस्त्रों की, शरीर अलङ्कारों की, मसीपात्र मसीद्रव्य (श्याही) की, मेज पुस्तक की प्रतिष्ठा है। ये सब परप्रतिष्ठा के उदाहरण हैं। परप्रतिष्ठा के निकल जाने से पतन का भय अवश्य है, परन्तु वस्तुस्वरूप का विनाश नहीं है। पार्थिव प्रजा की अपनी भी एक स्वतन्त्र सत्ता है। जब तक वह स्वतन्त्र सत्ता है, तभी तक इनका स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व है। इस सत्ता के निकल जाने पर व्यक्ति के नाम-रूप-कर्म्म का ही उच्छेद हो जाता है। यही स्वतन्त्रसत्ता व्यक्ति के जीवन की प्रतिष्ठा है। 'पुस्तक है, मनुष्य है, घट है, पट है, इस रूप से पृथगात्मतारूपेण जो अस्तित्व व्यवहार (सत्ताव्यवहार) होता है, वही स्वसत्तात्मिका स्वप्रतिष्ठा है। इसी के आधार पर वस्तुस्वरूप (नामरूपकर्म्म) धृत है, अतएव इसे **'धृति'** नाम से व्यवहृत किया गया है। परसत्तात्मिका विधृति, स्वसत्तात्मिका धृति, दोनों व्यक्तितन्त्र से सम्बन्ध रखतीं हुईं सोपाधिक हैं, परिच्छिन्न हैं। परन्तु एक सत्ता ऐसी भी है, जो समानरूप से, एकरसरूप से भाव-अभाव, सत्-असत्-मूर्त्त-अमूर्त्त-निरुक्त-अनिरुक्त सब में व्याप्त रहती हुई सर्वाधार बनी हुई है। सर्व-व्यापक-आत्मा सत्तारूप से सर्वत्र व्याप्त है। यही दार्शनिकों का परमसामान्य है। यही आत्मप्रतिष्ठात्मिका आत्मसत्ता है। इसकी उद्बुद्धावस्था ही विश्व है, उन्मुग्धावस्था ही महाप्रलय है। **'भूपृष्ठ पर पुरुष प्रतिष्ठित है'** इस वाक्य में परप्रतिष्ठा, और स्वप्रतिष्ठा दोनों का समन्वय है। भूपृष्ठप्रतिष्ठा परप्रतिष्ठा है, स्वयं पुरुष स्वप्रतिष्ठात्मक है, यही भावप्रतिष्ठा है। पुरुष नहीं रहा। अतएव पुरुषावच्छिन्ना परप्रतिष्ठा भी नहीं रही, स्वप्रतिष्ठा भी नहीं रही। परन्तु व्यापक आत्मप्रतिष्ठा अब भी विद्यमान है, जिसका व्यक्तितन्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव **'पुरुष है'** इस भावात्मक व्यवहार की भाँति-**'पुरुष नहीं है'** इस अभावात्मक

व्यवहार में भी अस्तित्व प्रतिष्ठित है। घटात्मिका स्वसत्ता घट में ही है। परन्तु व्यापक आत्मसत्ता का जिस रूप से भावात्मक घट पर अनुग्रह था, उसी रूप से अभावात्मक घट पर भी अनुग्रह हो रहा है। 'घटोऽस्ति' में जैसे 'अस्ति' है, तथैव 'घटो नास्ति' में भी अस्तित्व अक्षुरण है। घटोऽस्ति में वही सत्ता घटभाव की अनुग्राहिका है। 'घटो नास्ति' में वही घटाभाव की अनुग्राहिका है। जैसे सामान्यसत्ता अस्तित्व में है, नास्तित्व में भी वह अक्षुरण है। एक स्थान पर **'है'** ने घट को पकड़ रक्खा है, अतएव **'घट है'** यह व्यवहार होता है। एक स्थान पर **'है'** ने नहीं को पकड़ रक्खा है, अतएव **'नहीं-है'** व्यवहार होता है। भावाभाव भले ही बदलते रहें, अस्तित्व नहीं बदलता। नाम-रूप कर्म्म बदलते हैं, व्यापक सत्ता नहीं बदलती। समस्त विश्वप्रपञ्च में एक भी उदाहरण ऐसा उपस्थित नहीं किया जा सकता, जहाँ इस सामान्य-सत्तात्मिका आत्मप्रतिष्ठा का सम्बन्ध न हो। सामान्यसत्तारूप से यह ब्रह्म तत्त्वतः सर्वव्यापक बन रहा है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। वक्तव्य यही है कि, आत्मसत्ता, स्वसत्ता, परसत्ता, भेद से सत्तातत्त्व तीन भावों में परिणत हो रहा है। तीनों में आत्मसत्ता निरुपाधिक व्यापक सत्तातत्त्व है। पर-स्वसत्ता, दोनों विवर्त्त सोपाधिक व्याप्य सत्तातत्त्व हैं। उपाधिसम्बन्ध को पृथक् करके जब आप इन दोनों पर दृष्टि डालेंगे, तो केवल निरुपाधिक सत्ता ही शेष रह जायगी।

१०—ज्ञानपूर्विकासत्ता-त्मक दृष्टिकोण—

निरुपाधिक सत्ता के ही सोपाधिकरूप स्वसत्तात्मक भावों का बालक को बोध हो रहा है। उपाधि के साथ ही सही, 'अस्ति' तत्त्व का प्रत्यय अस्तित्वेन अक्षुरण है। यही 'सत्' रूप प्रथम पर्व के साक्षात्-दर्शन हैं। "यह सूर्य्य है, यह पृथिवी है, यह चन्द्रमा है, यह प्राणी है," इत्यादिरूप से सभी को अस्ति का भान हो रहा है। क्या कोई कह सकता है कि, 'अस्ति' का मुझे बोध नहीं। यदि बोध है, तो कह सकते हैं कि, 'सच्चिदानन्द' ब्रह्म का 'सत्' पर्व किसी के लिए भी परोक्ष नहीं है। यों कहिए कि, एक तृतीयांश ब्रह्म के स्वरूपबोध से अपने आपको कोई पृथक् नहीं कर सकता। अब शेष रहे-चित्, और आनन्द नामक दो विवर्त्त।

जिस प्रकार 'सत्' से अस्तिलक्षण 'सत्ता' अभिप्रेत है, एवमेव 'चित्' से चेतनालक्षण 'ज्ञान' अभिप्रेत है। ज्ञान ही चेतना है। अस्तित्व का ज्ञान ही चेतना है। केवल अस्ति तब तक अस्तित्वरूप से उन्मुग्ध है, जब तक कि उसका हमें ज्ञान न हो जाय। ज्ञान से ही अस्ति का अस्तित्व प्रकाशित होता है। वैज्ञानिक पर्षत् में यह प्रश्न भी बड़ा महत्त्व रखता है कि-'अस्ति' **अतो ज्ञायते, किंवा ज्ञायते, अतः-अस्ति ?** '। वस्तु है, इसलिए हम उसे जानते हैं, अथवा जानते हैं, इसलिए वस्तु है ?। तात्पर्य्य प्रश्न का यही है कि, 'सत्तापूर्वकं ज्ञानम्, आहोस्वित्-ज्ञानपूर्विका सत्ता ?'। प्रश्न इसलिए उठा कि, जब तक पुरोऽवस्थित नामरूप कर्म्मात्मक पदार्थ के अस्तित्व का हमें ज्ञानात्मक भान (प्रत्यय-उपलब्धि) नहीं हो जाता, दूसरे शब्दों में वह अस्तिमान् पदार्थ जब तक हमारे ज्ञानमण्डल में प्रविष्ट नहीं हो जाता, तब तक **'अमुकः-पदार्थोऽस्ति'** ये शब्द हमारे मुख से नहीं निकलते। अन्धकार में, अथवा तो भित्ति के आवरण के उस ओर भले ही घट-पटादि पदार्थ विद्यमान रहें, परन्तु जब तक प्रकाश के द्वारा, अथवा तो भित्तिआवरण-निराकरण द्वारा वे विद्यमान पदार्थ हमारे ज्ञान में नहीं आ जाते, तबतक हम उन पदार्थों के सम्बन्ध में कदापि-'घटोऽस्ति-पटोऽस्ति' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग नहीं कर सकते। हम उन पदार्थों को जान कर ही अस्तिरूप

से उनका अभिनय करते हैं। इस दृष्टिकोण के आधार पर कहा जा सकता है कि-'ज्ञानपूर्विकासत्ता' ही सिद्धान्त है। 'ज्ञायते-अतः-अस्ति, न ज्ञायते-अतो नास्ति' ही तत्त्वदृष्टि प्रतीत हो रही है।

११-सत्तापूर्वकज्ञानात्मक दृष्टिकोण—

क्या उक्त प्रतीति का समर्थन किया जा सकेगा ?, क्या हमारे (जीवात्मा) ज्ञान के आधार पर ही वस्तुओं की सत्ता प्रतिष्ठित है ?। अनुभव कहता है-ऐसा तो नहीं है। 'न ज्ञायते, अतो नास्ति' कहना तो साहस है। जब कि, ईश्वरसत्ता का ज्ञान न होने पर भी ईश्वरसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। हम नहीं जानते, एतावता ही सत्तासिद्ध पदार्थों के अस्तित्त्व का अभाव कैसे माना जासकता है। यदि सत्तात्मक घट पदार्थ केवल हमारे ज्ञान से ही सत्तात्मक है, तब तो इच्छामात्र से हम जिस किसी भी प्रदेश में घट के न रहने पर भी घटज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञानात्मिका इच्छा-मात्र से घटज्ञान हो जाना चाहिए। परन्तु देखते हैं, बिना सत्तासिद्ध पदार्थों के घटादि पदार्थों का ज्ञान नहीं होसकता। मानना पड़ेगा कि, अस्तित्त्व ही तद्विषयक ज्ञान का जनक है। पदार्थ हैं, इसलिए उनका हमें ज्ञान होता है। 'अस्ति-अतो ज्ञायते, नास्ति चेत्, न ज्ञायते, नोलपलभ्यते' यही सिद्धान्तपक्ष प्रतीत होता है। 'सत्तापूर्वकज्ञान' ही तत्त्वदृष्टि प्रतीत हो रही है।

१२-उभय दृष्टिकोणों का तात्त्विक समन्वय—

दोनों हीं सिद्धान्त अनुभव-तर्क-दृष्टि से प्रमाणित हैं। कैसे दोनों का निर्विरोध समन्वय किया जाय ?। वैज्ञानिक उत्तर देते हैं-अन्तर्जगत् की दृष्टि से प्रथम तत्त्वदृष्टि का समन्वय हो रहा है, बहिर्जगत् की दृष्टि से द्वितीय तत्त्वदृष्टि का समन्वय हो रहा है। पाञ्चभौतिक महाविश्व हमारे ज्ञान के लिए बहिर्जगत् है। यही ईश्वरीय जगत् है। ईश्वरीय ज्ञान से विनिर्मित सत्तासिद्ध ईश्वरीय ज्ञानमय जगत् वास्तव में जीव के लिए बहिर्जगत् है। सत्तासिद्ध यह ईश्वरीय जगत् ज्ञानपूर्वक है। यहाँ ज्ञान आधार है, सत्तासिद्ध बहिर्जगत् आधेय है। इस सत्तासिद्ध जगत् की दृष्टि से कहा जासकता है कि, है, इसलिए हम जानते हैं। बहिर्जगत् स्पृश्यमात्र है, दृश्य नहीं। हम जो कुछ देखते हैं, जानते हैं, वह हमारे ज्ञान में प्रविष्ट ज्ञानमय वस्तुभाव है, यही हमारा अन्तर्जगत् है। सत्तासिद्ध पदार्थ के आधार पर सत्तात्मक जिस पदार्थ का ज्ञान हमारे ज्ञानमण्डल में प्रविष्ट हो जाता है, वह ज्ञानात्मिका सत्ता ही हमारा अन्तर्जगत् है। और अवश्य ही यह अन्तर्जगत् हमारे ज्ञान से अभिन्न है, ज्ञान से उपकल्पित है। निष्कर्ष यही निकला कि-हमें जिन सत्तासिद्ध पदार्थों की 'जानामि-ज्ञायते-ज्ञातम्' रूप से प्रतीति होती है, वे सब प्रतीत ज्ञात-उपलब्ध पदार्थ अन्तर्जगत् है। इसका निर्म्माण हमारे ज्ञान से हुआ है। जब तक हम हैं, तब तक हमारा ज्ञानीय जगत् है। इस दृष्टि से 'ज्ञायते-अतोऽस्ति' सर्वात्मना समन्वित है। हमारे ज्ञानीय अन्तर्जगत् का निर्म्माण हुआ है-ईश्वरीय ज्ञानीय जगद्रूप (जोकि ईश्वरदृष्ट्या ईश्वर का अन्तर्जगत् है) बहिर्जगत् के आधार पर। स्पृश्य बहिर्जगत् सत्तासिद्ध है। इसके आधार पर हमारे दृश्य अन्तर्जगत् (दृश्यसत्ता) का निर्म्माण हुआ है। एवं इस दृष्टि से 'अस्ति-अतो ज्ञायते' यह दृष्टिकोण सर्वात्मना समन्वित है। स्वजगत्सत्ता ज्ञाननिघ्ना है, ज्ञाननिघ्ना स्वजगत्सत्ता बहिःसत्तानिघ्ना है, यही निष्कर्ष है।

१३-समन्वयमूलक-'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' सिद्धान्त—

इस से एक नवीन सिद्धान्त और निकल आया, जो सिद्धान्त विज्ञानभाषा में-'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' नाम से व्यवहृत हुआ है। हमारा अन्तर्जगत् हमारे ज्ञान से निर्म्मित होता हुआ जैसे ज्ञानमय है, एवमेव ईश्वरीय

जगत् ईश्वरीय ज्ञान से निर्म्मित होता हुआ ईश्वरीय ज्ञानमय है। हमारा अन्तर्जगत् जैसे हमारे ज्ञान से उपकल्पित है, एवमेव हमारी दृष्टि से बहिर्जगत्, किन्तु ईश्वरीय दृष्टि से अन्तर्जगद्रूप सत्तासिद्ध महाविश्व ईश्वर के ज्ञान से उपकल्पित है। ईश्वरज्ञान ही महाविश्वरूप सत्ताभाव में परिणत हो रहा है। और इस नवीन सिद्धान्त की दृष्टि से 'ज्ञानपूर्विकासत्ता' यह प्रथम सिद्धान्त ही प्रधान बन जाता है। अस्तित्व का अपलाप नहीं है, अपितु अस्ति, और ज्ञान का अभेद है। 'ईश्वरीयज्ञानमस्ति', के अनुसार ईश्वरीय ज्ञान सत्तात्मक है। तभी तो तद्रूप जगत् के लिए 'जगदस्ति' यह व्यवहार होता है। जगत् उसी ज्ञानात्मिका सत्ता का ग्राह्यरूप है। ईश्वरीय ज्ञान उसी सत्ता का ग्रहीतृरूप है। ग्रहीता ज्ञान, ग्राह्यसत्ता, तत्त्वतः-दोनों अभिन्न हैं, एक हैं। ज्ञायते ही अस्तित्त्व है, अस्तित्त्व ही ज्ञायते है।

१४–सच्चिदानन्दब्रह्म का सर्वानुभूत 'चित्' पर्व—

प्रकृतमनुसरामः। बतलाया गया है कि, जीवविवर्त्त की दृष्टि से अस्ति के अस्तित्त्व का विकास ज्ञान पर ही अवलम्बित है। 'अस्ति' का उच्चारण ही मुख से तब सम्भव है, जब कि वह अस्ति ज्ञानमण्डल में प्रविष्ट हो जाती है। 'घटोऽस्ति' यह वाक्य ज्ञानीय घटसत्ता का ही अभिनय कर रहा है। उपासक पिता के समीप बैठा हुआ बालक 'यह भगवान् है' इस सत्तात्मक वाक्य श्रवण से 'अस्ति' को उपलब्ध कर रहा है। उपलब्धि ही ज्ञान है, सत्तोपलब्धि ही ज्ञान है, यही चित्, किंवा चेतना है। इसप्रकार 'अस्ति भगवान्, तच्च जानाति बालकः' रूप से सत्ता के साथ साथ ही बालक चेतना-बोध का भी अनुभव कर रहा है। बालक ही क्या, सभी तो इस उपलब्धि (ज्ञान) के अनुगामी बने हुए है। सभी अपने मुख से 'अयमस्ति-इयमस्ति-इदमस्ति' व्यवहार करते हुए सत्तोपलब्धि (सत्ता के ज्ञान) के अनुगामी बन रहे हैं।

१५–आत्मज्ञान–स्वज्ञान–परज्ञान–नामक चिद्ब्रह्म के तीन विवर्त्त—

जिस प्रकार सत्तातत्त्व आत्मसत्ता, स्वसत्ता, परसत्ता (सत्ता, धृति, विधृति) रूप से तीन विवर्त्तभावों में परिणत रहता है, एवमेव इस चेतना-तत्त्व (ज्ञान) के भी आत्मज्ञान, स्वज्ञान, परज्ञान, भेद से तीन हीं विवर्त्त मानें गए हैं। हम जो कुछ जानते हैं, वह सब 'परज्ञान' है, आगन्तुक ज्ञान है। वैषयिक-सांसारिक ज्ञान बहिर्जगत् के सत्तासिद्ध बाह्य विषयों के आधार से उत्पन्न हुआ है। बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है। इनसे भावनात्मक ज्ञानीय संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं। वे ज्ञानीय संस्कारपुञ्ज ही लोक में 'अनुभव' नाम से व्यवहृत हुए हैं। जिसका जितना अधिक लोकविषयों से सम्पर्क रहेगा, उसका आत्मा उतनें ही अधिक भावनासंस्कारों से युक्त रहेगा। साथ ही वह मानवसमाज में उतना हीं बड़ा अनुभवी कहलाएगा। अनुभवी मनुष्य ही संस्कारी जीव कहलाया है। जिस प्रकार विषयदर्शनरूप विषयसम्पर्क से संस्कार उत्पन्न होते हैं, एवमेव विषयश्रवण (शब्दश्रवण) से भी संस्कार उत्पन्न होते हैं। गौपशु को देखने से भी ज्ञान गौरूप संस्कार से युक्त हो जाता है, 'गौ' शब्द श्रवण से भी गौरूप संस्कार आत्मा में खचित हो जाता है। तात्पर्य, सांस्कारिक विषय शब्द, अर्थ, भेद से दो भागों में विभक्त हैं। एवं दोनों का औत्पत्तिक-लक्षण तादात्म्यसम्बन्ध है *। अतएव अर्थदर्शन से जैसे तद्रूप विषयसंस्कार आहित हो जाता है, एवमेव

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका तृतीयखण्ड में द्रष्टव्य है।

तद्वाचक शब्दश्रवण से भी तद्वाच्य विषयाकार उपस्थित हो जाता है। अर्थरूप विषय के आगमन से, सम्पर्क से ज्ञान तदाकाराकारित हो जाता है, यही तात्कालिक विषयज्ञान 'ब्रह्म' कहलाया है। एवमेव-शब्दजनित शब्दावच्छिन्न तात्कालिक ज्ञान 'वेद' कहलाया है। ब्रह्मज्ञान, वेदज्ञान, (अर्थज्ञान, शब्दज्ञान) दोनों पार्ष्टिशामचर्वणा से कालान्तर में यदि प्रज्ञानमन में खचित हो जाते हैं, तो वही दृढ़ ज्ञान 'संस्कारज्ञान' कहलाने लगता है। यही संस्कारावच्छिन्न ज्ञान **'विद्या'** ÷ कहलाया है। इसप्रकार बाह्य विषयसंसर्ग से उत्पन्न होनें वाले आगन्तुक परज्ञान के **ब्रह्म, वेद, विद्या,** तीन विवर्त्त हो जाते हैं। त्रिविध भावापन्न यह विषयज्ञान परसत्तात्मिका विधृति की भाँति आगन्तुक, अतएव परिवर्तनशील है। संस्कारज्ञान विषयसम्पर्क के तारतम्य से अवश्य ही बदलता रहता है। संस्कारज्ञान का जीवात्मस्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी के तारतम्य से मूर्ख-बुद्धिमान्-ब्राह्मण, क्षत्रिय-वैश्य-आदि भेदवाद व्यवस्थित हुए हैं।

दूसरा है—स्वज्ञान। जिस ज्ञान के आधार पर बाह्यज्ञान (परज्ञान) प्रतिष्ठित होते हैं, वही स्वज्ञान है, यही उस व्यक्ति की मूल प्रतिष्ठा है, जीवनसाधक है। **'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्'** के अनुसार इस स्वज्ञान से ही इतर खण्डज्ञान भासित हैं। प्रति व्यक्ति का यह स्वज्ञान उसका अपना ज्ञान है। इसी के द्वारा वह जानता है। पक्षी का ज्ञान पृथक् है, पशु का ज्ञान पृथक् है, मनुष्य का ज्ञान पृथक् है। अपने अपने क्षेत्र के स्वरूप के अनुसार क्षेत्रज्ञरूप यह स्वज्ञान विभिन्नधर्म्मा है। यह भेदक ज्ञान जबतक है, तबतक ही व्यक्तिप्रतिष्ठा है। अतएव इसे धृतिलक्षण स्वसत्ता से समतुलित माना जा सकता है। इन दोनों ज्ञानों से अतिरिक्त तीसरा निरुपाधिक-निर्विकल्पक व्यापक ज्ञान ही आत्मज्ञान है, जिसका साक्षी चिद्ज्ञानाधारभूत महानात्मा माना गया है। यही तीसरा निरुपाधिक ज्ञान सामान्यसत्ता से समतुलित रहता हुआ सामान्यज्ञान है, यही अखण्ड-अद्वय-ज्ञान है। वही खण्डात्मक जीवसंस्था का आधार बनता हुआ 'स्वज्ञान' है, विषयाधार बनता हुआ परज्ञान है। परज्ञान प्रज्ञानानुमोदित (मनोऽनुगत) है, स्वज्ञान विज्ञानानुमोदित (बुद्ध्यनुगत) है, एवं आत्मज्ञान महदात्मानुमोदित (स्वानुगत) है। इसप्रकार सत्तावत् चेतनालक्षण ज्ञान के भी तीन हीं विवर्त्त हो जाते हैं। निरुपाधिक ज्ञान के ही सोपाधिक ज्ञानभाव का बालक को सोपाधिक सत्ताद्वारा बोध हो रहा है। उपाधि का सम्बन्ध भले ही रहे, चित् (ज्ञान) का प्रत्यय, किंवा चिद्रूप प्रत्यय चिद्भावत्त्वेन अक्षुण्ण है। एवं यही 'चित्' रूप द्वितीय पर्व के साक्षात् दर्शन हैं।

सूर्य्यादि जो सत्तासिद्ध पदार्थ हैं उनको हम जानते है, इत्यादिरूप से सभी को अस्ति की उपलब्धिरूप ज्ञान हो रहा है। उपलब्धिरूप ज्ञान के रहते भी क्या कोई यह कह सकता है कि, मुझे 'चित्' का परिज्ञान नहीं। अवश्य ही परिज्ञान है। परिज्ञानात्मिका उपलब्धि ही तो अस्तिभाव की प्रयोजिका है। ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि, सच्चिदानन्दब्रह्म का चित् पर्व भी सत्पर्ववत् सबके लिए प्रत्यक्ष है। यही चित्पर्व की सर्वानुभूति का संक्षिप्त निदर्शन है।

१६–रसोपलब्धिमूलक आनन्दपर्व—

अब शेष रह जाता है—सर्वमूलभूत तीसरा आनन्दपर्व। आनन्दानुभवरूप आनन्द-प्रत्यक्ष का विश्लेषण इसलिए अनावश्यक है कि, शान्ति-समृद्धिरूप से सभी को इसका प्रत्यक्ष हो रहा है। जिस तत्त्व

÷ इन तीनों सांस्कारिक ज्ञानों का विश्लेषण भक्तिपरीक्षा-उत्तरखण्ड के दशमहाविद्या-प्रकरण में किया जा चुका है।

की सत्ता है, जिस सत्तासिद्ध तत्त्व का हमें ज्ञान होता है, सत्ता–ज्ञानानुगत सर्वाधारभूत वही तत्त्व 'आनन्द' है। जो है, जिसका ज्ञान है, वही आनन्द है। प्रश्न होता है–'क्या है ?'। उत्तर मिलता है–'पुस्तक है'। प्रश्न होता है-किसका ज्ञान ?, उत्तर मिलता है-'पुस्तक का ज्ञान'। यह प्रश्नोत्तर–व्यवहार सिद्ध कर रहा है कि, जो है, एवं जिसका ज्ञान है, वही तीसरा विलक्षण तत्त्व 'है' (अस्ति) और जानना (चित्) दोनों में रसन करता हुआ **'रस'** नाम से प्रसिद्ध है। यह रस ही आनन्द है। केवल अस्ति से भी तृप्तिरूप आनन्द की प्राप्ति असम्भव है। केवल ज्ञान से भी आनन्दोद्रेक असम्भव है। जिसकी सत्ता है, जिसका ज्ञान है, उस रसतत्त्व की प्राप्ति में ही आनन्द है। हम जानते हैं कि, राज्यकोष में अतुल सम्पत्ति प्रतिष्ठित है। सम्पत्ति की सत्ता भी है, उसका हमें ज्ञान भी है, परन्तु जिस रसात्मिका सम्पत्ति की सत्ता है, जिसका ज्ञान है, जब तक वह हमें मिल नहीं जाती, तब तक आनन्द नहीं आता। इसी आधार पर–**'रसो ह्येव सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'** (उपनिषत्) यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है।

१७–आत्मानन्द-स्वानन्द-परानन्द-नामक आनन्दब्रह्म के तीन विवर्त्त—

सत्–चित्–पर्वों की भाँति इस तीसरे आनन्दपर्व के भी **आत्मानन्द, स्वानन्द, परानन्द,** भेद से तीन ही विवर्त्त मानें जायँगे। आत्मानन्द, भूमानन्द है, निःसीम आनन्द है। स्वानन्द, परानन्द, सीमानन्द हैं। सुस्वादु भोजन, सुगन्धित द्रव्य, सुस्वर सङ्गीत, अन्यान्य भोग्य परिग्रह, आदि लौकिक विषयों के संसर्ग से जो ऐन्द्रियक क्षणिक सुखोपलब्धि हुआ करती है, वही परानन्द है, आगन्तुक आनन्द है। अतएव अस्थायी आनन्द है। विषय के साथ इस आनन्द का आगमन होता है। अतएव जबतक विषयसंस्कारचर्वणा बनी रहती है, तभी तक विषयानन्द की प्राप्ति होती है। विषयविनिवृत्ति के साथ विषयानुगत यह रस (विषयानन्द) भी निवृत्त हो जाता है *। इसीलिए इस विषयानन्द को परिणामतः दुःखप्रवर्त्तक ही माना गया है। कुछ भी हो, विषयानन्द में जो 'आनन्द' का अंश है, वह तो स्वस्वरूप से आनन्द ही है, एवं यह भी आनन्दत्वेन उस आत्मानन्द से अभिन्न ही है, अतएव ब्रह्मस्वरूप में अवश्य ही संग्राह्य है।

१८–आनन्दस्वरूपमीमांसा—

आनन्दस्वरूपविश्लेषण के लिए हमें आनन्द की विशेष मीमांसा करनी पड़ेगी। समृद्ध्यर्थक **'नद'** धातु (टुनदि समृद्धौ) से 'आनन्द' शब्द निष्पन्न हुआ है। समृद्धि उसी तत्त्व का नाम है, जो पूर्व परिग्रह को तो अक्षुण्ण बनाए रहे, एवं अन्य परिग्रह का सञ्चय करती रहे। यदि आय से व्यय अधिक है, तो + व्यृद्धि (समृद्ध्यभाव) है। यदि आय-व्यय समतुलित हैं, तो योगक्षेमात्मक निर्वाह है। यदि व्यय से आय अधिक है, तो समृद्धि है। पूर्वकोषरक्षापूर्वक अन्य कोषागमन ही समृद्धि है। आनन्द का स्वरूप इस समृद्धिभाव से मिलता जुलता है, अतएव इसे 'आनन्द' कहना अन्वर्थ बनता है। केन्द्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रसतत्त्व अर्करूप से उत्तरोत्तर विकसित होता रहता है। अपने स्थान (हृदय) में प्रतिष्ठित रहता हुआ आगे चलता है, यही

*** विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।**
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥ गी० २।५९।

+ 'व्यृद्धि-यह' वैदिक शब्द है, जो सम्पत्ति के अभाव में प्रयुक्त होता है।

इसका समृद्धिभाव है। वैज्ञानिकों नें आनन्द शब्द का यही निर्वचन किया है। विषयप्रदेशपर्य्यन्त आनन्द का रश्मिरूप से अनुधावन होता है। परन्तु उक्थरूप से वह स्वप्रदेश (हृदय) में हीं प्रतिष्ठित रहता है। अन्य-प्रदेशानुधावन के द्वारा वही सम्पूर्ण सृष्टियों का स्रष्टा बनता है +, परन्तु स्वस्वरूप से अक्षुण्ण बना रहता है। यही आनन्द का आनन्दत्त्व है, यही वास्तविक आनन्द है। प्रकृतिविरुद्ध मद्यपान–स्तेयकर्म्म–हिंसाकर्म्म–आदि लौकिक विषयों में मूलप्रतिष्ठा का सम्बन्ध नहीं रहता। नाहीं ऐसे विषयानन्द स्रष्टा ही बनते, अपितु मूलप्रतिष्ठा (हृत्प्रतिष्ठा) के उच्छेदक ही बनते हैं, अतः ऐसे विषय आनन्दमर्य्यादा से सर्वथा बहिष्कृत रहते हुए दुःखरूप हीं मानें गए हैं।

मूलप्रदेश से अन्य प्रदेश पर्य्यन्त आनन्द अनुधावन करता है, इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में मूलप्रदेश, और अन्यप्रदेश विजिज्ञास्य हैं। समाधान कर लीजिए आध्यात्मिक दृष्टिकोण से। स्वायम्भुव पर–माकाश के गर्भ में प्रतिष्ठित सौर पुराणाकाश आध्यात्मिक शरीराकाश की प्रतिष्ठा है। शरीराकाश के गर्भ में गर्भरूप हृदयाकाश है। तत्र स्वायम्भुव परमाकाश से समतुलित दभ्राकाश है, जोकि 'दहराकाश'–'दहरपुण्ड–रीक' आदि नामों से भी व्यवहृत हुआ है। यही वह मूल प्रदेश है, जहाँ सत्यसंकल्प, भारूप, ज्योतिषांज्योतिः, आकाशात्मा, सच्चिदानन्दघनब्रह्म प्रतिष्ठित है *। यही ब्रह्म÷'परात्परपुरुष' कहलाया है। इस दहराकाशानुगत–तद्रूप–परात्परपुरुषब्रह्म के आगे क्रमशः ६ अन्य प्रदेश हैं, जिनमें यह मूलप्रदेशस्थ उक्थरूप ब्रह्म अर्करूप से व्याप्त होता है। पुरुष के सन्निकट सर्वप्रथम स्वायम्भुव अव्यक्तात्मप्रदेश है, जिस अव्यक्तात्मा को A. उपनिषदों

\+ यात्यन्यदेशं त्वजहत्स्वदेशं, विजायते किन्तु न हीयते तत्।
यदर्चितं स्रष्टृ, यदेति सुस्थं-तस्मात्तदानन्दपदं वदामः ॥

*–"मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्म्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" (छां० उप० ३।१४।२।
–'एष म आत्माऽन्तर्हृदये अणीयान्, ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः, (छां०३।१४।३)
–"अथ यदस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः। तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं, तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्" (छां० ८।१)। 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः। सर्वं तदस्मिन् समाहितम्(छां०८।१।३)।

÷–यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
—मण्डकोपनिषत् ३।२।८।

A.–यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्, तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥(कठोपनिषत १।३।१३।)
यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥मनुस्मृतिः १।५३।

नें एवं स्मृतियों नें 'शान्तात्मा' नाम से भी व्यवहृत किया है। मूलस्थ आत्मानन्द (पुरुषानन्द) का प्रथम-व्याप्तिप्रदेश यही अव्यक्तात्मा है। अव्यक्त के सन्निकट पारमेष्ठ्य महानात्मप्रदेश है, जो सलिलरूप माना गया है, एवं सत्त्व का (विशुद्धबुद्धिका) प्रवर्त्तक माना गया है। मूलस्थ आत्मानन्द का अव्यक्तात्मद्वारा यही महानात्मा द्वितीय व्याप्तिप्रदेश है। महान् के सन्निकट विशुद्धसत्त्वात्मक सौर विज्ञानात्म-(बुद्धि)-प्रदेश है। महानात्मद्वारा मूलानन्द का यही विज्ञानात्मा तृतीय व्याप्तिप्रदेश है। विज्ञानात्मा के सन्निकट प्रज्ञानात्म-(सर्वेन्द्रियमनः)-प्रदेश है। विज्ञानात्मद्वारा मूलानन्द का यही प्रज्ञानात्मा चतुर्थ व्याप्तिप्रदेश है। प्रज्ञानात्मा के सन्निकट इन्द्रियवर्ग प्रदेश है। प्रज्ञानात्मा के द्वारा मूलानन्द का यही इन्द्रियवर्ग पञ्चम व्याप्तिप्रदेश है। इन्द्रियों के सन्निकट बाह्य लौकिक विषयप्रदेश है। इन्द्रियद्वारा मूलानन्द का यही विषयप्रपञ्च षष्ठ व्याप्ति-प्रदेश है। सात प्रदेशों में एक मूलप्रदेश है, ६ तूलप्रदेश हैं। मूलप्रदेश स्वप्रदेश है, तूलप्रदेशषट्क अन्य प्रदेश हैं। स्वप्रदेश में वह उक्थरूप से व्याप्त है, अन्य प्रदेशषट्क में अर्करूप से व्याप्त है। साथ ही ६ ओं अन्य प्रदेशों में व्याप्त आत्मानन्दमात्राएँ उत्तरोत्तर ह्रसीयसीं, एवं पूर्व-पूर्वप्रदेश में विकसिता हैं। इस से यह भी स्वतःसिद्ध है कि, विषयानन्दमात्रापेक्षया इन्द्रियानन्दमात्रा प्रवृद्ध है, तदपेक्षया प्रज्ञानानन्दमात्रा, तदपेक्षया विज्ञानानन्दमात्रा, तदपेक्षया महदानन्दमात्रा, एवं तदपेक्षया अव्यक्तानन्दमात्रा प्रवृद्ध है। सर्वान्तरतम आत्मा आनन्दघन है। इसी की अर्करूप आनन्दमात्राएँ ले कर सम्पूर्ण संस्थाएँ उपजीवित हैं। निर्दिष्ट परिलेख से सातों आनन्दसंस्थाओं का भलीभाँति स्पष्टीकरण होजाता है।

१६-मूल-तूलानन्दमात्रास्वरूपदिग्दर्शन-

लौकिक विषय अध्यात्मसंस्था का 'वित्त' माना गया है। यह आत्मवित्त अन्तर्वित्त, बहिर्वित्त, भेद से दो भागों में परिणत रहता है। इन्द्रियों के द्वारा जो विषय संस्काररूप से अध्यात्मजगत् की सीमा में प्रविष्ट होते हुए प्रज्ञानमन पर प्रतिष्ठित होकर आत्मा के 'अन्तर्जगत्' रूप में परिणित होजाते हैं, वे सांस्कारिक विषय (अर्थ) 'अन्तर्वित्त' कहलाए हैं। एवं जो विषय इन्द्रियद्वारा आत्मसीमा में प्रविष्ट न होकर बाहर बचे रहते हैं, बहिर्जगत्-रूप वे विषय 'बहिर्वित्त' कहलाए हैं। यह भी एक रहस्यपूर्ण विषय है कि, जिस व्यक्ति की अध्यात्मसंस्था में जन्मान्तर से जो अर्थ संस्काररूप से प्रतिष्ठित रहते हैं, वर्त्तमान जन्म में वह व्यक्ति उन अन्तर्वित्तरूप सांस्कारिक अर्थों के अनुरूप ही बाह्य बहिर्वित्तों के भोगने में समर्थ होता है। इसी आधार पर जाति, आयु, भोग, तीनों का जन्मान्तरीय संस्कारों से सम्बन्ध माना गया है। मानव की विविध जातियाँ (योनियाँ), अल्पायु-दीर्घायु-आदि आयु, उत्तम-मध्यम-निकृष्ट-भोग, आदि सब कुछ जन्मान्तरीय संस्कारबलतारतम्य से हीं नियत रहते हैं। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दादि विषय संस्काररूप से जन्मतः आत्मा में प्रतिष्ठित रहते हैं। इनकी मात्रा-तारतम्य से ही बाह्य विषयभोग व्यवस्थित हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, प्रत्येक व्यक्ति का भोगानुभव पृथक् पृथक् है। कितनें एक व्यक्ति ऐसे हैं-जिन्हें उत्कट गन्ध का भान नहीं होता, स्वादुरस का अनुभव नहीं होता, सुन्दर से सुन्दर सङ्गीत भी उन्हें आकर्षित नहीं कर सकता, अपूर्व सौन्दर्य्य भी उनके लिए निरर्थक वस्तु बनी रहती है, खर-कोमल स्पर्श के तारतम्य का जिन्हें भेद ही प्रतीत नहीं होता। मानना पड़ेगा कि, इनमें उन बाह्य अर्थों के ग्राहक आभ्यन्तर सांस्कारिक अर्थों का विकास नहीं है। वही तिक्त पदार्थ (मरीचिका आदि) एक की आँखों में आँसू ले आती है, दूसरा उसी को बिना सीत्कार के ही खा जाता है। यह अनुभवभेद संस्का-

रभेद पर ही अवलम्बित है। बाह्य विषयभोग की मूलप्रतिष्ठा जन्मान्तरीय आभ्यन्तर अर्थ (संस्कार) ही हैं। जिसमें जिस अर्थ का अभाव है, वह तदनुगत बाह्य विषयानन्दग्रहण में असमर्थ है।

उक्त आभ्यन्तर, बाह्य अर्थ, भेद से पूर्वप्रतिपादित सप्तसंस्थाक्रम की दो अवस्थाएँ हो जातीं हैं, उसी के लिए यह वित्तमीमांसा उपस्थित हुई है। अन्तर्वित्तरूप अर्थ आत्मसीमा में प्रविष्ट हैं। अतएव इस दृष्टि से इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, मन, बुद्धि, महान्, अव्यक्त, पुरुष, यह क्रम माना जायगा। बहिर्वित्तरूप अर्थ इन्द्रियसीमा से बहिर्भूत हैं। अतः इस दृष्टि से 'अर्थ-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-महान्-अव्यक्त-पुरुष, यह क्रम माना जायगा। श्रुति में दोनों हीं क्रमों का उल्लेख हुआ है। आध्यात्मिक दृष्टि से प्रथम क्रम प्रधान है, सामान्य तत्त्वदृष्टि से द्वितीय क्रम प्रधान है। निम्न लिखित वचन दोनों क्रमों का विभिन्न दृष्टिकोण से समर्थन कर रहे हैं

अन्तर्वित्तानुगता दृष्टिः–**इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः, अर्थेभ्यश्च परं मनः ॥**

(आध्यात्मिकी) **मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१॥**

महतः परमव्यक्तं, अव्यक्तात् पुरुषः परः ॥

पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥२॥

—कठोपनिषत् १।३।१०,११,।

बहिर्वित्तानुगता दृष्टिः–(**अर्थाः, ततश्च इन्द्रियाणि**)—

(तात्त्विकी) **इन्द्रियेभ्यः परं मनः, मनसः सत्त्वमुत्तमम् ॥**

सत्त्वादधि महानात्मा, महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥१॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ॥

यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्त्वं च गच्छति ॥२॥

—कठो० ६।७।८,।

गीता का प्रधान लक्ष्य बुद्धियोग है। सप्तपर्वात्मक ईश्वरीय विवर्त्त के केन्द्र में बुद्धितत्त्व प्रतिष्ठित है। पुरुष, अव्यक्त, महान्, ये तीन पर्व बुद्धि के उस ओर हैं, एवं ये तीनों अमृतप्रधान हैं। मन, इन्द्रियवर्ग, अर्थ, तीन पर्व बुद्धि के इस ओर हैं, एवं ये तीनों मृत्युप्रधान हैं। मध्यस्थ बुद्धितत्त्व दोनों ओर अनुगत रहता हुआ अमृत-मृत्युमय है। अर्थ पार्थिव है, मन चान्द्र है, इन्द्रियवर्ग उभयात्मक है। बुद्धि सौरी है, महान् पारमेष्ठ्य है, अव्यक्त स्वायम्भुव है, पुरुष लोकातीत है। बुद्धि से परे के पुरुष-अव्यक्त-महान्, तीनों की समष्टि पुरुषस्वरूप में अन्तर्भूत है। महान् के साथ योग होते ही बुद्धि महद्गर्भित अव्यक्तानुगत पुरुष से युक्त हो जाती है। एकमात्र इसी दृष्टि से बुद्धियोगप्रतिपादक गीताशास्त्र ने बुद्धि से परे की उपनिषत्सम्मता तीनों संस्थाओं का समष्टिरूप से एकरूपेणैव संग्रह कर लिया है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से प्रमाणित है–

इन्द्रियाणि पराण्याहु, रिन्द्रियेभ्यः परं मनः ॥

मनसस्तु परा बुद्धि, र्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥१॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ॥
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥२॥
—गीता ३।४२,४३।

* मूलप्रदेशावच्छिन्नः—पुरुषात्मा	(लोकातीतः) घनानन्दः
१–प्रथमोऽन्यप्रदेशः——अव्यक्तात्मा	(स्वायम्भुवः)
२–द्वितीयोऽन्यप्रदेशः——महानात्मा	(पारमेष्ठ्यः)
३–तृतीयोऽन्यप्रदेशः——विज्ञानात्मा	(सौरः)
४–चतुर्थोऽन्यप्रदेशः——प्रज्ञानात्मा	(चान्द्रः)
५–पञ्चमोऽन्यप्रदेशः——इन्द्रियाणि	(उभयात्मकानि)
६–षष्ठोऽन्यप्रदेशः——अर्थाः	(पार्थिवाः)

—सैषा मूलतूलानन्दमीमांसा

२०—'परम' आनन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

एक प्रासङ्गिक आनन्दमीमांसा का समन्वय और कर लीजिए। जिसका सत्त्व जितना अधिक निर्म्मल होगा, वह उतनी ही अधिक आनन्दमात्रा से युक्त रहेगा। एवं जिसका सत्त्व जितना अधिक मलिन होगा, उसकी आनन्दमात्रा उतनी ही अधिक अल्प–अल्पतर–अल्पतम होगी। यही आनन्दमात्रातारतम्यमीमांसा का दूसरा दृष्टिकोण है। अध्यात्मसंस्था में जो स्थान अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, इन्द्रिय, अर्थ, इन ६ पर्वों का है, अधिदैवतसंस्था में वही स्थान स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, अन्तरिक्ष, पृथिवी, इन ६ पर्वों का है। इन्द्रियपर्व का मन में अन्तर्भाव है, तो अन्तरिक्षपर्व का चन्द्रमा में अन्तर्भाव है। फलतः दोनों संस्थाओं में अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, अर्थ, एवं स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ये पाँच पाँच पर्व हीं मुख्य रह जाते हैं। पाँचों पर्वों का अधिष्ठाता पुरुषतत्त्व ही सत्त्वानन्दमूर्त्ति है। इस सत्त्वानन्द की अपरिमित परिमित, भेद से दो अवस्था मान लीजिए। स्वयं अद्वयमूर्त्ति आत्मानन्द अपरिमित आनन्द है। यही तत्त्व उपनिषदों में द्रष्टा कहलाया है। यही जीवात्मा की परमा सम्पत् है, परम लोक है, परम आनन्द है। शेष पाँचों भूत पूर्व इसी अपरिमित आनन्द की परिमित आनन्दमात्रा को लेकर ही उपजीवित हैं। सत्त्वानन्दघन इसी अद्वैतानन्द का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

"सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति। एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः। एषाऽस्य परमा गतिः, एषास्य परमा सम्पत्, एषोऽस्य परमो लोकः, एषोऽस्य परम आनन्दः। एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृहदारण्यकोपनिषत् ४।३।३२)।

२१—शतमात्रानुगत-खण्डानन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

पृथिवी से बड़ा चान्द्र अन्तरिक्ष, इस से बृहत् सूर्य्य, सूर्य्य से बृहत् परमेष्ठी, परमेष्ठी से बृहत् स्वयम्भू। इस महत्ताबृद्धि के तारतम्य से इन पाँचों में रहने वाला परिमित आनन्द (मात्रानन्द) भी उसी तारतम्य से प्रतिष्ठित है। पञ्चपर्वात्मक विश्व सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति है। ब्रह्मस्वयम्भू सब में आहुत है, सब ब्रह्मस्वयम्भू में आहुत हैं। सम्पूर्ण प्रजाति (प्रजासृष्टि) स्वायम्भुव परमाकाशरूप अव्यक्तात्मा में प्रतिष्ठित है। वह भी सब में प्रविष्ट है। यही विश्वयज्ञ की सर्वहुत-यज्ञता है *। दशाक्षरविराट् के दशधा व्यूहन से यह यज्ञमात्रा शतसंख्या पर विश्रान्त मानी गई है। शतसंख्या यज्ञस्वरूप की संग्राहिका है, यही तात्पर्य्य है ×। अतएव पाँचों पर्वों में भुक्त मात्रानन्द के तारतम्य का विश्लेषण शतसंख्या के द्वारा ही हुआ है। 'उत्तर उत्तर एषां लोकानां ज्यायान्' (तां०-म० ब्रा० १६।१०।३) के अनुसार उत्तर-उत्तरलोक पूर्व-पूर्वलोकापेक्षया ज्यायान् ('बृहत्') है। उसी अनुपात से उत्तर-उत्तर लोकसंस्था की आनन्दमात्रा का शत-शतरूप से विस्तार है।

पृथिवी, चन्द्रमा अन्तरिक्ष, सूर्य्य, इन अवरधामों में भूतभाग का प्राधान्य है। अतएव 'प्रजा वै भूतानि' (शत० २।४।२।१।) के अनुसार प्रजा शब्द से इन तीनों लोकों की भूतप्रजा का ही ग्रहण किया जाता है। पार्थिवप्रजा 'मनुष्य' नाम से, चान्द्रान्तरीक्ष्य प्रजा 'पितर' नाम से, एवं सौरप्रजा 'देव' नाम से व्यवहृत हुई है÷। इन तीनों प्रजाओं का वास्तविक पिता आपोमय परमेष्ठी है। अतएव इसे 'प्रजापति' कहना अन्वर्थ बनता है !!। परमेष्ठी से ऊपर स्वयम्भू ब्रह्म है, यही सर्वलोकपितामह है। इसप्रकार पाँचों विश्वपर्वों में क्रमशः मनुष्य, पितर, देव, प्रजापति, ब्रह्म, इन पाँच विवर्त्तों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। यही पञ्च विवर्त्त मात्रानन्दमीमांसा के मुख्य आधार माने गए हैं।

---

*—"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत—न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनीति। तत् सर्वेषु भूतेषु-आत्मानं हुत्वा भूतानि-चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्यैत्। स वाऽएष सर्वमेधो दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति। दशाक्षरा विराट्। विराड् कृत्स्नमन्नम्। परमो वाऽएष यज्ञक्रतूनां-यत् सर्वमेधः।" (शत० ब्रा० १३।७।१।१,२,)।

×—"शतान्यन्वहं वीयन्ते। एषा वाव यज्ञस्य मात्रा-यच्छतम्। सैव साऽविच्छिन्ना दीयते। दशतोऽन्वहं दीयन्ते। दशाक्षरा विराट्। वैराजो यज्ञः"।

—ताण्ड्यमहाब्राह्मण २०।१६।१२।

÷—"त्रयो वाव लोकाः—मनुष्यलोकः, पितृलोको, देवलोकः"। इति।

—शा० ब्रा० १४।४।३।२४।

!!"आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी। ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति"। इति।

—शत० ब्रा०८।२।३।१३।

मनुष्य पार्थिव प्राणी है, पार्थिव प्रजा है। प्राज्ञ के विकास के कारण यही इतर पार्थिव प्राणियों की अपेक्षा आनन्दभोक्ता है। अतः श्रुति ने पार्थिवानन्दमीमांसा में केवल मानुषानन्द का ही विश्लेषण किया है। मनुष्य के आनन्द का क्या स्वरूप ?, मनुष्य का परमानन्द क्या ?, उत्तर है पार्थिव भोगसम्पत्प्राप्ति। पार्थिवसम्पत् पुत्रैषणा, लौकैषणा, वित्तैषणा, भेद से तीन भागों में विभक्त है। प्रजासम्पत्ति, यशःसम्पत्ति, वित्तसम्पत्ति, तीनों यदि असपत्नरूप से मनुष्य को मिल जाती है, तो यही मनुष्य का परमानन्द है। अखिल-भूमण्डल का अधिपति वह सम्राट्-जो सम्पूर्ण मनुष्यों की अपेक्षा समृद्ध है, सब पर निरपेक्षरूप से शासन करता है-यच्चयावत् मानुष (पार्थिव) भोगों से सम्पन्न है, वही मानुषानन्द का अधिकारी है। यही मानुषानन्द की पराकाष्ठा है, जिसका एक भी उदाहरण वर्त्तमान युग में अनुपलब्ध है।

पार्थिव मानुषानन्द के अनन्तर चान्द्र-अन्तरिक्ष है। चन्द्रपिण्ड में प्रतिष्ठित सौम्यप्राण 'पितर' है। चान्द्र अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित सोमानुगृहीत वायव्य प्राण गन्धर्व है। इस दृष्टि से चान्द्रविवर्त्त में पितर, गन्धर्व, ये दो अवान्तर प्रजासर्ग व्यवस्थित हो रहे हैं। जिस मानुषानन्द की पूर्व में मीमांसा की गई है, उसे शतगुण कर लीजिए। ऐसे सौ मानुषानन्द मिल कर पितरों का आनन्द है। ऐसे १०० पैत्र आनन्द मिल कर एक गन्धर्वानन्द है। यही चान्द्र-आन्तरीक्ष्य आनन्द की मीमांसा है। चन्द्रमा के अनन्तर सूर्य्य है। इसकी प्रजा 'देव' नाम से प्रसिद्ध है। यह देवतत्त्व **कर्म्मदेव, आजानदेव**, भेद से दो भागों में विभक्त है। जो मनुष्य यज्ञ के द्वारा दैवात्मातिशय का स्वभूतात्मा में आधान कर लेता है, वह कर्म्मदेव कहलाया है। एवं प्रकृतिसिद्ध नित्य सौरप्राण आजानदेव कहलाए हैं। सौर सम्वत्सर में भुक्त पार्थिव नाचिकेतस्वर्ग में (निधनानन्तर) कर्म्मदेव प्रतिष्ठित होते हैं। शतगन्धर्वानन्दों को मिला कर इनका एक आनन्द है। शत कर्म्मदेवानन्दों की समष्टि एक आजानदेवों का आनन्द है। यही सौर आनन्दद्वयी की मीमांसा है। सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठी प्रजापति है। आजानदेवों के शत आनन्दों की समष्टि एक प्रजापति का आनन्द है। यही पारमेष्ठ्य आनन्द की मीमांसा है। परमेष्ठी से ऊपर अव्यक्त स्वयम्भू ब्रह्म है। प्रजापति के शत आनन्दों की समष्टि का एक ब्रह्मलोकानन्द (स्वायम्भुवानन्द) है। यह स्वायम्भुव आनन्द उस केन्द्रस्थ आत्मानन्द (असीमानन्द) के सन्निकट है। अतः इसे भी परमानन्द मान लिया जाता है। अपिच मात्रानन्दों में यही आनन्द परम (अन्तिम)है। इसलिए भी इसे परम आनन्द कह दिया जाता है। यही स्वायम्भुव आनन्द की मीमांसा है, यही मात्रानन्द की मीमांसा है, जिसका निम्न लिखित परिलेख, तथा श्रुति से स्पष्टीकरण हो रहा है—

(१) ब्रह्मलोक-आनन्दः]—स्वायम्भुव-आनन्दः (५)—सैषा अव्यक्तानन्दमीमांसा
(१) प्रजापतिलोक-आनन्दः]-पारमेष्ठ्य-आनन्दः (४)—सैषा महदानन्दमीमांसा
(२) आजानदेवानामानन्दः }
(१) कर्म्मदेवानामानन्दः } —सौर-आनन्दः (३)—सैषा विज्ञानानन्दमीमांसा
(२) गन्धर्वलोक-आनन्दः }
(१) पितॄणामानन्दः } चान्द्र-आनन्दः (२)—सैषा प्रज्ञानानन्दमीमांसा
(१) मनुष्याणां परम आनन्दः]—पार्थिव-आनन्दः (१)—सैषा अर्थानन्दमीमांसा

सैषा–मात्रानन्दमीमांसा
—खण्डानन्द-द्वैतानन्दमीमांसा

(१) **पार्थिवानन्दो मानुषः**–"स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवति, अन्येषामधिपतिः, सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः, स मनुष्याणां परम आनन्दः"।

❀ ❀ ❀

(२)–**चान्द्रानन्दो पैत्रः** } "अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः, स एकः पितृणामानन्दः।"
,, गान्धर्वः } "अथ ये शतं पितृणामानन्दाः, स एको गन्धर्वलोक आनन्दः।"

❀ ❀ ❀

(३)–**सौरानन्दो दैवः**-"अथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः, स एकः कर्म्मदेवानामानन्दः"।
"अथ ये शतं कर्म्मदेवानामानन्दाः, स एक आजानदेवानामानन्दः"।

(४)–**पारमेष्ठ्यानन्दः प्राजापत्यः**-"अथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः, स एकः प्रजापति-लोक आनन्दः"।

❀ ❀ ❀

(५)–**स्वायम्भुवानन्दो ब्राह्मः**–"अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः, स एको ब्रह्म-लोक आनन्दः"।

बृ० आ० उ० ४।३।३३।

२२—तैत्तिरीयोपनिषत्सम्मत-आनन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

उक्त मात्रानन्दमीमांसा का तैत्तिरीयश्रुति में अन्य दृष्टिकोण से समन्वय हुआ है। प्रसङ्गोपात्त दो शब्दों में उसका भी दिग्दर्शन करा दिया जाता है। और सब दृष्टियों से तो तैत्तीरीयमीमांसा बृ० आ० मीमांसा से समतुलित है। केवल दैवानन्दमीमांसा में थोड़ा अन्तर है। बृहदारण्यक में जहाँ कर्म्मदेवानन्द की अपेक्षा आजानदेवानन्द विशेष समृद्ध माना गया है, वहाँ तैत्तीरीय ने आजानदेवानन्दापेक्षया कर्म्मदेवानन्द को विशेष समृद्ध माना है। साथ ही आजानजदेव, कर्म्मदेव, दोनों से पृथक् एक देवानन्द की सत्ता और स्वीकार की गई है। एवमेव बृहदारण्यक ने पैत्रानन्द की अपेक्षा जहाँ गन्धर्वानन्द को समृद्ध माना है, वहाँ तै० ने गन्धर्वानन्द की अपेक्षा पैत्रानन्द को प्रधानता दी है, साथ ही गन्धर्वानन्द मानुषगन्धर्वानन्द, दैवगन्धर्वानन्द भेद से द्विधा विभक्त माना है। एवमेव बृ० ने देवानन्द के अव्यवहितोत्तरस्थान में ही जहाँ प्राजापत्य आनन्द की स्थिति बतलाई है, वहाँ तैत्तिरीय ने दोनों के मध्य में क्रमशः ऐन्द्र आनन्द, बार्हस्पत्य आनन्द, इन दो मात्रानन्दों का समावेश और माना है। शेषांश दोनों का समतुलित है।

मानुषानन्द दोनों का समतुलित है। बृहदारण्यक का लक्ष्य कर्म्मात्मक पितर है। इष्ट-आपूर्त-दत्त, इन विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्मों के अनुयायी मनुष्य का मानुषात्मा निधनानन्तर कर्म्मपितररूप में परिणत हो जाता है। चान्द्रपितृलोकावाप्ति ही इस सत्कर्म्म का फल है। **'स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दः'** (बृ० आ०) से श्रुति कर्म्मपितर को ही लक्ष्य बना रही है। पार्थिव मानुषानन्द के अनन्तर इसी का अवस्थान है।

उभयविध गन्धर्वानन्दों में से मानुषगन्धर्वानन्द का बृहदारण्यक ने मानुषानन्द में ही अन्तर्भाव मान लिया है। कर्म्मणा गन्धर्वयोनि–प्राप्त मानुषात्मा ही 'मनुष्यगन्धर्व है'। इसका स्थान अवश्य ही कर्म्मपितर की अपेक्षा निम्न है। दूसरा है–देवगन्धर्वविभाग । नित्य प्राणात्मक चान्द्र अन्तरिक्षभुक्त गन्धर्व ही देवगन्धर्व है। कर्म्मात्मक अनित्य पितरों की अपेक्षा इनका स्थान उच्च है। अतः बृहदारण्यक ने पितर के अनन्तर इन देव–गन्धर्वों की व्यवस्था स्वीकार की है। तात्पर्य्य-'गन्धर्व' से बृहदारण्यक का लक्ष्य नित्य देवगन्धर्व हैं, और वे अवश्य ही अनित्य कर्म्म–पितरों की अपेक्षा उच्चभूमिका में प्रतिष्ठित हैं।

"बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः" इस निगमश्रुति के अनुसार बृहस्पतितत्त्व पूर्वधामों में अन्तिम है, एवं इन्द्रतत्त्व उत्तरधामों में प्रथम है। स्वयम्भूब्रह्म, परमेष्ठी-प्रजापति दोनों पूर्वधाम हैं। सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी, तीनों उत्तरधाम (अवधधाम) हैं। सूर्य्यात्मक नवाहयज्ञ का २५ वाँ अहर्गण **'अविवाक्यमहः'** कहलाया है, यही **'महाव्रतमहः'** है। यह सौम्यविद्युद्रूप इन्द्रतत्त्वात्मक है। यह इन्द्र तत्त्व ही राजसूययज्ञ की प्रतिष्ठा है। यही इन्द्रतत्त्व सूर्य्यादि उत्तर धामों का उपक्रमस्थान है। यही इन्द्रधाम पुराणों में **'यत्र गत्त्वा न पुनर्म्रियन्ते'** निर्वचन से **'अपुनर्मार'** लोक कहलाया है। इस पञ्चविंश, राजसूययज्ञप्रवर्त्तक, अपुनर्मार–लोकात्मक विद्युदिन्द्र से ऊपर पञ्चदशाहयज्ञ के केन्द्र में बृहस्पतिप्राण प्रतिष्ठित है। सूर्य्यभुक्त २१ वें अहर्गण से आरम्भ कर ३६ वें अहर्गण पर्य्यन्त, १५ अहर्गणों में व्याप्त पारमेष्ठ्य गोसवयज्ञ ही 'पञ्चदशाहयज्ञ' कहलाया है। २६ वाँ अहर्गण इस यज्ञ का केन्द्र बनता है। यहीं बृहस्पतितत्त्व प्रतिष्ठित है। यही बृहस्पति 'वाजपेययज्ञ' का प्रवर्त्तक माना गया है। अतएव वाजपेयसव 'बृहस्पतिसव' कहलाया है। बृहस्पतिसव–प्रवर्त्तक यही बार्हस्पत्यधाम पुराणों में **'अशोकमहिम'** कहलाया है *। यही बृहस्पतितत्त्व पूर्वधामों का उपसंहारस्थान है। इसप्रकार सूर्य्य से ऊपर २५, २६, इन दो अहर्गणों के सम्बन्ध से पारमेष्ठ्य लोक में इन्द्र, बृहस्पति, इन दो तत्त्वों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। सौर आजानदेवानन्तर पञ्चिवश विद्युदिन्द्र प्रतिष्ठित है, तदनन्तर नवविंश बृहस्पति प्रतिष्ठित है, तदनन्तर परमेष्ठी प्रजापति प्रतिष्ठित हैं। बृहदारण्यक ने इन्द्र , और बृहस्पति का परमेष्ठी प्रजापति में अन्तर्भाव मानते हुए जहाँ आजानदेवानन्तर प्रजापति की व्यवस्था की है, वहाँ तैत्तिरीय ने इन्द्र–बृहपस्पिति दोनों पारमेष्ठ्य तत्त्वों का पृथक्रूप से विश्लेषण कर दिया है। बृहदारण्यक, तथा तैत्तिरीय की मात्रानन्दमीमांसा में यही अन्तर है, जो तत्त्वतः निर्विरोध है।

*** यन्न दुःखेन सम्भिन्नं यच्च ग्रस्तमनन्तरम्।**
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम्॥

	आनन्द	
५	(१) ब्रह्मण आनन्दः (४८)	—स्वायम्भुवः (अव्यक्तानन्दः ५) ।
४	(३) प्रजापतेरानन्दः (३६) (२) बृहस्पतेरानन्दः (२६) (१) इन्द्रस्यानन्दः (२५)	—पारमेष्ठयः (महदानन्दः ४) ।
३	(३) देवानामानन्दः (२१) (२) कर्म्मदेवानामानन्दः (१७) (१) आजानदेवानामानन्दः (६)	—सौरः (विज्ञानानन्दः ३) ।
२	(३) पितॄणामानन्दः (१५) (२) देवगन्धर्वाणामानन्दः (१५ (१) मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः (१५)	—चान्द्रः (प्रज्ञानानन्दः २) ।
१	(१) मानुष आनन्दः (*)	—पार्थिवः (अर्थानन्दः १) ।

"सैषा आनन्दस्य (मात्रानन्दस्य) मीमांसा भवति"

—तैत्तिरीयोपनिषत् ब्रह्मानन्दवल्ली ८ अनुवाक

२३—मानव की आनन्दलिप्सा, और तत्समाधानप्रकार—

आनन्दमीमांसा का प्रयोजन क्या ?, उत्तर स्पष्ट है । लोक-भोग-परायण व्यक्ति इसलिए विषयों में प्रवृत्त रहते हैं कि, ये भोग सुख के कारण बनते हैं । लौकिक विषयानन्दपरायण व्यक्ति अध्यात्मप्रवणता का यह कहते हुए उपहास किया करते हैं कि, लौकिक विषयों में तो हमें आनन्द मिलता है । आत्मचिन्तन क्यों किया जाय, जबकि उसके अनुष्ठान-प्रकारों में विषयानन्द-प्रवृत्ति का पदे पदे निरोध होता रहता है । आनन्दकामना से विषयों में आसक्त कामकामी पुरुष से श्रुति पूँछती है कि, बतलाओ ! तुम्हें कितना आनन्द चाहिए ?, कामकामी उत्तर देता है—कोई कमी न रहे, यच्चयावत् अभिलषित पदार्थ मिल जाँय । श्रुति ने समस्त पार्थिवभोग सम्मुख रख

दिए और साथ ही में यह भी सङ्केत कर दिया कि, वित्तपूर्णा पृथिवी के समस्त भोगों में तुम जितना आनन्द समझते हो, चान्द्रमहिमा में इससे शतगुण अधिक आनन्द है। उसकी लालसा हुई, क्योंकि भूमा-लालसा स्वाभाविक है। चान्द्र आनन्द के अनन्तर उस सौर आनन्द की ओर आनन्दलिप्सु का ध्यान आकर्षित किया, जो सौर आनन्द चान्द्रानन्दापेक्षया भी शतगुण अधिक है। तदपेक्षयापि शतगुणीकृत पारमेष्ठ्य आनन्द को सम्मुख रक्खा। तदपेक्षया भी शतगुणीकृत स्वायम्भुव आनन्द की ओर ध्यान आकर्षित किया गया। और संकेतद्वारा इस मात्रानन्दमीमांसा से यह आदेश दिया कि, पूर्व-पूर्व-आनन्दमात्रा उत्तर-उत्तर-आनन्दमात्राओं से सीमित है। अतएव पूर्व-पूर्व-आनन्दमात्राओं के अनुगमन से उत्तर-उत्तर-भूमानन्दमात्राओं की कामना बनी रहती है, लालसा बनी रहती है। कामना एक प्रकार का क्षोभ है, अशान्ति है। फलतः इन काममय मात्रानन्दों से कभी वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती-**'नामृतत्वस्य तु-आशास्ति वित्तेन'**। जिस मूलप्रदेशस्थ (हृदयस्थ) घनानन्दमूर्त्ति निष्काम आत्मानन्द की मात्रा ले लेकर भूत पर्व आनन्द (आनन्दविशिष्ट) बने हुए हैं, उसे प्राप्त करना ही पुरुष का परमपुरुषार्थ है। तभी दुःख का आत्यन्तिक विमोक सम्भव है *। वहाँ क्षोभ का आत्यन्तिक अभाव है, पूर्ण-शान्ति का साम्राज्य है।

२४-विषयानन्दप्रवृत्ति का काल्पनिक मोह—

विषयभोगपरायण, कहने भर को वीतराग लोकायतिकों नें आत्मानन्दरूप ब्रह्मानन्द के वास्तविक तत्त्व को न समझते हुए इसका उपहास किया है। वे कहते हैं कि, उस आत्मानन्द के अन्वेषण में कौन व्यर्थ का प्रयास करेगा, जिसमें न द्रष्टा है, न दृश्य है, न अनुभव है, न अनुभवकर्त्ता है। है, तो केवल जड़भाव। जैसे एक मूर्च्छित मनुष्य चेतना से विलुप्त रहता हुआ जड़वत् निश्चल बना रहता है, वही दशा ब्रह्मानन्दानुगामियों की है। मृत्युसम ऐसी शान्ति का कौन अनुगमन करेगा। 'चारु' वाक्प्रयोग में कुशल नास्तिकों की ऐसी ऐसी बातें सुनने में तो बड़ी प्रिय लगती हैं। तत्त्वज्ञानशून्य सभी संसारी तत्काल उनके इस प्रलोभन को स्वीकार कर लेंगे, और कह बैठेंगे कि, ठीक तो है। सुस्वादु भोजन, रूपदर्शन, सङ्गीतश्रवण, आदि आनन्दों का अनुभव ब्रह्मानन्द में कहाँ है। सचमुच उस एकान्ततः स्थिरवृत्ति में पहुँचना तो अपने आपको जड़ बना लेना है। जहाँ न मोद-प्रमोद, न हास्य-विलास, न मित्रगोष्ठियाँ, न सुन्दर दृश्यावलियाँ। है केवल स्थाणुवत निश्चलभाव। क्या अन्तिम आनन्द का यही स्वरूप है?, यही फल है?। तभी तो सर्वसाधारण की वैसे कल्पित आत्मानन्द की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। साधारण क्या, कोई भी समझदार? प्रत्यक्षफलजनक विषयानन्दों को छोड़ कर कभी उस कल्पनातीत काल्पनिक जड़ताप्रवर्त्तक आत्मानन्द की ओर प्रवृत्त न होगा।

२५-ब्रह्मानन्द के प्रति लोकायतिकों की भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण—

क्या लोकायतिकों का उक्त कथन तथ्यपूर्ण है?, नेति होवाच। विषयानन्ददृष्टि से ही विचार कीजिए। आनन्द वही वास्तविक आनन्द माना गया है, जिसमें मन की तन्मयता अक्षुण्ण बनी रहती है। जिन विषयानन्दों में मन और विषय का सर्वथा पार्थक्य बना रहता है, वे विषयानन्द नीरस से प्रतीत होने लगते हैं।

---

* **यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।**
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

'आनन्दविभोर' मन ही आनन्दी कहलाया है। एवं यह विभोरता ही मन की तन्मयता कहलाई है। जिस विषयानन्द में यह तन्मयता आजाती है, वह विषयानन्द द्वैतभाव से पृथक् सा रहता है। विषय, तज्जनित आनन्द, आनन्द-भोक्ता मन, तीनों मिल कर एकाकार बन जाते हैं। मन अपने आपको भुला देता है। उस आत्यन्तिक विषयानन्दचर्वणा में थोड़ी देर के लिए मनुष्य ऐसा मुग्ध बन जाता है कि, उस दशा में उसे बाहिर, भीतर, द्रष्टा-दृश्य-आदि भेदों का कुछ भी भान नहीं रहता। चर्वणा शान्त होने पर उसे स्वयं को ऐसा भान होता है, जैसे वह गहरी नींद से जगा हो। विषयानन्दों में से तल्लीनता प्रवर्त्तक ऐसे विषयानन्द ही उत्कृष्ट विषयानन्द मानें गए हैं। स्वयं विषयानन्दपरायण लौकिक मनुष्य भी ऐसे उत्कृष्ट विषयानन्दों के लिए ही सदा लालायित देखे सुने गए हैं। यही इस बात का प्रमाण है कि, आनन्द वही उत्कृष्ट माना जायगा, जिसमें द्वैतभाव की अधिकाधिक निवृत्ति, एवं तन्मयताप्रवर्त्तक अद्वैतभाव की अधिकाधिक प्रवृत्ति रहेगी।

२६-रत्यानन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

और और जितनें भी विषयानन्द हैं, सभी अपनी चरमावस्था पर पहुँच कर तन्मयता के प्रवर्त्तक बनते हुए यद्यपि उत्कृष्ट आनन्दकोटि में आते हुए अद्वैतानन्द से समतुलित हो जाते हैं, तथापि विषयानन्दों में दो ही उदाहरण ऐसे उपलब्ध होते हैं, जिनमें तन्मयतारूप अद्वयभाव सर्वथा प्रस्फुटित रहता है। अतएव ऋषियों नें ब्रह्मानन्द की सर्वोत्कृष्टता का परिचय कराने के लिए उन दो विषयानन्दों को ही उदाहरण माना है। पहिला विषयानन्द रत्यानन्द है, दूसरा विषयानन्द निद्रानन्द है। रत्यानन्द गौण है, निद्रानन्द प्रधान है। रत्यानन्दलक्षण विषयानन्द लौकिक यचयावत् विषयों में क्यों श्रेष्ठ माना गया ?, लौकिक मनुष्य भी इसे क्यों उत्कृष्ट आनन्द मान रहें हैं ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर है द्वैताल्पत्व, एवं अद्वैत-भूयस्त्व। अद्वैतभूयस्त्व का कारण है-पूर्णता, पूर्णता का कारण है-दो अर्द्धाकाशों का एकत्र समन्वय। ब्रह्मानन्द आकाशात्मक माना गया है, जैसा कि आगे स्पष्ट होने वाला है। आकाश परिपूर्ण है, अतएव उसे पूर्णपुरुष कहा जाता है। इस पूर्णपुरुषात्मक आकाश के सूर्य्य-चन्द्र माध्यम से अहरोत्र द्वारा दृश्य-अदृश्य भेद से दो विभाग हो जाते हैं। सौर अर्द्धाकाश आग्नेय है, यही अहःकाल है, यही दृश्य अर्द्धाकाश है, इसीसे पुरुषसृष्टि का विकास हुआ है। अग्निसम्बन्ध से ही आग्नेय-अर्द्धाकाश से कृतात्मा पुरुष आग्नेय, अतएव अन्नाद (भोक्ता) कहलाया है। चान्द्र अर्द्धाकाश सौम्य है, यही रात्रिकाल है, यही अदृश्य अर्द्धाकाश है, इसीसे स्त्री-सृष्टि का विकास हुआ है। सोम के सम्बन्ध से ही सौम्य-अर्द्धाकाश से कृतात्मा स्त्रीतत्त्व सौम्य, अतएव अन्न (भोग्य) कहलाया है। केवल पुरुष भी अर्द्धाकाश से कृतात्मा बनता हुआ अर्द्धवृगल है, अपूर्ण है। केवल स्त्री भी अर्द्धाकाशात्मिका बनती हुई अपूर्णा है। जब दोनों का दाम्पत्यभाव होता है, तो पूर्णता प्रस्फुटित हो जाती है। पुरुष के अर्द्धाकाश की पूर्णता स्त्री के अर्द्धाकाश पर ही निर्भर है। इसी आधार पर-"**सोऽयमाकाशः स्त्रिया पूर्य्यते**"(बृ० आ० १।४।३।) यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। अर्द्धाकाशात्मक पुरुष, एवं अर्द्धाकाशात्मिका स्त्री, दोनों का जब दाम्पत्यभाव (मिथुनसम्बन्ध) होता है, तो आकाशसम्पत्ति पूर्ण बन जाती है। पूर्णाकाश के सम्पन्न होते ही द्वैतभाव उच्छिन्न हो जाता है, पूर्णात्मक अद्वैतभाव प्रस्फुटित हो जाता है। अतएव उभयसमन्वयात्मिका इस रति में पुरुष-स्त्री, दोनों अपना पार्थक्य भूल जाते हैं, तन्मय हो जाते हैं। परिमित क्षणों तक प्रस्फुटित रहने वाला यही रत्यानन्द विषयानन्दों में से उस उत्कृष्ट विषयानन्द का उदाहरण है, जिसे अद्वैतानन्द के परिचय के लिए मध्यस्थः माना जा सकता है। अपिच-श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम,

चारों प्रेमों का इस रतिप्रेम में समन्वय रहता है। यह सर्वोत्कृष्ट-सर्वात्मक प्रेम प्रथम तो ब्रह्म के साथ ही सम्भव है, अथवा तो पत्नी के साथ ही, जैसा कि भक्तिपरीक्षा-उत्तरखण्ड के 'प्रेमाभक्ति' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

रत्यानन्दस्वरूप-विश्लेषण से प्रकृत में हमें उन विषयानन्द-पक्षपातियों से यह पूँछना है कि, क्या रत्यानन्द उन्हें विषयानन्दों में उत्कृष्ट आनन्द प्रतीत नहीं होता ?, यदि हाँ, तो हम फिर पूँछते हैं कि-क्या इसमें भोजनानन्दादि की भाँति द्वैतप्रतीति होती है ?, क्या अपने आपका बोध यथानुरूप बना रहता है ?, नहीं, तो फिर उनसे पूँछा जाता है कि, जब रत्यानन्द में द्वैतभाव नहीं, अपितु तल्लीनता है, अपने आपको भुला देना है, तो जडता से समतुलित इस रत्यानन्द के लिए विषयभोगपरायण वे महानुभाव अतिशयरूप से लालायित क्यों ?, 'त एव पृष्टव्याः ?'। मानना पड़ेगा कि-आनन्द वही वास्तविक आनन्द है, जिसमें द्वैत-भाव का अधिकाधिक ह्रास हो, अद्वैतसम्पत् का अधिकाधिक विकास हो। जबकि क्षणमात्र के लिए प्राप्त रत्यानन्दात्मक विषयानन्दरूप अद्वैतानन्द की सर्वोत्कृष्टता अनुभवसिद्ध है, तो क्या वे विषयानन्दपक्षपाती उस अद्वैतलक्षण परिपूर्ण ब्रह्मानन्द का उपहास कर सकेंगे, जिसमें क्षणमात्र के लिए नहीं, अपितु सदा के लिए तल्लीनतारूपा आनन्दसम्पत् संश्लिष्ट है। क्या कह सकेंगे उस नित्य-परिपूर्ण-ब्रह्मानन्द को वे जडानन्द ?। अपने अन्तर्जगत् में वे अद्वैतभावापन्न, किन्तु क्षणिक रत्यानन्द, एवं अद्वैतभावापन्न, किन्तु नित्य-ब्रह्मानन्द, दोनों का समतुलन करें। और फिर ब्रह्मानन्द-की हेयोपादेयता का निर्णय करें। तत्त्वदर्शी ऋषियों नें विषयभोगपरायण ऐसे व्यक्तियों के उद्बोधन के लिए ही ब्रह्मानन्दस्वरूपपरिचय के लिए रत्यानन्द को उदाहरण बनाया है, जिस उदाहरण का एकमात्र लक्ष्य है-रत्यानन्द से सम्बन्ध रखने वाली अद्वैतानुभूति, जिसका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

"तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नाऽऽन्तरम्। एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नाऽऽन्तरम्। तद्वा अस्यै-तदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्" (बृहदारण्यकोपनिषत् ४।३।२१।)।

२७-पुत्र-लोक-वित्तैषणा-प्रवर्त्तक रत्यानन्द—

रत्यानन्द के उक्त औपनिषद-उदाहरण के सम्बन्ध में कुछ एक अतिशय-सभ्यताभिमानी प्रतीच्य विद्वानों नें इसलिए अपनी अरति प्रकट की है कि, ब्रह्मानन्द जैसे पवित्रतम-लोकोत्तर आनन्द के साथ रत्यानन्द-जैसे वैषयिक लौकिक क्षणिक आनन्द की तुलना करना समीचीन नहीं। उनकी इस अरति का उत्तर पूर्व में दिया जा चुका है। उदाहरण से केवल आनन्दानुभूति अभिप्रेत है। और विषयानन्दों में अद्वैतानन्दानुभूति की प्रतिच्छाया से मिलता जुलता उदाहरण एकमात्र रत्यानन्द ही है। अपिच उदाहरण के द्वारा श्रुति को लौकिक मनुष्य के सम्मुख ब्रह्मानन्द की महत्ता उपस्थित करनी है। वह यह बतलाना चाहती है कि, यच्चयावत् विषयानन्दों की अपेक्षा ब्रह्मानन्द ही ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, अतएव अनुगमनीय है। मानते हैं-रत्यानन्दातिरिक्त रूपदर्शन-सङ्गीत-श्रवण आदि अन्यान्य विषयानन्दों में भी तल्लीनतालक्षणा अद्वैतानन्दानुभूति होती है। परन्तु इन और किन्हीं विषयानन्दों को उदाहरण न बना कर रत्यानन्द को उदाहरण मानने में ऋषि का कुछ और भी प्रयोजन है।

यच्चयावत् लौकिक कामनाओं का पुत्रकामना, लोककामना, वित्तकामना, इन तीन कामनाओं में अन्तर्भाव है। एवं आनन्दलिप्सु प्रेमी मन की प्रेमधारा कामना की दृष्टि से श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेह, काम, इन चार अवान्तर धाराओं में प्रवाहित है। रत्यानन्द ही एक ऐसा उदाहरण है कि, जिसमें पुत्र–लोक–वित्त, इन तीनों सर्वकामनामयीं प्रधान कामनाओं का भी समन्वय है, एवं श्रद्धादि चारों प्रेमधाराओं का भी समन्वय है। पुत्रैषणा की पूर्त्ति रत्यानन्द पर ही निर्भर है। अतएव रत्यानन्द (दाम्पत्य) के फलस्वरूप पुत्र को भी श्रुति ने 'आनन्द' नाम से ही व्यवहृत किया है *। पुत्र ही एकमात्र लोकप्रतिष्ठा का, लोकमुक्ति का, लौकैषणा का पूरक माना गया है ×। एवं पुत्रार्थ ही पिता की वित्तैषणा की ओर प्रवृत्ति रहती है। बिना पुत्रसम्पत्ति के मनुष्यका वित्तसम्पत्ति से भी विराग हो जाता है। इसप्रकार पुत्रके द्वारा रत्यानन्द तीनों एषणाओं का संग्राहक बना हुआ है। इन्हीं सब तत्त्वदृष्टियों के आधार पर श्रुति ने रत्यानन्द को ही उदाहरण माना है, जिसके तात्त्विक दृष्टिकोण से अपरिचित रहने के कारण ही भूतदृष्टिपरायण प्रतीच्य विद्वान् 'मुखमस्तीति वक्तव्यं, दशहस्ता हरीतकी' को अन्वर्थ बनाते रहते हैं।

२८–निद्रानन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

अब दो शब्दों में दूसरे प्रधान निद्रानन्दरूप विषयानन्द की भी मीमांसा कर लीजिए। यह ठीक है कि, अन्यान्य विषयानन्दों की अपेक्षा रत्यात्मक विषयानन्द अद्वैतानुभूति में प्रधान रहता हुआ तात्त्विक उदाहरण बन रहा है, तथापि एक विशेष हेतु से इस उदाहरण को भी ब्रह्मानन्द से सर्वात्मना समतुलित नहीं माना जा सकता। आनन्द का स्वरूपनिर्वचन करते हुए पूर्व में यह बतलाया गया है कि, आनन्दतत्त्व स्व–स्वरूप से कम्परहित स्थिर तत्त्व है। क्रियारूपा कम्पनमर्य्यादा से यह सर्वथा असंस्पृष्ट है। रत्यानन्द रतिक्रियाजनित है। दो तत्त्वों के मिथुनीभाव से तात्कालिक रत्यानन्द प्रादुर्भूत हुआ है। यद्यपि आनन्दत्वेन रत्यानन्द निश्चल

---

*–**"काऽऽनन्दता याज्ञवल्क्य ? (इति जनकः पप्रच्छ)। मन एव सम्राट्–इति होवाच (याज्ञवल्क्यः)। मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते। तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते। स आनन्दः"** (बृ०आ०उ०४।१।६।)।

×–**"यावन्तः पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि।**
यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान् पुत्रे पितुस्ततः ॥१॥
किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः।
पुत्रं ब्राह्मण इच्छध्वं स वै लोकोऽवदावदः ॥२॥
नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत् सर्वे पशवो विदुः" । (ऐ०ब्रा०३३।२।)।
पुत्रेण लोकाञ्जयति, पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥
—विष्णुस्मृतिः

इस विषय का वैज्ञानिक विवेचन श्राद्धविज्ञान २ खण्ड में देखना चाहिए।

ही है, तथापि इसका क्रियाप्रवृत्ति से सम्बन्ध है। उभयव्यापारात्मक द्वैतकर्म्म की प्रवृत्ति ही रत्यानन्द का निमित्त बनता है। इसके अतिरिक्त एक ही रत्यानन्द का अनुभव भी द्विनिष्ठ बन रहा है। पुरुष का रत्यानन्द स्वतन्त्र है, स्त्री का रत्यानन्द स्वतन्त्र है। दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित एक ही रत्यानन्द दोनों का भोग्य बन रहा है। यही दूसरा द्वैतनिमित्त है। इसके अतिरिक्त रत्यानन्द में प्रवृत्त दोनों को ही यद्यपि बाह्य-आभ्यन्तर प्रपञ्च का बोध नहीं रहता, तथापि स्वात्मपार्थक्य बोध अवश्य सुरक्षित है। दोनों रत्यानन्द में लीन रहते हुए भी पृथक् अस्तित्व का अनुभव कर रहे हैं। तभी तो तदनुरूप व्यापार संक्रान्त रहता है। विशुद्ध अद्वैतभाव में तो क्रिया का आत्यन्तिक रूप से निरोध हो जाता है। यही तीसरा द्वैतभाव है। इन्हीं कुछ एक कारणों से रत्यानन्दोदाहरण में अंशतः शिथिलता आ रही है। रत्यानन्दोदाहरण की इसी अरति को लक्ष्य में रखते हुए ऋषि ने दूसरे 'निद्रानन्द' को उदाहरणरूप से विषयानन्दप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया है।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, भेद से तीन अवस्था प्रधान मानीं गईं हैं। तीनों का क्रमशः प्रज्ञान (मन), विज्ञान (बुद्धि), महान्, इन तीन खण्डात्मविवर्त्तों से सम्बन्ध है। प्रज्ञान-विज्ञान-महान्, तीनों की जाग्रदवस्था जाग्रदवस्था है। प्रज्ञान-विज्ञान, दोनों की जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था है। महान् की जाग्रदवस्था सुप्तावस्था है। एवं महान् की सुप्तावस्था मृत्यु-अवस्था है। आध्यात्मिक चिदात्मा महद्गर्भ में ही प्रतिष्ठित रहता है। हृदयस्थित-महदवच्छिन्न चिदात्मा ही जीवात्मा है। जब तक महान् स्व-स्वरूप से प्रतिष्ठित है, जाग्रत् है, तभी तक जीवात्मा तत्-शरीरपुर में प्रतिष्ठित है। महान् के गर्भ में प्रतिष्ठित आत्मब्रह्म से निकलनें वालीं ज्ञानरश्मियों से विज्ञान प्रकाशित है, विज्ञान से प्रज्ञान प्रकाशित है, प्रज्ञान से इन्द्रिय-द्वारा विषय प्रकाशित हैं। जबतक प्रज्ञानरश्मियाँ इन्द्रियद्वारा बाह्य विषयों को प्रकाशित करतीं रहतीं हैं, तभी तक इन्द्रिय व्यापार होता रहता है। यही प्रज्ञान की जाग्रदवस्था है, यही प्रज्ञानानुगता प्रथमा जाग्रदवस्था है। जब प्रज्ञानरश्मियाँ सिमट कर प्रज्ञानोक्थ में विलीन हो जातीं हैं, तो इन्द्रियव्यापार अवरुद्ध हो जाता है। यही प्रज्ञान की सुप्तावस्था है। इस अवस्था में प्रज्ञानधरातल पर प्रतिष्ठित सांस्कारिक विषय विज्ञानद्वारा प्रकाशित होते रहते हैं, इसी विज्ञानप्रकाश से प्रज्ञानगत सांस्कारिक विषयों का परस्पर अव्यवस्थितरूप से सम्बन्ध होता रहता है। प्रज्ञान की सुप्तावस्थारूपा, विज्ञान की जाग्रदवस्थारूपा यही दूसरी स्वप्नावस्था है। आगे जाकर विज्ञानरश्मियों का भी विज्ञानोक्थ में निलयन हो जाता है। संस्कार ज्ञानप्रकाश से सर्वथा वञ्चित रह जाते हैं। प्रज्ञान को अपने गर्भ में रखने वाला विज्ञान (विज्ञानरश्मियाँ) पुरीततिनाड़ियों के द्वारा हृदयस्थ महानात्मसम्बद्ध उक्थविज्ञान में विलीन हो जाता है। यही विज्ञान की सुप्तावस्था, किन्तु महान् की जाग्रदवस्था है। यही तीसरी सुषुप्त्यवस्था है। महानात्मगर्भित आत्मा 'स्व' है। इस अवस्था में प्रज्ञान-विज्ञान-आदि सब ज्ञानमात्राएँ इस स्व तत्त्व में अपीत हो जातीं हैं, डूब जातीं हैं, अतएव **'स्वस्मिन्नपीतो भवति'** निर्वचन से इस अवस्था से युक्त व्यक्ति के लिए **'स्वपिति'** कहा जाता है। केवल वही अपने महत्स्वरूप से जाग्रत रहता है। निद्रावस्था सांसारिक अवस्था है, मुक्तावस्था नहीं, यह विषयकामी स्वीकार करेंगे। परन्तु देखते हैं-निद्रावस्था में आत्यन्तिक अद्वैत है। जड़ अद्वैत नहीं, अपितु शान्त अद्वैत। तभी तो निद्रानन्तर **'सुखमहमस्वाप्सम्'** (बड़े सुख से सोए) यह वाक्य मुख से निकलता है। प्रज्ञान-विज्ञानज्ञान अवश्य सुषुप्ति में सुप्त है। परन्तु महत्-ज्ञान जाग्रत है। अतएव निद्रानन्दनिमग्न को जड़ नहीं कहा जा सकता। अपिच इसी ज्ञान के कारण सुप्तावस्था में भी श्वास-प्रश्वासादि प्राणव्यापार होता रहता है। इस व्यापारसत्ता से ही

ज्ञानसत्ता स्वीकार करनी पड़ती है, क्योंकि बिना ज्ञान के व्यापारप्रवृत्ति असम्भव है। निद्रानन्द में द्वैत का आत्यन्तिक अभाव है। अद्वैतलक्षण शान्तानन्द का साम्राज्य है। अतः अवश्य ही इसे ब्रह्मानन्दस्वरूप परिचय के लिए मध्यस्थ उदाहरण माना जा सकता है। निद्रानन्द यदि विषयानन्दप्रेमियों की दृष्टि में शान्तिप्रद है, स्वास्थ्यप्रद है, उपादेय है, जडभावासंस्पृष्ट है, तो तत्समतुलित ब्रह्मानन्द भी अवश्य ही पूर्ण शान्ति-शाश्वतशान्ति का अधिष्ठान बनता हुआ अवश्यमेव विषयानन्दापेक्षया सर्वोत्कृष्ट वह आनन्द है, जिसके निद्रावस्थानुगत क्षणिक प्रसादमात्र से हमारी अध्यात्मसंस्था के सम्पूर्ण विकार दूर हो जाते हैं। एक बात और। रत्यानन्द ब्रह्मानन्द का साक्षात् उदाहरण न बन कर परम्परया उदाहरण बनता है। साक्षात् उदाहरण तो निद्रानन्द ही है। द्वैतभूय रत्यानन्द निद्रानन्द का उदाहरण है, निद्रानन्द ब्रह्मानन्द का उदाहरण है। श्रुति में इसी रूप से दोनों उदाहरणों का समन्वय हुआ है। निम्न लिखित उपनिषद्वचन इसी निद्रानन्द का स्वरूपविश्लेषण कर रहे हैं—

१—"तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा, सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः-संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते, एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति। यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति" (बृ० उ० ४।३।१९।)।

२—"अथ यत्र (निद्रावस्थायां) देव इव, राजा-इव-अहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते। सोऽस्य परमो लोकः" । (बृ० उ० ४।३।२०।)।

३—"तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्मा-अभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया०। एवमेवायं पुरुषो न बाह्यं वेद, नाऽन्तरम्" (बृ० उ० ४।३।२१।)।

४—"अत्र पिताऽपिता भवति, माताऽमाता०। तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति" (बृ० उ० ४।३।२२।)।

५—"यद्वै तन्न पश्यति, पश्यन्वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्"।
(बृ० उ० ४।३।२३।)।

६—"सलिल एको द्रष्टा अद्वैतो भवति। एष ब्रह्मलोकः सम्राट्-इति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः। एषाऽस्य परमा सम्पत्, परमा गतिः, परमो लोकः, परम आनन्दः"।
(बृ० उ० ४।३।३२।)।

७—"यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम, सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति। स्वमपीतो भवति। तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते। स्वं ह्यपीतो भवति" (छां० उ० ६।८।१।)।

८—"तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति, आसु नाडीषु तदा सृप्तो भवति। तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति। तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति"।
(छां० उ० ८।६।३।)।

९–"अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्यचन वेद–हिता नाम नाड्यो द्वासप्तति-सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते, ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते"।

(बृ० उ० २।१।१६।)।

२६—आनन्द, और सुख का पार्थक्य–

प्रसङ्गोपात्त मात्रानन्दमीमांसा, तत प्रयोजन, ब्रह्मानन्द के प्रति लोकायतिकों का आक्षेप, स्त्यानन्द-निद्रानन्दद्वारा–आक्षेपनिराकरण, इत्यादि प्रासङ्गिक विषयों की मीमांसा की गई। अब दो शब्दों में आनन्द तत्त्व की सहज परिभाषा का सहजभाषा में विश्लेषण और कर कर दिया जाता है। आनन्द को सहजभाषा में हम 'सुख' कह सकते हैं। वस्तुतः आनन्द, और सुख विभिन्न तत्त्व हैं। 'शान्ति'-लक्षण आत्मानन्द आनन्द है, 'समृद्धि'–लक्षण मात्रानन्द (विषयानन्द) 'सुख' है। आनन्द 'शान्तानन्द' कहलाया है, एवं सुख**'समृद्धानन्द'** कहलाया है *। इन्द्रियविवर ही **'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः'** (कठ० १।४।) के अनुसार **'ख'** नाम से व्यवहृत हुए हैं। इन ख–वर्गों (इन्द्रियवर्गों) की शून्य, पूर्ण, दो अवस्था रहतीं हैं। इन्द्रियरूप ख–भावों में यदि रूप–रस–गन्धादि विषय प्रविष्ट रहते हैं, तो ये 'ख' पूर्ण रहते हैं। यही पूर्णता इन्द्रियों का सौष्ठव है। यही 'ख' का 'सु' भाव है। ऐसी विषयपूर्ण इन्द्रियाँ ही 'सु–ख' हैं। यही 'सुख' की तात्त्विक निरुक्ति है। अपिच अनुकूल रुचिकर–हितकर विषयों से 'ख' सुस्थिर बनें रहते हैं। अतएव **'सुस्थिरभावप्रयोजकानि अनुकूलविषयैः परिपूर्णानि–इन्द्रियाणि'** निर्वचन से भी विषयपूर्ण, अतएव सुस्थिर ख–भावों को 'सुख' कहा जासकता है। ठीक इसके विपरीत–हानिप्रद–अरुचिकर–अहितकर–दुष्ट विषयों के आगमन से ख अशान्त होजाते हैं। यही दुष्टानि–खानि–रूप दुःख है। विषयागमनाभाव में इन्द्रियवर्ग अपूर्ण है, यह भी ख का दुष्टत्त्व ही है। इसलिए भी इस भाव को 'दुःख' कहना अन्वर्थ बनता है। **'सुष्ठु–पूर्णानि–खानि, यत्र तत्'** ही 'सुखम्' का निर्वचन है, **'दुष्टानि शून्यानि खानि यत्र तत्'** ही 'दुःखम्' की निरुक्ति है।

सुख (ऐन्द्रियक आनन्द) की दृष्टि से समस्त विश्व के यच्चयावत् प्राणियों का आनन्दानुभव समतुलित है। एक निर्धन विषयानन्द से जितना सुखी है, एक सम्राट् भी विषयानन्ददृष्ट्या तत्परिमित ही सुखी है। कल्पना कीजिए, अभी आप निर्धन हैं। किसी से एक सहस्र रु० आप को मिले शान्त आत्मानन्दसमुद्र में इन सहस्र रुपय्यों के आघात से उसी प्रकार क्षण भरके लिए एक लहर उत्पन्न हो गई, जैसे शान्त सरोवर में पाषाण प्रक्षेप से क्षणमात्र के लिए तरङ्ग उत्पन्न हो जाती है। यही लहर आगन्तुक समृद्धानन्द है (सुख है)। क्षण भर के लिए आपका प्रज्ञान–धरातल उछला, फिर शान्त होगया। यह शान्ति, और निर्धनावस्था की शान्ति, दोनों समतुलित हैं। लाख–करोड़–अर्बुद–खर्बुद–राज्यपद–साम्राज्यपद–ज्यों ज्यों ये वित्तपरिग्रह आपको मिलते जायँगे, त्यों त्यों उसी अनुपात से प्रज्ञानधरातल क्षण भर के लिए उछल उछल कर शान्त होता जायगा। क्षणिक आह्लादानन्तर वही पूर्वावस्था उदित होती जायगी। और इसप्रकार विषयानन्ददृष्ट्या आप की सम्राडावस्था आपकी निर्धनावस्था से सर्वथा समतुलित रह जायगी। क्या अधिक सम्पन्न को असम्पन्ना-

---

*–सूक्ष्मदृष्ट्या सुख, और समृद्धि में अन्तर है। तात्कालिक ऐन्द्रियक तुष्टि जहाँ 'सुख' मात्र है, वहाँ दीर्घकालपर्य्यन्त सुरक्षित बहुभोगानुगति 'समृद्धि' है। दोनों की समष्टि के लिए ही लोक में 'सुखसमृद्धि' वाक्य प्रयुक्त है।

पेक्षया अधिक सुख मिलता है ?। निर्धन को भले ही ऐसा प्रतीत मात्र हो, किन्तु वस्तुस्थिति कभी ऐसी नहीं है। सुखानन्दानुभवदृष्ट्या सबका सुखानुभव समतुलित है। कारण स्पष्ट है। विषयानन्द से आत्मानन्द में कोई ह्रास-वृद्धि नहीं होती। हाँ, आत्मानन्द आवृत अवश्य हो जाता है। अतः यह अवश्य कहा जासकता है कि, जिसके कोश में जितना अधिक वित्त-परिग्रह है, वह उतना हीं अधिक अशान्त है। आगन्तुक वित्तपरिग्रह से स्वाभाविक आत्मशान्ति का अभिभव अवश्य सम्भव है-विकास नहीं। अतः सम्पत्ति की विपुलता के तारतम्य के आधार पर सुख-दुःख की व्यवस्था करना अतात्विक है, निर्मूल है। सम्पत्ति के आधार पर दुःखतारतम्य की ही व्यवस्था की जासकती है।

३०—भूमानन्दस्वरूपदिग्दर्शन-

आमोद, प्रमोद, मोद, हर्ष, आह्लाद, उल्लास, आदि सभी मात्रानन्दलक्षण इस सुखात्मक विषयानन्द के अवान्तर विवर्त्त हैं। विषयभेददृष्ट्या सब विभिन्न हैं, विषयत्त्वदृष्ट्या सब सुखात्मक हैं। एवं विषयवियोग-दृष्ट्या सुख और आनन्द अभिन्न हैं। इस आनन्दसामान्य की सहजपरिभाषा क्या ?, यही वह सहज प्रश्न है, जिसके समाधान के लिए विदित नहीं, भारतीय दार्शनिकेतर दार्शनिको नें, विवेचकों नें कितने महा निबन्धों से अपनी प्रज्ञा को क्लान्त किया होगा, जबकि भारतीय महर्षियों नें सहजभाषामयी अपनी केवल सात अक्षर की एक पङ्क्ति में हीं इस दुरूह तत्त्व का स्वरूपविश्लेषण कर डाला है। लक्ष्य दीजिए निम्न लिखित पङ्क्ति पर, और मनन कीजिए उसकी गभीरार्थमहिमा का—

"यो वै भूमा-तत् सुखम्" (छां० उ० ७।२३।१)।

जिसे हम लोकभाषा में 'बहुत' कहा करते हैं, उसी के लिए वेदभाषा में 'भूमा' शब्द व्यवहृत हुआ है। **'बहोर्भावः-भूमा'-'अतिशयेन बहु-भूयिष्ठ एव भूमा'** इत्यादि निर्वचनानुसार बहुत्त्व का ही नाम भूमा है। यही सुख की वास्तविक वह व्यापक परिभाषा है, जिसके गर्भ में यच्चयावत् सुखविवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। पहिले लोकदृष्टि (विषयदृष्टि) से भूमा की सुखरूपता का समन्वय कीजिए। यदि निवासस्थान विपुल है, बड़ा है, तो उसमें संकुचित स्थानापेक्षया अधिक सुख मिलता है। भोजन-शयन-चलन-आदि व्यापारों का सुखत्त्व भी इसी भूमा पर निर्भर है। सम्पत्ति की अधिकाधिक भूमा अधिकाधिक सुखप्रवृत्ति का कारण मानी गई है। पूर्व में हमनें प्राणिमात्र के सुखानुभव को समतुलित बतलाया है। वह कथन आत्मानन्द की दृष्टि से सम्बद्ध मानना चाहिए। आत्मानन्दापेक्षया सभी विषयानन्द समतुलित हैं। किन्तु स्वयं विषयानन्दों की पारस्परिक तुलना में बहुत्त्वयुक्त विषय अल्पत्त्वयुक्त विषयापेक्षया भूमानुगत बनते हुए विशेषतः सुखप्रवर्त्तक बनते हैं। विषय दुःख के कारण माने जाते है, परन्तु तत्त्वतः भूमा का अभाव दुःख का कारण बनता है। एक सहस्र का मिल जाना दुःख का कारण नहीं है, मिल कर छिन जाना दुःख का कारण है। जो जिस स्थिति में पहिले से है, वह बहुत्त्वभाव से युक्त होकर सुखी अवश्य होगा, परन्तु दुर्भाग्यवश यदि इसका आगन्तुक बहुत्त्व न रहेगा, तो इसे पूर्वदशापेक्षया भी अधिक दुःख होजायगा। पुत्र-पौत्र-धन-धान्य-सभी भूमानुगत बनते हुए सुखप्रवर्त्तक हैं, अल्पतानुगामी बनते हुए दुःखप्रवर्त्तक हैं। अतएव दुःख की-**'नाल्पे सुखमस्ति'** (छां०-उ० ७।२३।१) यह परिभाषा की जाती है। अल्पता ही दुःख-शोक-भय-क्लेशादि पाप्माओं की जननी है, जिसका अनुभव हमें अपने पार्श्ववर्त्ती मार्गस्थ जलयन्त्र के द्वारा प्रतिदिन हुआ करता है। विशालसरोवर भूमा से युक्त है, वहाँ १०-२० क्या, सैकड़ों मनुष्य निर्विरोध प्यास बुझा सकते हैं, किन्तु अल्प लौहनलिका के द्वारा

आगत जलयन्त्र की अल्पजलमात्रा जलग्राहकों में संघर्ष उत्पन्न कराती रहती है। निदर्शन है। गृहघट से जलयन्त्र, इससे कूप, कूप से वापी, तड़ाग, सरोवर, नद, महानद, सागर, समुद्र, इनमें उत्तरोत्तर भूमा का साम्राज्य है, पूर्वपूर्व अल्पता का प्राधान्य है। अल्पता सर्वत्र दुःख है, भूमा सर्वत्र सुख है। पार्थिव व्यष्टिरूप विषय समस्त पृथिव्यपेक्षया अल्प हैं, पृथिवी भूमा-भावमयी है। अतएव कृत्स्न पार्थिवानन्द व्यष्टिरूप अल्पताओं की अपेक्षा भूमानुगत बनता हुआ मनुष्य के लिए परमानन्द है। पृथिव्यपेक्षया चान्द्रान्तरिक्ष भूमा है, तदपेक्षया सौरमण्डल, तदपेक्षया पारमेष्ठ्यमण्डल, एवं तदपेक्षया स्वायुम्भवमण्डल भूमा है। निःसीम भूमा ब्रह्मानन्द-भूमा है। यही आत्मभूमालक्षण आत्मानन्द है।

३१—भूमा, और तद्रूप आकाश—

समझें नहीं, भूमा का कुछ और विश्लेषण होना चाहिए। भूमा विषय की अल्पता–महत्ता से सम्बन्ध रखती है, अथवा संख्या से ?। विषयाकारवैपुल्य भूमा से अभिप्रेत है, अथवा विषयसंख्याबहुत्व भूमा से संग्राह्य है ?। हाँ भी, और ना भी। यदि विषयवैपुल्य से विषयाधारभूत आकाशप्रदेश अपेक्षित है, तब तो हाँ। यदि विषयवैपुल्य से मर्त्य क्षर-परमाणु अभिप्रेत हैं, तो ना। एवमेव संख्या से यदि संख्याधारभूता आकाशात्मिका निरपेक्षा एकत्वसंख्या अभिप्रेत है, तो हाँ। यदि विषयसंख्या से सापेक्ष १–२–३–आदि मर्त्य संख्याएँ अभिप्रेत हैं, तो ना। प्रदेश का नाम भूमा है। प्रदेश वह अवकाश है, जिसमें नामरूपात्मक विषय प्रतिष्ठित रहते हैं। अवकाशात्मक प्रदेश 'शून्य' तत्त्व है। श्वा इन्द्र से परिपूर्ण, दूसरे शब्दों में श्वा-इन्द्रप्राणात्मक अवकाश–प्रदेश ही **'शुने हितम्'** निर्वचन से 'शून्यम्' है। यह **शून्यम् तत्त्वतः पूर्णम् है। इन्द्र प्राणात्मक पूर्णावकाश आकाश है।** अवकाशात्मक आकाश ही नामरूपकर्म्मात्मक **यच्चयावत् मर्त्य** विषयों को **स्व-स्वरूपोद्भव, स्थिति, लय के लिए** अवकाश प्रदान करता है, जैसा कि–**'आकाशमवकाशप्रदाने'** (गर्भोपनिषत् १) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है।

३२—शून्य–पूर्ण–स्वरूपदिग्दर्शन—

अतत्त्वानुगामियों नें आकाश का अर्थ शून्य समझ रक्खा है, और शून्य का अर्थ 'कुछ नहीं' मान रक्खा है। आकाश शून्य अवश्य है, परन्तु शून्य का अर्थ है प्राणप्रद-जीवनप्रद-अवकाश-प्राणात्मक श्वा इन्द्रात्मक तत्त्व, जिसका **'शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्'** (ऋक्सं०३।३०।२२।) इत्यादि मन्त्र से विश्लेषण हुआ है। अवकाश का भी अर्थ सर्वसाधारण में शून्यस्थान (खाली जगँह) ही समझा जारहा है। परन्तु वस्तुतः अवकाश इन्द्रप्राणरूप है। तभी तो–'प्राणा वै अवकाशाः' (कौ० ब्रा०८।७।) यह श्रुति चरितार्थ होती है। सम्पूर्ण विश्व में कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ यह जीवनप्रद आकाशात्मा श्वा-इन्द्र व्याप्त न हो **'नेन्द्राद्दते पवते धाम किञ्चन'**। (ऋक्सं० ६।६६।६।)। इसी से सबको जीवनीय रस मिलता है। निरावरण प्रदेशों में यह स्वस्वरूप से विकसित रहता है। अतएव सावरण–वारुण प्रदेशों में जहाँ प्राज्ञेन्द्र मूर्त्ति प्रज्ञान मन अकुला जाता है, वहाँ निरावरण प्रदेशों में स्वप्रभव शुन इन्द्रप्राण के सहयोग से मन प्रफुल्लित हो पड़ता है। खुली हवा में **'इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते'** के अनुसार एक चतुर्थांश मरुत्वान् नामक आन्तरिक्ष्य इन्द्र रहता है। यहीं 'श्वा' नामक मघवेन्द्र का भी साम्राज्य है। उधर सावरण–वातशून्य–प्रान्तों–प्रदेशों–गृहों में–**'यद्वै वातो नाभिवाति, तत्सर्वं वरुणदैवत्यम्'** के अनुसार बन्धनप्रवर्त्तक पाशाधिष्ठाता वरुणप्राण के प्राधान्य से और इन्द्र-

भी स्वस्वरूप से आवृत रहता है, एवं मरुत्वानिन्द्र (वायव्येन्द्र) का भी प्रवेश निषिद्ध रहता है। अतएव भूमाभाववञ्चित यह अल्पता दुःख का कारण बन जाया करती है! अवकाशात्मक आकाश यद्यपि स्वस्वरूप से शून्य है (इन्द्रप्राणात्मक है), तथापि नामरूपकर्म्मात्मक प्रपञ्च से इसकी शून्यलक्षणा पूर्णता पूर्णलक्षणा-शून्यता में परिणत हो जाती है। 'यद्धै पूर्णं-तत् शून्यम्, यत् शून्यं-तत् पूर्णम्' ही शून्यपूर्ण का विवेक है। जिन भौतिक प्रपञ्चों से हम आकाश को पूर्ण मान रहे हैं, वस्तुतः यह आकाश की शून्यता (अपूर्णता) है, क्योंकि यहाँ आकाश की शून्यतालक्षणा पूर्णता विषयों से आवृत रहती है। नामरूपकर्म्मात्मक इन विषयों को पृथक् कर जब आकाश तत्त्व पर दृष्टि डाली जाती है, तभी आकाश स्वपूर्णतालक्षण शून्यभाव से प्रस्फुटित होता है, तभी आकाशात्मक भूमाभाव प्राप्त होता है। इसी तत्त्व को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है-**'आकाशं शून्यं कृत्वा' (नामरूपाभ्यां विमुच्येति यावत्)-(अमृतबिन्दूपनिषत्११)**

शुन इन्द्रात्मक आकाश ही पुरुषाकाश है, जो पुरुषाकाश षोडशी कहलाया है, जिसका अगले परिच्छेदों में विस्तार से उपबृंहण होने वाला है। केन्द्रगत दहराकाश में षोडशीपुरुष प्रतिष्ठित है। केन्द्रानुगत आकाशात्मक तत्त्व ही इन्द्र है। अतएव **'इन्द्रो ह वै षोडशी'** (शत० ४।५।३।१।) रूप से यह भी षोडशी कहलाया है। यही षोडशी-इन्द्रात्मक आकाशानन्द उत्पत्ति-स्थिति-भङ्ग-का प्रवर्त्तक बनता है। दूसरे शब्दों में भूमारूप आकाशानन्द ही विश्व का सर्वस्व है। आकाशानन्द ही रत्यानन्द का प्रवर्त्तक है। रत्यानन्दस्वरूप में परिणत होकर ही यह आकाशानन्द प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। सिद्धविषय है कि, जिस दाम्पत्य सम्बन्ध में केवल विषयकामना-तुष्टि की प्रवृत्ति रहती है, दम्पती में आनन्दोल्लास नहीं रहता, वैसा निरानन्द दाम्पत्य कभी प्रजोत्पादक नहीं बन सकता। प्रजोत्पत्ति ही क्या, किसी भी लौकिक-पारलौकिक कर्म्म में बिना आनन्द को आधार बनाए प्रवृत्ति ही नहीं होती-**'यदा वै सुखं लभते करोति, नासुखं लब्ध्वा करोति'** (छां०उ०-७।२२।१।)। वही आकाशानन्द भोजनादि इतर सोपाधिक आनन्दभावों में परिणत होता हुआ विश्वजीवन का कारण बनता है। वही आकाशानन्द अपने प्रातिस्विक नामरूपविमुक्त शून्यानन्दभाव में परिणत होता हुआ लय का प्रवर्त्तक बनता है, जैसाकि निम्न लिखित वचनों से प्रमाणित है—

१—"सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः परायणम्। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव जायन्ते, आकाशादेव जातानि जीवन्ति, आकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तस्मादाकाशं बीजम् (संसारमहीरुहस्य)"—(नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत् ३।१।)।

२—"अस्य लोकस्य (विश्वस्य) का गतिरिति ?। 'आकाश' इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति। आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान्, आकाशः परायणम्"—(छां०उ०१।६।१।)।

३३-आकाश की आनन्दरूपता—

ओमित्येतत्। इन्द्रात्मक आकाश पर सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, भङ्ग निर्भर है, मान लिया। परन्तु यह आकाश आनन्द है, यह अब तक स्पष्ट न हो सका। प्रमाणवाद से पहिले अनुभवदृष्ट्या समन्वय

कीजिए। आकाश तत्त्व नामरूप का प्रवर्त्तक, किन्तु स्वयं नामरूप से अतीत है। इस सिद्धान्त को मान कर आकाश की आनन्दरूपता का प्रत्यक्ष कीजिए। भोजन से आनन्द आता है, यह सर्वानुभूत विषय है। जिस मुखसुषिर में भोज्यद्रव्य प्रविष्ट होकर आनन्दके कारण बनते हैं, वह सुषिर आकाशही तो है*। जिस हस्तप्रदेशरूप आकाश में ग्रास लेकर मुखावकाश में डाला जाता है, वह हस्तावकाश आकाश है। मुखावकाश–हस्तावकाश के मध्य में प्रतिष्ठित हस्तक्रियासञ्चाराधारभूत अवकाश आकाश है। भोजनद्रव्य को पिष्टमान बनाने वाला दन्तक्रियाधारभूत अवकाश आकाश है। पिष्ट–चर्वित अन्न को गलाधःकरणानुकूलव्यापार से युक्त बनाने वाली क्रिया का आधारभूत गलनालरूप अवकाश आकाश है। निगीर्ण भोजनद्रव्य के रसप्रस्रावात्मक संघर्ष–व्यापार का आधारभूत उदररूप अवकाश आकाश है। मलनिर्गमस्थानरूप अवकाश भी आकाश है। अन्न–रसव्याप्तिप्रदेश भी आकाश है। अन्नरसग्राहक शरीरधातुओं की प्रतिष्ठारूप अवकाश भी आकाश है। स्वयं अध्यात्मसंस्था का आधारभूत शरीराकाश भी आकाश है। पार्थिव भोजनद्रव्य के कारण यव–गोधूमादि पार्थिव पदार्थ, इनका उपादान पृथिवी, पृथिवी का उपादान आपः (जल), आपः का उपादान तेज, तेज का उपादान वायु, वायु का उपादान अमृताकाशरूप इन्द्रपत्नी नामक वागाकाश (यजुराकाशरूप मर्त्याकाश), वागाकाश का आधारभूत अमृताकाशरूप–आत्माकाश। इस परम्परा से स्वयं भोजनद्रव्य भी आकाशात्मक ही है ×। इसप्रकार 'भोजन आनन्द का कारण है', इस वाक्य का निष्कर्ष यही निकलता है कि, 'आकाश ही आनन्द का कारण है'। भोजनोदाहरण से ही यच्चयावत् विषयानन्दों की आकाशरूपता व्याख्यात है। दर्शनानन्द, श्रवणानन्द, भ्रमणानन्द, शयनानन्द, स्वप्नानन्द, जाग्रदानन्द, विनोदानन्द, अध्ययनानन्द, आदि आदि जितनें भी विषयानन्द हैं, सब भौतिक आनन्द हैं। भौतिक पदार्थ पाञ्चमहाभौतिक हैं। सब का मूलप्रभव आकाश नामक महाभूत है। महाब्रहुत्त्व ही महाभूमा है। सम्पूर्ण भूत इसी आकाशरूप महाभूमा की मात्रा लें लेकर उपजीवित हैं। अतएव कहा जा सकता है कि, भूमा आकाश है, यही आनन्द है।

जब एक व्यक्ति चारों हाथ पैरों को पसार कर लेटता है, लेट कर अँगडाई लेता है, तो उसके मुख से निकल पड़ता है—'अहा बड़ा आनन्द आया'। बैठे बैठे हम हाथ पैरों को इतस्ततः किया करते हैं। दक्षिणाङ्ग के थक जाने पर वामाङ्ग के सहारे, वामाङ्ग के थक जाने पर दक्षिणाङ्ग के सहारे, कभी शिर के सहारे, कभी पीठ के बल, कभी घुटनों के बल बैठ जाते हैं। सभी क्रियाएँ आनन्दप्रद हैं, शान्तिप्रद हैं। परन्तु इन सबका मूलाधार आकाशानन्द ही है। यदि अवकाशात्मक आनन्द न हो, तो हमारा प्राणन–अपान व्यापार सर्वथा अवरुद्ध हो जाय। कारावास में भूमाकाश–आनन्द हम से छीन लिया जाता है। व्यापक भूमाकाश को अल्प बनाने वाली चहार–दीवारी, परिमित भोजन, अहर्निश नियन्त्रण–द्वारा हमारी भूमावृत्तियों का निरोध, ये

---

* यत्–सुषिरं, तदाकाशम्–(गर्भोपनिषत्) १।

× "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः (अमृताकाशात्) आकाशः (मर्त्याकाशः, भूताकाशः) सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः"। (तै०उप०ब्र०व०१)।

सब अल्पताएँ हीं तो दुःख का कारण बनतीं हैं। न्यायालयरूप अल्पसीमारूप दुःखात्मक नियन्त्रण से निकल कर जब कर्म्मचारी अवकाश (छुट्टी) रूप आकाशभूमा में आते हैं, तो उनका चेहरा खिल पड़ता है। जब हम पीछे, सामने, उभय पार्श्वों में, ऊपर, दृष्टि डालते हैं, तो सर्वत्र भूमाकाश के ही दर्शन करते हैं। विश्वास कीजिए, यह भूमाकाश ही साक्षात् आनन्द है, जिसकी अनन्तता हमें आनन्दविभोर बना रही है। कल्पना कीजिए, यदि आपके मस्तक के ऊपर एक दो वितस्ति (बिलाद) के अन्तर पर ही ईश्वर के द्वारा कोई आवरण लगा दिया जाता, तो आपकी क्या स्थिति होती ! । दम घुट घुट कर क्या हो जाता, प्रश्न का विचार ही छोड़िये +। तत्त्वतः निष्कर्ष यही निकला कि, भूमा सुख है, यह भूमा ही आकाश है। आकाश ही आनन्द है। एवं अल्पता ही दुःख है।

३४–भयप्रवर्त्तक उदरभाव—

भूमादृष्टि अमृतदृष्टि है, अल्पदृष्टि मर्त्यदृष्टि है। अमृतदृष्टि एकदृष्टि है, समदृष्टि है, आत्मदर्शन है। मर्त्यदृष्टि नानादृष्टि है, विषमदृष्टि, विषयदर्शन है। समदर्शनरूप अमृतात्मक भूमाभाव आनन्द का प्रवर्त्तक है, विषमदर्शनरूप मर्त्यात्मक अल्पभाव दुःख का जनक है। भूमोपासना से अभयसम्पत्ति प्राप्त होती है। इस भूमाकाश में जब नामरूपकर्म्ममय विषयों का समावेश हो जाता है, तो भूमा इस व्यवधान से अल्पता में परिणत हो जाती है। यह मेरा, यह पराया, यह प्रेमी, यह द्वेषी, इसप्रकार के उदर (व्यवच्छेद) ही भय के प्रवर्त्तक बनते हैं–**'यदुदरमन्तरं कुरुते, अथ भयं भवति'**। उत्तरोत्तर अल्पता का अनुगमन अधिकाधिक दुःख-प्रवृत्ति का कारण है। उत्तरोत्तर भूमानुगमन अधिकाधिक आनन्दविकास का हेतु है। जिनकी दृष्टि संकुचित है, वाणी संकुचित है, मनोराज्य संकुचित है, स्वार्थ स्वपरिवारमात्र में सीमित है, वे भूमाकाशसम्पत् से बञ्चित रहते हुए दुःखी हैं। ठीक इसके विपरीत उदारदृष्टि, उदारवाणी, उदाराशय, सर्वभूतहिते रताः महामना पुरुष भूमाकाश से युक्त रहते हुए सुखी हैं। अपनी आत्मभूमा हीं सुख का कारण है, अपनी आत्माल्पता ही दुःख का कारण है। हम स्वयं ही आत्मभूमा के द्वारा सुखी हैं, आत्माल्पता के द्वारा दुःखी हैं। जो भूमा है, वह अल्प नहीं, जो अल्प है–वह भूमा नहीं। पुनः आत्मतत्त्व भूमा, तथा अल्प, इन दोनों विरुद्ध भावों से कैसे व्यवहृत किया गया ?, यह एक प्रासङ्गिक प्रश्न है।

३५–साक्षी, और भोक्ता सुपर्ण का सम्बन्ध–

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ०' सिद्धान्तानुसार अध्यात्मसंस्था में साक्षी ईश्वरसुपर्ण, भोक्ता जीवसुपर्ण, ये दो तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। साक्षीसुपर्णरूप ईश्वरात्मा सच्चिदानन्दलक्षण परिपूर्ण भूमाकाशरूप है, सर्वत्र अविशेष है, अंशी है। भोक्ता सुपर्णरूप जीवात्मा अविद्या–काम–कर्म्मादि पाप्माओं से आवृत रहता हुआ अपनी उभ-यात्मानुगता स्वतःसिद्ध भी पूर्णता से वञ्चित रहता हुआ अल्पाकाशरूप है। इसकी यह कृत्रिम पाप्मानुगता अल्पावरणता उस दशा में और भी अधिक प्रवृद्ध हो जाती है, जबकि यह अन्तर्मुखानुगति (भूमाकाशात्मिका ईश्वरात्मप्रवणता) को छोड़ कर इन्द्रियद्वारा अल्पविषयानुगति में आसक्त हो जाता है। इसके सामने दो मार्ग हैं। विषयासक्त बन कर यह अपने स्वाभाविक भूमाकाश को अल्प बना कर दुःखी बना रहे, यह एक

+ "को ह्येवान्यात्, कः प्राण्यात्, यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्"।

मार्ग है। ईश्वरासक्त बन कर यह अपने आपको भूमाकाशरूप से विकसित करता हुआ नित्य सुखी बना रहे, यह एक मार्ग है। यह स्वयं 'स्व' (आप) है, इस स्व का स्व ईश्वरात्मा है। 'अपने आप ही आत्मा अपना बन्धु है, अपने आप ही आत्मा अपना शत्रु है'। इस वाक्यसन्दर्भ में पठित **'अपने'** शब्द जीवात्मा को लक्ष्य बना रहा है, एवं **'आप ही'** शब्द ईश्वरात्मा की ओर सङ्केत कर रहा है। उस अपने (जीवात्मा) का आपा वही (ईश्वरात्मा) है, यही 'अपने-आप' का रहस्य है। 'आत्मा से आत्मा का उद्धार करना चाहिए' यहाँ उद्धार करने वाला ईश्वरात्मा है, उद्धरणीय आत्मा जीवात्मा है। **'आत्मानं-आत्मना उद्धरेत्'** का—**'जीवात्मानं ईश्वरात्मना उद्धरेत्'** ही निष्कर्ष है। **'नात्मानमवसादयेत्'** का आत्मानं—**जीवात्मानं** है। 'आत्मैव' से ईश्वरात्माका ग्रहण है। **आत्मनो बन्धुः** के आत्मनः से जीवात्मा गृहीत है। वही ईश्वरात्मा विषयासक्त जीवात्मा का शत्रु है, वही ईश्वरात्मा स्वासक्त जीवात्मा का मित्र है। जिस जीवात्मा ने ईश्वरात्म-विभूतिद्वारा अपने आपको जीत लिया है, विषयासक्ति से पृथक् कर लिया है, उस जीवात्मा का वह ईश्वरात्मा वास्तव में बन्धु (अनुग्राहक-मृत्युसंसारसमुद्धारक) बन जाता है। जो उस ईश्वरात्मा की उपेक्षा कर विषया-त्यन्तावरणों से अपने स्वरूप को अनात्म-विषयवत् जड़ बना लेता है, उस जीवात्मा पर कभी ईश्वरात्मा का अनुग्रह नहीं होता। अपितु वह इसके साथ शत्रुवत् ही व्यवहार करने लगता है। तात्पर्य्य-ईश्वरात्मा भी भूमा है, तदंशभूत जीवात्मा भी स्वस्वरूप से भूमा ही है। परन्तु यह विषयासक्ति से अल्पता में परिणत होता हुआ दुःखी बन जाता है। आत्मभूमा (ईश्वरभूमा) की अनुगति, विषयाल्पता का परित्याग ही इस विषयासक्त आत्मा की अल्पता का निवारिका है। निम्न लिखित वचन इसी रहस्य का विश्लेषण कर रहे हैं—

> **उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ॥**
> **आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥१॥**
> **बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ॥**
> **अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥** गीता ६।५, ६,।

३६—मानव की सहज आनन्दरूपता—

हृदयस्थित आत्मनन्द ही घनानन्द है, इतर आनन्दमात्रा इसी के अंश-प्रत्यंशरूप हैं। मात्रानन्ददृष्ट्या वही समृद्धानन्दरूप में परिणत हो रहा है, घनदृष्ट्या वही शान्तानन्दरूप में परिणत हो रहा है। शान्तानन्द आत्मानन्द है, समृद्धानन्द विश्वानन्द है। विश्वानन्द मीमांस्य है, वास्तविक-शान्तिलक्षण आनन्द आत्मा-नन्द है। इसी की प्रतिच्छाया से ऐन्द्रियक विषय आनन्दप्रवृत्ति के कारण बनते हैं। साधारण मनुष्य समझते है कि, विषय आनन्द के कारण हैं। तत्त्व वास्तव में यह है कि, आत्मानन्द को ऋण रूप से ले कर विषय आनन्दी बन रहे हैं। स्मरण कीजिए,—उस अव्यक्तादि, विषयान्त—परम्परा का, जिसमें मूलप्रदेशस्थ घनानन्द-मूर्त्ति उक्थरूप आत्मानन्द के अर्करूप मात्राभावों का क्रमिक अवतरण बतलाया गया है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति भूतात्मा ही जीवात्मा है। यह आनन्द से उत्पन्न होने के कारण आनन्द का स्वाभाविक इच्छुक है। आनन्द इसका अपना स्वरूप है, अतएव आनन्दकामना स्वाभाविक है। यच्चयावत् कर्म्म—विषय-भोगादि प्रवृत्तियों में आनन्दकामना ही कारण है। यदि दुःख भी आत्मा का स्वरूप होता, तो उसके लिए भी आत्मा की प्रवृत्ति देखी सुनी जाती। एक व्यक्ति आत्मघात में प्रवृत्त होना चाहता है।

आत्मघात-व्यापार महद्दुःखपूर्ण है। क्या यह प्रवृत्ति भी आनन्दमूला है ?, अवश्य। मृत्यु की अपेक्षा यह आत्मघाती जीवनदशा में अधिक दुःख का अनुभव कर रहा है। अतिशय सांसारिक कष्टों से, दुःखों से त्राण पाना ही आत्मघात का निमित्त बन रहा है। आत्मघात में क्षण भर के लिए जो दुःख होता है, वह जीवन-दुःखों से कहीं अल्प है। उसके सामने यह आत्मघात सुखप्रवर्त्तक बना हुआ है। इसप्रकार यहाँ भी तत्त्वतः आनन्द ही तत्कर्म्मप्रवृत्ति का कारण बन रहा है। आत्मघात में आत्मघाती की इच्छापूर्वक प्रवृत्ति है। परन्तु ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जहाँ अनिच्छापूर्वक भी मृत्यु के लिए पैर बढ़ाने पड़ते हैं। निरपराध को, किंवा सापराध व्यक्ति को वधदण्ड मिलता है। वधस्थल की ओर वधिक उसे ले जा रहे हैं। वह चुपचाप वधस्थल की ओर पैर बढ़ रहा है, प्रवृत्त हो रहा है। अनिच्छापूर्वक भी क्या प्रवृत्ति सम्भव है ?, नहीं। बिना इच्छा के, कामना के तो कोई भी क्रिया सम्भव नहीं हैं। वध्य की अनिच्छा को इच्छारूप में परिणत करना पड़ता है-स्वयं वध्य को ही। क्यों ?, आनन्द जो प्रवृत्ति का कारण है। क्या वध से उसे आनन्द मिलेगा ?, नहीं। तो क्यों वधस्थल की ओर प्रवृत्ति हुई ?, इसलिए कि-वध्य जानता है-यदि वह चुपचाप बिना उपद्रव किए वधस्थान की ओर अग्रेसर न हुआ, तो वध से पहिले ही वह भयङ्कर अनुशासन-ताड़न से ताड़ित किया जायगा। इस प्रासङ्गिक दुःख से त्राण पाने के लिए ही वह वधस्थल की ओर अग्रेसर होता है। इसप्रकार यहाँ भी आनन्द ही प्रवृत्ति का कारण बन रहा है। कर्णाकर्णि सुना जाता है-लोग सदा अपने आपको 'दुःखी' बताया करते हैं, और कहा करते हैं कि, हम बड़े दुःखी हैं। तत्त्वतः उद्गार निस्तत्त्व हैं। मनुष्य, मनुष्य ही क्या प्राणीमात्र जब तक जीता है, सुख से ही जीता है। उसका जीवित रहना ही इस बात का प्रमाण है कि, उसके हृदय में आनन्द तत्त्व अभी तक प्रतिष्ठित है। जिस दिन सोपाधिक आनन्दमात्रा निःशेष हो जायगी, उस दिन विशुद्ध निरुपाधिक शून्यानन्द प्रस्फुटित हो जायगा। शरीर का समवलय हो जायगा। इसप्रकार यह सिद्ध विषय है कि, आनन्द ही सर्वविध प्रवृत्तियों का मूलकारण है। यही इस बात का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है कि, हम आनन्दमय हैं, आनन्द ही हमारा स्वरूप है।

३७-भूमा, और अल्पता का तारतम्य--

अल्पता की पूर्णता के लिए कामना का उदय होता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए भी कामना होती है, प्राप्त वस्तु की समृद्धि के लिए भी कामना होती है। आनन्दकामना इस दूसरी श्रेणि से ही सम्बन्ध रखती है। आत्मा पहिले से ही मात्रानन्द से युक्त है। इस अल्पानन्द की पूर्णता के लिए इसकी आनन्द-कामना का काममय मन के द्वारा निर्गमन होता है। यहीं बात थोड़ी समझने की है। अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, इन ६ आध्यात्मिक पर्वों में से सुखदुःखभोगभोक्ता जीवात्मा (भोक्तात्मा) प्रज्ञानमन, और इन्द्रियवर्ग, इन दोनों चौथे-पाँचवें पर्वों के मध्य में प्रतिष्ठित रहता है। यह स्वाभाविक-प्राकृतिक स्थिति है। प्रज्ञानरूप मन के द्वारा मध्यस्थ भोक्तात्मा की कामना किस ओर जाय ?, यह विजिज्ञास्य है। दो मार्ग हैं इस मानस कामना के अनुधावन के। बुद्धिरूप विज्ञान की ओर भी कामना का गमन सम्भव है, इन्द्रियद्वारा विषय की ओर भी कामनागमन सम्भव है। विज्ञान की ओर यदि कामना जाती है, तो मनोद्वारा जीवात्मा को स्वानुरूप घनानन्द मिल जाता है। क्योंकि मन की अपेक्षा तत्पूर्वस्थ विज्ञान (बुद्धि) में अधिक आनन्दमात्रा है। यह भूमानन्द क्षोभरहित है। अतएव तद्युक्त मन शान्त बना रहता है। मान लीजिए-मन विज्ञानानन्द की ओर न जा कर इन्द्रियों के द्वारा विषयानन्द की ओर प्रवृत्त हुआ, जो विषयप्रवृत्ति

पार्थिव शरीरापेक्षया भी प्रधान है, एवं निर्गमनद्वारभूत इन्द्रियों की बहिर्मुखता के कारण भी सुगम-स्वाभाविक* है,-तो इस बहिर्गमन से मनोद्वारा जीवात्मा को सोपाधिक, साथ ही अल्पानन्द प्राप्त होता है। क्योंकि मन की अपेक्षा तदुत्तरस्थ इन्द्रियों में अल्पानन्दमात्रा है, तदपेक्षया विषयों में तो और भी स्वल्पानन्दमात्रा है। स्थितिलक्षणा तृप्ति अपने से अधिक आनन्द में, भूमानन्द में है। आत्मानन्द की मात्रा से युक्त मन इन्द्रियों की स्वल्पानन्दमात्रा को ऋण रूप से ग्रहण करके स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहने वाले विषयों में वह भूमा कहाँ, जो स्वापेक्षया भूमानन्दमात्रामय मन को तृप्त कर सके। अभिलषित भूमानन्द की खोज के लिए मन किसी विषय पर गया, वहाँ उसे अपने से भी स्वल्पानन्द मिला, उसे छोड़ कर अन्य विषय का अनुधावन किया, वहाँ से भी उसी कारण से निराश लौटना पड़ा। व्यग्रता बढ़ी। विषयानुधावनसंवेग प्रवृद्ध हुआ, उसी अनुपात से व्यग्रता भी उत्तरोत्तर बढ़ती गई। यही मनश्चाञ्चल्य का कारण बनी। गया था मन अभिलषित भूमानन्द लेने, वह तो मिला नहीं, मिल भी नहीं सकता था। मिला तो क्षोभ मिला, अशान्ति मिली, जिस अशान्ति को विषयानन्दविज्ञाता 'समृद्धानन्द' कहा करते हैं। जो सर्वथा क्षणभावापन्न बनता हुआ अन्ततोगत्वा दुःखानुभूति का ही प्रवर्त्तक बन जाता है। तभी तो विषयभुक्त्यनन्तर अरति उत्पन्न हो जाती है। बुद्धियोगानुगत आत्मा भूमानन्द है, यही अमृत है। विषयभोगानुगत आत्मा अल्पानन्द है, विषयानन्द है, यही मृत्यु है। दोनों में कौन उपादेय है ?, प्रश्न का उत्तर विवेकियों पर ही निर्भर है। द्वैतानुभूति, नाम-रूप-कर्म्मात्मिका नानाभावात्मिका विषयासक्ति ही अल्पता है, यही मर्त्यभाव है। अद्वैतानुभूति ही भूमा है, यही अमृतभाव है ÷।

३८-आत्मानुगत त्यागलक्षण क्षीणोदर्कमार्ग—

उक्त आनन्दस्वरूपमीमांसा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, मूलप्रदेशस्थ आत्मानन्द की प्राप्ति ही दुःखात्यन्तनिवृत्ति का अन्यतम उपाय है। बिना उसके योग के दुःखात्यन्तनिवृत्ति असम्भव है। इसका हमनें यह तात्पर्य्य समझा कि, मात्रानन्दात्मक विषयों का आत्यन्तिकरूप से परित्याग कर देना चाहिए। विषयपरित्यागपूर्वक इन्द्रियसंयम के द्वारा मन का बहिर्गमन रोक देना चाहिए। इसप्रकार सर्वप्रथम इन्द्रिय-संयमद्वारा वाङ्मय अर्थों (विषयों) का, अर्थसंयमद्वारा मन का संयम करना चाहिए। मन को विज्ञानात्मा में, विज्ञानात्मा को महानात्मा में, महानात्मा को अव्यक्तात्मा में लीन कर देना चाहिए। सर्वान्त में रह जायगा घनानन्दरूप पुरुषात्मा। उसमें जीवभाग का अप्यय कर देना चाहिए। यही आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का एक दुरधिगम्य-क्लेशावह वह उपाय है, जिसे 'इन्द्रियधारणलक्षणयोग' कहा गया है, जिसे विज्ञानभाषा में 'क्षीणोदर्कमार्ग' कहा जाता है। विषयों के परित्यागपूर्वक उत्तर-उत्तर

---

*-पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्य चक्षुरमृतत्त्वमिच्छन् ॥
(कठ ४।१।)

÷-"यत्र नान्यत् पश्यति-शृणोति-विजानाति-स भूमा। अथ यत्रान्यत्-पश्यति-शृणोति-विजानाति-तदल्पम्। यो वै भूमा, तदमृतम्। यदल्पं-तन्मर्त्यम्"।
—छां० उ० ७।२४।१।

खण्डात्मपर्व का पूर्व-पूर्व खण्डात्मपर्व में संयम करते हुए अन्ततोगत्वा अखण्डात्मा में लीन हो जाना ही नित्यानन्दप्राप्ति का एक उपाय है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

क्षीणोदर्कमार्गः–यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ॥
(अव्यक्तनिष्ठा) ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१॥
—कठ० १।३।१३।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ॥
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥२॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ॥
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥३॥
—कठ० ६।१०,११,।

अशब्द–मस्पर्श–मरूप–मव्ययं तथाऽरसं–नित्यमगन्धवच्च ॥
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥४॥
उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! ! प्राप्य वरान्निबोधत ! ! !
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥५॥
—कठ० १।३।१५,१४,।

'न विचेष्टते'–'स्थिरामिन्द्रियधारणाम्'–'निचाय्य तन्मृत्युमुखात्' इत्यादि वाक्य क्षीणोदर्क (क्षीणपरिणाम) का ही समर्थन कर रहे हैं। निवृत्तिपथ ही इस उदर्क का निष्कर्ष है, जिसमें क्रमशः सब का परित्याग करते हुए सर्वान्त में निष्कैवल्यभाव की प्राप्ति है। इस मार्ग के पथिक योगी लोकसंग्रह से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। अपितु लोक-सम्प्रदाय से विदूर-शून्य अरण्यों में कायक्लेशपूर्वक योगपद्धतियों का अनुगमन करते हुए शरीरमात्रोपजीवी बने रहते हुए अन्त में निर्वाणपद प्राप्त कर अपने आपको मुक्त कर लेना ही इस मार्ग का प्रधान पुरुषार्थ है। संसार को ऐसे योगियों से कोई लाभ नहीं है। साथ ही मार्ग भी सर्वसाधारण के लिए अवरुद्ध है, क्योंकि विषयों का परित्याग कर देना सहज नहीं है। साथ ही परित्याग की भावना कर पुनः मनसा भी उनका संस्मरण कर लेना पूर्वस्थिति से भी अपने आपको गिरा लेना है। इसी लिए कविगण (महर्षि) इसे क्षुरस्य धारा–निशिता दुरत्यया कहा करते हैं। गीताशास्त्र ने भी निम्न लिखित शब्दों में इस क्षीणोदर्कपथ का समर्थन किया है—

(१)—योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ॥
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ॥
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥२॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ॥
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥३॥

—गीता० ६।१०,११,१२,

(२)—सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ॥
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम् ॥१॥

—गीता० ८।१२।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ॥
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥२॥

—गीता० १२।५।

३९–अध्ययात्मानुगत उपनिषत्सम्मत भूमोदर्कमार्ग—

दूसरा है–भूमोदर्कमार्ग। किसी के भी परित्याग की आवश्यकता नहीं है। केवल सब में सदा आत्म-भावना-दृष्टि का अनुगमन अपेक्षित है। विषयानन्द हो, अथवा आत्मानन्द, उभयत्र आनन्द स्वस्वरूप से आनन्द ही है। आनन्दत्वेन वही आत्मा विषय है, दृश्य है। वही विषयी है, द्रष्टा है। विषय को विषयदृष्टि से न देख कर आत्मानन्ददृष्टि से देखिए। इसके अतिरिक्त जिस मात्रानन्दषट्क की सत्ता अध्यात्मसंस्था में है, अधिदैवत में है, अधिभूतसंस्था में भी तो वह संस्था विद्यमान है। जिस विषय को हम सर्वथा जड़ समझते हैं, उसमें भी मात्रानन्द, और घनानन्द ज्यों के त्यों प्रतिष्ठित हैं, जैसाकि आगे स्पष्ट किया जाने वाला है। विषय इन्द्रियभुक्त आनन्दमात्रा से जब तक भुक्त रहेंगे, तभी तक अतृप्ति रहेगी। जहाँ स्वयं विषयगर्भीभूत घनानन्दलक्षण आत्मानन्द पर दृष्टि गई नहीं कि, तृप्तिभाव उदित हुआ नहीं। सब में प्रवृत्त रहिए, परन्तु आत्मदृष्ट्या। लोकसंग्राहक यच्चयावत् कर्म्मों का अनुगमन कीजिए, परन्तु आत्मसमर्पणलक्षण बुद्धियोग के द्वारा। सर्वत्र समदर्शनपूर्वक होने वाला विषमवर्त्तन विषयसंग्राहक रहता हुआ भी निर्विषयक बना रहता है। यही प्रवृत्तिपथ में निवृत्ति की प्राप्ति है, यही बुद्धियोगरहस्य है, यही गीताराद्धान्त है, यही भूमोदर्कपक्ष है, जिसका विश्लेषण ही इस परीक्षाखण्ड का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

४०–सच्चिदानन्दब्रह्म के तीन विवर्त्तभाव—

प्रासङ्गिक आनन्दमीमांसानन्तर पुनः प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। बतलाया गया है कि, ब्रह्म के सत्–चित् पर्वों की भाँति आनन्दपर्व भी आबाल–वृद्ध–वनिता, सब के लिए प्रत्यक्षानुभूत तत्त्व है। इस आनन्दतत्त्व के भी सत्–चित्–पर्वों की भाँति आत्मानन्द, स्वानन्द, परानन्द, भेद से तीन ही विवर्त्त हैं। इन्द्रियानुगत–आगन्तुक विषयानन्द परानन्द है, यही अनुकूलवेदनात्मक सुख है, इसे ही हमनें पूर्व में समृद्धानन्द कहा है। ईश्वरात्मांशभूत जीवात्मानुगत जीवनसत्तोपयिक स्वरूपसंस्थापक–रक्षक आनन्द स्वानन्द है। एवं केन्द्रस्थ पुरुषात्मक घनानन्द आत्मानन्द है। आत्मानन्द भूमानन्द है, यही शान्तानन्द है, नित्यानन्द है। शान्तानन्दरूप आत्मानन्द, एवं समृद्धानन्दरूप विषयानन्द (परानन्द), दोनों के मध्यम में प्रतिष्ठित स्वानन्दलक्षण जीवात्मा यदि भूमानन्दरूप आत्मानन्द का अनुगामी है, तो इसका स्वानन्द आत्मानन्दरूप में परिणत हो जाता है। यदि विषयानन्दरूप

समृद्धानन्द का अनुगामी है, तो यही स्वानन्द परानन्दरूप में परिणत हो जाता है । आत्मानन्द ही मात्रा-अंश-रूप से स्वानन्द बना है । आत्मानन्द ही मात्रारूप से परानन्द बना है । तत्त्वतः आनन्दत्वेन तीनों एक ही आनन्द हैं । एवं तीनों का शान्ति-समृद्धिरूप से हमें अनुभव होता रहता है । स्वस्थदशा की शान्ति आत्मानन्दानुभव है, वित्तपरिग्रहजनिता समृद्धि का अनुभव विषयानन्दानुभव है । यही ब्रह्म के आनन्दपर्व के साक्षात् दर्शन हैं । यही आनन्दपर्व की सर्वानुभूति का संक्षिप्त निदर्शन है ।

सर्वत्र 'अस्तित्व का बोध आप प्राप्त कर रहे हैं' । यही सच्चिदानन्द के दर्शन हैं । 'अस्तित्व' 'सत्' है, बोध चित् है, प्राप्त तत्त्व रसात्मक आनन्द है । इस दृष्टि से क्या आप ब्रह्म के साक्षात्‌रूप से दर्शन नहीं कर रहे ?, अवश्य कर रहे हैं । सत्-चित्-आनन्द, तीनों के तीनों पर्व परस्पर समतुलित हैं । परसत्ता, परज्ञान, परानन्द, यही विषयात्मक सच्चिदानन्दब्रह्म है । स्वसत्ता, स्वज्ञान, स्वानन्द, तीनों की समष्टि जीवात्मक सच्चिदानन्दब्रह्म है । आत्मसत्ता, आत्मज्ञान, आत्मानन्द, तीनों की समष्टि ईश्वरात्मक सच्चिदानन्द-ब्रह्म है । सच्चिदानन्देश्वरतत्व ही अधिदैवतसंस्था का अध्यक्ष है । सच्चिदानन्दजीव ही अध्यात्मसंस्था का अध्यक्ष है । सच्चिदानन्दशिपिविष्ट ही अधिभूतसंस्था का अध्यक्ष है । इसप्रकार एक ही सच्चिदानन्दघन निष्कल पुरुष अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, रूप से तीन विवर्तभावों में परिणत हो रहा है । अधिभूत-विवर्त जगत् है, अध्यात्मविवर्त जीव है, अधिदैवतविवर्त **ईश्वर** है, यही विशिष्टाद्वैतवादियों का विशिष्टाद्वैत है, जो इस सोपाधिक दृष्टि से मान्य कहा जा सकता है * । यही तत्त्वत्रयी विज्ञानभाषा में **'त्रिसत्याद्वैतवाद'** नाम से प्रसिद्ध हुई है ।

***-इत्थं स्वरूपात् पृथगस्ति विश्वं जीवात्मक्लृप्तानि जगन्ति सन्ति ॥**
जीवा जगन्मूलतया च सन्ति प्रभुश्च तेषामयमीश्वरोऽस्ति ॥१॥
जडाश्च, जीवाश्च, तथेश्वरश्च, त्रिभिर्विशिष्टं यदिहैकरूपम्-॥
तद्ब्रह्म, तच्च द्विविधं परं चावरं च नातः परमस्ति किञ्चित् ॥२॥

सच्चिदानन्दब्रह्मणो-विवर्त्तभावाः-(ब्रह्मैवेदं सर्वम्-इति सञ्चरविदः प्राहुः)

सच्चिदानन्दब्रह्म

१

१-आत्मसत्ता (निरपेक्षप्रतिष्ठा-'सत्ता'-ईश्वरानुगता) (अधिदैवतम्)
२-स्वसत्ता (सापेक्षप्रतिष्ठा--'धृतिः'-जीवानुगता) (अध्यात्मम्)
३-परसत्ता (सापेक्षप्रतिष्ठा--'विधृतिः'-विषयानुगता) (अधिभूतम्)
} सत् (१)

* * * *

२

१-आत्मज्ञानम् (निरपेक्षचेतना-'महत्-ज्ञानम्'-ईश्वरानुगतम्)-अधिदैवतम्
२-स्वज्ञानम् (सापेक्षचेतना-'विज्ञानज्ञानम्'-जीवानुगतम्)-(अध्यात्मम्)
३-परज्ञानम् (सापेक्षचेतना-'प्रज्ञानज्ञानम्'-विषयानुगतम्)-(अधिभूतम्)
} चित् (२

* * * *

३

१-आत्मानन्दः (निरपेक्षरसः-'शान्तिः'-ईश्वरानुगता)-अधिदैवतम्)
२-स्वानन्दः (सापेक्षरसः-'आनन्दः'-जीवानुगतः)- अध्यात्मम्)
३-परानन्दः (सापेक्षरसः-'समृद्धिः'-विषयानुगता)-(अधिभूतम्)
} आनन्दः (३)

*

(१) ईश्वरविवर्त्तः—

१-आत्मसत्ता (सत्)
२-आत्मज्ञानम् (चित्)
३-आत्मानन्दः (आनन्दः)
} ईश्वरः-इति त्वधिदैवतम्

* * *

(२) जीवविवर्त्तः—

१-स्वसत्ता (सत्)
२-स्वज्ञानम् (चित्)
३-स्वानन्दः (आनन्दः)
} जीवः-इति त्वध्यात्मम्

* * *

(३) जगद्विवर्त्तः—

१-परसत्ता (सत्)
२-परज्ञानम् (चित्)
३-परानन्दः (आनन्दम्)
} जगत्-इति त्वधिभूतम्

"तस्माद्-युक्त-युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत्।
आत्मनीक्षस्व विततं, मात्मानं मय्यधीश्वरे" ॥
श्रीमद्भागवत ११।७।९

सैषा-जगज्जीवेश्वराणां त्रयाणामेषाम्-ऐक्यभावना।
(सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति प्रतिसञ्चरविदः प्राहुः)।

४१–एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म—

सर्वानुभूत सच्चिदानन्दब्रह्म ही निष्कल ब्रह्म है, जिसका सर्वारम्भ में उपक्रम किया गया है। "वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान सभी को आनन्दी बनाता है" यह वाक्य ही सच्चिदानन्दब्रह्म की सर्वानुभूति का स्पष्टीकरण कर रहा है। यह निष्कल ब्रह्म ही विश्व का प्रधान आरम्भक माना गया है। कौनसा सच्चिदानन्द ?। प्रश्न इसलिए हुआ कि पूर्व में निरपेक्ष, सापेक्ष–भेद से इसके तीन विवर्त्तों का स्पष्टीकरण हुआ है। जीवानुगत सच्चिदानन्द (आध्यात्मिक), एवं विश्वानुगत सच्चिदानन्द (आधिभौतिक), दोनों हीं सापेक्ष हैं, दोनों ही उद्बुद्ध हैं, अनुभूत हैं। निरपेक्ष ईश्वरानुगत सच्चिदानन्द विषयोपहित है, शेष दोनों विषयावच्छिन्न हैं। विषयावच्छिन्न उद्बुद्ध सच्चिदानन्द केवल व्यष्टिरूप तद्विषय का आरम्भक बनता है, समष्टिरूप यच्चयावत् विषयों का नहीं। घट का अस्तित्व, ज्ञान, रस (आनन्द) पट के अस्तित्वादि से विभिन्न है। घटाभाव में भी पट का अस्तित्व अक्षुण्ण रहता है। पट के अस्तित्व का, पटानुगत सच्चिदानन्द का घटास्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। घटविषयक विद्यमान सच्चिदानन्द घट का आरम्भक है, पटविषयक विद्यमान सच्चिदानन्द पट का आरम्भक है। अतएव विषयावच्छिन्न–सोपाधिक–नामरूपकर्म्मानुग्राहक–सापेक्ष–उद्बुद्ध इस सच्चिदानन्द को सम्पूर्ण विश्व का, समष्टि का, यच्चयावत् व्यक्तियों का आरम्भक नहीं माना जा सकता। विश्वोपहित–निरुपाधिक–नामरूपकर्म्मातीत–निरपेक्ष–उन्मुग्ध सच्चिदानन्द ही समष्टि का आरम्भक बन सकता है। यदि वह न रहे, तो कोई भी सदसत् पदार्थ न रहे। वही भावास्ति है, वही अभावास्ति है, सर्वत्र एकरसरूपेण व्याप्त है। 'अस्ति' 'नास्ति' सर्वत्र उस का साम्राज्य है। घटसत्ता घट में ही है, घटाभाव, किंवा पटभाव में घटसत्ता नहीं है। परन्तु यह सामान्य सत्ताब्रह्म घट में भी है, घटाभाव में भी है, पटभाव में भी है। सर्वत्र एकरसरूप से व्याप्त रहने के कारण ही तो यह उन्मुग्ध सच्चिदानन्दब्रह्म 'निष्कल' कहलाता है। नाम–रूप ही कलाभाव के प्रवर्त्तक हैं। वह इनसे अतीत, अतएव निष्कल है। अतएव इसका **'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म–नेह नानास्ति किञ्चन'** यह लक्षण किया जाता है।

४२–सजातीय-विजातीय–स्वगत–भेदशून्य अखण्ड–अद्वय–ब्रह्म—

सजातीय, विजातीय, स्वगत, तीनों भेदों से वह अतीत है। नानारूप कलाभावों से वह असंसृष्ट है, अतएव 'एकम्'–'एव'–'अद्वितीयम्' ये तीन विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। एक आम्रवृक्ष अन्य आम्रवृक्ष से विभिन्न है, यही सजातीयभेद है। आम्रवृक्ष वटवृक्ष से विभिन्न है, यही विजातीयभेद है। एक आम्रवृक्ष के आम्र-मूल, आम्रशाखा, प्रशाखा, मञ्जरी, पत्र, फल, आदि परस्पर भिन्न हैं, यही स्वगत-(अपने आप में रहनेवाला)-भेद है। मनुष्य–मनुष्य का भेद सजातीयभेद है, मनुष्य–पशु का भेद विजातीयभेद है, एक ही मनुष्य-शरीर में रहने वाला हस्त–पाद–उदर–उर–शिर–कर्ण–नासिका–आदि भेद स्वगतभेद है। व्यापक ब्रह्म जैसे अन्य और किसी ब्रह्म का अभाव है, इसलिए वह सजातीयभेदशून्य है। नाहीं ऐसे ही व्यापक अन्य स्वरूपयुक्त किसी अन्य व्यापक ब्रह्म की सत्ता है, अतएव यह विजातीयभेदशून्य है। इसमें स्वयं में भी अवयवाभाव है, अतएव यह निष्कल है, अतएवच स्वगतभेदशून्य है। 'एकम्' विशेषण सजातीयभेद का, 'एव' विशेषण विजातीयभेद का, एवं 'अद्वितीयम्' विशेषण स्वगतभेद का व्यावर्त्तक बन रहा है।

४३--स्वगतभेदमूला आपत्ति, और तन्निराकरण—

माना कि, ब्रह्म सजातीय, विजातीयभेदशून्य है, परन्तु इसे स्वगतभेदशून्य कैसे कहा जा सकता है ?, जब कि इसके-'सत्-चित्-आनन्द' ये तीन अवयव हैं, कला हैं। अतएवच इसे निष्कल भी क्यों कर माना जा सकता है ? । प्रश्न का उत्तर भातिभाव पर निर्भर है। कलाभेद का नियामक भातिभेद नहीं, अपितु सत्ताभेद माना गया है। एक ही व्यक्ति अपेक्षया अपने पुत्र का पिता, पिता का पुत्र, सेवक का स्वामी, स्वामी का सेवक, न्यायालय का न्यायाध्यक्ष, आदि अनेकरूप से प्रतीत हो रहा है। इन अनेक भाति-भेदों के रहने पर भी सत्तानुगत ऐक्य सुरक्षित है। रङ्गरजित वस्त्र को सूत-तूल (रूई)-कपास-मिट्टी-पानी-अग्नि-वायु-आकाश-प्राण-मन-विज्ञान-आनन्द-सभी दृष्टियों से देखा जा सकता है। सब का भान तात्त्विक है। क्योंकि पूर्व-पूर्व भाति का आधार उत्तर उत्तर भाति बन रही है। एक ही आत्मसत्ता-पटल पर सूत-तूलादि अनेक भातियाँ प्रतिष्ठित हैं। इन अनेक भातियों के रहने पर भी सत्तैक्यात् वस्त्र एक ही कहलाता है। भातिभेद कभी भेदक नहीं बनता। भेदक बनता है-एकमात्र सत्ताभेद, यही निष्कर्ष है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। सत्-चित्-आनन्द, ये तीन सत्ता नहीं हैं, अपितु एक ही तत्व की तीन भातियाँ हैं। वही सत्-चित्-आनन्द, इन भावों से प्रतीत हो रहा है। सत्ता एक है, अतएव भातित्रय के रहने पर भी स्वगतभेद को अवसर नहीं मिलता। आम्रफल-आम्रमञ्जरी-आम्रपत्रादि हैं उसी आम्रवृक्ष में, परन्तु सब की सत्ता विभिन्न है। अतएव फल-मञ्जरी-पल्लवादि का पृथक् रूप से ही उद्भव होता है, नाश भी हो जाता है, इससे वृक्ष का कुछ बनता बिगड़ता नहीं। अतएव इसे स्वगतभेदयुक्त माना जा सकता है। परन्तु जिस सच्चिदानन्दब्रह्म का अस्तित्त्व अवारपारीण है, अभिन्न है, जो स्वयं ही दृष्टिकोणभेद से सत्-चित्-आनन्द-रूप से प्रतीतमात्र हो रहा है, जिसकी तीनों प्रतीतियाँ अभिन्न हैं, एक प्रतीति के अभाव में तीनों अप्रतीत हैं, उस ब्रह्म में स्वगतभेद कैसे माना जा सकता है। त्रिपुटी (इलायची) का उदाहरण इससे अंशतः समतुलित है। पुट तीन हैं, इलायची एक है। भाति तीन हैं, सत्ता एक है। अतएव अद्वैतवाद सर्वात्मना अक्षुण्ण है।

४४-सत्-चित्-आनन्द-भातियों की अभिन्नता—

तीनों भातियों की अविनाभूतता का भी समन्वय कर लीजिए। पहिले तीनों के अन्योऽन्याविनाभाव पर दृष्टि डालिए। 'अस्ति'-अतः तद्वेत्ति'='है-इसलिए जानता है', इस वाक्य में वेत्ति रूप चित् अस्ति से अविनाभूत है। यदि अस्ति नहीं है, तो वेत्ति भी नहीं है। 'वेत्ति-अतः-तदस्ति'='जानता है-इसलिए वह है', इस वाक्य में अस्तिरूप सत् वेत्तिरूप चित् से अविनाभूत है। यदि चित् नहीं है, तो सत् भी नहीं है। 'योऽस्ति, यश्च वेत्ति-स रसः'-'जो है, जिसे जानता है, वही रस है' इस वाक्य में रसरूप आनन्द अस्ति-रूप सत्, वेत्तिरूप चित्, दोनों से अविनाभूत है। यदि सत्-चित् नहीं हैं, तो रसानन्द भी नहीं है। इस प्रकार तीनों का स्वरूप एक दूसरे पर आश्रित है। यह तभी सम्भव है, जब कि तीनों एक ही तत्त्व की तीन भातियाँ हो।

तीनों की अभिन्नता का भी समन्वय कर लीजिए। (१)- **यदस्ति तज्जानाति, स रसः'**-'जो है, उसी का ज्ञान है, जिसका ज्ञान है-वही रसानन्द है', यह वाक्य सदपेक्षया तीनों की अभिन्नता का समर्थक है। 'अस्ति' सत् है। तज्जानाति रूप से यह अस्तिलक्षण सत् भी चित् है। तेन तृप्तिः रूप से अस्तिलक्षण सत्-

ज्ञान ही सद्रूप आनन्द है। इसप्रकार सत्–चित्–आनन्द–तीनों सद्रूप हैं। (२)–'**यज्ज्ञायते–तदस्ति–स रसः**'–'जो जाना जाता है, वही है, जो जाना जाता है, जो है, वही रसानन्द है', यह वाक्य चिदपेक्षया तीनों की अभिन्नता व्यक्त कर रहा है। 'ज्ञायते' चित् है। तदस्तिरूप से यह ज्ञानलक्षण चित् ही सत् है। तेन तृप्तिः रूप से चिल्लक्षण–ज्ञान ही चिद्रूप आनन्द है। इसप्रकार सत्–चित्–आनन्द, तीनों चिद्रूप हैं। (३)–'**यो रसः–सोऽस्ति, तं जानाति**'–'जो रस है, वही है, वही जाना जाता है', इस वाक्य से रसापेक्षया तीनों की अभिन्नता प्रमाणित हो रही है। 'यो–रसः' आनन्द है। 'रसोऽस्ति' रूप से यह रसलक्षण आनन्द ही अस्तिरूप सत् है। रसलक्षण अस्ति का ही ज्ञान है। इसप्रकार सत्–चित्–आनन्द, तीनों आनन्दरूप हैं। अनुभव भी इसी अभिन्नता का पोषण कर रहा है। (१)–है, उसे ही जानते हैं, जिसके अस्तित्व का ज्ञान है, वही तृप्तिलक्षण आनन्द का कारण है। कारण क्या है, उस अस्तिलक्षण बोधप्राप्ति का ही नाम तृप्ति है। अस्तित्वबोध के प्रस्फुटित होते ही बुभुक्षा शान्त हो जाती है, तृप्ति का उदय हो जाता है। (२) जानते हैं, वही है। जो जानते हैं, वही ज्ञानतत्त्व तृप्तिलक्षण आनन्द है। (३)–वस्तुतत्त्व ही रस है, यही आनन्द है। इस रस का ही अस्तित्व है इसी का बोध है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों से सच्चिदानन्दभावों की अभिन्नता के दर्शन किए जा सकते हैं।

अन्योऽन्याविनाभावदृष्टिस्त्रयाणाम्—

अस्तीति, तद्वेत्ति—चिदपेक्षानुगामिनी–सत्ता	–तदित्थमन्योऽन्याविनाभावः
वेत्ति–अतोऽस्ति—सदपेक्षानुगामिनी–चेतना	
योऽस्ति, यं वेत्ति—उभयापेक्षानुगामी–आनन्दः	

❀ ❀ ❀

(१) सदनुगता–अभेददृष्टिः—

१–यदस्ति (सदपि सत्)—सत्त्वैव सत्	–सदभिन्नः सच्चिदानन्दः
२–तज्जनाति (ज्ञानमपि सत्)—सत्त्वैव चित्	
३–स रसः (रसोऽपि सत्)—सत्त्वैव आनन्दः	(सद्ब्रह्म)

* * *

(२) चिदनुगता–अभेददृष्टिः—

१–यज्ज्ञायते (ज्ञानमपि चित्)–चिदेव चित्	–चिदभिन्नः सच्चिदानन्दः
२–तदस्ति (सदपि चित्)–चिदेव सत्	
३–स रसः (रसोऽपि चित्)–चिदेव आनन्द.	(चिद्ब्रह्म)

* * *

(३)-आनन्दानुगता-अभेददृष्टिः—

१-यो रसः (रसोऽपि रसः)—रस एव आनन्दः		
२-सोऽस्ति (सदपि रसः)—रस एव सत्	—आनन्दाभिन्नः सच्चिदानन्दः	
३-तं जानाति (चिदपि रसः)—रस एव चित्	(आनन्दब्रह्म)	

* * *

अयमत्र संग्रहः—

अविनाभावः-अस्तीति तद्वं,-न्यथ वेत्यतोऽस्ति, यो विद्यते वेत्ति स यं रसः सः ॥
अर्थः प्रियो नोऽस्ति-सदार्थलिप्सा, ज्ञानं प्रियो नोऽस्ति सदा बुभुत्सा ॥१॥
बोध्यं सुखं, वस्तु सदस्ति बोध्यं, बोध्यं च बोधादपृथक् प्रबुद्धम् ॥
ज्ञानं सुखं, चास्ति हि वस्तुसतत्तत् , तस्मात् पृथङ्-नातितरामिमानि ॥२॥
त्रिष्वेव पर्य्याप्तमिदं समग्रं नातश्चतुर्थं किमपीह लोके ॥
प्रत्यर्थमेषामपृथक्त्वमीक्षे नैकं विनाऽन्येन कदापि सिद्ध्येत् ॥३॥

* * *

अभिन्नभावः-भात्यास्तिरेवं खलु, भातिरस्त्या, ताभ्यां रस, स्ते च रसेन सिद्धे ॥
तेषां न पूर्वत्वपरत्वसिद्धिर्गत्यां यथा योगविभागसंस्थाः ॥१॥
सैवोपलब्धिर्यदिहास्ति, यद्वोपलभ्यते यत्तदिहास्ति सत्ता ॥
यद्भातिसिद्धाऽस्ति,-रथास्तिसिद्धा भाती, रसस्तूभयसिद्ध एव ॥२॥
न भातिपूर्वास्ति,-रथास्तिपूर्वा न भाति,-राभ्यां न विनाकृतो वा ॥
रसोऽपि शक्येत; मतं तदेकमव्याकृतं व्याक्रियते त्रिधा यत् ॥३॥
अस्तीति[१] बोधोऽपि च, सोऽस्ति[२], बोधो रसः[३], स बोधोऽपि च बोद्धृ[४]-बोध्ये ॥
रसोऽस्ति[५], सत्तापि रसो[६], न चान्यन्मन्यामहे, तेन तदेकसत्यम् ॥४॥

* * *

१	(१) अस्ति-इति बोधरूपम्-अस्तीत्येवं ज्ञायते	ज्ञानेनानुगृह्यते सत्ता	ज्ञानेनाप्यविनाभूता सत्ता
	(२) बोधः-अस्ति———तदिदं ज्ञानं सत्तावत्	सत्तयानुगृह्यते ज्ञानम्	सत्तयाप्यविनाभूतं ज्ञानम्
२	(३) रसः-इति बोधरूपम्-रस इति कृत्वा ज्ञायते	ज्ञानेनानुगृह्यते सत्ता	ज्ञानेनाप्यविनाभूतो रसः
	(४) बोधो, बोद्धा, बोध्य, इति रसः-तदिदं ज्ञानं रसः	रसेनानुगृह्यते ज्ञानम्	रसेनाप्यविनाभूतं ज्ञानम्
३	(५) रसः-अस्ति———बलाधारः कश्चिदस्ति	सत्तयानुगृह्यते रसः	सत्तयाप्यविनाभूतो रसः
	(६) सत्ता-रसः———ज्ञानक्रियालम्बनत्वात्	रसेनानुगृह्यते सत्ता	रसेनाप्यविनाभूता सत्ता

* * *

४५–'अस्ति', 'उपलब्धि', और 'तत्त्वभाव' का समन्वय—

सत् 'अस्ति' है, चित् 'उपलब्धि' है, आनन्द 'तत्त्वभाव' है। तत्त्वभावोपलब्धिरूप अस्तित्व ही सच्चिदानन्दब्रह्म है। अस्तिभावोपलब्धिरूप तत्त्वभाव (सच्चिद्रूपानन्दभाव) ही प्रसाद का कारण है। अस्ति-ग्रहण से सर्वग्रहीत है। यही सच्चिदानन्दब्रह्म की साक्षात् दृष्टि है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

नैव वाचा, न मनसा, प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ॥
'अस्ती' ति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१॥
'अस्ती' त्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ॥
'अस्ती' त्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥२॥

—कठोपनिषत् ६।१२।१३।

१–अस्ति——सत्
२–उपलब्धिः–चित्
३–तत्त्वभावः–आनन्दः

} –अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः
"अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति"

* * *

४६–गीता का 'समब्रह्म', और 'ऐकान्तिकरस'–

उन्मुग्ध सच्चिदानन्दलक्षण–ऐतदात्म्य–निरपेक्ष–यही निष्कलब्रह्म गीतापरिभाषा में–'समब्रह्म'–'ऐकान्तिकरस' इन दो नामों से व्यवहृत हुआ है। सर्वत्र समरूप से व्याप्त गुणातीत ब्रह्म ही समब्रह्म है। यह विशुद्ध रसात्मक है, अतएव इसे 'ऐकान्तिकरस' नाम से व्यवहृत करना भी अन्वर्थ बनता है। भावाभाव, सदसत्, मूर्त्तामूर्त्त, निरुक्तानिरुक्त, अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत, सर्वत्र यह असङ्गरूप से व्याप्त है। बिना इसके क्योंकि कोई भी सापेक्ष विषय अपनी सापेक्ष सत्ता नहीं रख सकता, अतएव सर्वथा असङ्ग भी यह निष्कलब्रह्म सब का आरम्भक मान लिया जाता है। अतद्व्यावृत्तित्त्व ही इसका आरम्भकत्त्व है। सर्वबलोपहित विशुद्ध रस ही इसका प्रातिस्विक रूप है, जिस शुद्ध रस की सत्-चित्-आनन्दरूप से भाति होती है। बलतत्त्व ही कला का जनक है। रसतत्त्व स्वस्वरूप से अखण्ड बनता हुआ निष्कल है। अखण्ड–अद्वय रस को खण्ड–खण्डरूप में परिणत करने वाला मृत्युलक्षण खण्डरूप स्वयं बल ही है। बल नहीं, तो खण्डभाव नहीं। खण्डभाव नहीं, तो कलाभाव नहीं। अतएव सर्वबलोपहित विशुद्ध रसतत्त्व को अवश्य ही निष्कल कहा जा सकता है।

४७–ब्रह्मानुगत 'आभू', और 'अभ्व' तत्त्व–

प्रकरण से आरम्भ कर अब तक केवल सत्–चित्–आनन्दरूप रसतत्त्व का ही विश्लेषण हुआ है। इसी की सर्वव्याप्ति का यशोगान हुआ है। इसकी आरम्भकता भी केवल अतद्व्यावृत्तिदृष्टया स्वीकृत हो गई है। वह स्वयं व्यापक है, असङ्ग है, निरञ्जन है, नित्यशान्त है, परिपूर्ण है, निष्काम है। उसका कहीं अभाव नहीं, एतावता ही उसे आरम्भक मान लिया जाता है। वस्तुतः 'आरम्भक' शब्द का जो उपादान–अर्थ लोक-वेद में संगृहीत है, उस उपादानात्मक आरम्भणभाव से तो उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। व्यापकत्त्वेन जब वह सर्वात्मक है, तो उसका कामना से क्या सम्बन्ध ?, क्योंकि कामना अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही हुआ करती है। यह सम्भव है कि, कार्य्यरूप विश्व में जो अपरिवर्त्तनीय–सामान्य–नित्यभाव हैं, उनका वह रसब्रह्म कारण हो, परन्तु प्रतिक्षण विलक्षण क्षणिक क्रियाभावों का, क्रियाकूटात्मक गुणों का, गुणकूटात्मक द्रव्यों का, एवं तद्रूप अनित्यभावों का तो वह कथमपि उपादान नहीं बन सकता। वैज्ञानिकोंनें इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए मर्त्य कार्य्य के मर्त्यकारण का अनुमान लगाया, एवं उसे बल नाम से व्यवहृत किया। साथ ही यह सिद्धान्त स्थापित किया कि, कार्य्यात्मक विश्व में समष्टि–व्यष्टिरूप से उभयथा परिवर्त्तनीय, दो विरुद्ध कार्य्यों का एकत्र समन्वय हो रहा है, अतः भावद्वयात्मक कार्य्यरूप विश्व का मूल भी भावद्वयात्मक ही होना चाहिए, क्योंकि-कारणगुण ही कार्य्यगुण के आरम्भक बना करते हैं। परिवर्त्तनीय भाव का परिवर्त्तनशील मूलकारण ही 'बल' कहलाया, एवं अपरिवर्त्तनीय कार्य्यभाव का अपरिवर्त्तनशील मूलकारण ही 'रस' कहलाया। रस **'आसमन्ताद् व्याप्तो भवति'** निर्वचन से **'आभू'** कहलाया, बल–अपने त्रिक्षणभाव से **'अभवन्–भवति'** निर्वचन से 'अभ्व' कहलाया। बलात्मक अभ्व नामरूपकर्म्ममय मर्त्यकार्य्य का कारण बना *, रसात्मक आभू 'अस्ति' लक्षण सत्तारस (सोपाधिकसत्ता) का आधार बना। इसप्रकार निष्कल रसकारणता के साथ साथ स–कल बलकारणता इसी प्रसङ्ग में हमारे सम्मुख और उपस्थित हो गई।

---

* **"ते हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे, महती यक्षे (नामरूपे)"**

४८–ब्रह्मानुगत वाक्यार्थबोध का समन्वय–

बलभाव की स्वीकृति से स्वगतभेद का प्रश्न उपस्थित होना चाहिए था, परन्तु नहीं होता। कारण सत्–चित्–आनन्द–तीनों जैसे भातिसिद्ध बनते हुए रसाद्वैत पर कोई आक्रमण नहीं करते, एवमेव भातिसिद्ध बल भी सत्तैक्यात् स्वगतभेद को अवसर नहीं देने पाता। मर्त्य कार्य्य के कारणभूत इस बल की **सुषुप्ति, जागृति, चिति, हृद्ग्रन्थि,** ये चार अवस्थाएँ रहती हैं। सुषुप्तिदशा में यच्चयावत् बल रससमुद्र में विलीन रहते हैं। एतदवस्थापन्न रस ही बलोपहित रस कहलाया है। इसी को निष्कलब्रह्म माना गया है। बल हैं अवश्य। बल भला रस को छोड़ कर जायँगे भी कहाँ? परन्तु रससमुद्र में निमग्न हैं, सुप्त हैं। अतएव कलाप्रवृत्ति का अभाव है। अतएव च रहते हुए भी बल की उसी प्रकार इस सुप्तदशा–अकर्म्मण्यदशा में अविवक्षा कर ली जाती है, जैसे यत्कर्म्मयोग्यताविरहित यत्–वस्तु की स्थिति अभावात्मिका मान ली जाती है। जिसका जो कर्म्म है, वह यदि उसे नहीं करता, तो उसका रहना न रहना ही माना जाता है। अथवा रहते हुए भी सुप्तबल की उसी प्रकार अविवक्षा कर ली जाती है, जैसे वाक्यार्थबोध–प्रसङ्ग में वाक्यार्थबोध के समन्वय के लिए अपने ज्ञान में विद्यमान भी घटत्त्व की अविवक्षा कर 'घटे घटत्त्वम्' का 'घटत्त्वोपहिते घटे घटत्त्वम्' इस रूप से वाक्यार्थबोध कर लिया जाता है। सिद्ध विषय है कि, घट में अवश्य ही घटत्त्व रहता है। यदि घटत्त्व ही न रहेगा, तो घट कहाँ रह पाएगा। बात तो ठीक है। परन्तु इसे शब्दद्वारा कहा कैसे जाय!। **'घटे घटत्त्वम्'** क्या यह कहा जाय? कह भले ही दिया जाय, परन्तु वाक्य अशुद्ध होगा, अभीष्टार्थसिद्धि न होगी। **क्यों?।** इसलिए कि—'घटे' का अर्थ होगा 'घटत्त्वविशिष्टे घटे'। क्योंकि घटत्त्व के बिना घट शब्द ही अनुपपन्न है। उधर घटत्त्व घट में रहता है, घटत्त्व घटत्त्व में नहीं रहता–**'सामान्ये सामान्याभावः'**। मनुष्य में मनुष्यत्त्व रहता है, मनुष्यत्त्व में मनुष्यत्त्व क्या रहेगा, और कैसे रहेगा? ऐसी स्थिति में 'घटे घटत्त्वम्' का स्वतःसिद्ध जो—'घटत्त्वविशिष्टे घटे घटत्त्वम्' यह अर्थ होगा, वह सर्वथा तत्त्वदृष्ट्या अनुपपन्न बन जायगा। क्योंकि घटत्त्वविशिष्ट घट में घटत्त्व तो पहिले से ही विद्यमान है। फिर उसमें और घटत्त्व क्या रहेगा। इस अड़चन को दूर करने के लिए तार्किकोंनें विद्यमान भी घटत्त्व की स्वबुद्धि में अविवक्षा मान कर **'घटत्त्वोपहिते घटे घटत्त्वम्'** यह वाक्यार्थ–समन्वय कर लिया है। ठीक यही व्यवस्था यहाँ समझिए। रस घटस्थानीय है, बल घटत्त्व स्थानीय है। घट जैसे बिना घटत्त्व के अनुपपन्न है, एवमेव रस भी बिना बल के अनुपपन्न है। ऐसी स्थिति में 'रसे बलत्त्वम्' का 'बलत्त्वविशिष्टे रसे बलत्त्वम्' यह वाक्यार्थ होना चाहिए, किन्तु यह अनुपपन्न है। अतएव इसका **'बलत्त्वोपहिते रसे बलत्त्वम्'** इसप्रकार समन्वय कर लिया है। तात्पर्य्य–सत्तादृष्ट्या यद्यपि रस बल, दोनों का अपार्थक्य है, तथापि विशेषणधिया अपने ज्ञान में बल की अविवक्षा कर शुद्ध रस की भावना कर ली जाती है। बलरहित यह शुद्ध रस ही, जिसे पूर्वकथनानुसार हम 'उन्मुग्ध सच्चिदानन्दब्रह्म' कहेंगे—निष्कलब्रह्म है। **'रसो ह्येव सः'** ही इसकी परिभाषा है, 'एव' शब्द ऐकान्तिकभाव का ही सूचक है।

४९–नेति–नेतीत्युपनिषत् का समन्वय–

सापेक्ष सच्चिदानन्दब्रह्म की सर्वसामान्यानुभूता प्रत्यक्षदृष्टि का पूर्व में विश्लेषण हुआ है, और तत्–प्रसङ्ग में ही यह बतलाया गया है कि–आबाल–वृद्ध–वनिता–सब को ब्रह्म के सापेक्ष सोपाधिक उद्बुद्ध रूपों के प्रत्यक्ष–दर्शन हो रहे हैं। क्या लौकिक–भौतिक–विषयानुभवों की भाँति इस ब्रह्मानुभूति का भी वाणी के द्वारा (शब्दों में) अभिनय सम्भव है?, प्रश्न का समाधान –'नेति–नेतीत्युपनिषत्' (श्रुतिः) ही माना

गया है। "जब किसी भी स्वकल्पना-कल्पित सिद्धान्त के समर्थन के लिए इन केवलतत्त्ववादी-विज्ञानशून्य भारतीयों को कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, तो ये उसे ही-अचिन्त्य-अनिर्वचनीय-शब्दातीत-कहते हुए तटस्थ बन जाते हैं, जो कि तटस्थता इन का परप्रतारणात्मक पथ ही माना जायगा", इसप्रकार भारतीय तत्त्वसम्मत अनिर्वचनीय, किन्तु स्वानुभवैकगम्य ब्रह्मतत्त्व के सम्बन्ध में जड़भूतविज्ञानवादियों का जो विज्ञान-सम्मत ? आक्रोश व्यक्त होता रहता है, तत्सम्बन्ध में भारतीय आर्षप्रज्ञा के कोश में इसलिए कोई समाधान नहीं है कि, विज्ञानाभिनिवेश से समुत्पन्न इसप्रकार के आक्रोश, एवं तदनुगत हेत्वाभास लोकानुभव (भूतानुभव) दृष्टि से भी कोई महत्त्व नहीं रखते। अतएव सर्वथा बालप्रज्ञा से सम्बन्धित इत्थंभूत आक्रोशों की समाधानप्रवृत्ति सर्वथैव यातयामा है। हाँ, जो अस्तिब्रह्म के उपासक हैं, जो दिग्देशकालातीत ब्रह्मतत्त्व की अतद्व्यावृत्तता से सुपरिचित हैं, उन्हें इस दिशा में न कभी सन्देह हुआ, न हो सकता। क्योंकि वे जानते हैं कि, जब कि गुड़-शर्करा-इक्षु-मधु-आदि भौतिक पदार्थों के सर्वथा विभिन्न मधुर-अनुभवों के तारतम्य भी वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं किए जा सकते। केवल रसनेन्द्रिय ही इनके माधुर्य्य-तारतम्य का अनुभव कर सकती है, तो जो ब्रह्मतत्त्व सम्पूर्ण विषयों का आधार है, जिसको आधार बनाए बिना कोई भी अनुभूत व्यक्त नहीं हो सकती, दिग्देशकालानवच्छिन्न उस स्वानुभवैकगम्य ब्रह्मानन्द का शब्द-द्वारा कैसे अभिनय सम्भव है ? 'नेति-नेति' ही उसके अभिनय की आधारभूमि है।

'नेति नेति' का अक्षरार्थ जान लेना भी आवश्यक है। सच्चिदानन्दब्रह्म के निरपेक्ष, सापेक्ष, रूप दो विवर्त बतलाए गए हैं। विषयातीत विशुद्ध रसात्मक सच्चिदानन्दब्रह्म निरपेक्ष है, विषयविशिष्ट बलरसात्मक सच्चिदान्द-ब्रह्म सापेक्ष है। जो कुछ प्रतीत होरहा है, वह सापेक्षब्रह्म है। जो इन्द्रिय-प्रतीति से बहिर्भूत है, वह निरपेक्ष है। 'नेति-नेति' आदेश दोनों का संग्राहक बना हुआ है। प्रत्येक भौतिक विषय पर, नामरूपकर्म्मात्मक पदार्थ पर दृष्टि डालते जाइए, और साथ ही न-इति-न-इति बोलते जाइए। निरपेक्ष पर दृष्टि चली जायगी। 'स घटोऽपि न, पटोऽपि न, अपितु विषयातीतः-अवाङ्मनसगोचरः-अविज्ञेयः-निरुपाधिकः' ही 'न इति-न-इति'-अवगन्तव्यः। न-न करते जाइए, विषयसमाप्त्यनन्तर आपकी तत्त्वभावना अवरुद्ध होजायगी। वही निरपेक्षब्रह्म होगा। इसप्रकार 'नेति-नेति' वाक्य का विषयनिषेधात्मक अर्थ निरपेक्षब्रह्म की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। दूसरा दृष्टिकोण नेति की नेति से सम्बन्ध रखता है। विषयोपाधिरूपेण वही सर्वत्र प्रस्फुटित है। कहीं भी उसका अभाव नहीं है। 'अस्ति' (विषयसत्ता) रूप से सर्वत्र वही प्रतीत होरहा है। प्रतीत होने वाला सत्तालक्षण ब्रह्म सोपाधिक सच्चिदानन्द है। अभावाभाव सत्ता का स्वरूपसमर्थक माना गया है। घटाभावाभाव घटसत्ता का कारण है। नकार का नकार अस्तित्त्व का समर्थक है। न-इति न-इति (अवगन्तव्यम्) ही दूसरे दृष्टिकोण का समन्वय है। 'वह नहीं है, यह बात नहीं है, ऐसा समझिए' ही-'नेति-नेति' का अर्थ है, जिसका फलितार्थ निकलता है-'अस्तीत्येव'।

प्रत्यक्षदर्शन होता है-सापेक्ष सच्चिदानन्द का। इस प्रत्यक्ष में विषय, और विषयाधारभूत सच्चिदानन्द, दो भावों का समन्वय है। इनमें से विषय का तो स्वरूपनिर्वचन सम्भव है, परन्तु विषयाधारभूत सच्चिदानन्द का अनुभवद्वारा प्रत्यक्षमात्र है। इसका स्वरूपनिर्वचन करना असम्भव है। कारण स्पष्ट है। वह अपने स्वरूप से व्यापक बनता हुआ निरपेक्षब्रह्म से अभिन्न है। हमारा भूतात्मा परिच्छिन्न, मन परिच्छिन्न, इन्द्रियवर्ग परिच्छिन्न। और वह अपरिच्छिन्न। परिच्छिन्न अपरिच्छिन्न का स्वरूप विश्लेषण करे, तो कैसे करे ? वह अपने

व्यापक धर्म्म से हमारी बुद्धि–मन–इन्द्रिय सब में व्याप्त है, परन्तु बुद्धि-मन-इन्द्रिय उसमें व्याप्त नहीं है। वह हममें अवश्य है, हम उसमें नहीं है। प्रत्येक तरङ्ग में समुद्र व्याप्त है, परन्तु तरङ्गें तो सम्पूर्ण समुद्र की इयत्ता नापने में असमर्थ हैं। तरङ्गे अवश्य सामुद्र हैं, किन्तु समुद्र तारङ्ग नहीं है–'सामुद्रो हि तरङ्गः, क्वचन समुद्रो न तारङ्गः'। मैं अवश्य उसका हूँ, परन्तु वह मेरा (ही) नहीं है। व्यापक अवश्य व्याप्यों में रहता है, परन्तु व्याप्य व्यापक का वेष्टन नहीं कर सकते। वह सर्वात्मना एक परिच्छिन्न व्यक्ति में नहीं समा सकता–**'न त्वहं–तेषु'**। व्यक्ति अवश्य ही सर्वात्मना उस व्यापकगर्भ में प्रविष्ट है–**'ते मयि'**। अपिच–मान लेते हैं–सोपाधिक ब्रह्म की हमें अनुभूति है। फिर भी उस अतद्व्यावृत्त के निर्वचन के लिए शब्द कहाँ प्राप्त करें। घट का घट शब्द से इसलिए निर्वचन होजाता है कि, घट शब्द घटेतर पटादि यच्चयावत् शब्दों का व्यावर्त्तक है। प्रत्येक शब्द की यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही शक्ति रहती है। घट इसलिए घट है कि, वह पट नहीं है। पट इसलिए पट है कि, वह घट नहीं है, परन्तु जो घट–पट –मठ–कृष्ण–पीत–हरित–नील -सब कुछ है, उसके लिए 'सर्वम्' (जो सर्वम्–नेति नेति का ही रूपान्तर है) के अतिरिक्त और क्या कहा जासकता है। इसी अतद्व्यावृत्ति से वह अनिर्वचनीय है। हम सोपाधिकरूप से उसका अपने अन्तर्जगत् में अनुभव कर रहे हैं, इसलिए हमारे मुख से–'नहीं जानते' भी नहीं निकलता। उसका तद्रूप से निर्वचन करने में हम असमर्थ हैं, इसलिए 'जानते हैं' भी नहीं कहा जासकता। जानते हुए भी नहीं जान रहे, कैसा आश्चर्य्य है। वह जानना भी क्या जानना है, जिसे जान कर हम अपने आपको ही भूल जाँय–**'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'**। अतएव अन्ततोगत्वा श्रुति के **'नेति नेतीति होवाच'** आदेश पर ही विश्राम करना पड़ता **है**, जिस विश्रामभूमि का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है–

संविदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्वेद, न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥

५०–अवाङ्मनसगोचर अविज्ञेय ब्रह्म—

अनुभूति आत्मविषयिणी हो, अथवा लोकविषयिणी, अनुभूति अनुभूति है, रसात्मिका है। रस तत्त्व अपने रूपसे ब्रह्म है। अतः उसका निर्वचन असम्भव है। तिक्त-कटु-अम्ल-लवण-मधुर-स्वादों की अनुभूति अनुभूति पर विश्रान्त है। इसका शब्द–द्वारा निर्वचन असम्भव है। द्राक्षा, शर्करा, इक्षु, शर्कराखण्ड (मिश्री), आदि सभी तो मधुर रस हैं। सबका स्वाद पृथक् पृथक् रूप से अनुभूत होता है। क्या आप उस अमृत-रूपा पृथक् स्वादों की पृथगनुभूति का शब्दद्वारा निर्वचन कर सकेंगे। कृष्णमरीचिका, हरितमरीचिका, रक्तमरीचिका, आदि के तिक्तस्वादों से अनुभूत होने वाले पार्थक्य का क्या आप स्पष्टीकरण कर सकेंगे?। असम्भव। विशुद्ध रसानुभूति में आकर वह तत्त्व उस निर्विशेष रस से अभिन्न बन जाता है। अतः उसका निर्वचन असम्भव बन जाता है। सच्चिदानन्दब्रह्म सर्वानुभूत है, फिर भी उसका यदि कोई स्वरूपलक्षण पूँछता है, तो उससे पहिले विषयस्वादों का निर्वचन कराना चाहिए। यदि वह उनका निर्वचन कर देगा, तो हम भी ब्रह्म के स्वरूपनिर्वचन के असम्भव-प्रयास में प्रवृत्त होने की धृष्टता कर लेंगे। भला जब हम इन्द्रियसापेक्ष विषयानुभूतियों का भी स्वरूपनिर्वचन नहीं कर सकते, तो फिर उस निष्कल, निरञ्जन, निर्धर्म्मक, निष्क्रिय, निर्विशेष, दिग्देशकाल से अनन्त, किन्तु संख्या से एक, रसैकघन, उन्मुग्ध, सच्चिदानन्दब्रह्म का निर्वचन क्यों कर हो सकता है। अतएव इसे अवाङ्मनसगोचर, अनिर्वचनीय, एवं अविज्ञेय कहा गया है।

५१–निष्कलब्रह्म, और तदनुगत ब्रह्मवन—

उक्त लक्षण, किन्तु तत्त्वतः सर्वविधलक्षणातीत निष्कल ब्रह्म के दो विवर्त्तभावों की ओर वैज्ञानिकों नें हमारा ध्यान आकर्षित किया है। **बलोपहित निष्कलब्रह्म**, प्रथम विवर्त्त है, एवं **बल-विशिष्ट निष्कलब्रह्म**, द्वितीय विवर्त्त है। सर्वात्मना दोनों का स्वरूप अभिन्न है। केवल बल-दृष्टि से तारतम्य है। उसी को विशुद्ध रसरूप से देखना एक दृष्टिकोण है, यही बलोपहित निष्कलब्रह्म है। उसी को बलविशिष्टरूप से देखना एक दृष्टिकोण है, यही बलविशिष्ट निष्कलब्रह्म है। प्रथम विवर्त्त विज्ञानभाषा में **'निर्विशेष'** कहलाया है, गीताभाषा में यही **'ऐकान्तिकरस'** नाम से व्यवहृत हुआ है। द्वितीय विवर्त्त विज्ञानभाषा में **'परात्पर'** कहलाया है, यही गीताभाषा में–**'शाश्वतधर्म्म'** कहलाया है। स्मरण कीजिए, हमनें पूर्व में (६७ पृष्ठ पर) बल की सुषुप्ति, जागृति, चिति, ग्रन्थि, भेद से चार अवस्था बतलाईं हैं। वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया है कि, रसगर्भ में जब बल सुप्त हो जाते हैं, तो विशुद्ध रस का साम्राज्य रह जाता है। और ऐसे बल का रहना न रहने के समान है। यही पहली निर्विशेषावस्था है। बल सुप्तावस्था को छोड़ कर जाग्रदवस्था में तो आगए, परन्तु अभी न तो इनकी चिति हुई, न बन्ध हुआ, अपितु बल सहचर अवस्थामात्र से युक्त हैं। सहचरसम्बन्धानुगत बल चिति, एवं बन्धलक्षणा संसृष्टिमर्य्यादा से असंसृष्ट रहते हुए सृष्टिमर्य्यादा से एकान्ततः बहिर्भूत हैं। सहचरावस्था ही बलों की जाग्रदवस्था है। तदवस्थायुक्त सर्वबलविशिष्ट, सृष्टिमर्य्यादया बहिर्भूत रस ही परात्पर है। बल ही रस का 'त्व' लक्षण धर्म्म है। अतएव परात्पर को सर्वधर्म्मविशिष्ट कहा जासकता है। अतएव विज्ञान-प्रधान गीताशास्त्र ने इसे 'शाश्वतधर्म्म' नाम से ही व्यवहृत करना न्यायसङ्गत माना है। बुद्धया प्रकल्पित बलाविवक्षया वही तत्त्व निर्विशेष है, सत्तादृष्ट्या वही तत्त्व परात्पर है। निर्विशेष भातिसापेक्ष है, परात्पर सत्तासापेक्ष है। सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर दोनों का ऐक्यभाव सुस्पष्ट है। अतएव दोनों को दो न मान कर हम 'निष्कल' रूप से एक ही नाम से उसका संग्रह कर रहे हैं। यही निष्कल निर्विशेषदृष्ट्या अनारम्भक है, परात्परदृष्टया अधिष्ठानात्मक आरम्भक है। परात्पर का रसभाग विश्वामृतसत्ता का आरम्भक है, परात्पर का बलभाग विश्वमर्त्यभाव का आरम्भक है। वही निष्कल परात्पर महतोमहीयान् है, वही अणोरणीयान् है। रसदृष्टया वही महतोमहीयान्रूप भूमा है। बलदृष्टया वही अणोरणीयान्रूप अणिमा है। जो भूमा है, वही अणिमा है। जो अणिमा है, वही भूमा है। भूमारस भी बलमय है, अणिमाबल भी रसमय है। सर्वथा अत्यनपिनद्ध इसी परात्पर को हम प्रकृत प्रकरण का निष्कल नामक प्रथम आरम्भक कहेंगे–जो बलात्मिका नित्या अशान्ति को अपने गर्भ में रखता हुआ भी रसात्मिका नित्या शान्ति की अपेक्षा आपूर्य्यमाण समुद्रवत् अचलप्रतिष्ठ है। वृक्ष-धिया आत्मतत्त्व की उपासना करने वालों नें इसी निष्कल परात्पर को **'ब्रह्मवन'** नाम से व्यवहृत किया है*–

जब परात्पर में बल जाग्रदवस्थापन्न हैं, एवं बलविभक्ति का ही नाम जब कला है, तो परात्पर को निष्कल कैसे माना गया ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न है। प्रासाङ्गिक उत्तर भी स्पष्ट है। कलाप्रवृत्ति चितिभाव पर निर्भर है। चितिभाव कामभाव पर निर्भर है। कामभाव हृदयभाव पर निर्भर है। हृदयभाव सीमाभाव पर निर्भर है।

---

*–**ब्रह्म वनं, ब्रह्म स वृक्ष आसीत्, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।**
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वः, ब्रह्माध्यतिष्ठद्–भुवनानि धारयन्॥
—तै०ब्रा० २।८।६।६।

जब कि परात्पर असीम है, तो ये सम्पूर्ण निर्भरताएँ उसके गर्भ में हीं विलीन हो जातीं हैं। बलों की चिति, किंवा ग्रन्थिबन्धन तो तभी सम्भव है, जबकि संचरभाव से प्रवाहित बलों को एक दूसरे से टकराने का अवसर मिले। व्यापक परात्पर में ऐसा अवसर मिलना असम्भव है। अतएव चिति भी असम्भव है। अतएव च उसका कलाभाव से सम्बन्ध नहीं होता।

५२–महाकाल परमेश्वर की सर्वारम्भकता—

निष्कल परात्पर ही आगमभाषा में **'महाकाल'–परमेश्वर'** कहलाया है। इसी के लिए श्रुतियों में पदे पदे **'अभयं वै ब्रह्म'** इत्यादिरूप से 'अभय' नाम प्रयुक्त हुआ है। यह विश्वातीत, परात्पर–परमेश्वर एक है, इसके गर्भ में अनन्त (असंख्य) ईश्वर उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं, जैसे एक एक ईश्वर के गर्भ में असंख्य जीव प्रतिष्ठित हैं। जीवों का परमेश्वर ईश्वर है, ईश्वरों का परमेश्वर परात्पर है। सर्वबलविशिष्टरसमूर्ति परात्परका बलभाग 'मृत्यु' है, यही 'अभ्व' है। रसभाग 'अमृत' है, यही 'आभू' है। बल संख्या से अनन्त (असंख्य), किन्तु दिग्देशकाल से सादि सान्त परिच्छिन्न हैं। रस संख्या से एक, किन्तु दिग्देशकाल से अनन्त–अपरिच्छिन्न है। रस एकान्ततः अपरिवर्त्तनशील है, स्थितिलक्षण है। बल परिवर्त्तनशील हैं, गतिलक्षण हैं। रस नित्य है, बललक्षण है, आनन्दरसैकघन है, पूर्ण है। बल अनित्य हैं, स्वलक्षण हैं, दुःखं–दुःखं हैं, शून्यं–शून्यं हैं। रस ब्रह्म है, बल कर्म्मरूप श्रम है। रसब्रह्म को प्रधान मानने वाला ब्रह्मानुयायी वर्ग **'ब्राह्मण'** है। बलश्रम को प्रधान मानने वाला श्रमानुयायी वर्ग **'श्रमणक'** है। अस्तिरूप रसब्रह्म के अनुयायी ब्राह्मण **'आस्तिक'** कहलाए हैं। 'नास्ति' रूप बलश्रम के अनुयायी श्रमणक **'नास्तिक'** कहलाए हैं। इसप्रकार परात्पर के अस्ति, नास्तिरूप से दो प्रकार से दर्शन हो रहे हैं। इसी आधार पर भारतीय आत्मदर्शन **आस्तिकदर्शन, नास्तिकदर्शन** भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है, जिसका भूमिका के **'आत्मपरीक्षा–खण्ड'** में विस्तार से विश्लेषण किया जाचुका है। पूर्वप्रपञ्च का निष्कर्ष यही निकलता है कि, सर्वबलविशिष्ट अखण्ड–अद्वय परात्पर का ही नाम निष्कलब्रह्म है, जिसकी **निर्विशेष, परात्पर,** इन दो विवर्त्तरूपों से भावना की जा सकती है। यही पहिला निष्कल नामक आरम्भक है।

५३–सर्वबलविशिष्ट परात्परब्रह्म, एवं सर्वबलोपपन्न पुरुषब्रह्म—

जिस निष्कल परात्परब्रह्म का पूर्व में निरूपण हुआ है, उसीके आगे जाकर सर्वबलविशिष्ट, **सर्व–बलोपपन्न,** ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। जिसप्रकार उन्मुग्धरसमूर्त्ति सच्चिदानन्दब्रह्म के **सर्वबलविरहित, सर्वबलविशिष्ट,** ये दो रूप क्रमशः निर्विशेष, परात्पर, नाम से व्यवहृत हुए हैं। एवमेव परात्परब्रह्म के उक्त दोनों विवर्त्त क्रमशः परात्पर, पुरुष, नाम से व्यवहृत हुए हैं। जैसे निर्विशेष, और परात्पर तत्त्वतः अभिन्न बतलाये गए हैं, एवमेव परात्पर, और पुरुष भी तत्त्वतः अभिन्न ही हैं। इसी आधार पर **'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्'** यह निगम व्यवस्थित हुआ है। पुरुष अवश्य उससे अभिन्न रहता हुआ परात्पर है, परन्तु स्वयं परात्पर अपने व्यापक स्वरूप से (सर्वबलविशिष्टरूपसे) कभी पुरुष नहीं है। इस मौलिक दृष्टिकोण को आधार बना कर ही 'षोडशी' नामक द्वितीय आरम्भक की मीमांसा करनी चाहिये।

५४–नव (९) अवस्थात्मक बलतत्त्व—

रसैकघन परात्परब्रह्म में जिस क्षणिक बल का अवस्थान बतलाया गया है, अमृतरस के तारतम्य से उस बल की ९ अवस्था हो जाती हैं, एवं वे ९ अवस्था यत्र तत्र उपनिषदों में–"१–शान्तिः, २–तृप्तिः,

३-प्रसादः, ४-माया, ५-कला, ६-गुणः, ७-विकारः, ८-अञ्जनम्, ९-आवरणम्" इन नामों से प्रसिद्ध हुईं हैं। इनमें से ३-३ का एक एक स्वतन्त्र विभाग है। प्रथमत्रयी में रस का प्राधान्य है, द्वितीयत्रयी मे रस-बल का साम्य है, तृतीयत्रयी में बल का प्राधान्य है। रसप्रधाना प्रथमा त्रयी 'अमृतम्' है, इसका निष्कल परात्पर से सम्बन्ध है। उभयप्रधाना द्वितीया त्रयी 'अमृतमृत्यू' है, इसका षोडशी से सम्बन्ध है। बलप्रधाना तृतीया त्रयी 'मृत्युः' है, इसका प्रतिमाषोडशी से सम्बन्ध है, जैसा कि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट है—

१	१-शान्तिः (सुप्तबलम्) तद्युक्तो शुद्धरसः	—निर्विशेषः	—अमृतम् (निष्कलः १)
	२-तृप्तिः (स्वप्नबलम्) बलत्यागानुगामी रसः	—	
	३-प्रसादः (जाग्रद्बलम्) बलविशिष्टरसः	—परात्परः	
२	१-माया (चित्याधारबलम्)-तद्युक्तोऽव्ययः—पुरुषः	सत्यस्यसत्यम	-अमृतमृत्यू (षोडशी२)
	२-कला (चितिबलम्)-तद्युक्तोऽक्षरः-पराप्रकृतिः	सत्यम्	
	३-गुणः (चिद्बलम्)-तद्युक्तः क्षरः-अपराप्रकृतिः		
३	१-विकारः (ग्रन्थ्याधारबलम्)-तद्युक्तो विश्वसृट्-यज्ञप्रजापतिः		मृत्युः (प्रतिमाषोडशी ३)
	२-अञ्जनम् (ग्रन्थिबलम्)-तद्युक्तं पुरञ्जनम्-विराट्प्रजापतिः		
	३-आवरणम् (सुप्तबलम्)-तद्युक्तं पुरम्-विश्वप्रजापतिः		

५५-षट्-बलपरिग्रहात्मक आत्मन्वी प्रजापति—

उक्त नवों बलावस्थाओं में से शान्ति, तृप्ति, प्रसाद, ये तीन अवस्थाएँ तो अचिन्त्य-अनिर्वचनीय-अविज्ञेय-सर्वबलविशिष्ट परात्पररूप निष्कलब्रह्म से युक्त रहतीं हुईं अचिन्त्य हैं। शेष ६ ओं अवस्थाएँ मायोपधि के सम्बन्ध से चिन्त्य हैं। उन तीनों का 'आत्मा' से सम्बन्ध है, इन ६ ओं का आत्मन्वी से सम्बन्ध है। रसप्रधान तत्त्व 'आत्मा' कहलाया है। बलप्रधान-परिग्रहविशिष्ट तत्त्व 'आत्मन्वी' कहलाया है। आत्मन्वी ही विज्ञानभाषा में 'प्रजापति' कहलाया है। शान्त्यादि तीनों बलावस्था बलरूपेण परिग्रहस्थानीया बनतीं हुईं भीं अचिन्त्य होने से अपरिग्रह हैं। अतः तद्युक्त निष्कल परात्पर को आत्मा ही कहा जायगा। मायादि शेष

६ अवस्थाएँ ही वास्तविक परिग्रह हैं । अतः तद्विशिष्ट आत्मा (रस) को ही आत्मन्वी (प्रजापति) माना जायगा । वही निष्कल परात्पर मायादि ६ परिग्रहों के कारण षट्संस्थ बन जाता है, जैसा कि अग्रिम परिच्छेदों से स्पष्ट हो रहा है ।

५६–'माया' परिग्रहयुक्त आत्मन्वी प्रजापति—

सबसे पहिला मायापरिग्रह है । जिस निष्कल परात्पर में प्रतिक्षण विलक्षण बल का समन्वय बतलाया गया है, वह बल **'कोशबल, मात्राबल,'** भेद से दो भागों में विभक्त है । कोशबल १६ हैं, इन कोशबलों के गर्भ में प्रतिष्ठित मात्राबल असंख्य हैं । अनन्त मात्राबलों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले कोशबलों में १५ अविद्याबल हैं, ये सृष्टिसाक्षी बनते हैं । एवं १ कोशबल विद्याबल है, और वह मुक्तिसाक्षी बनता है । विज्ञान-भाषा में ये १६ हों बलकोश क्रमशः–विद्या, मायादि, नामों से प्रसिद्ध हैं, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट है—

१—विद्या (१)	२—माया (२)		१०-सत्यम् (१)	
	३-जाया ( )	६-हृदयम् (१)	११-यज्ञम् (२)	१४-वयः (१)
	४-धारा (३)	७-भूतिः (२)	१२-अभ्वम् (३)	१५-वयोनाधः(२)
इति केवलमन्यत्	५-आपः (४)	८-यज्ञः (३)	१३-मोहः (४)	१६-वयुनम् (३)
	इति सध्रीचीनानि-चत्वारि-अन्यानि	९-सूत्रम् (४)	इति सध्रीचीनानि-चत्वारि-अन्यानि	इति सध्रीचीनानि-त्रीणी अन्यानि
		इति सध्रीचीनानि-चत्वारि--अन्यानि		
१	४	४	५	३
* बलकोशाः				

*—इन सोलहों बलकोशों का विशद वैज्ञानिक विवेचन उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका तृतीयखण्ड में देखना चाहिये । यहाँ विस्तारभिया केवल इनके नाम ही उद्धृत कर दिये गये हैं ।

१-विद्याबलम् (विभिन्नभावानामेकत्वसम्पादिनी विद्या, ततो ग्रन्थिबन्धविमोकलक्षणा मुक्तिः)।
२-मायाबलम् (एकस्यानेकत्वसम्पादिनी माया, ततः सीमाभावप्रवृत्तिः)।
३-जायाबलम् (जन्मभावप्रवर्त्तिनी जाया, ततः-उद्भवः)।
४-धाराबलम् (बलप्रवाहसञ्चालिनी धारा, ततः-बलसञ्चरः)।
५-आपोबलम् (ऋतभावप्रवर्त्तिन्यः-आपः, ततो बलव्याप्तिः)।
६-हृदयबलम् (सत्यभावप्रवर्त्तकं-हृदयम्, ततो बलसंघातः)।
७-भूतिबलम् (वित्त-पशु-प्रजा-गोत्र-वेदाभिवर्द्धिनी भूतिः, ततोऽभिवृद्धिर्बलानाम्)।
८-यज्ञबलम् (भोक्तृभोग्यसमन्वयकर्त्ता यज्ञः, ततो बलानामन्नान्नादभावः)।
९-सूत्रबलम् (स्थिरभोग्येषु भोक्तुराक्रान्तिप्रवर्त्तकं सूत्रम्, ततो—बलानां बलेषु व्याप्तिः)।
१०-सत्यबलम् (ज्ञानक्रियार्थसंयोजकं सत्यम्, ततो नामरूपप्रतिष्ठा)।
११-यक्षबलम् (रूपात्मिकाविभक्तेः प्रवर्त्तकं यक्षम्, ततो बलानामभिव्यक्तयः)।
१२-अभ्वबलम् (अमृते मृत्युप्रवेशकं बलमभ्वम्, ततोऽसतः सद्रूपेणावस्थानम्)।
१३-मोहबलम् (अभावे भावबुद्धिप्रवर्त्तको मोहः, ततो बलानामध्यासाः)।
१४-वयोबलम् (द्रव्यगुणकर्म्मप्रवर्त्तकं वयः, ततो भावप्रतीतिः)।
१५-वयोनाधबलम् (भावानां सीमाप्रवर्त्तको वयोनाधः, ततः-आकारप्रतीतिः)।
१६-वयुनबलम् (ज्ञाने विषयसंसर्गप्रवर्त्तकं वयुनम्-ततः-भूतप्रतीतिः)।

\+ \+ \+

शान्ति, तृप्ति, प्रसाद, इन तीन अचिन्त्य बलावस्थाओं का तो मुक्तिप्रवर्त्तक विद्याबल से सम्बन्ध है। एवं शेष मायादि षट्-परिग्रहों का शेष माया-जायादि पञ्चदश अविद्याबलों से सम्बन्ध है। इन १५ अविद्या-बलों में से जाया-धारा-आदि चौदह अविद्याबल मायाबल के गर्भ में प्रतिष्ठित है। अतएव इन पञ्चदशबल-कोशों में मायाबलकोश ही सर्वप्रधान माना गया है। परात्परसमुद्र में ऐसे असंख्य मायाबलकोश हैं—जिस प्रत्येक मायाबलकोश में अनन्त मायाबलगर्भित चतुर्दश चतुर्दश बलकोश प्रतिष्ठित हैं। परात्पर के जिस प्रदेश में मायाबल का उदय होता है, तत्प्रदेश सीमित हो जाता है। मायासीमित मायी वही परात्पर सर्वबलोपपन्न परात्पर कहलाया है, जो मायातीत सर्वबलविशिष्ट निष्कल परात्पर से अभिन्न है। इसप्रकार अमायी, मायी, भेद से एक ही परात्पर के सर्वबलविशिष्ट निष्कल परात्पर, सर्वबलोपपन्न निष्कल परात्पर, ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। और सब दृष्टियों से दोनों निष्कल परात्पर समतुलित हैं। अन्तर केवल यही है कि, मायातीत परात्पर केवल परात्पर है, एवं वह संख्या में एक है। परन्तु मायी परात्पर मायापुर के सम्बन्ध से 'परात्परपुरुष' है, एवं मायानन्त्य से वह अनन्त (असंख्य) है। अमायी परात्पर 'ब्रह्मवन' है, मायी परात्परपुरुष ब्रह्मवृक्ष है, जिसे 'अश्वत्थवृक्ष' कहा गया है, एवं जिसका भक्तिपरीक्षा उत्तरखण्ड में विस्तार से विश्लेषण हुआ है, एवं जिसका निम्न लिखित शब्दों में उपवर्णन हुआ है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

मायाप्रकृतिमात्र से युक्त मायी परात्पर क्योंकि स्वस्वरूप से निष्कल है, वैविध्य का अभाव है, अतएव यह 'अव्यय' नाम से व्यवहृत हुआ है । कलाभाव बलचिति पर निर्भर है, बलचिति हृद्बलसापेक्षा है । हृद्बल अक्षरव्यापारसापेक्ष है । यह ठीक है कि, मायाबल के सम्बन्धमात्र से तत्परिच्छिन्न मायी पुरुष में हृदय–बलानुगत अक्षरव्यापार आरम्भ हो जाता है । चिति का उपक्रम हो जाता है, तथापि इस व्यापार से प्रथमा–वस्थापन्ना, मायोदय से उत्तरावस्थापन्ना निर्व्यापारात्मिका, अतएव कलात्मिका चिति से असंस्पृष्टा जो परात्परा–वस्था है, उसे निष्कल ही माना जायगा । यही निष्कल परात्परपुरुष इसी कलाभावविरह से एकरस रहता हुआ **'न वैविध्यमेति'** निर्वचन से 'अव्यय' कहलाया है । यही आगे जाकर हृद्बलरूप अक्षरव्यापार का आधार बनता हुआ कलासर्गप्रवृत्ति का कारण बनता है । दूसरे शब्दों में विशुद्धभावात्मक (ज्ञानात्मक) इसी निष्कल अव्यय से कला नाम के दूसरे परिग्रह से कलासर्ग का उपक्रम होता है । कलानुगता माया योगमाया कहलाई है । खण्ड–खण्डात्मिका माया उस आदिमाया से युक्त रहती हैं, अतएव इन्हें 'योगमाया' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है । इन यच्चयावत् योगमायाओं का आधार आदिमाया है, वह इन सब की अपेक्षा महती है, अतएव उसे 'महामाया' कहना अन्वर्थ बनता है । निष्कर्ष यही हुआ कि, सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति अमायी–असीम निष्कल परात्पर के यत्किञ्चित् जिस प्रदेश में माया परिग्रह का उदय हुआ । वह मायामय सर्वबलो–पहित, कलाभावशून्य, अतएव निष्कल–अव्यय नाम से प्रसिद्ध, महामाया सम्बन्ध से **'महेश्वर'** नाम से उपवर्णित, कलासर्गप्रवर्त्तक अखण्ड, अश्वत्थवृक्षात्मक तत्त्व ही परात्परपुरुष है, जिसे हम अपनी भाषा में **'परमात्मा'** कह सकते हैं । अमायी परात्परापेक्षया मायोपाधिक परमात्मा मायाभेद से अनन्त हैं । सर्वबल–विशिष्टरसमूर्त्ति अमायी परात्पर को एक निःसीम पट समझिए । इस पर बिन्दुरूपाकाराकारित असंख्य परमात्मा समझिए । उदाहरण के लिए एक श्वेत पत्र पर छोटे छोटे वृत्त बना दीजिए । वृत्तात्मिका रेखा हि–**'लेखा हि पुरः'** (शत० ६।३।३।२५।) के अनुसार भातिसिद्ध–कल्पित–रेखात्मक पुर (सीमा) है । रेखा केवल भातिसिद्ध है । सत्तादृष्ट्या अवारपारीण उस एक ही अखण्ड अमायी पत्र का साम्राज्य है । यदि रेखात्मक पुर से अवच्छिन्न वृत्तों पर दृष्टि डाली जाती है, तो वे पृथक् पृथक् से प्रतीत होते हैं । पृथक्‌रूप से प्रतीयमान ये मायोपाधिक परात्परपुरुष ही महेश्वर हैं । निम्न लिखित वचन एवं परिलेख मायापरिग्रहविशिष्ट इसी निष्कल परात्परपुरुष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं—

१–न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

—मुण्डकोपनिषत् ३।१।८।

२–न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरञ्च ।
एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ॥
समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ॥

—कैवल्योपनिषत् २।२३, २४,।

३–मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ श्वेताश्वरोपनिषत् ४।१०।

४–भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ श्वे० उप० ५।१४।

५–तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्तात्-विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ श्वे० ६।७।

६–सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ गी० भा० पू० १।२६।

७–ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ गी० १५।१।

८–उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥—गी० १३।२२।

५७–'कला'–परिग्रहयुक्त आत्मन्वी प्रजापति—

जिस प्रकार निष्कलब्रह्म के सर्वबलविरहितरस, सर्वबलविशिष्टरस, भेद से **'निर्विशेष, परात्पर'** ये दो विवर्त्त हैं । परात्पर नामक निष्कलब्रह्म के सर्वबलविशिष्ट, सर्वबलोपपन्न, भेद से **परात्पर, पुरुष** (अव्यय) ये दो विवर्त्त हैं, एवमेव सर्वबलोपपन्न पुरुष (परात्परपुरुषरूप महेश्वर) के सर्वबलोपपन्न, सर्वधर्म्मविशिष्ट भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं । सर्वबलोपपन्न महेश्वर अव्ययपुरुष नाम से प्रसिद्ध है, एवं सर्वधर्म्मविशिष्ट महेश्वर षोडशी नाम से प्रसिद्ध है । षोडशी की ही मायापरिग्रहमात्रावच्छिन्ना अवस्था अव्ययमहेश्वर है, षोडशी की ही कलापरिग्रहावच्छिन्ना अवस्था षोडशीमहेश्वर है । साथ ही यह और स्पष्ट कर लीजिए कि, परात्पर के गर्भ में परात्परपुरुषरूप जिन असंख्य महेश्वरों की भुक्ति बतलाई गई है, उनमें प्रत्येक में माया–कला–गुण–विकारादि ६ ओं चिन्त्य परिग्रहों का वैसा ही समन्वय है, जैसा समन्वय प्रकृत में केवल एक मायापरिग्रह से युक्त एक महेश्वर की संस्था के साथ बतलाया जायगा । अनन्त महेश्वरों में से केवल एक महेश्वर को लक्ष्य मान कर ही हमें आगे की प्राजापत्यसंस्थाओं का समन्वय करना है । अमायी सर्वबलविशिष्ट रसमूर्त्ति निष्कल परात्पर के जिस प्रदेश में मायाबल का उदय हुआ, तदवच्छिन्न रसबलात्मक मायीप्रदेश निष्कल अव्यय कहलाया, यहाँ तक एक स्थिति का विश्लेषण हुआ । अब आगे क्या हुआ !, इस प्रश्न की मीमांसा कीजिए ।

मायासीमा के उदित होते ही मायावच्छिन्न परात्पर (पुरुष) प्रदेश में परिधि, केन्द्र, ये दो भाव प्रादुर्भूत हो गए । परिधि में व्याप्त रसबल शरीर है, केन्द्रावच्छिन्न रसबल आत्मा है । इसप्रकार मायोदय-मात्र से इस मायी पुरुष में शरीर, आत्मा, ये दो भाव उत्पन्न हो गए । अतएव यह मायीमहेश्वर आत्मन्वी

(शरीरविशिष्ट आत्मा, प्रजापति) कहलाया। इस से पहले केवल आत्मा ही आत्मा था। माया के अभाव से हृदय, और परिधिरूप आत्मा, तथा शरीर, इस द्वैतभाव का अभाव था। अमायी में हृदय नहीं था, इसका तात्पर्य्य है-कोई नियत हृदय नहीं था, अपितु वह सम्पूर्णरूप से हृदयरूप ही था। महान् और अणु का पार्थक्य न था। जो ही महान् था, वही अणु था। परन्तु मायीपुरुष में केन्द्रावच्छिन्न वही तत्त्व आत्मा बन गया, परिध्यवच्छिन्न वही तत्त्व शरीर (आत्ममहिमा) बन गया। परिधिमण्डल में भी वही रस बल, हृदय में भी वही रसबल, रसबल से अतिरिक्त और तीसरा तत्त्व आयेगा कहाँ से। हृदयावच्छिन्न आत्मरूप रसबलसमष्टिलक्षण तत्त्व ही 'श्वोवसीयस्' नामक मन (अव्ययमन) कहलाया, जिसका तैत्तिरीय में-'**तदेतच्छ्वोवस्यसं ब्रह्म**' (तै० ब्रा० २।२।६।१०।) इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है। यही काममय मन, किंवा अव्ययमनोऽनुगत कामभाव सृष्टि का प्रथम 'रेत' माना गया है *।

मायाबल के उदित होते ही हृदयबल उत्पन्न हो जाता है। इस हृदयरूप हृदयबल का ही नाम 'प्रकृति' है। हृदयावच्छिन्न पुरुष स्थितिरूप है, हृदयबलरूपा प्रकृति गतिरूपा है। दोनों सदैव प्रादुर्भूत हैं-'**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धि-अनादी उभावपि**'। गतिरूपा इस प्रकृति के गतिपञ्चकभेद से स्थिति, गति, आगति, स्थितिगर्भिता गति, स्थितिगर्भिता आगति, ये पाँच विवर्त्त हो जाते हैं। पुरुष भी रसबलात्मक है, हृदयबलरूपा प्रकृति भी रसबलात्मिका है। दोनों के स्वरूप में अन्तर यही है कि, पुरुष बलगर्भितरसप्रधान है, प्रकृति रसगर्भितबलप्रधाना है। रसप्रधान पुरुष स्थितिप्रधान है, बलप्रधाना प्रकृति गतिप्रधाना है। बलप्रधाना इस प्रकृति में रस और बल दोनों हैं। अतएव आगे जाकर इसके भी दो विवर्त्त हो जाते हैं। बलगर्भिता रसप्रधाना प्रकृति रसप्रकृति है, रसगर्भिता बलप्रधाना प्रकृति बलप्रकृति है। रसप्रधाना प्रकृति रसप्रधान-पुरुष की अनुग्राहिका है, बलप्रधाना प्रकृति बलप्रधानपुरुष की अनुग्राहिका है। रसप्रकृतिविशिष्ट रसपुरुष मुक्तिप्रवर्त्तक बनता है, बलप्रकृतिविशिष्ट बलपुरुष सृष्टिप्रवर्त्तक बनता है।

रसप्रधान वही पुरुष अमृतपुरुष है, यही परपुरुष है। बलप्रधान वही पुरुष मृत्युपुरुष है, यही अपरपुरुष है। रसप्रधाना वही प्रकृति अमृता प्रकृति है, परपुरुषानुगता वही प्रकृति पराप्रकृति है। बलप्रधाना वही प्रकृति मर्त्याप्रकृति है, अपरपुरुषानुगता वही प्रकृति अपराप्रकृति है। इसप्रकार रस-बल के तारतम्य से बलप्रधाना-गतिलक्षणा प्रकृति के परा, अपरा, भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। जो पञ्चगति-विभाग पराप्रकृति के हैं, वे ही अपरा के हैं। जो नाम पराप्रकृति के पञ्चविभागों के हैं, वे ही नाम अपरा-विभागों के हैं। गतिसमष्टिरूप स्थिति नामक प्रथम विभाग ब्रह्मा नाम से, गतिविभाग इन्द्र नाम से, आगति विभाग विष्णु नाम से, स्थितिगर्भित गतिविभाग अग्नि नाम से, एवं स्थितिगर्भित आगतिविभाग सोम नाम से व्यवहृत हुआ है। ये ही पाँच विभाग अपराप्रकृति के हैं। इसप्रकार हृदयबलरूप रस-बलात्मक, गतिलक्षण एक ही प्रकृतितत्त्व के आरम्भ में परा, अपरा, दो विभाग, एवं अवान्तर विभागदृष्ट्या दस विभाग हो जाते हैं। यही दशकल विराट्-लक्षण प्रकृतितत्त्व है, जिसका आगमशास्त्र में 'दशमहाविद्या'

---

* **कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।**
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

—ऋक् सं० १०।१२६।४।

रूप से विश्लेषण हुआ है, एवं जिसके इन दसों विवर्त्तों का भक्तिपरीक्षा–उत्तरखण्डान्तर्गत 'निदानविद्यारूप-प्रथमोपाख्य' प्रकरण में विस्तार से विवेचन किया जा चुका है। प्रकृति के गत्यादि पञ्चभावों के समन्वय के लिए तत्प्रकरण पर एक बार अवश्य दृष्टि डाल लेनी चाहिए। विस्तारभय से यहाँ उन प्रकृति–पुरुष कलाओं के नाम मात्र उद्धृत कर दिए गए हैं।

हृदयबलात्मिका अमृता प्रकृति **'अक्षर'** है, मर्त्या प्रकृति **'क्षर'** है। क्षरगर्भित अक्षर ही **'चितिं करोति, चिनोति या सा, चीयते अनया सा'** निर्वचन से 'चेतना' है। हृदयावच्छिन्न आत्मरूप रसप्रधान मनोमय पुरुष सीमित बनता हुआ **'एकोऽहं बहु स्याम्'** कामना से युक्त हो जाता है, जिस कामना का–**'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'** (ऋक्सं० १०।१२६।४।) इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है। यह कामना रस-बल के तारतम्य से बलगर्भिता **रसकामना**, रसगर्भिता **बलकामना**, भेद से दो भागों में विभक्त हो जाती है। रसकामनाद्वारा हृदयबलरूपा रसप्रधाना क्षरगर्भिता अक्षरप्रकृति से हृदयस्थ मनोमय पुरुष पर परिध्यवच्छिन्न-बलगर्भित रस की चिति होती है, बलकामना के द्वारा हृदयबलरूपा बलप्रधाना अक्षरगर्भिता क्षरप्रकृति से रसगर्भित बल की चिति होती है। रसकामना **मुमुक्षा** नाम से, बलकामना **सिसृक्षा** नाम से व्यवहृत हुई है। मुमुक्षाकामानुगता रसचिति **सहचरबलयुक्ता–रसचिति, सुप्तबलयुक्ता-रसचिति**, भेद से दो भागों में विभक्त रहती है, यही अन्तश्चितिद्वयी है। यही मुक्ति का आलम्बन है। सिसृक्षानुगता बलचिति **जाग्रद्रसयुक्ता–बलचिति, सुप्तरसयुक्ता–बलचिति**, भेद से दो भागों में विभक्त रहती है, यही बहिश्चितिद्वयी है। यही सृष्टि का आलम्बन है। उभय चिति के मध्य में प्रतिष्ठित, उभयचित्य-वच्छिन्न मनोमय पुरुष ही इन चारों चितियों से चिदात्मा बन रहा है। इसप्रकार आरम्भ में निष्कल बना रहने वाला पुरुष प्रकृतिद्वारा होने वाली कलात्मिका चितियों से पञ्चकल चिदात्मा बन जाता है। इस कला-प्रवृत्ति का श्रेय बल की चिति–अवस्था को ही है, जो तृतीय अवस्था मानी गई है। सुप्तबलावस्था निर्विशेष से सम्बन्ध रखती थी, जाग्रद्रूप सहचरबलावस्था परात्पर से सम्बन्ध रखती थी, एवं चितिरूपा बलावस्था इस मायीपुरुष से सम्बन्ध रख रही है (६७ पृ०)। सुप्तबलयुक्ता रसचिति **'आनन्द' है**, सहचरबलयुक्ता रसचिति **'विज्ञानम्'** है। आनन्द, विज्ञानचिति ही रसचिति है, यही अन्तश्चिति है, यही क्षरगर्भित-अक्षरानुगत मुक्तिसाक्षी अव्ययात्मा है, यही परपुरुष है, तदनुगता पराविद्या ही अक्षरविद्या है, यही आगमविद्या है, जिसका आगमशास्त्र में विश्लेषण हुआ है। जाग्रद्रसयुक्ता बलचिति **'प्राणः'** है, सुप्तरसयुक्ता बलचिति **'वाक्'** है। प्राणवाक् चिति ही बलचिति है, यही बहिश्चिति है, यही अक्षरगर्भित-क्षरानुगत सृष्टिसाक्षी अव्ययात्मा है, यही अपरपुरुष है, तदनुगता अपराविद्या ही क्षरविद्या है, यही निगमविद्या है, जिसका निगमशास्त्र में विश्ले-षण हुआ है *। इन चारों कलाओं के मध्य में मनोमय तत्त्व प्रतिष्ठित है, जिसका 'देहलीदीपकन्याय' से उभय चितियों से सम्बन्ध है। आनन्दविज्ञानघन वही अव्ययात्मा **ज्ञानात्मा** है, यही संकेतभाषा में **'विद्या'** कहलाया है। मनोरूप अव्ययात्मा **'कामात्मा'** है, यही **'काम'** है। प्राणवाग्रूप वही अव्ययात्मा **कर्म्मात्मा** है, यही **'शुक्रम्'** है। प्रकारान्तरेण आनन्दविज्ञानमनोरूप, क्षरगर्भित अक्षरानुगत वही अव्ययात्मा मुक्ति-साक्षी है। मनःप्राणवाग्रूप, अक्षरगर्भित क्षरानुगत वही अव्ययात्मा सृष्टिसाक्षी है। आनन्दः 'आनन्दः' है।

---

* देखिए, भक्तिपरीक्षा उत्तरखण्ड–निदानप्रथमोपाख्यान्तर्गत 'निदानक्षेत्रभूत–निगमागमपुरुष' नामक परिच्छेद।

विज्ञानं चित् है, मनः-प्राण-वाक्-की समष्टि 'सत्' है। एवं यही सच्चिदानन्दब्रह्म, है, यही उद्बुद्ध सच्चिदानन्दब्रह्म है, जो उन्मुग्ध सच्चिदानन्दरसैकघन अमायी निष्कल परात्पर से अभिन्न है।

तत्त्व यही निकला कि, कलापरिग्रहसहयोग से हृदयबलात्मिका पराप्रकृति (अक्षर) पञ्चकला बन गई, अपराप्रकृति पञ्चकला बन गई, दोनों के व्यापार से होने वाली अन्तश्चिति-बहिश्चिति से केन्द्रानुगत मनोमयपुरुष भी पञ्चकल बन गया। सम्भूय मायी-हृदयबलावच्छिन्न पुरुष अपने ही रस-बलों के चितिभावों से पञ्चदशकल बन गया। इन १५ हों कलाओं की मूल प्रतिष्ठा स्वयं निष्कल मायी परात्पर पुरुष बना, जिसे पूर्व में हमनें कलासर्गप्रवर्त्तक बतलाया है। स्मरण रहे, ये कलाभाव भावात्मक है। क्योंकि **'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः'** (गी० १०।५।) के अनुसार अव्ययसृष्टि (कलासृष्टि) भावसृष्टि ही कहलाई है। संसृष्टिलक्षणा सृष्टि ही वास्तविक सृष्टि है, जिसे गुण-विकार सृष्टि कहा जाता है, एवं जिसका स्पष्टीकरण अनुपद में ही होने वाला है। बलों की ग्रन्थिबन्धनावस्था नाम की एक अवस्था अभी शेष है (६७ पृ०)। उसीका सृष्टि (मैथुनीसृष्टि) से सम्बन्ध है। भावप्रधाना पुरुषसृष्टि तो तत्त्वतः आत्मसृष्टिकोटि में आती हुई असृष्टिरूपा मानसीसृष्टि ही मानी गई है। हृदयबलोद्भव से पूर्वावस्थापन्न, मायाबलोदय से उत्तरावस्थापन्न जो विशुद्ध-निष्कल परात्पर पुरुष है, वही इन १५ कलाभावों का आधार है। परात्परपुरुष अमात्रलक्षणा **अर्द्धमात्रा** है, अखण्ड मात्रा है, तुरीयपद है, विशेषतः अनुच्चार्य्या है। तत्र प्रतिष्ठित पञ्चकल अव्यय **अकार** है, तदनुगत पञ्चकल अक्षर (पराप्रकृति) **उकार** है, तदनुगत तदभिन्न पञ्चकल क्षर (अपराप्रकृति) मकार है, समष्टि ओङ्कार है। परात्परपुरुष परात्पर है, पञ्चकल अव्ययपुरुष पुरुष है, उभयप्रकृति प्रकृति है। परात्पर, पुरुष, प्रकृतिविशिष्ट सकलतत्त्व (षोडशीकलतत्त्व) ही षोडशीप्रजापति है। यही षोडशीपुरुष विश्व का दूसरा आरम्भक है। परात्पराविनाभूत अव्यय विश्व का अधिष्ठान (आलम्बन कारण-असमवायिकारण) है, अक्षर निमित्तकारण है, क्षर समवायिकारण (उपादानकारण) है। यही योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप का प्रथम दृष्टिकोण है। योगमायात्मिका षोडशकला ही इस षोडशी-योगेश्वर की मूलप्रतिष्ठा है। निम्न लिखित वचन इसी षोडशी महेश्वर का स्वरूप-स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१—यस्माज्जातं न पुरा किं च नैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥ यजुः ३२।५।

२—यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥ यजुः ८।३६।

३—"षोडशकलः सोम्य ! पुरुषः" (छा० उप० ६।७।१।)।

४—"इहैवान्तः शरीरे सोम्य ! स पुरुषः, यस्मिन्नेताः षोडशकला प्रभवन्ति॥
—प्रश्नोपनिषत् ६।२।

'य आविवेश भुवनानि विश्वा' वाक्य को लक्ष्य बनाइए। वह स्वयं षोडशी है, एवं वह षोडशी भुवनों में प्रविष्ट है। वे भुवन कौन से, जिनमें वह प्रविष्ट है, जिस भुवनप्रवेश का गीता ने भी-**'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः'** (गीता १५।१७।) रूप से समर्थन किया है ?, प्रश्न का उत्तर

है—प्रतिमाषोडशी, जिसका अनुपद में हीं विश्लेषण होने वाला है। अभी इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, इन पाँच पर्वों की समष्टि सप्तभुवनात्मक एक भुवन है। उस षोडशी के गर्भ में ऐसे एक सहस्र भुवन हैं, जिस साहस्री का मूलकारण वेद-लोक-वाक् नाम के तीन सहस्र विवर्त्त माने गए हैं *। अन्य निबन्धों में प्रतिपादित साहस्रीविज्ञान के सम्बन्ध में प्रकृत में यही जान लेना अलं होगा कि, महामायावच्छिन्न हृदयस्थ षोडशीप्रजापति का केन्द्र से परिधिपर्य्यन्त अर्क (रश्मि) रूप से वितान होता है। इन आत्माओं से मायामण्डल उसी प्रकार परिपूर्ण रहता है, जैसे सौरमण्डल में सूर्य्यकेन्द्र से विनिर्गत रश्मियाँ व्याप्त रहतीं हैं। इसी परिपूर्ण रश्मिभाव का वैज्ञानिकों नें कारणविशेष से सहस्र संख्या पर अवसान मान लिया है। प्रतिरश्मि में केन्द्रस्थ षोडशी की अभिव्याप्ति है। रश्म्यवच्छिन्न षोडशी ही प्रतिमाषोडशी है। यही 'उपेश्वर' कहलाया है। जिस प्रकार एक परमेश्वर (अमायी परात्पर) के गर्भ में अनन्त महेश्वर (षोडशी) हैं, एवमेव प्रत्येक महेश्वर के गर्भ में एक एक सहस्र उपेश्वर हैं। वृक्षधिया महेश्वर अश्वत्थवृक्षेश्वर है, तो शाखाधिया उपेश्वर बल्शेश्वर है। एक सहस्र बल्शेश्वरावच्छिन्न एक सहस्र भुवनों में वह अश्वत्थब्रह्म प्रविष्ट है, 'य आविवेश भुवनानि विश्वा' से इसी स्थिति का विश्लेषण हुआ है। इसी सहस्रबल्शाव्याप्ति का निम्न-लिखित वचन, तथा परिलेख से स्पष्टी करण हो रहा है।

त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रबल्शमभि सं चरन्ति।
यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उपसेदुर्वसिष्ठाः॥ ऋक्सं० ७।३३।६।

---

* **सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत्।**
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥
किं तत्सहस्रमिति ?-इमे लोकाः, इमे वेदाः अथो वागिति ब्रूयात्…।
—उपनिषद्भूमिका में इस विषय का वैज्ञानिक विश्लेषण देखना चाहिए।

१ — ❀ सर्वबलोपपन्नो निष्कलः परात्परपुरुषः] —परात्परः–अर्द्ध मात्रा, (१)

२

- १–आनन्दः (१)–सुप्तबलयुक्ता रसचितिः
- २–विज्ञानम् (१४)–सहचरबलयुक्ता रसचितिः
  - } –ज्ञानात्मा (विद्या)
- ३–मनः (१३)–चितीनामाश्रयः]— कामात्मा (कामः)
- ४–प्राणः (१२)–जाग्रद्रसयुक्ता बलचितिः
- ५–वाक् (११)–सुप्तरसयुक्ता बलचितिः
  - } —कर्म्मात्मा (शुक्रम्)

} (२) –पञ्चकलोऽव्ययः– आलम्बनम् (पुरुषः) (अकारः)

३

- १–अमृतो ब्रह्मा (१०)-गतिसमष्टिलक्षणा गतिः
- २–अमृतो विष्णुः (६)–विशुद्धा आगतिः
- ३–अमृत इन्द्रः (८)–विशुद्धा गतिः
  - } —अन्तर्य्यामी
- ४–अमृतोऽग्निः (७)–स्थितिगर्भिता गतिः
- ५–अमृतः सोमः (६)-स्थितिगर्भिता आगतिः
  - } —सूत्रात्मा

} (३) —पञ्चकलोऽक्षरः– निमित्तम् (पराप्रकृतिः) (उकारः)

४

- १–मर्त्यो ब्रह्मा (५)–गतिसमष्टिलक्षणा प्रतिष्ठा
- २–मर्त्यो विष्णुः (४)–आगतिरूपा अशनाया
- ३–मर्त्य इन्द्रः (३)–गतिरूपो विक्षेपः
  - } —विश्वाधारः
- ४–मर्त्योऽग्निः (२)–उत्क्षेपणरूपो विकासः
- ५–मर्त्यः सोमः (१)–स्तम्भनरूपः संकोचः
  - } —विश्वम्भरः

} (३) —पञ्चकलः क्षरः— आरम्भकः (अपराप्रकृतिः) (मकारः)

] स एष परात्पर–प्रकृतिविशिष्टः पुरुषः षोडशकलो मायी महेश्वरः— षोडशी

५८–'गुण'–परिग्रहयुक्त आत्मन्वी सत्यप्रजापति, एवं 'विकार'–परिग्रहयुक्त आत्मन्वी यज्ञप्रजापति—

निष्कल, षोडशी, इन दो आरम्भणों के अतिरिक्त 'प्रतिमाषोडशी' शेष रह जाते हैं। दो शब्दों में इनके स्वरूप की भी मीमांसा कर लीजिए। स्मरण कीजिए मायादि षट्परिग्रहों का, जिनका पूर्व में उल्लेख हुआ है। मायापरिच्छेद से मायी, किन्तु निष्कल परात्परपुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, कलापरिग्रह से सकल षोडशी का प्रादुर्भाव हुआ, यही सहस्रवल्शात्मक अश्वत्थमूर्त्ति महेश्वरप्रजापति कहलाया। परात्परोपेत प्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही सकल (षोडशकल) महेश्वर कहलाया। अब क्रमप्राप्त गुण, विकार, नाम के तीसरे चौथे परिग्रहों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

बतलाया गया है कि, षोडशीपुरुष की अक्षर–क्षर नाम की दो प्रकृतियाँ हैं। आनन्दमनोविज्ञानरूप, रसचितिलक्षण, मुक्तिसाक्षी, परपुरुष से अनुगृहीत अक्षर पराप्रकृति है। एवं मनःप्राणवाग्रूप, बलचिति-लक्षण, सृष्टिसाक्षी, अपरपुरुष से अनुगृहीत आत्मक्षर अपराप्रकृति है। महामाया के गर्भ में प्रतिष्ठित कलापरिग्रह योगमायात्मक है। महामाया जहाँ गुणातीता है, वहाँ कलानुगता योगमाया गुणत्रयावच्छिन्ना है। गुणत्रयात्मिका योगमाया के सत्त्व–रज–स्तमो–गुण हीं 'गुण' नामक आत्मपरिग्रह हैं। कलासर्गात्मक पुरुषसर्ग में गुणत्रय उन्मुग्ध रहते हैं। गुणसर्गात्मक प्रकृतिसर्ग में ही गुणत्रय का उद्बोधन होता है। अतएव प्रकृति को ही गुणसर्ग की अधिष्ठात्री माना गया है। अक्षररूपा पराप्रकृति ही इस गुणत्रयी की जननी है। दूसरा है विकारपरिग्रह। गुणपरिग्रहात्मक अक्षर से संश्लिष्ट मर्त्यब्रह्मादिपञ्चकलोपेत क्षर विपरिणामी है। इसी से विकारपरिग्रह का उदय हुआ है। क्षर की मर्त्य ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम, इन पाँच मर्त्यकलाओं से क्रमशः–प्राणः, आपः, वाक्, अन्नादः, अन्नम, ये पाँच विकार उत्पन्न होते हैं। जब तक त्रैगुण्य का विकास नहीं होता, तब तक विकारोत्पत्ति को अवसर नहीं मिलता। अक्षर–द्वारा गुणत्रयी के उद्भूत होते ही क्षरद्वारा पाँच विकार उत्पन्न हो जाते हैं। यह पञ्चविकारसमष्टि ही पहिली भूतसृष्टि है। गुणत्रयी के आधार पर उत्पन्न होने से ही यह प्राणादिपञ्चकरूपा विकारसृष्टि 'गुणभूत' नाम से व्यवहृत हुई है। सांख्यपरिभाषा में यह गुणभूत ही 'पञ्चतन्मात्रा' नाम से व्यवहृत हुआ है। प्राण **शब्दतन्मात्रा** है, आपः **स्पर्शतन्मात्रा** है, वाक् **रूपतन्मात्रा** है, अन्नादः **गन्धतन्मात्रा** है, अन्नं **रसतन्मात्रा** है। इसप्रकार प्रकृति के अक्षरभाग से गुणत्रयरूप गुणसर्ग का विकास हो जाता है, एवं प्रकृति के क्षरभाग से गुणभूतात्मक विकारसर्ग का विकास हो जाता है। कलासर्गात्मक भावसर्ग के अधिष्ठाता पुरुष (अव्यय) के आधार पर ही प्रकृति के द्वारा इन दोनों परिग्रहसर्गों का प्रादुर्भाव हुआ है, जैसाकि—"**विकारांश्च, गुणांश्चैव-विद्धि प्रकृतिसम्भवान्**," (गीता० १३।१९।) इत्यादि वचन से प्रमाणित है।

१—अव्ययः (पुरुषः)——कलासर्गप्रवर्त्तकः (भावसृष्टिः-अव्ययसृष्टिः)
२—अक्षरः-(पराप्रकृतिः)—गुणसर्गप्रवर्त्तकः (गुणसृष्टिः–अक्षरसृष्टिः)
३—क्षरः-(अपराप्रकृतिः)——विकारसर्गप्रवर्त्तकः (विकारसृष्टिः-क्षरसृष्टिः)

} **—षोडशी-सर्गः**

अक्षरद्वारा प्रादुर्भूता गुणसृष्टि से युक्त होकर वही षोडशीप्रजापति 'सत्यप्रजापति' कहलाने लगता है। एवं क्षरद्वारा प्रादुर्भूता विकारसृष्टि से युक्त होकर वही सत्यप्रजापति 'यज्ञप्रजापति' कहलाने लगता है। इसप्रकार गुण-विकारपरिग्रह से दो प्राजापत्य-संस्थाओं का जन्म और हो जाता है। सत्यप्रजापति, और यज्ञप्रजापति के स्वरूप का थोड़ा विश्लेषण करना पड़ेगा। 'सहृदयं सशरीरं सत्यम्' ही सत्यं का तात्त्विक लक्षण है। पूर्वपरिच्छेद में बतलाया गया है कि, ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, तीनों की समष्टि तो अन्तर्य्यामी है, एवं अग्नि-सोमसमष्टि सूत्रात्मा है। विष्णु आहरण करता हुआ 'हृ' है, इन्द्र विष्णु के द्वारा आगत वस्तु को खण्डरूप में परिणत कर बाहिर फैंकता हुआ 'द' है। आदानकर्म्माधिष्ठाता विष्णु 'आहरति' निर्वचन से 'हृ' है। विसर्गकर्म्माधिष्ठाता इन्द्र 'द्यति' निर्वचन से 'द' है। हृ-द, दोनों आदानविसर्गभावों का नियमन करने वाला स्थितिलक्षण ब्रह्मा 'यमयति' निर्वचन से 'यम्' है। 'हृ-द-यम्' रूप विष्णु-इन्द्र-ब्रह्मा की समष्टि ही 'हृदयम्' है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड में 'हृदय-पृष्ठ' भेद से दो विभाग रहते हैं। केन्द्रबिन्दु हृदय है, केन्द्राधार पर प्रतिष्ठित भूतपिण्ड (वस्तुपिण्ड) पृष्ठ है। केन्द्ररूप हृदय ही वस्तु का अन्तःस्थान है। अन्तःस्वरूप इसी हृदय (केन्द्र) में हृ-द-यम्-रूप-विष्णु-इन्द्र-ब्रह्मा नामक आगति-गति-स्थिति-तत्त्वों की प्रतिष्ठा है। यही तत्त्वत्रयी हृदय में हृ-द-यम्-रूप से (आदान-विसर्ग-प्रतिष्ठारूप से) प्रतिष्ठित रहती हुई पृष्ठपिण्ड का नियमन करती है। अतएव 'अन्तस्तिष्ठन्-हृदये-हृ-द-यं-रूपेणावस्थितः-सन्-नियमयति 'वस्तुपृष्ठं' निर्वचन से यह तत्त्वत्रयी 'अन्तर्य्यामी' नाम से व्यवहृत हुई है। पृष्ठ इन्द्राग्नीषोमात्मक है, यही सूत्रात्मा है। इन्द्र और अग्नि सत्यसूत्र है, सोम ऋतसूत्र है। उभयसूत्रात्मक पिण्डात्मा ही सूत्रात्मा है। ब्रह्माविष्णुइन्द्र की समष्टि हृदयं है, यही अन्तर्य्यामी है, यही नियतिचरब्रह्म है। सब इसी की चर्य्या से आक्रान्त हैं। प्रत्येक पृष्ठ का अन्तर्य्यामी तदनुरूपता से पृष्ठ का संचालन किया करता है। सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-ग्रह-नक्षत्र-मनुष्य-पशु-पक्षी-आदि सब हृदयस्थ-हृदयमूर्त्ति इसी अन्तर्य्यामी के नियतिदण्ड से दण्डित हैं। इसी महद्भय से सब अपने अपने नियत कर्म्मों में आरूढ हैं *। हम नहीं जानते, परन्तु वह भीतर बैठा हुआ सब कुछ सञ्चालन कर रहा है +। पृष्ठ इसका शरीर है। अतएव 'सहृदयं सशरीरम्' परिभाषानुसार गुणत्रयात्मक इस अक्षरतत्त्व को अवश्य ही सत्यप्रजापति कहा जा सकता है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

१—"तदेतत् त्र्यक्षरं 'हृदय' मिति। 'हृ' इत्येकमक्षरम्, 'द' इत्येकमक्षरम्, 'यम्' इत्येकमक्षरम्। तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव। स यो हैवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद—'सत्यं ब्रह्मे' ति, जयतीमाँल्लोकान्"।

—(शत०१४।८।४,५,ब्रा०)।

***—भीषास्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्य्यः।**
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

—तै० उप० २।८।१।

×—"यः पृथिव्यां तिष्ठन्, पृथिव्या अन्तरः, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी-शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, स ते आत्मा-अन्तर्य्यामी-अमृतः"।

—शत०१४।६।७।७।

गतितत्त्व ही अक्षर है, प्राणतत्त्व ही गतितत्त्व है। यह प्राणात्मिका गति मनोरूपा स्थिति, एवं वाग्रूप-स्तम्भन, दोनों से अविनाभूत है। मनोरूपा स्थिति सामवेद है, प्राणात्मिका गति यजुर्वेद है, वाङ्मय स्तम्भन ऋग्वेद है। वाङ्मयी ऋक् मूर्त्तिभाव की, प्राणमय यजुः गतिभाव का, एवं मनोमय साम महिमाभाव का (तेजोमण्डल का) प्रवर्त्तक माना गया है। यही अक्षरवेद है, यही आत्मवेद है, जिसका उपनिषद्भूमिका में विस्तार से उपबृंहण हुआ है ÷। ब्रह्माक्षर पर प्रतिष्ठित इन्द्राविष्णु की अपूतत्त्व को लक्ष्य बना कर प्रतिस्पर्द्धा होती है। इससे ब्राह्मप्राण वेद-लोक-वाक्साहस्रीरूप में परिणत हो जाता है (ऋ० पृ० *)। इसप्रकार अन्तर्य्यामी अक्षरसत्य गुणद्वारा वेदत्रयीरूप में परिणत हो जाता है। महामायात्मक अव्ययपुरुष गुणातीत बनता हुआ जहाँ निर्गुण ·|· है, वहाँ योगामायात्मक ब्रह्मनिःश्वसितवेदमूर्त्ति, अक्षरलक्षण सत्यात्मा (अन्तर्य्यामी) सगुण हैं। अतएव सत्यात्मरूप वेद त्रिगुणभावापन्न माने गए हैं ×। वेदतत्त्व अन्तर्य्यामी-सत्य से अभिन्न है, अतएव सत्यप्रजापति का निष्कर्ष निकलता है-'वेदप्रजापति', जैसाकि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

·||· "तद्यत्-तत्-सत्यं—'त्रयी सा विद्या' (शत० ६।५।१।१६।)।

पञ्चकल, गुणत्रयविशिष्ट (गुणपरिग्रहविशिष्ट) इस सत्यप्रजापति की गुणत्रयविशिष्ट, गुणत्रयोपपन्न, भेद से उसी प्रकार दो अवस्था हो जातीं हैं, जैसेकि सर्वधर्म्म-विशिष्ट पुरुष की सर्वधर्म्मविशिष्ट (परात्परपुरुष), सर्वधर्म्मोपपन्न (अव्ययपुरुष), ये दो अवस्था हो जातीं हैं। गुणत्रयविशिष्ट अक्षरप्रजापति के अन्तर्य्यामी-स्वरूप (ब्रह्मेन्द्रविष्णुस्वरूप) के आधार पर क्षरप्रजापति के विश्वाधारस्वरूप की प्रतिष्ठा है, एवं सूत्रात्मा के आधार पर विश्वम्भरस्वरूप प्रतिष्ठित है। मर्त्य ब्रह्मात्मिका प्रतिष्ठा, मर्त्य विष्ण्वात्मिका अशनाया, मर्त्येन्द्रात्मक विक्षेप, तीनों की समष्टि विश्वाधार आत्मा है। मर्त्याग्निरूप उत्क्षेपणात्मक विकास, मर्त्य सोमात्मक स्तम्भनरूप संकोच, दोनों की समष्टि विश्वम्भर है। अन्तर्य्यामी के आधार पर प्रतिष्ठित विश्वाधार प्रजापति

÷—ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्, सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥
—तै०ब्रा०३।१२।६।२।

* उभा जिग्यथुर्न पराजयेथा, न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥
ऋक् सं० ६।६६।८।

·|· अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति न लिप्यते॥ (गी०१३।३१।)।

× त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ गी० २।४५।

·||· "त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः"

के व्यापार से सूत्रात्मा पर प्रतिष्ठित विश्वम्भर (अन्नान्नाद) द्वारा जो विकारपञ्चक उत्पन्न होता है, वही 'यज्ञ' तत्त्व है। विश्वम्भर की अग्नीषोमात्मिका यज्ञकला से ही सत्यात्मा का विश्व में वितान होता है, जैसाकि- 'त्रयी वा एषा विद्या यज्ञः' (शत० १।१।३।४।)—"ते देवा ऊचुः—यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै" (शत० ६।५।१।१८।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। इसप्रकार त्रिगुण वेदात्ममूर्त्ति सत्यप्रजापति (अक्षर) ही गुणविशिष्ट है। यही अपने मर्त्य पञ्चकभाव से विकारात्मक (क्षरात्मक) बनता हुआ गुणोपपन्न बन कर यज्ञस्वरूप में परिणत हो जाता है। गीताद्दष्टि से यों समन्वय कीजिए कि, अक्षरद्वारा ब्रह्म नामक 'क्षर' का विकास हुआ। क्षर से विश्वोपयिक कर्म्म का उद्भव हुआ। कर्म्मद्वारा अन्नान्नादसमन्वयरूप यज्ञ का आविर्भाव हुआ। यज्ञ से सम्पूर्ण विश्व, एवं विश्वप्रजा का आविर्भाव हुआ, जिस समन्वय का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ॥
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः ॥
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो, यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः ॥२॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ॥
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥३॥
एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ॥
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ! स जीवति ॥४॥

—गीता ३।१०, १४, १५, १६ श्लो०।

निष्कर्ष यही निकला कि, विकारपरिग्रहात्मक क्षरतत्त्व यज्ञप्रजापति है, गुणपरिग्रहात्मक अक्षरतत्त्व सत्यप्रजापति है, कलापरिग्रहात्मक अव्ययतत्त्व सत्यस्यसत्यम् है। प्रतिसञ्चरदशा में १५ हों कलाएँ निष्कल परात्परपुरुष में लीन हो जातीं हैं। यज्ञ (क्षर) सत्य (अक्षर) में, सत्य सत्यस्यसत्यम् में विलीन होजाता है। सञ्चरदशा में सत्यस्यसत्यम् (अव्यय) सत्यप्रजापति (अक्षर) का आधार है, सत्यप्रजापति यज्ञप्रजापति (क्षर) का आधार है। निम्न लिखित वचन इसी सर्वाधारभूत सत्यस्यसत्यम् का विश्लेषण कर रहे हैं—

(१)—यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभियत् सं वहन्ति।
'सत्यस्यसत्य' मनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकं भवन्ति ॥

—ऐतरेय आरण्यक २।३।८।

(२)—गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥

—मुण्डकोपनिषत् ३।२।७।

(३)–"स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत्, यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। तस्योपनिषत्–'सत्यस्यसत्य' मिति। प्राणा वै (अक्षर–प्राणा वै) सत्यम्। तेषामेष (अव्ययः पुरुषः) सत्यम्"।

—बृ०आ०उप० २।१।२०।

(४)–"तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय॥
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्"।

—मुण्डकोपनिषत् १।२।१३।

(५)–"स्तनयित्नुरेवेन्द्रः, यज्ञः प्रजापतिः" (बृ०आ०उप० ३।६।६।)।

* * *

१–कलात्मकोऽव्ययः—सत्यस्यसत्यम्–प्रजापतिः

२–गुणात्मकोऽक्षरः—सत्यप्रजापतिः

३–विकारात्मकः क्षरः–यज्ञप्रजापतिः

* * *

(१) अमृतो ब्रह्मा	—सत्त्वगुणविशिष्टः	—स एष गुणत्रयविशिष्टो गुणपरिग्रहविशिष्टो वा पञ्चकलोऽक्षरात्मा–सत्यप्रजापतिः
(२) अमृतो विष्णुः (३) अमृत इन्द्रः	—रजोगुणविशिष्टौ	
(३) अमृत इन्द्रः (४) अमृतोऽग्निः (५) अमृतः सोमः	—तमोगुणविशिष्टाः	

* * *

१-मर्त्यो ब्रह्मा-प्राणविकारयुक्तः	—सत्त्वगुणोपपन्नः		
२-मर्त्यो विष्णुः-अब्विकारयुक्तः	—रजोगुणोपपन्नौ		स एष गुणत्रयोपपन्नः सविकारो विकार-परिग्रहविशिष्टो वा क्षरात्मा-यज्ञप्रजापतिः
३-मर्त्य इन्द्रः-वाग्विकारयुक्तः			
३-मर्त्य इन्द्रः-वाग्विकारयुक्तः			
४-मर्त्योऽग्निः-अन्नादविकारयुक्तः	—तमोगुणोपपन्नाः		
५-मर्त्यः सोमः-अन्नविकारयुक्तः			

* * *

प्राणविकारः—शब्दतन्मात्रा (आकाशः)	—पञ्च गुणभूतानि पञ्चतन्मात्राः-विकारपरिग्रहः। तद्विशिष्टः-क्षरात्मा-यज्ञप्रजापतिः
अब्विकारः—स्पर्शतन्मात्रा (वायुः)	
वाग्विकारः—रूपतन्मात्रा (तेजः)	
अन्ना विकारः—गन्धतन्मात्रा (पृथिवी)	
अन्नविकारः—रसतन्मात्रा (जलम्)	

* * *

५६-'अञ्जन'-परिग्रहात्मक आत्मन्वी विराट्प्रजापति, एवं 'आवरण'-परिग्रहात्मक आत्मन्वी विश्वप्रजापति—

मायापरिग्रह से आरम्भ कर विकारपरिग्रह पर्य्यन्त आत्मज्योति की विकासावस्था में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं होने पाता, स्थूलभाव का समावेश नहीं होने पाता। परन्तु विकारानन्तर विकारों से उत्पन्न वैकारिक आवरणों से आत्मविकास अवरुद्ध हो जाता है। अतएव विकारों से उत्पन्न वैकारिक भावों को अवश्य ही आवरक होने से 'अञ्जन' कहा जा सकता है। यह अञ्जन गुणोपपन्न यज्ञप्रजापति (क्षरात्मा) के आधार पर प्रतिष्ठित है। गुणत्रयभेद के कारण इस अञ्जन के विभूति, पाप्मा,-आवरण, ये तीन भेद हो जाते हैं। सत्त्वगुणानुगत अञ्जन विभूति है, इससे भी आत्मविकासप्रसार में विशेष बाधा नहीं होती। अतएव इस विभूतिरूप प्रथम सत्त्वाञ्जन को अनावरण ही मान लिया जाता है। ईश्वरसंस्था में इसी सत्त्वाञ्जन की प्रधानता है। रजोगुणानुगत अञ्जन पाप्मा है, यही अञ्जन 'अञ्जन' कहलाया है। जीवसंस्था में इसी का प्राधान्य माना गया है। तमोगुणानुगत अञ्जन आवरण है, यही आवरण कहलाया है। जगत्संस्था में इसी का प्राधान्य है। श्वेत आदर्श (काच) दीपप्रभा के लिए विभूतिरूप अञ्जन है। इस से दीपप्रभाविकास अवरुद्ध

नहीं होता। कृष्ण आदर्श (काला काच) दीपप्रभा के लिए आवरणरूप अञ्जन है। इस से दीपप्रभा का अवरोध तो नहीं होता, किन्तु प्रभा मलिन (कृष्ण) हो जाती है। घन कृष्ण आदर्श (काले रङ्ग से रञ्जित काच) दीपप्रभा के लिए आवरणरूप अञ्जन है। इस से दीपप्रभा का विकास सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है। इसप्रकार गुणत्रय-तारतम्य से एक ही अञ्जन तीन भावों में परिणत होता हुआ ईश्वर–जीव–जगद्भावों का अनुग्राहक बन रहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

६०–परमविराट्, और क्षुद्रविराट्—

प्राणादि पञ्च विकारक्षरात्मक यज्ञप्रजापति को गुणोपपन्न कहा गया है। विकारपरिग्रहविशिष्ट गुणभूतात्मक इस यज्ञप्रजापति के **विकारविशिष्ट, विकारोपपन्न,** भेद से उसी प्रकार दो विवर्त्त हो जाते हैं, जैसेकि गुणविशिष्ट प्रजापति के गुणविशिष्ट, गुणोपपन्न, भेद से दो विवर्त्त मानें गए हैं। विकार-विशिष्ट वही तत्त्व यज्ञप्रजापति है, विकारोपपन्न वही तत्त्व **'विराट्प्रजापति'** है, जिसे हम साञ्जन-प्रजापति कहेंगे। इस विराट्प्रजापति के **परमविराट्, क्षुद्रविराट्,** भेद से दो विवर्त्त हैं। परमविराट् ईश्वरविराट् है, तदंशभूत क्षुद्रविराट् जीवविराट् है। ईश्वरविराट् सत्त्वात्मक विभूति नामक अञ्जन से युक्त है, जोकि विभूतिरूप सत्त्वाञ्जन विकारक्षर की पाँचों प्राणादि कलाओं से उत्पन्न वेद–लोक–देव–पशु–भूत–भेद से पाँच भागों में विभक्त माना गया हैं।

६१–बहुब्रह्मात्मक एकाक्षर—

स्थिति का यों समन्वय कीजिए कि, गुणात्मक अक्षररूप सत्यात्मा, विकारात्मक क्षररूप यज्ञात्मा, दोनों अव्ययपुरुष की परा–अपरा प्रकृतियाँ मानीं गई हैं। दोनों वस्तुतः एक ही प्रकृतितत्त्व है। इसी की अव्यक्तावस्था अक्षर है, इसी को व्यक्तावस्था क्षर है। क्षर अक्षर की अपेक्षा अवश्य ही व्यक्त है, परन्तु वैकारिक विश्वापेक्षया इस क्षर को भी अव्यक्त ही माना जायगा। व्यक्त क्षर से परे अव्यक्त अक्षर है, व्यक्ताव्यक्त (क्षराक्षर) से परे सनातन अव्यय है *। सत्त्वरजस्तमोगुणों की साम्यावस्थारूपा अव्यक्तप्रकृति ही अक्षर है। एवं तीनों गुणों की विश्वोपादानभूता विषमावस्थारूपा व्यक्तप्रकृति ही क्षर है। अनेक विकारक्षररूप ब्रह्मों (विश्वोपादानभूत विकारक्षरों) को अपने गर्भ में रखने वाली विषमगुणात्मिका व्यक्तप्रकृति ही (क्षर ही) दर्शनभाषा में **'महान्'** कहलाई है। इसी आधार पर अव्यक्त से महान् (क्षर) का प्रादुर्भाव बतलाया जाता है ÷। विकारक्षर अनेक, इनका आधारभूत पञ्चकल क्षर एक, वह एकाक्षर से अनुगृहीत,

---

*–यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ॥
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१॥ (गीता १५।१८)
परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो व्यक्तोऽव्यक्तात्–सनातनः ॥
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२॥ (गीता ८।२०)

÷–"बुद्धेरात्मा 'महान्' परः (कठ ३।१०)-महतः परमव्यक्तम् (कठ ३।११)- सत्त्वादधि महानात्मा (कठ ६।७)–अव्यक्ते महति तमसि द्योतयति"–इत्यादि।

इसी आधार पर-'भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि बहु ब्रह्मैकमक्षरं, महद्‌ब्रह्मैकमक्षरम्' * यह निगम प्रतिष्ठित है। यही महान् सर्वजगत्प्रभव है ÷ । यही वैज्ञानिकों का आत्मक्षर है, एवं दार्शनिकों का महान् है।

६२-यज्ञप्रजापतिस्वरूपदिग्दर्शन—

महान् से अहङ्कार उत्पन्न होता है। अहंभाव की योनि महान् ही माना गया है। इसी पर चिल्लक्षण अहं प्रस्फुटित होता है। अहंगर्भित महान् के अहंभाव के आधार पर (मनः-प्राण-वाङ्मय अहंभाव के मनोमय काम, प्राणमय तप, एवं वाङ्मय श्रमव्यापार से) पञ्चतन्मात्राओं का विकास होता है। दर्शनभाषा में महान् नाम से प्रसिद्ध वैज्ञानिकभाषा के आत्मक्षर से (आत्मक्षर की ब्रह्मादि पाँचों कलाओं से) उत्पन्न प्राणादि पञ्च विकारक्षर ही दर्शनभाषा की शब्द-स्पर्शादि पञ्चतन्मात्राएँ हैं, जोकि 'गुणभूत' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये गुणभूत सर्वथा अमूर्त्त हैं। सांख्यशास्त्र गुणभूतात्मिका पञ्चतन्मात्रा के द्वारा (विकारक्षरद्वारा) अव्यक्तप्रकृति (विकारजनक आत्मक्षर) को ही जगत् का कारण मान रहा है। वैशेषिक शास्त्रसम्मत निरवयव परमाणु वस्तुतः सावयव हैं, जोकि 'अणुभूत' कहलाए हैं। गुणभूतों के सजातीय सम्बन्ध से ही अणुभूत (अणुपरमाणु) का विकास हुआ है। आत्मक्षर से उत्पन्न प्राणादि पञ्च विकारक्षर शुद्ध (अपञ्चीकृत) विकारक्षर हैं, ये ही गुणभूत हैं, अमूर्त्तभूत हैं। इन प्राणादि पाँचों विशुद्ध विकारक्षरों को समष्टि 'विश्वसृट्' है। इन पाँचों का आगे जाकर सजातीय सम्बन्धात्मक पञ्चीकरण होता है, जो कि प्रक्रिया 'सर्वहुतयज्ञ' कहलाई है। पाँचों में पाँचों की आहुति होती है। फलस्वरूप पञ्चीकृत प्राणादि पञ्च वैकारिक क्षरों का प्रादुर्भाव हो जाता है। अर्द्ध-अर्द्ध भाग में प्राणादि, शेष अर्द्ध अर्द्ध भाग में अबादि चारों गर्भीभूत रहते हैं। क्योंकि पञ्चीकृत प्रत्येक वैकारिक क्षर में आधे भाग में एक की, शेष आधे भाग में चारों की व्याप्ति है, अतएव तद्वादन्याय से *A* ये भी प्राणादि नाम से ही व्यवहृत हुए हैं। पञ्चीकृत, अतएव

---

*-एतद्धयेवाक्षरं सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्यभिसम्पद्यन्ते। तदेतत्-ब्रह्म च, क्षत्रञ्च। अग्निरेव ब्रह्म, इन्द्रः क्षत्रम्। इन्द्राग्नी वै विश्वे देवाः। विड् विश्वे देवाः। तदेतत्-ब्रह्म-क्षत्रं-विट्। (शत० १०।४। ।६।)।

÷तदेष श्लोकोऽभ्युक्तः—

तद्धै स प्राणोऽभवत्-महान् भूत्वा प्रजापतिः।
भुजो भुजिष्या वित्त्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि ॥ इति।
—शत० ७।५।१।२

मम योनिर्महद्‌ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥
—गीता० १४।३।

A-'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' (वेदान्तसूत्र २।४।२२।)।

पञ्चात्मक ये वैकारिक क्षर ही विज्ञानभाषा में **'पञ्चजन'** कहलाए हैं, जिनका अपञ्चीकृत विश्वसृजों के सजातीय सम्बन्ध से प्रादुर्भाव हुआ है। ये ही पञ्चीकृत, अतएव पञ्चावयवात्मक, अतएव च सावयव पञ्चजन दार्शनिकों के 'अणुभूत' हैं। आगे जाकर इन परमाणुओं के विजातीय समन्वय से **'रेणुभूत'** का प्रादुर्भाव होता है। तात्पर्य्य--पञ्चीकृत पञ्चजनों के विजातीय पञ्चीकरण से पञ्च-पञ्चात्मक जो अपूर्वभाव उत्पन्न होते हैं, वे पञ्च पञ्चीकृत पञ्चजन* हीं **'पुरञ्जन'** कहलाए हैं। पञ्चजनप्राण स्वयं पञ्चीकृत (पञ्चावयव) है। इसमें पञ्चीकृत अन्नादि चारों पुरञ्जनों की आहुति हुई। परिणाम यह हुआ कि, पञ्चीकृत प्राणपुरञ्जन में २५ अवयव हो गए। यही क्रम आगे के चारों पुरञ्जनों में घटित हुआ है। पञ्चीकृत पञ्चजनरूप ये पाँचों पुरञ्जन हीं क्रमशः वेद, लोक, देव, पशु, भूत, नाम से व्यवहृत हुए हैं। ये ही दर्शनभाषा के रेणुभूत हैं, जो विजातीय परमाणुओं (पञ्चजनों) के समन्वय के उदर्क हैं। इसी सम्बन्ध में दार्शनिकों नें यह व्यवस्था की है कि, प्रत्येक रेणुभूत में कम से कम ३ परमाणु रहते हैं, अधिक से अधिक ३० परमाणु रहते हैं। तात्पर्य्य-विजातीय परमाणुसंघ का ही नाम 'रेणुभूत' है। यहाँ पर तात्त्विकी सृष्टि का अवसान है, दूसरे शब्दों में विकारसृष्टि का अवसान है। इस से आगे भूतसृष्टि का आरम्भ होता है। गुण, अणु, रेणु, तीनों भूतविवर्त्त तत्त्वात्मक हैं। भूत, सत्त्व, दोनों तत्त्वभूतों के आधार पर प्रतिष्ठित भूत महाभूत हैं। सत्त्व अस्मदादि चर-अचर प्राणी हैं। हमारे उपादानरूप पञ्चमहाभूत भूत हैं, जो यौगिक हैं, मूर्त्त हैं, तत्त्व-मर्य्यादातिक्रान्त हैं। पञ्चीकृत पञ्च महाभूतों के मौलिकरूप तत्त्वात्मक पञ्चरेणुभूत हैं, रेणुभूत ही तार्किक-दर्शन (नैय्यायिक) का परमाणु है। रेणुभूत का मौलिक रूप पञ्च अणुभूत है, यही वैशेषिक का अणुपरमाणु है। रेणुभूत का मौलिक रूप पञ्च गुणभूत है। गुणभूतों का मौलिक रूप विकारभूत है, यही प्राधानिकों की पञ्चतन्मात्रा है! विकारभूतों का मौलिक रूप पञ्चकल क्षरात्मा है, यही प्राधानिकों का अहं-भावात्मक महान् है। क्षर का मौलिक रूप पञ्चकल अक्षरात्मा है, यही प्राधानिकों की अव्यक्तप्रकृति है। अक्षरात्मा का मौलिक रूप पञ्चकल अव्यय है, यही प्राधानिकों का पुष्करपलाशवन्निर्लेप पुरुष है। अव्यय का मौलिक रूप मायी निष्कल परात्परपुरुष है—**'सा काष्ठा सा परा गतिः'**। 'अत्र सर्वे एकीभवन्ति'। परात्परपुरुष से आरम्भ कर सत्त्वपर्य्यन्त मायादि ६ परिग्रहों का उपभोग हो रहा है। उत्तर उत्तर के परिग्रह में पूर्व पूर्व परिग्रहविशिष्ट आत्मन्वी **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** न्याय से प्रविष्ट हैं।

६३—षट्परिग्रहावच्छिन्न षट्संस्थ प्रजापति—

मायापरिग्रहयुक्त परात्परपुरुष का आत्मा रस है, शरीर बल है, रसबलविशिष्ट सर्वधर्म्म-विशिष्ट यह परात्पर ही **मायीमहेश्वर** है। कलापरिग्रहयुक्त अव्ययपुरुष आत्मा है, परा-अपरा-प्रकृतिरूप अक्षरक्षर शरीर है, तद्विशिष्ट षोडशी ही **षोडशीप्रजापति** है। मायीमहेश्वर, सकलषोडशी, दोनों की समष्टि अश्वत्थवृक्षमूर्त्ति-**महेश्वरप्रजापति** है। महेश्वरप्रजापतिगर्भित गुणत्रयविशिष्ट अक्षरतत्त्व आत्मा है, गुणत्रयोपपन्न क्षरतत्त्व शरीर है, यही गुणपरिग्रहात्मक **सत्यप्रजापति** है, यही विश्वेश्वरप्रजापति है। महेश्वर-

---

***-यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।**
तमेव मन्ये-आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥

—बृ० आ० उप० ४।४।१७।

विश्वेश्वरप्रजापतिगर्भित गुणत्रयोपपन्न क्षरात्मा आत्मा है, गुणभूतरूप विकारक्षरपञ्चक शरीर है, यही विकारपरिग्रहात्मक **यज्ञप्रजापति है,** यही उपेश्वर है । महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–गर्भित विकारात्मा आत्मा है, अणुभूत–रेणुभूतरूप–पञ्चजन–पुरञ्जन–समष्टि शरीर है, यही अञ्जनपरिग्रहात्मक **विराट्प्रजापति** है । महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–विराट्–गर्भित अणु–रेणु पञ्चक आत्मा है, पञ्चमहाभूत, एवं सत्त्वसमष्टि शरीर (विश्व) है, यही आवरणात्मक **विश्वप्रजापति** है ।

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए । मायी परात्पर आत्मा है, षोडशी–सत्य–यज्ञ–विराट्–विश्व–पाँचों पर्व इसका शरीर है, यही आत्म–शरीरविशिष्ट प्रथम आत्मन्वी है, यही **मायी महेश्वरप्रजापति** है । परात्परगर्भित पुरुषतत्त्व आत्मा है, सत्य–यज्ञ–विराट्–विश्व, चारों पर्व इसका शरीर है, यही आत्म–शरीर–विशिष्ट द्वितीय आत्मन्वी है, यही **सकल षोडशीप्रजापति** है । परात्पर–पुरुषगर्भित अक्षरतत्त्व आत्मा है, यज्ञ–विराट्–विश्व, तीनों पर्व इसका शरीर है, यही आत्मशरीरविशिष्ट तृतीय आत्मन्वी है, यही **सगुण सत्यप्रजापति** है । परात्पर–पुरुष–अक्षरात्मगर्भित आत्मक्षरतत्त्व आत्मा है, विराट्–विश्व, दोनों पर्व इसका शरीर है, यही आत्मशरीरविशिष्ट चतुर्थ आत्मन्वी है, यही **सविकार यज्ञप्रजापति** है । परात्पर–पुरुष–अक्षर–आत्मक्षरगर्भित विकारक्षरतत्त्व आत्मा है, विश्वपर्व इसका शरीर है, यही आत्मशरीरविशिष्ट पञ्चम आत्मन्वी है, यही **साञ्जन विराट्प्रजापति** है । परात्पर–पुरुष–अक्षर–आत्मक्षर–विकारक्षरगर्भित वैकारिक भूत तत्त्व आत्मा है, विश्वगर्भिता सत्त्वप्रजा इसका शरीर है, यही आत्मशरीरविशिष्ट षष्ठ आत्मन्वी है, यही **सावरण विश्वप्रजापति** है । सभी सर्वरूप हैं, सभी आत्मरूप हैं । निष्कल परात्पर आत्मा ही सर्वरूप में परिणत हुआ है । इन ६ ओं आत्मन्वी संस्थाओं का विज्ञान ही सर्वविज्ञान है, यही आत्मविज्ञान है, यही विश्वविज्ञान है । आत्मविचारनिष्ठ आचार्य्यों नें परस्पर विभिन्नरूपेण प्रतीयमान जिन जिन आत्मसंस्थाओं का साटोप समर्थन किया है, वे सब आत्मदर्शन तत्त्वतः सर्वथा अभिन्न, अतएव प्रामाणिक हैं ।

६४–तालिकाओं के माध्यम से सर्वविषय–समन्वय—

परात्पररूप मायी महेश्वरोपासक परात्परानुगामी बनते हुए गीतापथ के पथिक हैं । सकल अव्ययात्मोपासक पुरुषानुगामी बनते हुए वेदान्तपथ के पथिक हैं । आत्मक्षरानुगृहीत आत्मक्षरोपासक सत्यात्मानुगामी सांख्यपथ के पथिक हैं । आत्मक्षरानुगृहीत विकारक्षरोपासक यज्ञात्मानुगामी वैशेषिकपथ के पथिक हैं । विकारक्षरानुगृहीत वैकारिकतत्त्वोपासक विराडात्मानुगामी साम्प्रदायिकपथ के पथिक हैं । एवं वैकारिकक्षरानुगृहीत विश्वोपासक विश्वात्मानुगामी लोकपथ के पथिक हैं । आगे के परिलेखों से उक्त आत्मन्वी–विज्ञान का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है ।

(१)

१-मायापरिग्रहः——मायी महेश्वरः (आत्मन्वी)
२-कलापरिग्रहः——सकलः षोडशी (आत्मन्वी) } —महेश्वरः

३-गुणपरिग्रहः——सगुणः सत्यः (आत्मन्वी)]—विश्वेश्वरः

४-विकारपरिग्रहः——सविकारो यज्ञः (आत्मन्वी)]—उपेश्वरः

५-अञ्जनपरिग्रहः——साञ्जनो विराट् (आत्मन्वी)
६-आवरणपरिग्रहः——सावरणं विश्वम् (आत्मन्वी) } —ईश्वरः

} —चतुष्टयं वा इदं सर्व-मित्याहुः

* * *

(२)

१-परात्परोपासकाः——परात्परपुरुषानुयायिनो गीतापथपथिकाः—बुद्धियोगिनः
२-षोडश्युपासकाः——पुरुषात्मानुयायिनो वेदान्तपथपथिकाः——ज्ञानिनः
३-आत्मक्षरोपासकाः——सत्यात्मानुयायिनः प्राधानिकपथपथिकाः——उत्तमा आस्तिकाः
४-विकारक्षरोपासकाः——यज्ञात्मानुयायिनो वैशेषिकपथपथिकाः——मध्यमा आस्तिकाः
५-वैकारिकक्षरोपासकाः—विराडात्मानुयायिनः सम्प्रदायपथपथिकाः-अवरा आस्तिकाः
६-विश्वोपासकाः———विश्वात्मानुयायिनो लोकपथपथिकाः——लोकायतिका नास्तिकाः

* * *

(३)

१—षोडशी[१]-सत्य[२]-यज्ञ[३]-विराड्[४]-विश्व[५]-शारीरीविशिष्टः-परात्परात्मा आत्मन्वी **'मायीमहेश्वरप्रजापतिः'**

२—सत्य[१]-यज्ञ[२]-विराड्[३]-विश्व[४]-शरीरविशिष्टः-परात्परगर्भितः-पुरुषात्मा-आत्मन्वी **'सकलःषोडशीप्रजापतिः'**

३—यज्ञ[१]-विराड्[२]-विश्व[३]-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुषगर्भितः-अक्षरात्मा-आत्मन्वी **'सगुणः सत्यप्रजापतिः'**

४—विराड्[१]-विश्व[२]-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुष-अक्षरगर्भितः-**आत्मक्षरात्मा**-आत्मन्वी-**'सविकारो यज्ञप्रजापतिः'**

५—विश्व[१]-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुष-अक्षर-आत्मक्षरगर्भितः-**विकारक्षरात्मा**-आत्मन्वी **'साञ्जनो विराट्-प्रजापतिः'**

६—सत्त्व-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुष-अक्षर-आत्मक्षर-विकारक्षरगर्भितः-**वैकारिकात्मा**-आत्मन्वी **'सावरणो विश्वप्रजापतिः'**

* * *

प्रकारान्तरेण—

(४)

१	मायावच्छिन्नो रसः (१)-आत्मा मायावच्छिन्नं बलम्(२)-शरीरम्	—आत्मशरीरविशिष्टः-आत्मन्वी-परात्परात्मा-	**'मायी महेश्वरप्रजापतिः'**
२	परात्परगर्भितः पञ्चकलोऽव्ययः]-आत्मा अव्ययगर्भितः पञ्चकलोऽक्षरः, अक्षरगर्भितः पञ्चकलः क्षरः -शरीरम्	—आत्मशरीरविशिष्टः—आत्मन्वी—पुरुषात्मा—	**'सकलः षोडशीप्रजापतिः'**
३	परात्पर-पुरुषगर्भितो गुणत्रयविशिष्टोऽक्षरः]—आत्मा परात्परपुरुषाक्षरगर्भितो गुणोपपन्नः क्षरः]—शरीरम्	—आत्मन्वी—अक्षरात्मा—	**'सगुणः सत्यप्रजापतिः'**
४	परात्परपुरुषाक्षरक्षरगर्भितो गुणोपपन्नः क्षरः—आत्मा परात्परपुरुषाक्षरात्मक्षरगर्भितो विकारक्षरः—शरीरम्	—आत्मन्वी-आत्मक्षरात्मा—	**'सविकारो यज्ञप्रजापतिः'**
५	परात्परपुरुषाक्षरात्मक्षरगर्भितो विकारविशिष्टः-विकारक्षरः————आत्मा परात्परपुरुषाक्षरात्मक्षरविकारक्षरगर्भितः पञ्चजनपुरञ्जनात्मको वैकारिकक्षरः-शरीरम्	**विकारक्षरात्मा**	**'साञ्जनो-विराट्-प्रजापतिः**
६	परात्परपुरुषाक्षरात्मक्षरविकारक्षरगर्भितः पञ्चजनपुरञ्जनात्मको महाभूतक्षरः—आत्मा परात्परपुरुषाक्षरात्मक्षरविकारक्षरपञ्चजनपुरञ्जनमहाभूतक्षरगर्भितं सत्त्वम्—शरीरम्	**वैकारिकात्मा**	**'सावरणो विश्व-प्रजापतिः'**

* * *

सर्वसंग्रहः—(५)

*–सर्वबलविरहितो रसः-ऐकान्तिको रसघनः–निर्विशेषः, स एव अमायी निष्कलः परात्परः (१)–सर्वबलविशिष्टो रसः-सर्वबलविशिष्टरसघनः-परात्परः, स एव अमायी निष्कलः परात्परः	–विश्वातीतः 'परात्परः' सर्वबलविशिष्टैकरसघनः'-अमायी'–विशुद्ध आत्मा *
(१)–सर्वबलविशिष्टो रसः-मायी परात्परः–परात्परः, स एव मायी पुरुषो निष्कलः (२)–सर्वबलोपपन्नो रसः–मायी परात्परः–पुरुषः, स एव मायी पुरुषो निष्कलः	–विश्वसाक्षी 'परात्परपुरुषः'-सर्वबलोपपन्नो रसमूर्त्तिः 'मायी-आत्मन्वी **'मायी महेश्वरप्रजापतिः'** (१)
(२)–सर्वबलोपपन्नो रसः––मायी परात्परः—पुरुषः, स एव षोडशी सकलः (३)–सर्वधर्म्मविशिष्टो रसः-सकलः परमात्मा-षोडशी, स एव षोडशी सकलः	–विश्वात्मा 'पुरुषः' सर्वधर्म्मविशिष्टो रसात्मकः-'सकल':-आत्मन्वी **'सकलः षोडशीप्रजापतिः'** (२)
(३)–सर्वधर्म्मविशिष्टो रसः–सकलः परमात्मा ——षोडशी, स एव सत्यः सगुणः (४)- सर्वधर्म्मोपपन्नं गुणविशिष्टं बलम्-विश्वाध्यक्षः-सत्यः, स एव सत्यः सगुणः	–अन्तर्यामी 'अक्षरः'–सर्वधर्म्मगुणविशिष्टबलात्मकः–'सगुण': आत्मन्वी—**'सगुणः सत्यप्रजापतिः'** (३)
(४)–सर्वधर्म्मोपपन्नं सर्वगुणविशिष्टं बलम्—विश्वाध्यक्षः–सत्यः, स एव यज्ञो सविकारः (५)–सर्वगुणोपपन्नं सर्वविकारविशिष्टं बलम्–विश्वयोनिः––यज्ञः, स एव यज्ञो सविकारः	–विश्वाधारः–'आत्मक्षरः'-सर्वगुणोपपन्नसर्वविकारविशिष्टः-बलात्मकः-'सविकारः'आत्मन्वी–**'सविकारो यज्ञप्रजापतिः'** (४)
(५)–सर्वगुणोपपन्नं सर्वविकारविशिष्टं बलम्–विश्वयोनिः–यज्ञः, स एव विराट्–साञ्जनः (६)–सर्वगुणगर्भितं सर्वविकारोपपन्नं बलम्——विश्वात्मा–––विराट्, स एव विराट्-साञ्जनः	–विश्वम्भरः 'विकारक्षरः'–सर्वगुणगर्भितसर्वविकारोपपन्नबलात्मकः-'साञ्जनः'-आत्मन्वी–**'साञ्जनो विराट्प्रजापतिः'**(५)
(६)–सर्वगुणगर्भितं सर्वविकारोपन्नं बलम्––विश्वात्मा-विराट्, तदिदं विश्वं सावरणम् (७)–सर्वगुण-सर्वविकार-सर्ववैकारिकं बलम्-विश्वम्––सत्त्वम्, तदिदं विश्वं सावरणम्	-विश्वमूर्त्तिः-'वैकारिकक्षरः–सर्वगुण-विकार-वैकारिकोपपन्नः–बलात्मकः 'सावरणः' आत्मन्वी–**'सावरणो विश्वप्रजापतिः'** (६)

* * * *

(६)

	निष्कलः	अव्ययः	अक्षरः	आत्मक्षरः	विकारक्षरः (विश्वसृट्)	पञ्चजनः	पुरञ्जनः	पुरम्
विश्वातीतः—परात्परः—अमायी—	परात्परः पुरुषः—मायी—निष्कलः	आनन्दः	अमृतो ब्रह्मा	मर्त्यो ब्रह्मा	विशुद्धः प्राणः	पञ्चीकृतः प्राणः	पञ्चपञ्चीकृताः पञ्चविंशतिकलाः वेदाः	वेदात्मकः—आकाशः
		विज्ञानम्	अमृतो विष्णुः	मर्त्यो विष्णुः	विशुद्धा आपः	पञ्चीकृता आपः	लोकाः	लोकात्मको वायुः
		मनः	अमृत इन्द्रः	मर्त्य इन्द्रः	विशुद्धा वाक्	पञ्चीकृता वाक्	देवाः	देवात्मकं तेजः
		प्राणः	अमृतोऽग्निः	मर्त्योऽग्निः	विशुद्धोऽन्नादः	पञ्चीकृतोऽन्नादः	भूतानि	भूतात्मिका पृथिवी
		वाक्	अमृतः सोमः	मर्त्यः सोमः	विशुद्धमन्नम्	पञ्चीकृतमन्नम्	पशवः	पश्वात्मकं जलम्
	परात्परः	पुरुषः	अव्यक्तम्	महान्	पञ्चतन्मात्राः (गुणभूतानि)	विकाराः (अणुभूतानि)	वैकारिकाः (रेणुभूतानि)	जगत् (महाभूतानि)
	महेश्वरप्रजापतिः १	षोडशी प्रजापतिः २			सत्यप्रजापतिः ३	यज्ञप्रजापतिः ४	विराट्प्रजापतिः ५	विश्वप्रजापतिः ६

६५—प्रतिमाषोडशीप्रजापति के विविध विवर्त—

सत्य-यज्ञात्मक प्रतिमाषोडशी के प्रसङ्ग से षट्परिग्रहों का प्रासङ्गिक विश्लेषण किया गया। अब प्रकृत विषयभूत 'प्रतिमाषोडशी' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। षोडशीपुरुषस्वरूप की मीमांसा करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, परात्परोपेत-प्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही सकल षोडशी है, जिसमें माया, कला, नामक दो परिग्रहों का उपभोग हो रहा है। इस षोडशी के आत्मक्षरभाग से अक्षरद्वारा अव्ययालम्बन पर प्राणादि पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। इन पाँचों की समष्टि को ही 'विश्वसृट्' कहा गया है। यही 'विश्व-सृड्ब्रह्म' **'आभूप्रजापति'** है। जैसा स्वरूप षोडशी का है, ठीक वैसा ही स्वरूप इसका है, अतएव इसे अवश्य ही षोडशी की 'प्रतिमा', अतएव 'प्रतिमा' षोडशी कहा जा सकता है। सत्यात्मक गुणत्रयविशिष्ट गुणपरिग्रहयुक्त सत्यप्रजापति (अक्षरात्मा) ही इसका मूलाधार है, अतएव इसे **'सत्यस्वयम्भू'** कहा जा

सकता है। इस सत्यस्वयम्भू के आधार पर विकारपरिग्रहात्मक आत्मक्षर के पञ्च विकारों के द्वारा पञ्च उपेश्वरों का प्रादुर्भाव होता है। विकारात्मक विश्वसृट्, तदुत्पन्न पञ्चजन, तदुत्पन्न पुरञ्जन, तद्-गर्भित पुर ही उपेश्वर हैं। इस प्रतिमाषोडशी के आधार पर उद्भूत पञ्चपुरात्मक पञ्चोपेश्वरों का 'उपेश्वरषोडशी' से सम्बन्ध है। प्रतिमाषोडशी मायी महेश्वर से अभिन्न है, उपेश्वरषोडशी मायीमहेश्वराविनाभूत इस प्रतिमाषोडशी के केन्द्र से बद्ध होता हुआ सहस्र संख्या में विभक्त है।

प्रतिमाषोडशी भी स्वयम्भू है, उपेश्वरषोडशी भी स्वयम्भू है। नामसाम्यमात्र से दोनों को एक तत्त्व मान बैठना असङ्गत है। एक मायावृत्त में प्रतिमाषोडशीस्वयम्भू एक है, एवं यही सत्यस्वयम्भू परोरजा, आभू-प्रजापति, अव्यक्तस्वयम्भू, विश्वसृट्, आदि नामों से प्रसिद्ध है। एक मायावृत्त में उपेश्वरस्वयम्भू एक सहस्र हैं, ये ही 'पुण्डीरस्वयम्भू' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। पुण्डीरात्मक (शाखात्मक) एक सहस्र उपेश्वर-स्वयम्भू-भावों के सम्बन्ध से ही परोरजास्वयम्भू से अविनाभूत मायी महेश्वरलक्षण अश्वत्थब्रह्म 'सहस्रवल्शेश्वर' कहलाया है। इस विभेद को लक्ष्य बना कर ही प्रतिमाषोडशी की कारणता का समन्वय करना चाहिए।

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। अक्षर को सगुण सत्यप्रजापति कहा गया है, आत्मक्षर को सविकार-यज्ञप्रजापति माना गया है। अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक षोडशीपुरुष के केन्द्र में प्रतिष्ठित पञ्चकल अक्षरतत्त्व ऊर्ध्व अवस्थित ज्ञानमय अव्यय से भी युक्त है, अधोऽवस्थित अर्थमय क्षर से भी युक्त है। अव्यय की पञ्चकलाओं से, क्षर की पञ्चकलाओं से, स्वानुगत पञ्चकलाओं से परात्परालम्बन पर प्रतिष्ठित सगुण अक्षरविवर्त्त भी षोडशी की भाँति षोडशकल बन रहा है। जैसा कलाविभाग षोडशी में है, वैसा ही कला-विभाग इसमें है, यही अक्षर का प्रतिमात्त्व है। अतएव इसे उस अव्ययषोडशी की अपेक्षा अवश्यमेव 'प्रतिमाषोडशी' कहा जा सकता है। अव्ययज्ञान से सर्वज्ञ, क्षरार्थ से सर्ववित्, एवं स्वस्वरूप से सर्वशक्तिमान् बना हुआ सर्वज्ञ-सर्वशक्ति-सर्ववित्, ज्ञानक्रियार्थमय अक्षरषोडशी ही क्षर के द्वारा विश्वकर्त्ता बनता है *।

अव्यय, अक्षर, आत्मक्षरसमष्टि का षोडशीधर्म्म तीन दृष्टियों से समन्वित है। अव्ययदृष्टया भी आत्मा षोडशी है, यह षोडशी विश्वालम्बन है। अक्षरदृष्टया भी आत्मा षोडशी है, यह षोडशी विश्वकर्त्ता है। क्षरदृष्टया भी आत्मा षोडशी है, यह षोडशी विश्वप्रभव है। प्रज्ञामात्रात्मिका ज्ञानमात्रा विश्व का आलम्बन बना करती है। प्राणमात्रात्मिका क्रियामात्रा विश्वकर्त्री बना करती है, एवं भूतमात्रात्मिका अर्थमात्रा विश्व की उपादान बना करती है। इसी दृष्टि से तीनों की कारणता व्यवस्थित हुई है। परात्परस्वरूप अखण्ड धरातल पर प्रतिष्ठित अव्यय-अक्षर-क्षर तीनों अभिन्न हैं, अविनाभूत हैं, अयुतसिद्ध हैं। अतएव किसी भी पर्व को लक्ष्य बनाइए, तीनों का ग्रहण हो जायगा। अतएव त्रिसमष्टिरूप षोडशी के तीन विवर्त्त हो जायँगे। अव्ययदृष्टया क्षराक्षर को गर्भ में रखने वाला षोडशी ज्ञानप्रधान है, यही 'षोडशी' कारण है। अक्षरदृष्टया अव्ययात्मक्षर को गर्भ में रखने वाला षोडशी क्रियाप्रधान है, यही 'प्रतिमाषोडशी' है। क्षरदृष्टया अव्ययाक्षर को गर्भ में रखने वाला षोडशी अर्थप्रधान है, यही 'उपेश्वरषोडशी' है। व्यक्ताव्यक्तातीत सनातन षोडशी षोडशी है, अव्यक्त षोडशी प्रतिमाषोडशी है, व्यक्त षोडशी उपेश्वरषोडशी है। तीनों में से प्रत्येक में सर्वप्रपञ्च अन्तर्भूत है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

---

* तदेतत्सत्यं-यथा सुदीप्तात्-पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।१।

(१)–सनातनषोडशी–(अव्ययः—ज्ञानप्रधानः)—(आलम्बनम्)

परात्परः

आनन्द–विज्ञान–मनः–प्राण–वाग्भावाः–ज्ञानम् (अव्ययोऽव्ययः)
ब्रह्मेन्द्रविष्णु–अग्निसोमभावाः–अमृताः–क्रिया (अक्षरोऽव्ययः) —अव्ययषोडशी–'षोडशी'
ब्रह्मेन्द्रविष्णु–अग्निसोमभावाः–मर्त्याः–अर्थः (क्षरोऽव्ययः)

❀ ❀ ❀

(२)–प्रतिमाषोडशी—(अक्षरः—क्रियाप्रधानः)–कर्त्ता

परात्परः

ब्रह्मेन्द्र विष्ण्वग्निसोमभावा अमृताः–क्रिया (अक्षरोऽक्षरः)
आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्भावाः–ज्ञानम् (अव्ययोऽक्षरः) —अक्षरषोडशी–'प्रतिमाषोडशी'
ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोमभावा मर्त्याः–अर्थः (क्षरोऽक्षरः)

❀ ❀ ❀

(३)–उपेश्वरषोडशी—(क्षरः—अर्थप्रधानः)—प्रभवः

ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोमभावा मर्त्याः–अर्थः (क्षरः क्षरः)
ब्रह्मेन्द्र विष्ण्वग्निसोमभावा अमृताः–क्रिया (अक्षरः क्षरः) —क्षरषोडशी–'उपेश्वरषोडशी'
आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्भावाः–ज्ञानम् (अव्ययः क्षरः)

❀ ❀ ❀

६६–ब्रह्मा–इन्द्र–एवं उपेन्द्र के षोडशीभाव—

क्षर अक्षर के उप (समीप) प्रतिष्ठित है, अतएव तद्रूप षोडशी को अवश्य ही 'उपेश्वरषोडशी' कहा जा सकता है। अक्षर अव्यय की प्रतिमा है, अतएव इसे अवश्य ही 'प्रतिमाषोडशी' कहा जा सकता है। अव्यय स्वतन्त्रेश्वर बनता हुआ स्वतन्त्र षोडशी है। अतः इसे केवल 'षोडशी' कहना ही अन्वर्थ बनता है। अव्ययषोडशी सकल महेश्वरप्रजापति है, यही सहस्रोपेश्वर के सम्बन्ध से सहस्रवल्शेश्वर अश्वत्थब्रह्म है। अक्षरषोडशी सगुण सत्यप्रजापति है, यही सहस्रवल्शाध्यक्ष अव्यक्त स्वयम्भू है। क्षरषोडशी सविकार यज्ञप्रजापति है, यही एकवल्शेश्वराध्यक्ष पुण्डीरस्वयम्भू है। षोडशी ब्रह्मात्मक षोडशी है, प्रतिमाषोडशी इन्द्रात्मक षोडशी है, एवं उपेश्वरषोडशी उपेन्द्रात्मक षोडशी है। तात्पर्य्य यही है कि, अन्तर्य्यामीरूप अक्षरात्मा ब्रह्मा, (स्थिति), इन्द्र (गति), विष्णु (आगति) रूप है। ब्रह्मा चित्पति है, इन्द्र क्रियापति * है, विष्णु अर्थ-

---

* 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्'' (यास्कनिरुक्त)।

पति है। चित्पति ब्रह्मा ज्ञानमय है, इसी दृष्टि से अक्षरात्मा सर्वज्ञ है। इन्द्र क्रियामय है, इसी दृष्टि से अक्षरात्मा सर्वशक्तिमान् है। विष्णु अर्थमय है, इसी दृष्टि से अक्षरात्मा सर्ववित् × है। ब्रह्मात्मक सर्वज्ञ अक्षर से प्रतिष्ठाब्रह्मात्मक क्षर मर्त्यब्रह्मा का विकास हुआ है। इन्द्रात्मक सर्वशक्तिमान् अक्षर से ज्योतिर्लक्षण नामरूपकर्म्मात्मक मर्त्य इन्द्राविष्णु का विकास हुआ है। विष्ण्वात्मक सर्ववित् अक्षर से यज्ञलक्षण मर्त्य अग्नीषोम का विकास हुआ है। प्रतिष्ठाब्रह्म से अभिन्न ज्ञानमय ब्रह्मा ज्ञानप्रधान अव्यय से समतुलित है, अतएव अव्ययात्मक षोडशी को 'ब्रह्मात्मकषोडशी' कहा जा सकता है, यही 'षोडशी' है। ज्योतिर्लक्षण नामरूप से अभिन्न क्रियामय इन्द्र क्रियाप्रधान अक्षर से समतुलित है, अतएव अक्षरात्मक षोडशी को 'इन्द्रात्मक षोडशी' कहा जा सकता है, यही 'प्रतिमाषोडशी' है। अन्नलक्षण यज्ञ से अभिन्न अर्थमय उपेन्द्र (विष्णु+) अर्थप्रधान क्षर से समतुलित है, अतएव क्षरात्मक षोडशी को उपेन्द्रात्मक षोडशी कहा जा सकता है, यही 'उपेश्वरषोडशी' है। निम्म लिखित वचन इसी त्रिविध षोडशी-विवर्त्त का समर्थन कर रहे हैं—

अव्ययः-१-"षोडशकलं वै ब्रह्म" (जै० उ० ३।३८।८।)।-ब्रह्मा षोडशी (षोडशी)
अक्षरः--२-"इन्द्रो ह वै षोडशी" (शत० ४।५।३।१।)।-इन्द्रः षोडशी (प्रतिमाषोडशी)
क्षरः---३-"अतिरिक्तो वै षोडशी" (तां० ब्रा० ६।१।५।)।-उपेन्द्रः षोडशी (उपेश्वरषोडशी)

❀ ❀ ❀

६७-अमृत-ब्रह्म-शुक्र-त्रयीस्वरूपदिग्दर्शन—

महामायावच्छिन्न अव्ययप्रधान महेश्वरप्रजापतिलक्षण अश्वत्थमूर्त्ति षोडशीपुरुष के ही 'अमृतं-ब्रह्म-शुक्रम्' भेद से तीन विवर्त्त मानें गए हैं। अमृतभाव का अव्ययषोडशी से, ब्रह्मभाव का अक्षरषोडशी से, एवं शुक्रभाव का क्षरषोडशी से सम्बन्ध है। माया-कला-परिग्रहोपपन्न अव्ययषोडशी 'अमृतम्' है, यही आत्मयोनि है। गुण-विकार-परिग्रहोपपन्न अक्षरषोडशी 'ब्रह्म' है, यही प्रकृतियोनि है। अञ्जन-आवरण-परिग्रहोपपन्न क्षरषोडशी 'शुक्रम्' है, यही विकृतियोनि है। 'तदेव शुक्रं-तद्ब्रह्म-तदेवामृतमुच्यते' के अनुसार वही अपने अव्यय-अक्षर-क्षर-रूप से षट्परिग्रहोपपन्न बनता हुआ त्रिसंस्थ, षट्संस्थ, एवं चतुःसंस्थ बन रहा है। स्मरण कीजिए-निष्कलकारणस्वरूपमीमांसा में हमनें सच्चिदानन्दब्रह्म के ईश्वर-जीव-जगत् भेद से तीन विवर्त्त बतलाए थे। उन तीनों विवर्त्तों का इन्हीं अमृत-ब्रह्म-शुक्र-संस्थारूप त्रिविध षोडशीरूपों से सम्बन्ध है। सच्चिदानन्देश्वर अव्ययषोडशी है। सच्चिदानन्दजीव अक्षरषोडशी ÷ है। सच्चिदानन्द-जगत्

× यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म-नामरूप-मन्नं च जायते ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।८।

+ उपेन्द्रो विष्णुरेवेन्द्रावरजः-इन्द्रस्य कनिष्ठभ्राता-'उपेन्द्र-इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः' इत्यमरः।

÷ इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत्।
(पराप्रकृतिरक्षरः, स एव जीवसृष्टेराधारभूतः)

क्षरषोडशी है =। तीनों सोपाधिक-उद्बुद्ध सच्चिदानन्द हैं, चौथा परात्पर निरुपाधिक उन्मुग्ध सच्चिदानन्द है, जिसका उपाधिसम्बन्ध से तीन प्रकार का विकास हुआ है। रसैकघन परात्पर 'आनन्दः' है। इसका प्रथम विकास आनन्दः-विज्ञानं-मनः है, यही 'अमृतम्' है। द्वितीय विकास-'मनःप्राणः-वाक्-है, यही 'ब्रह्म' है। तृतीय विकास वाक्-आपः-अग्निः है, यही शुक्रम् है, जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट है।

✻ आनन्दः-परात्परः (उन्मुग्धसच्चिदानन्दो निष्कलः)-अमायी

परात्परो-मायी

आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्भावाः——अव्ययोऽव्ययः—आनन्दः

ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोमभावा अमृताः——अक्षरोऽव्ययः—विज्ञानम

ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोमभावा मर्त्याः——क्षरोऽक्षरः——मनः-✻

—तदेवामृतम् (सनातनषोडशी-ईश्वरः) (अव्ययात्मकः-सच्चिदानन्दः)

परात्परो-मायी

ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोमभावा अमृताः—अक्षरोऽक्षरः—मनः ✻

आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्भावाः—अव्ययोऽक्षरः—प्राणः

ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोमभावा मर्त्याः—क्षरोऽक्षरः——वाक् ✻

—तदेव ब्रह्म (प्रतिमाषोडशी-जीवः) (अक्षरात्मकः-सच्चिदानन्दः)

परात्परो-मायी

ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोमभावा मर्त्याः—क्षरः क्षरः-वाक् ✻

ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोमभावा अमृताः-अक्षरः क्षरः-आपः

आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्भावाः-अव्ययः क्षरः-अग्निः

—तदेव शुक्रम् (उपेश्वरषोडशी-जगत् (क्षरात्मकं सच्चिदानम्)

६८-पञ्च पुण्डीरप्रजापतिस्वरूपदिग्दर्शन—

उक्त सन्दर्भ के विश्लेषण के आधार पर पाठकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि, अक्षरप्रधान सत्यप्रजापति तो प्रतिमाषोडशी है, एवं आत्मक्षरप्रधान यज्ञप्रजापति उपेश्वरषोडशी है। 'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे' के अनुसार षोडशी-प्रतिमाषोडशी-गर्भित-उपेश्वरषोडशी में ही लोकसंस्था अन्तर्भूत है। सत्यप्रजापति

= भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अपरेयम्............। (अपराप्रकृतिः क्षरः, तदिदं जगत्-क्षरः सर्वाणि भूतानि।

की ही यज्ञ, विराट् , विश्व, ये तीन अवस्थाएँ हैं। वही आत्मक्षर के द्वारा यज्ञ बना है, यज्ञ के द्वारा विराट् बना है, विराट् के द्वारा विश्व(प्रजा)रूप में परिणत हुआ है। सत्यप्रजापति प्रतिमाषोडशी है, यज्ञ, विराट , विश्व, तीनों इसी के विवर्त्त हैं। अतएव तीनों का प्रतिमाषोडशी के स्वरूप में हीं अन्तर्भाव माना जा सकता है। तीनों में से विश्वरूपा प्रजा को छोड़ दीजिए, केवल सत्य–यज्ञ–विराट् , इन तीन संस्थाओं पर दृष्टि डालिए। सत्यप्रजापति-लक्षण अक्षरात्मा मायीमहेश्वर के स्वरूप से समतुलित है, यह कहा जा चुका है। इसके गर्भ में पुण्डीर–स्वयम्भूरूप, यज्ञप्रजापतिलक्षण क्षरात्मा प्रतिष्ठित है। सहस्रपुण्डीरस्वयम्भूगर्भित अव्यक्तस्वयम्भूलक्षण परमा–काशात्मक सत्यमूर्त्ति अक्षरात्मा ही प्रथम प्रतिमाषोडशी है, जिसे यज्ञ–विराट्–षोडशी–भावों के पार्थक्य सूचित करने के लिए 'प्रतिमाषोडशी' कहा जायगा। निम्न लिखित परिलेख से इसी का स्पष्टीकरण हो रहा है।

अव्यक्त स्वयम्भूरूप प्रतिमाषोडशी के गर्भमें एक सहस्र पुण्डीरस्वयम्भू प्रतिष्ठित हैं, ये ही उपेश्वरषोडशी है। प्रत्येक उपेश्वरषोडशी के गर्भ में चार चार प्रतिमोपेश्वर हैं। यही पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा है। पाँचों पुण्डीरों में समष्टिरूप से महिमा के द्वारा व्याप्त एकवल्शेश्वर पुण्डीरस्वयम्भू ही आत्मक्षरलक्षण यज्ञप्रजापति है। अवारपारीण यह यज्ञप्रजापति उस सत्यप्रजापति की प्रतिमा है। एवं इसके गर्भ में प्रतिष्ठित चार पुण्डीर इस यज्ञप्रजापति की प्रतिमा हैं। पुण्डीरस्वयम्भू–गर्भित चार प्रतिमाप्रजापतियों की अपेक्षा पुण्डीरस्वयम्भू परम-प्रजापति है। इसप्रकार उपेश्वरषोडशी के 'परमप्रजापति'–'प्रतिमाप्रजापति', ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। **'आत्मपदपुनःपदत्त्वं प्रतिमात्त्वम्'** ही प्रतिमा का लक्षण है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड में वस्तुकेन्द्र, वस्तुपिण्ड, वस्तुमहिमा, ये तीन तीन संस्थाविभाग मानें गए हैं। वस्तुकेन्द्रावच्छिन्न तत्त्व आत्मा है। आत्मा का प्रथम प्रपत्तिस्थानरूप वस्तुपिण्ड 'पदम्' है। द्वितीय प्रपत्तिस्थानरूप वस्तुमहिमा 'पुनःपदम्' है। 'पुनःपदम्' (महिमामण्डल) अशीतिरूप पशु है, पदं (वस्तुपिण्ड) अर्करूप पाश है, हृदयावच्छिन्न आत्मा उक्थरूप पशुपति है। पशुपति–पाश–पशु,–उक्थ–अर्क–अशीति,–वस्तुकेन्द्र–वस्तुपिण्ड–वस्तुमहिमा,–आत्मा–प्राणाः–पाशवः,–आत्मा–पदं–पुनःपदम् , सभी त्रिक तत्त्वतः अभिन्नार्थक हैं। पुण्डीरस्वयम्भू में तीनों संस्थाविभाग विद्यमान हैं। ये ही संस्थाविभाग तद्गर्भीभूत शेष चारों पुण्डीरों में हैं, अतएव इन्हें पुण्डीरपरमप्रजापति की प्रतिमा कहना अन्वर्थ बनता है।

आत्मक्षर की ब्रह्मादि पाँचों मर्त्य कलाओं से प्राणादि पञ्च विकार (गुणभूत) उत्पन्न हुए। पाँचों के पञ्चीकरण से पञ्चीकृत पाँच प्राणादि पञ्चजन (अणुभूत) उत्पन्न हुए। इन पाँच पञ्चजनों के पञ्चीकरण से पाँच पुरञ्जन (रेणुभूत) उत्पन्न हुए। इन पाँच पुरञ्जनों से क्रमशः वेदपुरञ्जन से पुण्डीरस्वयम्भू, लोक-पुरञ्जन से पुण्डीर परमेष्ठी, देवपुरञ्जन से पुण्डीर सूर्य्य, भूतपुरञ्जन से पुण्डीरभूपिण्ड, पशुपुरञ्जन से पुण्डीर चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। मर्त्य ब्रह्मादिरूप आत्मक्षर से विश्वसृट्–पञ्चजन–पुरञ्जन के द्वारा उत्पन्न इन पाँचों पुण्डीरों में 'तत्सृष्ट्वातदेवानुप्राविशत्' न्याय से परात्पर–अव्यय–अक्षरगर्भित आत्मक्षररूप उपेश्वर–षोडशी पाँचों में क्रमशः अपनी ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम–इन पाँच मर्त्यकलाओं से प्रविष्ट हो गया। अतएव ये पाँचों पुण्डीर क्रमशः ब्रह्मात्मक–विष्ण्वात्मक–इन्द्रात्मक–अग्न्यात्मक–सोमात्मक कहलाए। पाँचों में ब्रह्मात्मक पुण्डीरस्वयम्भू 'ब्रह्मा' कहलाया। शेष चारों के विष्णु (परमेष्ठी), इन्द्र (सूर्य्य), अग्नि (भूपिण्ड), सोम(चन्द्रमा), चारों क्षर आत्मा–पदं–पुनःपदं–भावों से पुण्डीरस्वयम्भू से समतुलित रहते हुए प्रतिमा नाम से व्यवहृत हुए, जैसा कि निम्न लिखित श्रुति से प्रमाणित है—

"स ऐक्षत प्रजापतिः (पुण्डीरस्वयम्भूः)—'इमं वाऽआत्मनः प्रतिमामसृक्षि । आत्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत । ता वा एता प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त—अग्निः (पृथिवी), इन्द्रः (सूर्य्यः), सोमः (चन्द्रमाः), परमेष्ठी (विष्णुः) प्राजापत्यः" ।

(शत०११।१।६।१३,१४,) ।

६९–त्रि–धामात्मक विश्वकर्म्मा–प्रजापति का महिमाविवर्त्त—

पुण्डीरस्वयम्भू ही संहिता में 'विश्वकर्म्माप्रजापति' कहलाया, एवं चारों पुण्डीरप्रजापति विश्वकर्म्मा के सखा कहलाए । यही विश्वकर्म्मा पुराण में *'सप्तवितस्तिकायात्मक' ईश्वर नाम से उपवर्णित हुआ । स्वयम्भू 'सत्यलोक' है, यही प्रथमा वितस्ति है । स्व० पर०, दोनों के मध्य का लोक 'तपोलोक' है, यही द्वितीया वितस्ति है । परमेष्ठी 'जनल्लोक' है, यही तृतीया वितस्ति है । परमेष्ठी सूर्य्य, दोनों का मध्यलोक 'महर्ल्लोक' है, यही चतुर्थी वितस्ति है । सूर्य्य 'स्वर्लोक' है, यही पञ्चमी वितस्ति है । सूर्य्य–पृथिवी, दोनों के मध्य का चन्द्रलोक 'भुवर्लोक' है, यही षष्ठी वितस्ति है । पृथिवी भूलोक है, यही सप्तमी वितस्ति है, यही सप्तवितस्तिकायात्मक, एकब्रह्मेश्वर नामक, पञ्चोपेश्वरात्मक, उपेश्वरषोडशी है । पृथिवी, चन्द्रमा (अन्तरिक्ष), सूर्य्य, तीनों की समष्टि भूः–भुवः–स्वः–रूपा प्रथमा 'रोदसीत्रिलोकी' है । सूर्य्य–अन्तरिक्ष–परमेष्ठी, तीनों की समष्टि भूः–भुवः–स्वः–रूपा द्वितीया 'क्रन्दसीत्रिलोकी' है । परमेष्ठी–अन्तरिक्ष–स्वयम्भू, तीनों की समष्टि भूः–भुवः–स्वः–रूपा तृतीया 'संयतीत्रिलोकी' है । यही त्रैलोक्यत्रिलोकी है । 'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे' से इसी त्रैलोक्यत्रिलोकी का ग्रहण हुआ है । रोदसी भूः नाम की महाव्याहृति है, यही विश्वकर्म्मा पुण्डीरस्वयम्भू का 'अवमधाम' है । क्रन्दसी भुवः नाम की महाव्याहृति है, यही विश्वकर्म्मा का 'मध्यमधाम' है । संयती 'स्वः' नाम की महाव्याहृति है । यही विश्वकर्म्मा का 'परमधाम' है । त्रिधामात्मक इसी विश्वकर्म्मा का, जो अपने परमेष्ठ्यादि चारों सखाओं (प्रतिमाप्रजापतियों) को शिक्षा दे रहा है, निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

या ते धामानि परमाणि, यावमा, या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा ॥
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥१॥
किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित्कथासीत् ॥
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्म्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥२॥
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ॥
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥३॥

—यजुः सं० १७।२१,१८,१९,।

---

*—क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भूः–संवेष्टिताण्डघट–'सप्तवितस्तिकायः' ।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥

—श्रीमद्भागवत–१०।१४।११।

(संयती) स्व- (परमं धाम)	स्वयम्भूः (स्वः) —			—सत्यलोकः (७)
	अन्तरिक्षम् (भुवः) —			—तपोलोकः (६)
	परमेष्ठी (भूः)	परमेष्ठी (स्वः) —		—जनल्लोकः (५)
(क्रन्दसी) भुवः (मध्यमं धाम)		अन्तरिक्षम् (भुवः) —		—महर्लोकः (४)
		सूर्य्यः (भूः)	सूर्य्यः (स्वः)	—स्वर्लोकः (३)
(रोदसी) भूः— (अवमं धाम)			अन्तरिक्षम् (भुवः)	-भुवर्लोकः (२)
			पृथिवी (भूः)	-भूलोकः (१)

सप्तवितस्तिकायः–उपेश्वरो यज्ञप्रजा–पतिर्विश्वकर्म्मा पुण्डीरस्वयम्भूरूपः

बतलाया गया है कि–वाक्–आपः–अग्निरूप 'तदेव शुक्रम्' का इस सप्तवितस्तिकायात्मक, एक–बल्शेश्वर यज्ञप्रजापतिलक्षण, आत्मक्षररूप, उपेश्वरषोडशी से ही सम्बन्ध है। अमृत–मर्त्य भेद से शुक्रत्रयी के ६ विवर्त्त हो जाते हैं। मर्त्या वाक्–शुक्रगर्भित अमृतावाक्–शुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के प्रथम पर्व पुण्डीर–स्वयम्भू से है। मर्त्या आपःशुक्रगर्भित अमृता आपःशुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के द्वितीय पर्व पुण्डीर–परमेष्ठी से है। मर्त्य अग्निःशुक्रगर्भित अमृत अग्निःशुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के तृतीय पर्व पुण्डीर–अमृत सूर्य्य से है। अमृत अग्निः–वाक्–शुक्रगर्भित मर्त्य अग्निःशुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के तृतीय पर्व पुण्डीर मर्त्य सूर्य्य से है। अमृता आपःशुक्रगर्भित मर्त्या आपःशुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के चतुर्थ पर्व पुण्डीरचन्द्रमा से है। एवं अमृता–वाक्–शुक्रगर्भित मर्त्यावाक्शुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के पञ्चम पर्व पुण्डीरभूपिण्ड से सम्बन्ध है। इसप्रकार ६ ओं अमृतमर्त्यशुक्रों का उपेश्वर के पाँचों पुण्डीरों में क्रमिक उपभोग हो रहा है।

७०–पञ्चानुगत त्रिधा विभक्त 'मनोता' तत्त्व—

पुण्डीरस्वयम्भू का केन्द्रस्थ मन **वेद, सूत्र, नियति,** इन तीन तत्त्वों में ओत है, ये ही स्वयम्भू के मनोता हैं। पुण्डीर परमेष्ठी का केन्द्रस्थ मन **इट्–उक्–भोगाः,** इन तीन तत्त्वों में ओत है, ये ही परमेष्ठी के मनोता हैं। पुण्डीर सूर्य्य का केन्द्रस्थ मन **ज्योतिः, गौः, आयुः,** इन तीन तत्त्वों में ओत है, ये ही सूर्य्य के मनोता हैं। पुण्डीर चन्द्रमा का केन्द्रस्थ मन **रेतः,–श्रद्धा,–यशः,** इन तीन तत्त्वों में ओत है, ये ही चन्द्रमा के मनोता हैं। पुण्डीर भूपिण्ड का केन्द्रस्थ मन **वाक्–गौः–द्यौः,** इन तीन तत्त्वों में ओत है, ये ही भूपिण्ड के मनोता हैं। इसप्रकार पाँच स्थानों में तीन तीन मनोताओं का उपभोग हो रहा हैं। इनका सम्यक् परिज्ञान ही वेदपरिज्ञान है, जैसाकि निम्न लिखित अनुगमवचन से प्रमाणित है—

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति।
यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति॥

—छान्दो० उप० २।२१।३।

७१–कलाविभागस्वरूपदिग्दर्शन—

बतलाया गया है कि, आत्मक्षर से विश्वसृट्, पञ्चीकृत पञ्चजन, पञ्चीकृत पुरञ्जनों के द्वारा ही पुण्डीररूप इन स्वयम्भू आदि पाँच पुरों का आविर्भाव हुआ है, क्योंकि इनके उपादान मर्त्य ब्रह्मादि पञ्च-कलोपेत आत्मक्षर, तदनुगत अपञ्चीकृत प्राणादि पञ्चकल विश्वसृट् (विकारक्षर), पञ्चीकृत पुरञ्जन-गर्भित पञ्चीकृत वेदादि पञ्चकल पुरञ्जन हैं, अतएव इन में प्रत्येक में पाँचों भावों का समन्वय हो रहा है। पहिले आत्मक्षर को ही लीजिए।

आत्मक्षरकलाः—

(१) पाँचों के ब्रह्मा क्रमशः–विश्वसृट्, पितामह, हिरण्यगर्भ, निधन, पद्मभूः, नामों से प्रसिद्ध हैं।
(२) पाँचों के विष्णु क्रमशः-स्वयम्भूः, गोसवः, नारायणः, वामनः, नामों से प्रसिद्ध हैं।
(३) पाँचों के इन्द्र क्रमशः–वाचस्पतिः, अर्जुनः, मघवा, वृत्रहा, वासवः, नामों से प्रसिद्ध हैं।
(४) पाँचों के अग्नि क्रमशः-सत्याग्निः, ऋताग्निः देवाग्निः, पश्वग्निः, अन्नादाग्निः, नामों से प्रसिद्ध हैं।
(५) पाँचों के सोम क्रमशः–प्राणः, भृगुः, ग्रहः, अन्नम्, ओषधीः, नामों से प्रसिद्ध हैं।

❀ ❀ ❀

विकारक्षरकलाः—

(१) पाँचों के प्राण क्रमशः–ऋषयः, पितरः, देवाः, गन्धर्वाः, पशवः, नामों से प्रसिद्ध हैं।
(२) पाँचों के आपः क्रमशः–प्राणः, अम्भः, मरीचिः, आपः, मरः, नामों से प्रसिद्ध हैं।
(३) पाँचों की वाक् क्रमशः–सत्या, आम्भृणी, बृहती, सुब्रह्मण्या, अनुष्टुप्, नामों से प्रसिद्ध हैं।
(४) पाँचों के अन्न क्रमशः–अर्कः, वाजः, ग्रहः, राजा, हविः, नामों से प्रसिद्ध हैं।
(५) पाँचों के अन्नाद क्रमशः–विश्वभुक्, पलितवामः, सम्वत्सरः, स्वधाभुक्, पशुभुक्, नामों से प्रसिद्ध हैं।

❀ ❀ ❀

(१)–पाँचों के वेद क्रमशः–ब्रह्मनिःश्वसितः, ब्रह्मस्वेदः, गायत्रीमात्रिकः, अथर्वः, यज्ञमात्रिकः नामों से–
(२)–पाँचों के लोक क्रमशः–अशोकमहिमलोकः, कामप्रलोकः, देवलोकः, पितृलोकः, मनुष्यलोकः,–नामों से–
(३)–पाँचों के देव क्रमशः–ब्रह्मा, विष्णुः, इन्द्रः, सोमः, अग्निः, नामों से–
(४)–पाँचों के पशु क्रमशः–पुरुषः, अश्वः, गौः, अविः, अजः, नामों से–
(५)–पाँचों के भूत क्रमशः–आकाशः, वायुः, तेजः, जलम्, पृथिवी, नामों से–प्रसिद्ध हैं।

* * *

पञ्चकल विश्वसृट्, पञ्चकल पञ्चजन, पञ्चकल पुरञ्जन रूप स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड, पाँचों पुण्डीरों का आधार पञ्चकल आत्मक्षर है, तदाधार पञ्चकल अक्षर है, तदाधार पञ्चकल अव्यय है, सर्वाधार निष्कल परात्पर है। परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षररूप षोडशी पाँचों में प्रत्येक में आधार है, विश्वसृट्–पञ्चजन–पुरञ्जन–गर्भित पञ्च पुर पृथक्–पृथक् हैं। दूसरे शब्दों में षोडशी सर्वत्र अभिन्न है, सामान्य

है, अविशेष है। पुर भिन्न हैं, विशेष हैं। षोडशीदृष्ट्या सर्वमिदमभिन्नम्। पुरदृष्ट्या सर्वमिदं विभिन्नम्। यही पञ्चपुरात्मक, आत्मक्षरमूलक, उपेश्वरषोडशी के, (जिसके अवान्तर पाँच उपेश्वरपर्व हैं, जिसमें प्रथम पर्व परमप्रजापति है, शेष चारों प्रतिमाप्रजापति हैं) तात्त्विक स्वरूप का संक्षिप्त विश्लेषण है। आत्मक्षर-प्रधान उपेश्वरषोडशी कर्म्मकाण्ड का आधार है। अक्षरप्रधान प्रतिमाषोडशी भक्तिकाण्ड का आलम्बन है। अव्ययप्रधान सनातनषोडशी ज्ञानकाण्ड की आश्रयभूमि है। एवं विशुद्ध अव्यय (परात्परपुरुष) बुद्धियोग का आधारस्तम्भ है, जिसके विश्लेषण का सौभाग्य एकमात्र गीताशास्त्र को ही प्राप्त है, जिसके संक्षिप्त स्वरूप का उपनिषदों में दिग्दर्शन हुआ है।

७२–तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्—

अव्यक्त स्वयम्भूरूप आभूप्रजापति (अक्षरप्रधान, सत्यलक्षण, प्रतिमाषोडशी) के गर्भ में उक्त पञ्चोपेश्वर षोडशीरूप पुण्डीरस्वयम्भूलक्षण, आत्मक्षरप्रधान, यज्ञमूर्त्ति एकसहस्र उपेश्वर प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि पूर्वपरिलेख द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। प्रकृत में केवल पञ्चोपेश्वरात्मिका एक उपेश्वरसंस्था का परिलेख द्वारा दिग्दर्शन करा दिया जाता है, जो उपेश्वरषोडशी विज्ञेय माना गया है। परात्पररूप महेश्वर अविज्ञेय था, पुरुषरूप सनातन षोडशी दुर्विज्ञेय था, अक्षररूप प्रतिमाषोडशी ज्ञेय था, एवं आत्मक्षररूप यह उपेश्वरषोडशी सुज्ञेय है। अभी 'सुविज्ञेय' नामक एक प्राजापात्य विवर्त्त और शेष रहा है। परिलेखान्तर उसके स्वरूप का भी प्रसङ्गोपात्त दिग्दर्शन कराया जायगा।

बतलाया गया है कि, अक्षररूप सत्यप्रजापतिलक्षण प्रतिमाषोडशी के ही यज्ञ–विराट्–विश्व, ये तीन विवर्त्त हैं। इनमें से यज्ञप्रजापतिरूप उपेश्वर नामक षोडशी का स्वरूप बतला दिया गया। अत्र क्रमप्राप्त विराट्प्रजापति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। यज्ञप्रजापतिरूप उपेश्वर-षोडशी के गर्भ में स्व० पर० सू० चन्द्र० पृ० ये पाँच पुण्डीर बतलाए गए हैं। इन पाँचों पुण्डीरों की समष्टि मायी महेश्वरप्रजापतिलक्षण अश्वत्थवृक्ष की पञ्चपुण्डीरा एक प्राजापत्यवल्शा (शाखा–टहनी) है। इस शाखा का अन्तिम छोर भूपिण्डात्मक पुण्डीर है। यह भूपिण्ड अग्निप्रधान है। यह अग्नि चित्य–चितेनिधेय (मर्त्य–अमृत) भेद से दो भागों में विभक्त है। भूपिण्ड चित्याग्निमय है। भूमहिमा चितेनिधेयाग्निमय है। भूकेन्द्र से विनिर्गत भूपिण्ड से बड़ी दूरतक व्याप्त चितेनिधेयाग्निमण्डल (पुनःपद) ही महिमा-पृथिवी है। मनोताओं का दिग्दर्शन कराते हुए हमनें भूपिण्ड के वाक्–गौः–द्यौः–रूप तीन मनोता बतलाए हैं। महिमामण्डलात्मिका पृथिवी के केन्द्र से आरम्भ कर प्रधि (परिधि) पर्य्यन्त ४८ अहर्गण व्याप्त हैं। इसमें २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त तो वाक्–मनोता व्याप्त है। केन्द्र से आरम्भ कर ३३ पर्य्यन्त 'गौः' नामक मनोता व्याप्त है। केन्द्र से आरम्भ कर ४८ पर्य्यन्त द्यौः नामक मनोता व्याप्त है। **'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्'** (शत० १०।५।१।१) के अनुसार वाङ्नामक प्राणाग्नि ही केन्द्र से परिधि पर्य्यन्त (४८ पर्य्यन्त) व्याप्त रहता हुआ वाक्–गौः–द्यौः रूप में परिणित हो रहा है।

७३–मही, सागराम्बरा, और अदिति—

भूपिण्ड की महिमा में इससे ऊपर के चन्द्रमा–सूर्य्य–परमेष्ठी–स्वयम्भू, चारों पुण्डीरतत्त्वों का प्रवर्ग्यरूप से समन्वय हो रहा है। ४८ पर्य्यन्त स्वायम्भुवतत्त्व प्रतिष्ठित है, यही 'द्यौः' है। ३३ पर्य्यन्त

पारमेष्ठ्यतत्त्व प्रतिष्ठित है, यही गौः है। २१ पर्य्यन्त सौरतत्त्व प्रतिष्ठित है, यही 'वाक् है। द्यौरूप से इसी महिमापृथिवी में प्रवर्ग्यरूप से स्वायम्भुवी संयतीत्रिलोकी का क्रमशः २४-४४-४८ स्तोम भेद से भोग हो रहा है। यही द्यौर्लक्षणा, स्वायुम्भवतत्त्वात्मिका, महापृथिवी **'मही'** कहलाई है। गौरूप से इसी महिमा पृथिवी में प्रवर्ग्यरूप से पारमेष्ठिनी क्रन्दसीत्रिलोकी का क्रमशः ११-२२-३३ स्तोम भेद से भोग हो रहा है। यही गौर्लक्षणा, पारमेष्ठ्यतत्त्वात्मिका, महापृथिवी **'सागराम्बरा'** कहलाई है। वाग्रूप से इसी महिमापृथिवी में प्रवर्ग्य रूप से सौरी रोदसीत्रिलोकी का क्रमशः ६-१५-२१ स्तोमभेद से भोग हो रहा है। यही वाग्लक्षणा, सौरतत्त्वात्मिका, महापृथिवी **'अदिति'** कहलाई है। त्रैलोक्यात्मिका अदिति-पृथिवी भूः है, त्रैलोक्यात्मिका सागराम्बरा-पृथिवी भुवः है, त्रैलोक्यात्मिका मही-पृथिवी स्वः है। तीनों व्याहृतियाँ सप्तवितस्तिकायात्मक, पञ्चपुण्डीरात्मक उपेश्वरस्वरूपवत् इसी महिमापृथिवी में त्रिवृद्रूप से प्रतिष्ठित हैं। आदितिरूप भूः नाम की महाव्याहृति का त्रिवृत् (६) स्तोम 'भूः' है, पञ्चदश (१५) स्तोम भुवः है, एकविंश (२१) स्तोम स्वः है। यही अदितिपृथिवीरूपा भूर्लक्षणा प्रवर्ग्यरोदसीरूपा पहिली आग्नेयी त्रिलोकी है, वाक्-मनोतामयी त्रिलोकी है। सागराम्बरारूपा भुवः नाम की महाव्याहृति का एकादश (११) स्तोम भूः, है, द्वाविंशस्तोम (२२) भुवः है, त्रयस्त्रिंश (३३) स्तोम स्वः है। यही सागराम्बरापृथिवीरूपा भुवर्लक्षणा प्रवर्ग्यक्रन्दसीरूपा दूसरी ऐन्द्रीत्रिलोकी है, गौर्मनोतामयी त्रिलोकी है। महीरूपा स्वः नाम की महाव्याहृति का चतुर्विंश (२४) स्तोम भूः है, चतुश्चत्त्वारिंश(४४) स्तोम भुवः है, अष्टाचत्त्वारिंशत्(४८) स्तोम स्वः है। यही महीपृथिवीरूपा स्वर्लक्षणा प्रवर्ग्यसंयतीरूपा तीसरी ब्राह्मी त्रिलोकी है, द्यौर्मनोतामयी त्रिलोकी है। इसप्रकार भूकेन्द्र से आरम्भ कर ४८ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त महापृथिवी में त्रैलोक्यरूपा तीन पृथिवीविवर्तों का भोग सिद्ध हो जाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

७४-आत्म-देव-भूत-भेदभिन्ना सत्यत्रयी—

'सत्यस्यसत्यं' लक्षण अव्ययप्रधान सनातनषोडशी के आधार पर सत्यलक्षण अक्षरप्रधान प्रतिमाषोडशी का आविर्भाव माना गया है। एवं इस सत्यप्रजापति से यज्ञलक्षण आत्मक्षरप्रधान उपेश्वरषोडशी, तथा विराट् का आविर्भाव माना गया है। सत्यस्यसत्यंगर्भित (अव्ययात्मगर्भित) सत्यं (अक्षरात्मा-सत्यप्रजापति) **'सत्य-यज्ञ-विराट्'** इन तीन भावों में परिणत हुआ है, अतएव तीनों को 'सत्य' शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है। ये तीनों सत्य उपनिषत्-परिभाषा में क्रमशः **'आत्मसत्य, ब्रह्मसत्य, देवसत्य'** इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। ये ही प्रकृत प्रकरण के प्रतिमाषोडशी, उपेश्वरषोडशी, एवं विराट्प्रजापति हैं। आत्मसत्य (अक्षर) प्रकृति है। ब्रह्मसत्य (आत्मक्षर) आत्मसत्य की प्रकृति, तथा देवसत्य की विकृति होने से प्रकृतिविकृति है। देवसत्य ब्रह्मसत्य की विकृति होने से 'विकृति' है। विराट्गर्भ में प्रतिष्ठित भूतात्मक सावरण विश्व देवसत्यरूप विकृति से उत्पन्न होने के कारण वैकारिक है। इस दृष्टि से अक्षररूप आत्मसत्य के आत्मसत्य, ब्रह्मसत्य, देवसत्य, भूतसत्य, ये चार विवर्त्त हो जाते हैं, जोकि क्रमशः सत्य, यज्ञ, विराट्, विश्व, नामों से व्यवहृत हुए हैं। सत्य **'हृदयसत्यम्'** है, यज्ञ **'त्रयीसत्यम्'** है, विराट् **'देवाः सत्यम्'** है, विश्व **'नामरूपे सत्यम्'** है। सगुण सत्य असंस्कार्य्य है। इसी आधार पर भारतीय श्रौत-स्मार्त्त संस्कार **ब्राह्मसंस्कार, दैवसंस्कार, भूतसंस्कार**-भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त हुए हैं, जिनका विशद वैज्ञानिक विश्लेषण 'कर्म्मयोगपरीक्षा' 'ग' विभाग में किया जा चुका है।

* सत्यस्यसत्यम्–अव्ययप्रधानः सनातनषोडशी पुरुषसत्यः
१–तदभिन्नः सत्यप्रजापतिः–प्रतिमाषोडशी–प्रकृतिसत्यः]––आत्मसत्यः (हृदयम्)

२–तदभिन्नो यज्ञप्रजापतिः–उपेश्वरषोडशी–प्रकृतिविकृतिसत्यः]–ब्रह्मसत्यः (त्रयी)

३–तदभिन्नो विराट्प्रजापतिः–विराट्षोडशी–विकारसत्यः]–देवसत्यः (देवाः)

४–तच्छरीरं विश्वप्रजापतिः–विश्वम्–––वैकारिकसत्यः]–भूतसत्यः (भूतानि)

* * * *

*–सत्यस्यसत्यम्—

१–"सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यये तत्र देवाः सर्व एकी भवन्ति" ।
१–प्रकृतिसत्योऽक्षरः–'तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति । तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव"
२–प्र० वि० सत्यः क्षरः–"सैषा त्रयीविद्या यज्ञः । तद्यत्तत् सत्यं, त्रयी सा विद्या" ।
३–विकारसत्यो विकारक्षरः–विराजो वा एतद्रूपं यदक्षरम् (सत्यम्)
—तां० म० ब्रा० ८।६।१४।
४–वैकारिकसत्यः–'नामरूपे सत्यम्" (शत० १४।४।४।३।)

* * *

७५–विराट्-रूप देवसत्य का स्वरूपदिग्दर्शन—

सनातन अव्ययसत्य भी आनन्द–विज्ञान–मनः–प्राण–वाग्रूप से पाँच सत्यस्य सत्यं है, अक्षररूप प्रकृतिसत्य भी ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोमरूप से पञ्चसत्य है। पञ्चात्मक सत्यस्यसत्यं गर्भित पञ्चात्मक–आत्मसत्य के आधार पर प्रतिष्ठित आत्मक्षररूप प्रकृतिविकृतिसत्य भी प्राणः–आपः–वाक्–अन्नं–अन्नादः–रूप से पञ्चसत्यात्मक ही है। वैकारिक भूतसत्य भी पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, भेद से पञ्च सत्यात्मक ही है, परन्तु विकाररूप विराट्सत्य अग्नि, वायु, इन्द्र, भेद से त्रिसत्य है। इसी आधार पर **'त्रिःसत्या वै देवाः'** यह निगम प्रतिष्ठित है। प्राणमूर्त्ति स्वयम्भू, आपोमूर्त्ति परमेष्ठी, वाङ्मूर्त्ति सूर्य्य, अन्नमूर्त्ति चन्द्रमा, अन्नादमूर्त्ति भूपिण्ड, ये पाँच पुण्डीर पञ्च ब्रह्मसत्य हैं, जिनकी समष्टि को पूर्व में 'उपेश्वरषोडशी' बतलाया गया है। इम पाँचों ब्रह्मसत्यों में से पाँचवें भूपिण्डात्मक ब्रह्मसत्य के आधार पर पूर्वप्रदर्शिता त्रैलोक्यत्रिलोकी रूपा महिमा पृथिवी का वितान हुआ है। इस महापृथिवी के अदितिरूपा पृथिवी से ही विराट्–रूप देवसत्य का सम्बन्ध है ।

अदितिपृथिवी के ६–१५–२१ स्तोमों में अग्नि तत्त्व व्याप्त है, अतएव इसे आग्नेयी त्रिलोकी माना गया है। तीनों स्तोमप्रदेशों में क्रमशः घनाग्नि (अग्नि), तरलाग्नि (वायु), विरलाग्नि (इन्द्र) रूप एक ही अग्नि की तीन अवस्थाएँ प्रतिष्ठित हैं। तीनों अग्नियों के त्रिवृत्करण से क्रमशः वाय्विन्द्रगर्भित त्रिमूर्ति

अग्नि, अग्नीन्द्रगर्भित त्रिमूर्त्ति वायु, अग्निवायुगर्भित त्रिमूर्त्ति इन्द्र, इन तीन सर्वभावों का उदय होता है। त्रिमूर्त्ति, अर्थप्रधान अग्नि विराट् है, त्रिमूर्त्ति क्रियाप्रधान वायु हिरण्यगर्भ है, त्रिमूर्त्ति ज्ञानप्रधान इन्द्र सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ की प्रतिष्ठा २१ विंश स्तोम है, आशय (व्याप्तिस्थान) सम्पूर्ण अदितिमण्डल है। हिरण्यगर्भ की प्रतिष्ठा पञ्चदशस्तोम है, आशय अदितिमण्डल है। विराट् की प्रतिष्ठा त्रिवृत्स्तोम है, आशय अदिति–मण्डल है। तीनों अग्नि के ही तीन विवर्त्त हैं। अग्निप्रधानरूप ही विराट् है। अतएव सहस्रपात् विराट्, सहस्राक्षः हिरण्यगर्भ, सहस्रशीर्षः सर्वज्ञ, तीनों की समष्टि **'विराट्प्रजापति'** नाम से ही व्यवहृत हुई है। यही देवसत्यप्रजापति है, यही साञ्जनप्रजापति है। यही अश्वत्थवृक्ष के भूपिण्डरूप शाखाग्र भाग में प्रतिष्ठित साक्षीसुपर्ण है। सागराम्बरापृथिवी के द्वाविंश स्तोमरूप अन्तरिक्ष में भुक्त चान्द्रसोम इसका प्रज्ञानात्मा है। २१–विंशात्मक सौर प्रवर्ग्यांश विज्ञानात्मा है। त्रयस्त्रिंश स्तोमात्मक पारमेष्ठ्यतत्त्व महानात्मा है। मही–पृथिवी में भुक्त स्वायम्भुवतत्त्व अव्यक्तात्मा है। स्वयं भूपिण्ड भूतात्मा है। भूपिण्ड, द्वाविंशस्तोमावच्छिन्न सोम, एकविंशस्तोमावच्छिन्न सौरतत्त्व, त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न पारमेष्ठ्यतत्त्व, अष्टाचत्वारिंशस्तोमावच्छिन्न स्वायम्भुव तत्त्व, क्रमशः, भूतात्मा–प्रज्ञानात्मा–विज्ञानात्मा–महानात्मा–अव्यक्तात्मारूप पञ्चब्रह्मसत्य हैं। पाँचों के भूतात्मारूप भूपिण्डलक्षण ब्रह्मसत्याधार पर वितत विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्ति त्रिसत्य विराट् प्राणात्मा है। यही ईश्वरात्मा है। वस्तुतः विज्ञानभाषा में इसे ही ईश्वर कहा जाता है, जो उपेश्वर के गर्भ में प्रतिष्ठित है। उपेश्वरषोडशी के यच्चयावत् संस्थाविभागों का इस विराडीश्वर में समन्वय हो रहा है। यही विराट्–लक्षण प्रतिमाषोडशी है, जिसे उपेश्वर के गर्भ में प्रतिष्ठित चौथे भूपिण्डात्मक प्रतिमाप्रजापति की प्रतिमा कहा जा सकता है। इसप्रकार प्रतिमाषोडशीरूप सत्यप्रजापति के प्रतिमाषोडशी, उपेश्वरषोडशी, विराट्षोडशी, भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। तीनों को हम 'प्रतिमाषोडशी' स्वरूप में अन्तर्भूत मानते हुए तीनों का 'प्रतिमाषोडशी' नाम से ग्रहण कर सकते हैं। विराट्प्रजापति–स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली पार्थिव परिभाषाओं का पूर्व में जो विश्लेषण हुआ है, वह पर्य्याप्त नहीं है। अवश्य ही विराट्–परिभाषा पाठकों को उलझी सी प्रतीत होगी। इस सम्बन्ध में भक्तिपरीक्षा–पूर्वखण्ड की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जायगा। वहाँ मही, सागराम्बरा, अदिति, सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ, विराट्, आदि तत्त्वों का बड़े विस्तार से आगमनिगमदृष्ट्या विश्लेषण हुआ है। प्रकृत विराट्प्रजापति के यथानुरूप समन्वय के लिए एक बार भक्तिपरीक्षा पूर्वखण्ड के तत्प्रकरणावलोकन का हम अपने पाठकों से विशेष आग्रह करेंगे।

७६–ईश्वर-प्रजापति की ३५४ कलाविभूतियाँ—

विराट्प्रजापति के सम्बन्ध में एक बात और बतला कर प्रकृत स्तम्भ से विश्राम लिया जायगा। विराट्–रूप प्रतिमाषोडशी देवसत्यप्रजापति है, तत्त्वभाषा में यही विभूतिलक्षण ईश्वर है। अनन्त ईश्वर की अनन्त विभूतियों का संख्याप्रदर्शन यद्यपि दुस्साहस है, तथापि ऋषिदृष्टि के द्वारा प्रदृष्ट तत्त्ववाद ने इस विभूतिसंख्या को सुगम–सुविज्ञेय बना दिया है। विभूतिदृष्टि से इस देवसत्यप्रजापति में **आत्मकलाविभूति, सामान्यकलाविभूति, विशेषकलाविभूति,** ये तीन विभूतियाँ हैं। तीनों क्रमशः ७२, २३२, ४१, संख्याओं में विभक्त हैं। सम्भूय ३५४ (तीनसौ चौवन) विभूतियाँ हो जातीं हैं, जिनका श्राद्धविज्ञान के **'आत्म-विज्ञानोपनिषत्'** प्रथमखण्ड में विस्तार से तात्त्विक विश्लेषण हुआ है। विभूतिस्वरूप की विशेष जिज्ञासा रखने वाले पाठकों को तत्खण्ड ही देखना चाहिए। प्रकृत में विषयसङ्गति की दृष्टि से उनके केवल नाम–मात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं।

(१)–'आत्मकलाविभूतयः'

- आत्मविभूतिकलाः-द्वासप्ततिः (७२)
  - अर्द्ध मात्रा
    - १–परात्परकलाः (६)
    - २–अव्ययकलाः (६)
    - ३–अक्षरकलाः (६)
    - ४–आत्मक्षरकलाः (६)
  - ५–आत्मकलाः (६) —अकारः
  - ६–प्राणकलाः (६) —उकारः
  - ७–पशुकलाः (१८) —मकारः

२–सामान्यकलाविभूतयः—

- सामान्यविभूतिकलाः २३१
  - स्वयम्भूः (१)
    - १–ऋषयः (१२)
  - परमेष्ठी (२)
    - २–पितरः (८)
    - ३–असुराः (६६)
  - सूर्य्यः (३)
    - ४–देवाः (३३)
    - ५–मनवः (४)
  - चन्द्रः (४)
    - ६–गन्धर्वाः (२७)
    - ७–ग्रहाः (४०)
  - पृथिवी (५)
    - भूमहिमा
      - ८–पशवः (५)
    - भूः
      - ९–जीवाः (३)

३-विशेषकलाविभूतयः—

१-विद्या	(४)	९-एकरसत्त्वम्	(१)
२-कामः	(२)	१०-एकावस्थत्त्वम्	(१)
३-कर्म्म	(७)	११-विश्वव्यापकत्त्वम्	(१)
४-शुक्रम्	(६)	१२-विश्वस्रष्टृत्त्वम्	(१)
५-प्राणः	(१७)	१३-सर्वसाक्षित्त्वम्	(१)
६-इन्द्रियाणि	(५)	१४-सर्ववशित्त्वम्	(१)
७-पूर्णेन्द्रत्त्वम्	(१)	१५-कर्म्माध्यक्षत्त्वम्	(१)
८-सत्यसंकल्पत्त्वम्	(१)	१६-पाप्मासंस्पृष्टत्त्वम्	(१)

—विशेषविभूतिकलाः (४१)

७७-सर्वसंग्रहात्मक सर्वसमन्वय—

प्रतिमाषोडशी की कारणता प्रक्रान्त है। बल्शातीत, निष्कल, अखण्ड अमायी '**अविज्ञेय**' परात्पर परमेश्वर के यत्किञ्चित् प्रदेश में गर्भीभूत, सहस्रबल्शेश्वर, मायाकलापरिग्रहयुक्त, मायी-सकल, **दुर्विज्ञेय**, महेश्वरप्रजापति नामक, अव्ययप्रधान, सनातनषोडशी षोडशी है। विश्वातीत अविज्ञेय परात्पर 'निष्कल' नामक प्रथम कारण है। तद्‌गर्भीभूत महेश्वरपुरुष नामक षोडशी द्वितीय कारण है। इस अव्ययपुरुषप्रधान सनातन षोडशी से अभिन्न, एकसहस्रपुण्डीर स्वयम्भूविवर्त्तों को अपने गर्भ में रखने वाला अव्यक्त स्वयम्भूरूप, '**आभूप्रजापति**' नाम से व्यवहृत, अक्षरप्रकृतिप्रधान, गुणपरिग्रहयुक्त, ज्ञेय सगुणसत्यप्रजापति ही प्रतिमाषोडशी है। इस प्रतिमाषोडशी के ही सत्य, यज्ञ, विराट्, ये तीन विवर्त्त हैं। सत्यविवर्त्त स्वयं सगुणसत्यप्रजापति है। इसके आधार पर प्रतिष्ठित, परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड, इन चार पुण्डीरात्मक चार प्रतिमाप्रजापतियों को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला, पुण्डीरस्वयम्भूरूप, '**परमप्रजापति**' नाम से व्यवहृत, प्रकृतिविकृतिरूप आत्मक्षरप्रधान, सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति, सविकारप्रजापति ही **विज्ञेय** उपेश्वरषोडशी है, यही एकबल्शेश्वर है। इस एकबल्शेश्वर के भूपिण्ड नामक अन्तिम पर्व के महिमापृथिवीरूप महिमामण्डल में प्रतिष्ठित, अदितिमण्डलावच्छिन्न, विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-कृतात्मा, ब्रह्मसत्यगर्भित देवसत्यात्मरूप, साञ्जन, **सविज्ञेय** विराट्प्रजापति ही ईश्वरषोडशी है। इसप्रकार आरम्भ के अक्षरप्रधान सगुणप्रजापतिरूप प्रतिमाषोडशी के **विश्वेश्वरषोडशी, उपेश्वरषोडशी, ईश्वरषोडशी**, ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। अतएव तीनों की समष्टि का हम '**प्रतिमाषोडशी**' स्वरूप में अन्तर्भाव कर सकते हैं। विश्वेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर-षोडशीलक्षण ही प्रतिमाषोडशी नामक तृतीय कारण है। इस दृष्टि से निष्कल, षोडशी, प्रतिमाषोडशी, ये तीन हीं कारण शेष रह जाते हैं, जिनका प्रकरणारम्भ में उपक्रम हुआ है, एवं यहाँ उपसंहार। इतर यच्चयावत् कारणताओं का इन्हीं तीन कारणताओं में अन्तर्भाव है, जैसाकि वहीं स्पष्ट कर दिया गया है।

उक्त कारणतात्रयी-मीमांसा से एक तथ्य यह भी निकल आता है कि, परमेश्वर, महेश्वर, विश्वेश्वर, उपेश्वर, ईश्वर, पाँचों भाव उपाधिभेद से सर्वथा विभक्त हैं। यह ठीक है कि, वही परमेश्वर है, वही महेश्वर है, वही विश्वेश्वर है, वही उपेश्वर है, वही ईश्वर है, परन्तु गुणदृष्ट्या '**गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्**' न्याय से परमेश्वर महेश्वर से, महेश्वर परमेश्वर से, महेश्वर उपेश्वर से, उपेश्वर महेश्वर से, उपेश्वर विश्वेश्वर से, विश्वेश्वर उपेश्वर से, उपेश्वर ईश्वर से, ईश्वर उपेश्वर से सर्वथा विभिन्न तत्त्व है। यही भेदसहिष्णु अभेद है, यही वास्तविक अद्वैतनिष्ठा है। यही ज्ञानगर्भित भारतीय विज्ञानवाद है। तत्त्ववादानुगता व्यवच्छेदलक्षणा पाण्डित्यदृष्टि के विलुप्तप्राय हो जाने से यह तात्त्विकी अद्वैतनिष्ठा वर्त्तमान में विलुप्तप्राय बन चुकी है। "ईश्वरगर्भित उपेश्वर, सहस्रोपेश्वरगर्भित विश्वेश्वर, विश्वेश्वरगर्भित महेश्वर, ऐसे ऐसे अनन्त-असंख्य महेश्वरगर्भित परमेश्वर एक है। महेश्वर अनन्त हैं। प्रत्येक महेश्वर के गर्भ में विश्वेश्वरानुगत एक एक सहस्र उपेश्वर हैं। प्रत्येक उपेश्वर के गर्भ में विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति एक एक ईश्वर है" इस तात्त्विक विश्लेषण की वास्तव में आज विलुप्ति हो गई है, जिसका एकमात्र कारण है—गीतासिद्धान्तरूप बुद्धियोग की विलुप्ति। सभी भारतीय तत्त्ववाद आज अन्ध-श्रद्धा के पात्र बनते हुए बुद्धियोगसम्पत् से वञ्चित हो गए हैं। यज्ञात्मक कर्म्मकाण्ड का ईश्वरगर्भित उपेश्वर से ही सम्बन्ध है। उपासनात्मक भक्तिकाण्ड का ईश्वरोपेश्वरगर्भित विश्वेश्वर से ही सम्बन्ध है। अव्यक्तात्मक ज्ञानकाण्ड का ईश्वरोपेश्वरविश्वेश्वरगर्भित सहस्रबल्शेश्वर महेश्वर से ही

सम्बन्ध है, एवं सर्वात्मक–सर्वरूप बुद्धिकाण्ड (बुद्धियोग) का ईश्वरोपेश्वरविश्वेश्वरमहेश्वरगर्भित विशुद्ध अव्ययात्मा से ही सम्बन्ध है । विश्वातीत परात्पर चारों काण्डों से अतीत रहता हुआ कर्म्म–भक्ति–ज्ञान–बुद्धियोग, चारों योगों से बहिर्भूत है । इन चारों योगों का मूलाधार अव्ययानुगत बुद्धियोग ही है । अतएव माया–कलादि परिग्रहों के कारण महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर–भावों में परिणत होने वाला बुद्धियोगात्मक अव्यय ही तत्त्वतः **'योगेश्वर'** है । यही योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण है, जिसे आप मायादृष्ट्या महेश्वर, गुणदृष्ट्या विश्वेश्वर, विकारदृष्ट्या उपेश्वर, अञ्जनदृष्ट्या ईश्वर, सभी नामों से व्यवहृत कर सकते हैं । क्योंकि योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूपपरिज्ञान के बिना तदनुगत बुद्धियोगस्वरूपपरिज्ञान असम्भव था, महेश्वरादि विवर्त्तभाव परिज्ञानाभाव में योगेश्वरपरिज्ञान असम्भव था । अतएव प्रस्तुत बुद्धियोगपरीक्षा निबन्ध में सर्वप्रथम योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण करना अनिवार्य्य माना गया । एवं इस अनिवार्य्यता की पूर्ति के लिए क्रमशः निष्कल–षोडशी–प्रतिमाषोडशी, इन तीन कारणताओं की प्रासङ्गिक मीमांसा करनी पड़ी ।

सर्वसंग्रहः—(६४ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)—

(१)–योगेश्वरतत्त्वविस्तारः—

१ *
- १–ऐकान्तिको रसः–निर्विशेषः
- २–बलविशिष्टो रसः–परात्परः

} —निष्कलः–आत्मा (प्रथमं कारणम्) (परमेश्वरः)

❋ ❋ ❋

२
- १–परात्परपुरुषो मायी——परात्परः
- २–षोडशीपुरुषः सकलः——पुरुषः

} मायी, सकलः षोडशी (द्वितीयं कारणम्) (महेश्वरः)

❋ ❋ ❋

३
- १–अक्षरः–प्रकृतिः————सगुणः सत्यप्रजापतिर्विश्वेश्वरः
- २–आत्मक्षरः–प्रकृतिविकृतिः–सविकारो यज्ञप्रजापतिरुपेश्वरः
- ३–विकारक्षरः–विकृतिः———साञ्जनो विराट्प्रजापतिरीश्वरः

} प्रतिमाषोडशी (तृतीयं कारणम्)

❋ ❋ ❋

(२)–

* परमेश्वरे प्रतिष्ठितो योगेश्वरः (अव्ययः)————बुद्धियोगाधारः

१–योगेश्वरे प्रतिष्ठितो महेश्वरः (षोडशी)————ज्ञानयोगाधारः

२–महेश्वरे प्रतिष्ठितो विश्वेश्वरः (अक्षरः)——————भक्तियोगाधारः
३–विश्वेश्वरे प्रतिष्ठितौ उपेश्वरेश्वरौ (आत्मक्षरविकारक्षरौ) कर्म्मयोगाधारः

* * *

(३)–

* असंख्यमहेश्वरगर्भितः–अखण्डः–निष्कलः–परात्परः **परमेश्वरः–अविज्ञेयः**]–योगातीतः
१–सहस्रवल्शेश्वरगर्भितः–मायी–सकलः–षोडशी **महेश्वरः–दुर्विज्ञेयः**]–बुद्धियोगाध्यक्षः
२–सहस्रपुण्डीरस्वयम्भूगर्भित–अव्यक्तस्वयम्भूरूपः सगुणः-सत्यः **विश्वेश्वरः-ज्ञेयः**]भक्तियोगाध्यक्षः
३–पञ्चपुण्डीरेश्वरः-पुण्डीरस्वयम्भूरूपः, सविकारः, यज्ञः **उपेश्वरः-विज्ञेयः** }–कर्म्मयोगाध्यक्षः
४–महापृथिव्यां प्रतिष्ठितः, देवसत्यात्मा, साञ्जनो विराट् **ईश्वरः-सुविज्ञेयः** }

* * *

(४)–

*–परमेश्वरोऽविज्ञेयः ७६–७७ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः
१–महेश्वरो दुर्विज्ञेयः ८०–८१ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः
२–विश्वेश्वरो ज्ञेयः १००–१०१ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः
३–उपेश्वरो विज्ञेयः १०४–१०५ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः
४–ईश्वरः सुविज्ञेयः-१०६–११०–पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः

* * *

एक प्रासङ्गिक गीतादृष्टि का समन्वय कर प्रस्तुत परिच्छेद उपरत हो रहा है। 'ब्रह्म' शब्द गीता में क्षरप्रपञ्च के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'अमृतम्' शब्द अक्षर के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'अव्यय' शब्द षोडशी के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'शाश्वतधर्म्म' बलविशिष्ट परात्पर के लिए, एवं 'ऐकान्तिकसुख' शब्द रसैकघन निर्विशेष के लिए प्रयुक्त है। इन आध्यात्मिक पाँचों विवर्त्तों की मूल प्रतिष्ठा आधिदैविक पाँचों विवर्त्त मानें गए हैं। साञ्जन विराट्रूप ईश्वर विकारक्षरात्मक है, सविकार उपेश्वर आत्मक्षरात्मक है। दोनों क्षरात्मक हैं। क्षर ही गीतापरिभाषा में 'ब्रह्म' है। अतएव गीता के 'ब्रह्म' शब्द से इन दोनों का ग्रहण किया जासकता है। अव्यक्तस्वयम्भूरूप सगुण विश्वेश्वर अक्षरात्मक है। अक्षर ही गीता का अमृत है। अतएव गीता के 'अमृतम्' शब्द से विश्वेश्वर का ग्रहण किया जासकता है। सहस्रवल्शेश्वर षोडशी अव्ययात्मा है। अतएव गीता के 'अव्यय' शब्द से इस षोडशीमहेश्वर का ग्रहण किया जासकता है। यहाँ तक मायासीमा की अभिव्याप्ति है। अतएव 'संयोगा विप्रयोगान्ताः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः' न्याय से मायासीमा का विलयन अवश्यम्भावी है। अतएव मायाके गर्भ में प्रतिष्ठित महेश्वर (अव्यय), विश्वेश्वर (अमृतम्), उपेश्वर–ईश्वर (ब्रह्म), इन चारों (गीतादृष्ट्या तीनों) विवर्त्तों को शाश्वत नहीं कहा जासकता। मायातीत–

सर्वबलविशिष्ट रसरूप परात्पर ही शाश्वत माना जासकता है। अतएव इसे ही गीता के शब्दों में **'शाश्वतधर्म्म'** कहा जासकता है। यही गीतादृष्ट्या चतुर्थ विभूति है। विशुद्धरसरूप निर्विशेष विशुद्ध–निष्कैवल्य–आनन्दरूप है। अतएव इसे गीता के शब्दों में **'ऐकान्तिक सुख'** कहा जासकता है। इसप्रकार गीता ने **ऐकान्तिक–सुख, शाश्वतधर्म्म, अव्यय, अमृत, ब्रह्म**, इन पाँच शब्दों से क्रमशः वैदिक निर्विशेष, परात्पर, षोडशी–महेश्वर, विश्वेश्वर, उपेश्वर–ईश्वर, इन ६ओं विवर्त्तों का संग्रह कर लिया है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है–

१ विशुद्धो रसः]————————निर्विशेषः]—	ऐकान्तिकं सुखम् (५)
२ सर्वबलविशिष्टो रसः]————————परात्परः]—	शाश्वतधर्म्मः (४)
३ षोडशीमहेश्वरः (अव्ययप्रधानः)]–अव्ययः]——	अव्ययः (३)
४ विश्वेश्वरः (अक्षरप्रधानः)]--अक्षरः]——	अमृतम् (२)
५ उपेश्वरः (आत्मक्षरप्रधानः) ६ ईश्वरः (विकारक्षरप्रधानः) } —क्षरः]——	ब्रह्म (१)
श्रौती–दृष्टिः	स्मार्त्ती (गीता) दृष्टिः

'ब्रह्मणो'[1] हि प्रतिष्ठाहं, 'अमृतस्या[2]',–व्ययस्य[3] च।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य[4], सुखस्यैकान्तिकस्य[5] च॥

गीता १४।२७।

७८–कारणत्रयी से अनुप्राणिता संस्थात्रयी—

'निष्कलकारणस्वरूपमीमांसा' नामक पूर्व परिच्छेद में सच्चिदानन्दब्रह्म के तीन विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराते हुए, एवं—**'प्रतिमाषोडशीकारणस्वरूपमीमांसा'** नामक पूर्व परिच्छेद में अमृतं–ब्रह्म–शुक्रं–नाम की तीन अश्वत्थब्रह्मसंस्थाओं का दिग्दर्शन कराते हुए योगेश्वर के **अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत,** इन तीन विवर्त्तों का उल्लेख हुआ है। जिस प्रकार निष्कल, षोडशी, प्रतिमाषोडशी, तीनों का स्वरूपपरिज्ञान योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूपपरिज्ञान के लिए आवश्यकरूप से अपेक्षित है, एवमेव योगेश्वरस्वरूप के यथावत् समन्वय के लिए उसके अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–विवर्त्तों का भी विश्लेषण आवश्यक रूप से ही अपेक्षित है। अतएव कारणत्रयी–मीमांसा के अनन्तर इस संस्थात्रयीमीमांसा की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

७६–अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूतानुगत दृष्टिकोण का समन्वय—

इन तीनों संस्थाओं का पूर्वपरिच्छेदों में जिस दृष्टिकोण से समन्वय हुआ है, पहिले दो शब्दों में उसका सिंहावलोकन कर लेना आवश्यक होगा। आत्मसत्ता–ज्ञान–आनन्दसमष्टिरूप सच्चिदानन्दब्रह्म ईश्वरानुगत है, यही 'अधिदैवतम्' है। स्वसत्ता–ज्ञान–आनन्दसमष्टिरूप सच्चिदानन्दब्रह्म जीवानुगत है, यही 'अध्यात्मम्' है। परसत्ता–ज्ञान–आनन्दसमष्टिरूप सच्चिदानन्दंब्रह्म जगदनुगत है, यही 'अधिभूतम्' है। (६०पृ०)। माया–कलादि परिग्रहों के तारतम्य से पूर्वपरिच्छेदों में सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति, आत्मलक्षण, अमायी, उन्मुग्ध सच्चिदानन्दलक्षण, निष्कल परात्परब्रह्म (परमेश्वर) के ६ विवर्त्तों का अमृत–ब्रह्म–शुक्ररूप से विश्लेषण हुआ है। मायापरिग्रहयुक्त मायी परात्परपुरुष[१], कलापरिग्रहयुक्त सकल षोडशीपुरुष[२], दोनों आत्मन्वी (प्रजापति) संस्थाओं की समष्टि ही 'अमृतम्' है। यही आत्मसत्ता–ज्ञान–आनन्दसमष्टिरूप सच्चिदानन्द है। गुणपरिग्रहयुक्त सगुण सत्यप्रजापति[१], विकारपरिग्रहयुक्त सविकार यज्ञप्रजापति[२], दोनों आत्मन्वी संस्थाओं की समष्टि ही 'ब्रह्म' है। यही स्वसत्ता–ज्ञान–आनन्दसमष्टिरूप सच्चिदानन्दब्रह्म है। अञ्जनपरिग्रहयुक्त विराट्–प्रजापति[१], आवरणपरिग्रहयुक्त विश्वप्रजापति[२], दोनों आत्मन्वी–संस्थाओं की समष्टि ही 'शुक्रम्' है। द्विभावापन्न अमृत सच्चिदानन्द अव्ययप्रधान बनता हुआ सनातन महाषोडशी है, द्विभावापन्न ब्रह्मसच्चिदानन्द अक्षरप्रधान बनता हुआ प्रतिमाषोडशी है, एवं द्विभावापन्न शुक्र सच्चिदानन्द क्षरप्रधान बनता हुआ उपेश्वरषोडशी है। षोडशी ईश्वरानुगत बनता हुआ 'अधिदैवतम्' है, प्रतिमाषोडशी जीवानुगत बनता हुआ 'अध्यात्मम्' है। उपेश्वरषोडशी विश्वानुगत बनता हुआ 'अध्यात्मम्' है। एकमात्र इसी दृष्टिकोण के आधार पर इन तीनों अमृत–ब्रह्म–शुक्रसंस्थाओं को पूर्वपरिच्छेदों में अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–नाम से व्यवहृत कर दिया गया है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

(६) १–मायी परात्परपुरुषः
(५) २–सकलः षोडशीपुरुषः
—महेश्वरो महाषोडशी (अमृतम्–ईश्वरानुगतमधिदैवतम्–अव्ययप्रधानम्)।

(४) १–सगुणः सत्यप्रजापतिः
(३) २–सविकारो यज्ञप्रजापतिः
—विश्वेश्वरः प्रतिमाषोडशी (ब्रह्म–जीवानुगतमध्यात्मम्–अक्षरप्रधानम्)।

(२) १–साञ्जनो विराट्प्रजापतिः
(१) २–सावरणो विश्वप्रजापतिः
—उपेश्वरषोडशी (शुक्र–जगदनुगतमधिभूतम्–क्षरप्रधानम्)।

—(६६ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)।

प्रकारान्तरेण—(१११ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)—

निष्कलकारणम् १
- *–ऐकान्तिको रसः
- *–बलविशिष्टो रसः

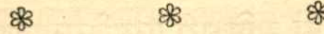
—परात्परः–**परमेश्वरः**–आत्मा तदेव—

षोडशीकारणम् २
- १–परात्परपुरुषो मायी (माया)
- २–षोडशीपुरुषः सकलः (कला)

—**महेश्वरप्रजापतिः**–सत्यस्यसत्यम्]–अमृतमुच्यते (अधिदैवतम्)

पु०षो०का० ३
- ३–अक्षरप्रजापतिः सगुणः (गुणः)—**विश्वेश्वरः**-सत्यप्रजापतिः]–तद्ब्रह्म (अध्यात्मम्)
- १–आत्मक्षरप्रजापतिः सविकारः (विकारः) **उपेश्वरः** यज्ञप्रजापतिः
- २–विकारक्षरप्रजापतिः साञ्जनः (अञ्जनम्) **ईश्वरः** विराट्प्रजापतिः
- ३–वैकारिकक्षरप्रजापतिः सावरणः (आवरणम्) **विश्वम्** विश्वप्रजापतिः

—तदेव शुक्रम् (अधिभूतम्)



८०–त्रिविध जीवविवर्त्तस्वरूपदिग्दर्शन—

यह तो हुआ सिंहावलोकन । अब प्रकृत दृष्टि से तीनों संस्थाओं का समन्वय कीजिए । विज्ञानभाषा में ईश्वरतत्त्व पार्थिवसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्ति देवसत्यात्मा ब्रह्मसत्यगर्भित साञ्जन विराट्प्रजापति का नाम है । यही प्रकृत दृष्टि है । इसी को आधार बना कर तीनों संस्थाओं का समन्वय करना है । यह ईश्वरतत्त्व ही **साक्षी, भोक्ता,** भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है । ईश्वरतत्त्व का 'साक्षी' रूप **'ईश्वर'** कहलाया है, एवं भोक्ता रूप **'जीव'** कहलाया है । जीवस्वरूपात्मक ईश्वर, किंवा ईश्वरस्वरूपात्मक भोक्ता जीव के भी वे ही तीन पर्व हैं, जो तीन पर्व ईश्वरस्वरूपात्मक साक्षी ईश्वर के मानें गए हैं । साक्षी ईश्वर का विराट् पर्व भोक्ता–ईश्वर–[जीव]संस्था में **'वैश्वानर'** कहलाया है । हिरण्यगर्भ पर्व **'तैजस'**, एवं सर्वज्ञ पर्व–**'प्राज्ञ'** कहलाया है । विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ–पर्वत्रयात्मक पार्थिव–साक्षी ईश्वर से समतुलित वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ–पर्वत्रयात्मक पार्थिव भोक्ता जीव के इन तीनों पर्वों के तारतम्य से आगे जाकर जीवसृष्टि त्रेधा विभक्त हो जाती है । जिन जीवों में तीनों पर्व प्रस्फुटित हैं, वे जीव **'ससंज्ञ'** कहलाए हैं । जिन जीवों में तैजस–वैश्वानर, ये दो पर्व प्रस्फुटित, किन्तु प्राज्ञ पर्व अभिभूत है, वे जीव **'अन्तःसंज्ञ'** कहलाए हैं । जिन जीवों में केवल वैश्वानर पर्व प्रस्फुटित, शेष दोनों पर्व अभिभूत रहते हैं, वे जीव **'असंज्ञ'** कहलाए हैं । दूसरे शब्दों में ज्ञानप्रधान जीव ससंज्ञ हैं, क्रियाप्रधान जीव अन्तःसंज्ञ हैं, अर्थप्रधान जीव असंज्ञ हैं। ससंज्ञजीव

'जीवजीव' कहलाए हैं, अन्तःसंज्ञ जीव मूलजीव कहलाए हैं, एवं असंज्ञ जीव धातुजीव कहलाए हैं ! जीवजीव 'चेतनसेन्द्रियजीव' हैं, मूलजीव अर्द्धचेतनत्वगिन्द्रियरूपेण 'एकेन्द्रियजीव' हैं, धातुजीव अर्द्धचेतन-'अनिन्द्रयजीव' हैं । चेतन सेन्द्रियजीव 'जङ्गमजीव' हैं, अर्द्धचेतन एकेन्द्रिय मूलजीव, और अचेतन-निरेन्द्रिय धातुजीव, दोनों स्थावरजीव हैं । अतएव तीन जीवविवर्तों के जङ्गम, स्थावर, भेद से दो ही जीव-विवर्त्त प्रधान मान लिए जाते हैं। इसप्रकार ईश्वर (विराट्प्रजापति) से उत्पन्न जीववर्ग के चर-अचर भेद से दो ही शेष विवर्त्त रह जाते हैं। ईश्वर 'ईश्वर' है, चर प्रपञ्च 'जीव' है, अचर प्रपञ्च 'जगत्' है। यही ईश्वर-जीव-जगद्रूप त्रिसत्यवादात्मक विशिष्टाद्वैत है, जिसका परिलेख से स्पष्टीकरण हो रहा है।

विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्तिः पार्थिवो महाविराट्प्रजापतिरीश्वरः-साक्षी सुपर्णः—ईश्वरः

वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्तिः-पार्थिवः क्षुद्रविराट् प्रजापतिर्जीवः-भोक्ता सुपर्णः-जीवः

—*—

१ वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञरूपेण प्रस्फुटितः-ससंज्ञजीवः——————चेतनः]-जङ्गमो भोक्ता-जीवः

२ वैश्वानर-प्राज्ञरूपेणाभिभूतस्तैजसरूपेण प्रस्फुटितः-अन्तःसंज्ञजीवः-अर्द्ध चेतनः }

३ प्राज्ञतैजसरूपेणाभिभूतो वैश्वानररूपेण प्रस्फुटितः-असंज्ञजीवः-अचेतनः } स्थावरो भोक्ता-जगत्

—*—

८१-'अधिदैवत' उपाधि का अधिकारी परमविराट्प्रजापति—

माया-कला-परिग्रहयुक्त षोडशीपुरुष (महेश्वरप्रजापति) अव्ययप्रधान माना गया है । उक्त त्रित्ववाद के विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति विराट्-रूप ईश्वर के साथ इस अव्ययप्रधान महेश्वर का प्रधान सम्बन्ध है, एकमात्र इसी आधार पर गीता में ईश्वरतत्त्व का-'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' यह लक्षण कर दिया गया है। महाविराडीश्वर ही अधिदैवतम् है । महेश्वर षोडशी का इस से प्रधान सम्बन्ध है। इसी दृष्टिकोण से पूर्वपरिच्छेदों में अमृत-संस्थात्मक सत्यस्यसत्यं-लक्षण-अव्ययप्रधान महेश्वर-प्रजापति को 'अधिदैवतम्' कह दिया गया है। अधिदैवतम् में 'दैवत' पद पठित है, जो देवभाव का सूचक है। उधर देवसत्यात्मा केवल विराट् ही है । अतः तत्त्वतः 'अधिदैवत' उपाधि का यही अधिकारी माना जायगा।

८२-'अध्यात्म' उपाधि का अधिकारी क्षुद्रविराट्प्रजापति—

गुणपरिग्रहयुक्त सत्यप्रजापति अक्षरप्रधान माना गया है। विराडीश्वर के अंशभूत वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूप भोक्ता जीव के साथ इस अक्षरप्रधान सत्यप्रजापति का प्रधान सम्बन्ध है । एकमात्र इसी आधार पर गीता में जीवप्रकृति का-'जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत्' यह लक्षण कर दिया गया है। क्षुद्रविराट्-जीव ही 'अध्यात्मम्' है। सत्यप्रजापति का इसी से प्रधान सम्बन्ध है । अतः इसी दृष्टिकोण से

ब्रह्मसंस्थात्मक–अक्षरप्रधान–सत्यप्रजापति (विश्वेश्वर) को 'अध्यात्मम्' कह दिया गया है। तत्त्वतः 'अध्यात्मम्' शब्द अक्षरानुगत–विराडंशभूत चेतनजीववर्ग के साथ ही सम्बद्ध है।

८३–'अधिभूत' उपाधि का अधिकारी शिपिविष्टप्रजापति—

विकारपरिग्रहात्मक यज्ञप्रजापति (उपेश्वर) आत्मक्षरप्रधान माना गया है। विराडीश्वर के अंशभूत स्थावरजीव के साथ इस आत्मक्षरप्रधान यज्ञप्रजापति का ही प्रधान सम्बन्ध है। एकमात्र इसी आधार पर गीता में इस जगत्प्रकृति का 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' यह लक्षण किया गया है। यज्ञविराड्रूप जगत् ही 'अधिभूतम्' है। यज्ञप्रजापति का इसी से प्रधान सम्बन्ध है। इस दृष्टिकोण से शुक्रसंस्थात्मक–आत्मक्षरप्रधान यज्ञप्रजापति (उपेश्वर) को पूर्व में 'अधिभूतम्' कह दिया गया है। तत्त्वतः अध्यात्मम् शब्द आत्मक्षरानुगत–विराडंशभूत–अचेतन जीववर्ग के साथ ही सम्बद्ध है। इस विवेचन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, महेश्वराव्ययानुगत साक्षी अंशी महाविराट् ही ईश्वर है, यही अधिदैवतम् है। विश्वेश्वरानुगत भोक्ता–अंश–जङ्गम–क्षुद्रविराट् ही जीव है, यही अध्यात्मम् है। एवं उपेश्वरात्मक्षरानुगत अंश–स्थावर–शिपिविष्ट ही जगत् है, यही 'अधिभूतम्' है। यही त्रिसंस्था का प्रकृत दृष्टिकोण है। इसी का क्रमशः विश्लेषण अपेक्षित है।

प्रकृतदृष्टिकोणानुगता संस्थात्रयी—

महेश्वराव्ययानुगतः—विराड्हिरण्यगर्भसर्वज्ञमूर्त्तिर्विराडीश्वरः–परमविराट्—"अधिदैवतम्"
विश्वेश्वराक्षरानुगतः—वैश्वानरतैजसप्राज्ञमूर्त्तिर्जङ्गमो जीवः——क्षुद्रविराट्—"अध्यात्मम्"
उपेश्वरात्मक्षरानुगतः–तैजसप्राज्ञगर्भितं वैश्वानरमयं स्थावरं जगत्–शिपिविष्टः—"अधिभूतम्"

* * * *

८४–सावरणविश्वप्रजापति का स्वरूपसमन्वय—

पाठकों को उनके एक प्रश्न का हम स्मरण करा देना आवश्यक समझते हैं। मायादि परिग्रहों का विश्लेषण करते हुए अञ्जन नामक ६ ठे परिग्रह पर ही विश्राम मान लिया गया है। माया–कला–परिग्रहयुक्त महेश्वर, गुणपरिग्रहयुक्त सत्यप्रजापति, विकारपरिग्रहयुक्त यज्ञप्रजापति, अञ्जनपरिग्रहयुक्त विराट्प्रजापति, इसप्रकार माया से आरम्भ कर अञ्जनपर्य्यन्त पाँच परिग्रहों का विश्लेषण हुआ है। यदि सावरण विश्वप्रजापति से त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप सप्तभुवन अपेक्षित हैं, तो इसका तो यज्ञप्रजापतिस्वरूप में ही अन्तर्भाव हो रहा है, जैसाकि तत्स्वरूपनिरूपण में स्पष्ट कर दिया गया है। फिर आवरणपरिग्रहरूप 'विश्वप्रजापति' का स्वरूप क्या ?, क्यों इसे एक स्वतन्त्र संस्था माना गया ?। प्रश्न का उत्तर संकेत द्वारा पूर्व में दिया जा चुका है। पूर्व परिच्छेदों में विभिन्न दृष्टियों से समन्वित होने वाले षट्–परिग्रहों में से केवल दो दृष्टियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है। परात्परात्मा मायी है, पुरुषात्मा सकल है, अक्षरात्मा सगुण है, आत्मक्षरात्मा सविकार है, विकारक्षरात्मा साञ्जन है, वैकारिकात्मा सावरण है। ये ही ६ ओं विवर्त्त क्रमशः महेश्वर, षोडशी, सत्य, यज्ञ, विराट्, विश्वम्, हैं, (देखिए पृ० सं० ६२)। यही एक दृष्टिकोण है। यहाँ सावरण 'विश्व' को सत्त्वात्मक बतलाया गया है। सत्त्व जीववर्ग का नाम है।

फलतः सावरण विश्व से इस सत्त्वात्मक जीववर्ग का ही ग्रहण न्यायसिद्ध बन जाता है । सत्त्वजीवरूप विश्व उपेश्वरशरीररूप सप्तभुवनात्मक महाविश्व से पृथक् तत्त्व है । प्रश्नसमाधि गतार्थ है । दूसरा दृष्टिकोण **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** निगम से सम्बन्ध रखता है । मायायुक्त महेश्वर, तथा कलायुक्त षोडशी, दोनों की समष्टि **'महेश्वरप्रजापति'** है । गुणपरिग्रहयुक्त सत्य तत्त्व **विश्वेश्वरप्रजापति** है । विकारपरिग्रहयुक्त यज्ञतत्त्व **उपेश्वरप्रजापति** है । अञ्जनपरिग्रहयुक्त विराट् , और आवरणपरिग्रहयुक्त विश्व (जीवत्रयी), **ईश्वरप्रजापति** है । इस दृष्टि से चार विवर्त्त हो रहे हैं (देखिए-पृ० सं० ६२) । जबकि महाविश्वात्मक, तत्त्वतः 'विश्व' शब्दवाच्य विश्व-अर्थ का उपेश्वर में अन्तर्भाव हो जाता है, तो ईश्वरप्रजापति के गर्भ में प्रतिष्ठित सावरण विश्व के लिए केवल सत्त्ववर्ग (जीववर्ग) ही शेष बचता है । उसी का 'सावरण विश्वप्रजापति' से ग्रहण करना चाहिए । प्रत्येक जीव का अपना अपना पाञ्चभौतिक शरीर अपना अपना विश्व है । इस स्व-स्व विश्व के तत्तज्जीव पति बनते हुए विश्वप्रजापति हैं । अंशरूप होने से ये विश्वप्रजापति (जीव) नाना हैं * । जिस प्रकार हमारे शरीरधातुओं में असंख्य जीवाणु व्याप्त हैं, एवमेव विराट्शरीर में जीवाणु-स्थानीय असंख्य विश्वप्रजापति व्याप्त हैं । उपेश्वरसाहस्री के भेद से ऐसे ऐसे विराडीश्वर एक सहस्र हैं । यही इन संस्थाओं का क्रमिक दहरोत्तरसम्बन्ध है, जिसका निष्कर्ष है-**'सर्वमिदमनन्तम्'** । निष्कर्ष यही निकला कि, महाविराट्प्रजापति के अंशभावों से सम्बन्ध रखने वाले खण्ड-खण्डात्मक-सत्त्वरूप (जीवरूप) क्षुद्र-विराट् ही सावरण विश्वप्रजापति है । इसी के साथ अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत संस्थाओं का समन्वय हो रहा है ।

८५-अनश्नन् साक्षी, एवं अश्नन् भोक्ता—

पुनः एक प्रश्न उपस्थित हुआ । विराट्प्रजापतिलक्षण ईश्वर तत्त्व को पूर्व में अधिदैवत कहा गया है । अब यहाँ अधिदैवत का भी सावरण विश्व-(जीव)-संस्था से ही सम्बन्ध बतलाया जा रहा है । दोनों विरुद्ध भावों का समन्वय कैसे सम्भव है ? । उत्तर विराट्-ईश्वर के ही दो विवर्त्तों से सम्बन्ध रखता है । भूकेन्द्र से आरम्भ कर भूमहिमा के ४८ वें अहर्गणपर्य्यन्त व्याप्त लोकत्रयात्मक पार्थिव त्रैलोक्य में एकरूप से-अखण्डरूप से-व्याप्त विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति महाविराट् **'लोकत्रयात्मा'** है । यही विराडीश्वर का मुख्य-तथा प्रातिस्विक विवर्त्त है । यही सर्वसाक्षी विराडात्मा है । प्रत्येक जीव के साथ विभूतिरूप से इस विराट् का सम्बन्ध होता है । जीवानुगता खण्डात्मिका योगमाया से सीमित, जीवलोकसीमा (जीवशरीरसीमा) से सीमित, किन्तु विभूति सम्बन्ध के कारण सर्वथा असङ्गरूप से प्रतिष्ठित खण्ड-खण्डात्मक व्यष्टिरूप विराट् **'सर्वभूतान्तरात्मा'** है । प्रत्येक जीवसंस्था का विराडीश्वर उस जीवसंस्था का ही साक्षी है, अतएव इसे सर्वसाक्षी न कह कर 'जीवसाक्षी' कहा जायगा । अन्य जीवोत्क्रान्ति पर उसका सर्वभूतान्तरात्मारूप जीवसाक्षी विराट् स्वमहिमारूप लोकत्रयात्मक महाविराट् में विलीन हो जायगा, किन्तु अनुत्क्रान्त जीवशरीरों में उनका साक्षीविराट् उन्हीं में प्रतिष्ठित रहेगा । यही प्रत्येक जीवात्मा का प्रातिस्विक साक्षी विराडीश्वर कहलाएगा । महाविराट् जहाँ त्रैलोक्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है, वहाँ यह जीवसाक्षीविराट् जीवशरीर के केन्द्र में

***-"अंशो नानाव्यपदेशात् , अन्यथा चापि-दाशकितवादित्त्वमधीयत एके"**

—व्याससूत्र २।३।१७।४३।

रहता है। जीवशरीर में हीं ईश्वर, जीव, नाम के दो तन्त्रायी मानें गए हैं। हृदयस्थ सर्वभूतान्तरात्मा साक्षी तन्त्रायी है, यही ईश्वर है। तदनुगत भूतात्मा (जीवात्मा) भोक्ता तन्त्रायी है, यही जीव है। दोनों सुपर्ण एक ही हृद्बिन्दु में सयुग्रूप से प्रतिष्ठित हैं। **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार उसी भौतिक शरीर में प्रतिष्ठित एक (साक्षी हृदयस्थ ईश्वरविराट्) **अनश्नन् अभिचाकशीति**। भोगमर्य्यादा से असंस्पृष्ट रहता हुआ भोग भोगने वाले भोक्ता सुपर्ण (जीव) की चौकसी कर रहा है। दूसरा (भोक्ता हृदयस्थ जीवविराट्) 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' भोगों में लिप्त रहता है। गीता के शब्दों पर लक्ष्य दीजिए—

> **"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।**
> **सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति" ॥**
>
> —गीता १३।१३।

८६–ईश्वरभावानुगत गीतावचनसमन्वय—

'सर्वमावृत्य तिष्ठति' लक्षण महाविराडीश्वर ही वर्त्तु लवृत्ताकाराकारित बनता हुआ केन्द्रानुगत शक्तियों का परिधिपर्य्यन्त समानरूप से प्रसार करने में समर्थ बनता हुआ सर्वतःपाणिपादादि लक्षण बन सकता है। 'लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' ही 'सर्वमावृत्य तिष्ठति'। यही समष्टिरूप लोकत्रयात्मा विराट् है। उक्तलक्षण लोकत्रयात्मा विराट् के अंशभूत विराट् का ही नाम जीवानुगत विराट् है। वही विभूतिरूप से हृदयस्थ जीवसाक्षी विराट् है, वही चितिरूप से हृदयस्थ जीवविराट् है। दोनों अभिन्न रूप से एक ही शरीरसंस्था में प्रतिष्ठित हैं। विभूतिसम्बन्धावच्छिन्न हृदयस्थ जीवसाक्षी ईश्वरविराट् सर्वेन्द्रियविवर्जित है, असक्त है, निर्गुण है। चितिसम्बन्धावच्छिन्न हृदयस्थ जीवविराट्–सर्वेन्द्रियगुणाभास है, सर्वभूत है, गुणभोक्ता है। पूर्वश्लोक से भगवान् ने समष्टिलक्षण लोकत्रयात्मा महाविराट् का दिग्दर्शन कराया, एवं निम्न लिखित उत्तरश्लोक से व्यष्टिलक्षण हृदयावच्छिन्न ईश्वरविराट् के साक्षी, भोक्ता दोनों विवर्त्तों का सहैव दिग्दर्शन कराया—

> **सर्वेन्द्रियगुणाभासं (जीवविराट्) —भोक्ता हृदयस्थः**
> **सर्वेन्द्रियविवर्जितम् (ईश्वरविराट्)—साक्षी हृदयस्थः**
> **असक्तं————(ईश्वरविराट्)**
> **सर्वभृच्चैव————(जीवविराट्)**
> **निर्गुणं————(ईश्वरविराट्)**
> **गुणभोक्तृ च——(जीवविराट्)—गीता० १३।१४।**

जिस प्रकार जीवविराट् स्वस्थानसमतुलित सर्वभूतान्तरात्मलक्षण अपने जीवसाक्षी विराट् से अभिन्न है, एवमेव यह जीवसाक्षीरूप व्यष्टिविराट् उस समष्टिरूप लोकत्रयात्मलक्षण महाविराट् से अभिन्न है। वही तो विभूतिसम्बन्ध से जीवसाक्षी बना है। लोकत्रयात्मा, सर्वभूतान्तरात्मा, दोनों की इस अभिन्नता का, साथ ही दोनों के प्रातिस्विक विभिन्नधर्म्म–भावों का स्पष्टीकरण करते हुए आगे जाकर भगवान् कहते हैं–वह अपने

समष्टिरूप से सबसे बहिर्भूत है, अपने व्यष्टिरूप से सबमें अन्तःप्रविष्ट है। समष्टिरूप से वह अचर है, व्यष्टिरूप से वह चर है। समष्टिरूप से वह सुसूक्ष्म बनता हुआ अविज्ञेय है, दूरस्थ है। व्यष्टिरूप से वह विज्ञेय है, समीपस्थ (जीव के समीप) है। सम्पूर्ण भूतों में वह अपने समष्टिरूप से अविभक्त है, व्यष्टिरूप से सब व्यष्टियों (जीवों) में विभक्त सा बन कर प्रतिष्ठित है। व्यष्टिरूप से वह जीवरूप भूत का (भूतात्मा का) भर्त्ता बनता हुआ भूतभर्त्ता है, जीव के लिए ज्ञेय है, जीव का प्रतिसंचरकाल में ग्रास करता हुआ ग्रसिष्णु है, संचरकाल में जीवप्रभव बनता हुआ प्रभविष्णु है।

बहिः (महाविराट्), अन्तश्च भूतानां–(जीवसाक्षीविराट्)।
अचरं (महाविराट्), चरमेव च (,,   )
सुसुसूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं (महाविराट्)
चान्तिके च तत् (जीवसाक्षीविराट्) –गीता० १३।१५।
अविभक्तं च भूतेषु (महाविराट्)
विभक्तमिव च स्थितम् (जीवसाक्षीविराट्)
भूतभर्तृ च, तज् ज्ञेयं, ग्रसिष्णु, प्रभविष्णुच (जीवसाक्षीविराट्)

—गीता० १३।१६।

उक्त गीतादृष्टि के अनुसार विराट्प्रजापति के व्यापक, जीवानुगत विभूतिरूप, जीवात्मक चितिरूप, भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। व्यष्टिलक्षण जीवात्मक विराट् भी ज्ञानज्योतिर्म्मय है, व्यष्टिलक्षण विभूतिरूप जीवानुगत जीवसाक्षीविराट् भी ज्ञानज्योतिर्म्मय है। इन समस्त ज्ञानज्योतियों का मूलाधार महाविराट् है। अतएव उस व्यापक विराट् को अवश्य ही–'तमसः परं–ज्योतिषां ज्योतिः' कह सकते है। इसका अपना व्यापक स्वरूप (महाविराट्रूप) तो **'ज्ञानगम्य'** (बुद्धियोगगम्य) है, इसका व्यष्टिरूप जीवसाक्षी स्वरूप **'ज्ञेय'** है, एवं इसका व्यष्टिरूप जीवस्वरूप **'ज्ञान'** (जानने का साधन, ज्ञाता) है। ज्ञानरूप ज्ञाता जीवविराट् है, ज्ञेयतत्त्व जीवसाक्षी विराट् है, ज्ञानगम्य तत्त्व महाविराट् है। इसप्रकार तटस्थ, विभूति, चिति, भावों से वही ज्योतिषां ज्योतिः क्रमशः ज्ञानगम्य-ज्ञेय-ज्ञान (ज्ञाता) रूपों में परिणत होता हुआ व्यापक महाविराट्, जीवानुगत विभूतिविराट्, जीवात्मक चितिविराट्–रूप से तीन भावों का प्रवर्त्तक बन विभूतिरूप से सब प्राणियों के हृदय में प्रतिष्ठित हो रहा है। इसी सर्वसंग्रह का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ने अन्त में कहा है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।

(१) ज्ञानं——जीवविराट्
(२) ज्ञेयं——जीवसाक्षीविराट्
(३) ज्ञानगम्यं–महाविराट्

} –हृदि सर्वस्य विष्ठितम् (विभूतिस्वरूपेण)

—गीता० १३।१७।

* * *

महाविराड्-ईश्वरः-उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

❀ ❀ ❀

जीवसाक्षी-ईश्वरः-ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

* * *

८७-जीवविराड्-भावानुगता स्मार्त्ती दृष्टि—

दो शब्दों में स्मार्त्तदृष्टि से भी विषयसमन्वय कर लीजिए। जीवशरीर में दो तन्त्रायी हैं, यह कहा गया है। हृत्प्रतिष्ठ जीवसंस्था का मूलाधार जीवसाक्षी सर्वभूतान्तरात्मा नामक ईश्वरविराट् 'परमात्मा' है। यह बन्ध-मोक्ष-भावों से असंस्पृष्ट है। स्वयं जीवात्मा 'भूतात्मा' नामक जीवविराट् है, यही जीवात्मा है, यही कर्म्मात्मा है, जिसे सप्तदशराशि से, बन्ध-मोक्ष भावों से युक्त माना गया है, जिन भावों का 'अध्यात्मसंस्था' नामक अगले परिच्छेदों मे विस्तार से स्पष्टीकरण होने वाला है। इस दृष्टि से भी केवल जीवसंस्था में हीं ईश्वरविराट् (परमात्मा), जीवविराट् (कर्म्मात्मा), दो अध्यक्षों की सत्ता सिद्ध . हो जाती है, जैसाकि निम्न-लिखित वचनों से स्पष्ट है—

जीवानुगतः-ईश्वरविराड्-तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ॥
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१॥

❀ ❀ ❀

जीवात्मको जीवविराट्--कर्म्मात्मात्त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ॥
स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः ॥२॥

—महाभारत......... ।

* * *

छोड़िए विस्तारक्रम को। यह सिद्ध हो गया कि, साञ्जन महाविराट् से अतिरिक्त विराट् ही के योगमायानुगत जीवसाक्षीविराट्, जीव विराट्, ये दो विवर्त्त और हो जाते हैं। जीवविराट् पूर्वकथनानुसार जङ्गम-स्थावर भेद से दो भागों में विभक्त है। स्थावर जीवविराट् जगत् है, जङ्गम-जीवविराट् जीव है, उभयसाक्षी व्यष्टिरूप हृदयस्थ विराट् ईश्वर है। और ईश्वर-जीव-जगल्लक्षण यह त्रयी उस महाविराट्-साञ्जनप्रजापति के गर्भ में भुक्त है। साञ्जनविराट्प्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित ईश्वरविराट्-जीवविराट्-जगद्विराट्, तीनों सावरण है। यद्यपि ईश्वरविराट् (हृदयस्थ साक्षी विराट्) उस महाविराट् से अभिन्न बनता हुआ स्वस्वरूप से निरावरण है। तथापि जीवात्मिका-खण्डखण्डात्मिका योगमाया-लक्षण जीवावरण के साक्षी बनने से, सावरणा जीवसंस्था में प्रतिष्ठित रहने से इसका भी सावरण-जीवसंस्था में हीं अन्तर्भाव मान लिया गया है, जिस अध्यात्मसंस्थाप्रविष्ट अधिदैवतरूप ईश्वराव्यय की इस योगमायानुगता सावरणता का गीता के द्वारा-'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' इन शब्दों में समर्थन हुआ है।

८८–कारणत्रयी से अनुप्राणिता कार्य्यत्रयी—

सावरणप्रजापति विश्वप्रजापति है, यही सत्त्वात्मक जीवप्रजापति है। माया-कला-गुण-विकार-अञ्जन, इन पाँच परिग्रहों का कारणत्रयी से सम्बन्ध है। आवरण परिग्रह का कार्य्यत्रयी से सम्बन्ध है। निष्कल-षोडशी-प्रतिमाषोडशी, ये तीन कारण हैं, जिनका क्रमशः पूर्व परिच्छेदों में विश्लेषण हुआ है। जीवानुगत सावरण ईश्वरविराट्, जङ्गमजीवात्मक सावरण जीवविराट्, स्थावरजीवात्मक सावरण जगद्विराट्, ये तीन कार्य्य हैं। तीनों में से प्रत्येक कार्य्य के तीनों कारण बने हुए हैं। ईश्वरविराट्रूप कार्य्य 'अधिदैवतम्' है, जीवविराट्रूप कार्य्य अध्यात्मम् है। जगद्विराट्रूप कार्य्य अधिभूतम् है। पञ्चपरिग्रहविशिष्टा कारणत्रयी से विकास कार्य्य की उत्पत्ति हुई !, प्रश्न का उत्तर षष्ठ आवरणपरिग्रहविशिष्टा यही कार्य्यत्रयी है, जिसका स्वरूप बिजिज्ञास्य है। यहाँ आकर ६ ओं परिग्रहों का, तीनों कारणों का, तीनों कार्य्यों का निर्विरोध समन्वय हो जाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

योगेश्वरस्य कारण–कार्य्यस्वरूपप्रदर्शनम्— (१११ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)

१
- १–ऐकान्तिको रसः–निर्विशेषः
- २–बलविशिष्टो रसः-परात्परः

}——निष्कलः (प्रथमं कारणम् १)

२
- १–परात्परपुरुषो मायी–परात्परः
- २–षोडशीपुरुषः सकलः-पुरुषः

}——(षोडशी द्वितीयं कारणम् २)

३
- १–अक्षरः-प्रकृतिः (सगुणः सत्यप्रजापतिर्विश्वेश्वरः)
- २–आत्मक्षरः-प्रकृतिविकृतिः (सविकारो यज्ञप्रजापतिरुपेश्वरः)
- ३–विकारक्षरः-विकृतिः (साञ्जनो महाविराट्प्रजापतिरीश्वरः)

}—प्रतिमाषोडशी (तृतीयं कारणम् ३)

एषा–कारणत्रयी (आत्मा)

प्रथमकारणात्मकनिष्कल,–द्वितीयकारणात्मकषोडशी,–तृतीयकारणस्य–अक्षरप्रकृतिरूप–विश्वेश्वर,–आत्मक्षरप्रकृतिविकृतिरूपोपेश्वर,–गर्भितः–विकारक्षररूपेश्वररूपस्तृतीयकारणात्मकः–कारणत्रयमूर्त्तिः साञ्जनो महाविराट् प्रजापतिः कारणं सावरणस्य कार्य्यात्मकस्य विश्वस्य–

सावरणो विश्व प्रजापतिः (जीवसर्गः		
	१–जीवानुगतः साक्षीविराट् (साक्षी)–ईश्वरः (अधिदैवतम्) प्रथमंकार्य्यम्	त्रेधा–कार्य्यत्रयी 'विश्वम्'
	२–जीवात्मको जीवविराट् (जङ्गमजीवः)–जीवः (अध्यात्मम) द्वितीयंकार्य्यम्	
	३–जगदात्मको जगद्विराट् (स्थावरजीवः)–जगत् (अधिभूतम) तृतीयंकार्य्यम्	

* * *

८९–उभयविराट्स्वरूपसमर्थक श्रौत–स्मार्त्त–वचन–

इमान्यत्र संग्रहवचनानि विमर्शनीयानि—

लोकत्रयात्मा महाविराट्–अंशी–

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्त्ततेऽयम् ॥
धर्म्मावहं पापनुदं भवेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥१॥
तमीश्वराणां * परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ॥
पतिं पतीनां परमं परस्तात्–विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥२॥
––श्वे० उप० ६।६,७,।

* * *

---

* पुराणसमन्वयः—

–बद्धो, मुक्त, इति व्याख्या गुणतो मे, न वस्तुतः ॥
गुणस्य मायामूलत्त्वान्न मे मोक्षो, न बन्धनम् ॥१॥
शोकमोहौ सुखं दुःखं, देहापत्तिश्च मायया ॥
स्वप्नो यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी ॥२॥
विद्याऽ–विद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव ! शरीरिणाम् ॥
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्म्मिते ॥३॥
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ! ॥
बन्धोऽस्याऽविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ॥४॥
अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते ॥
विरुद्धधर्म्मिणोस्तात ! स्थितयोरेकधर्म्मिणि ॥५॥

[शेष पृष्ठ १२४ पर देखिए]

सर्वभूतान्तरात्माविराट्-अंशः-

एको देवः सर्व्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥
कर्म्माध्यक्षः सर्व्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ॥१॥
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ॥
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं, नेतरेषाम् ॥२॥
नित्यो नित्यानां, चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्॥
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥३॥

श्वे० उप० ६।११,१२,१३,।

* * *

उभयोः समन्वितं रूपम्-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥१॥
यत्रा सुवर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ॥
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥२॥
यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ॥
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥३॥

ऋक् सं०१।१६४।२०,२१,२२।

* * *

परमविराट्-आध्यात्मिक-ईश्वरविराट्-जीवविराट्-त्रयाणामेषां संग्रहः-

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते, विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढे ॥
क्षरं त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

श्वे०उप०५।१।

* * *

[१२३ पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश]

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥६॥
आत्मानमन्यं च स वेद विद्वानपिप्पलादो न तु पिप्पलादः ॥
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो, विद्यामयो यः स हि नित्यमुक्तः ॥७॥

—श्रीमद्भागवते ११।१०।

९०--जीवानुगता ईश्वर-जीव-जगत्-त्रयी—

अमायी निष्कल परात्पर, माया-कला-परिग्रहयुक्त महेश्वरप्रजापति, गुणपरिग्रहयुक्त विश्वेश्वरप्रजापति, विकारपरिग्रहयुक्त उपेश्वरप्रजापति, इन चारों विवर्त्तों को 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला, अञ्जनपरिग्रहयुक्त महाविराटप्रजापति देवसत्यात्मा पार्थिवेश्वर से आवरणपरिग्रहयुक्त सावरणजीव-सृष्टि का विकास हुआ। **'एकस्यैव ममांशस्य०'** इत्यादि पूर्वोक्त पुराणवचनानुसार महाविराट् के अंशभूत हृदयावच्छिन्न आध्यात्मिकेश्वर विराडीश्वर के विद्यात्मक अविद्यात्मक, दो विवर्त्त हो गए। विद्यात्मक रूप ईश्वर कहलाया, जिसे आध्यात्मिकी योगमाया के सम्बन्ध से हम 'जीव' ही कहेंगे। अविद्यात्मक रूप जीव कहलाया। इसी आधार पर-**'जीवस्यैव महामते'** कहना अन्वर्थ बना। अविद्यात्मक जीव के आगे जाकर जङ्गम-स्थावर, दो विवर्त्त हो गए। इस प्रकार अंशात्मक जीव के ही (सत्स्वरूप विश्व के ही) ईश्वर, जीव, जगत्, विद्यात्मक जीव, अविद्यात्मक जङ्गमजीव, अविद्यामय स्थावरजीव), ये तीन विवर्त्त हो गए। तीनों का समुच्चितरूप ही सावरणविश्वप्रजापति कहलाया। ये ही तीनों सावरणरूप क्रमशः अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत कहलाए। तीनों में से क्रमप्राप्त पहिले सावरण अंशात्मक विराडीश्वर से सम्बन्ध रखने वाली अधिदैवतसंस्था की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

९१-जीवविराट्पुरुषानुगता 'आत्मग्राम' स्वरूपमीमांसा—

अधिदैवतलक्षण आध्यात्मिक विराडीश्वर के **'आत्मा, भूतम्'** ये दो प्रधान विवर्त्त माने गए हैं। आत्मा **'आत्मग्राम'** कहलाया है, क्योंकि अनेक आत्माओं के समन्वय से एक आध्यात्मिक ईश्वरात्मा का स्वरूप व्यवस्थित हुआ है। भूतं 'भूतग्राम' है, क्योंकि अनेक भूतों के समन्वय से एक आध्यात्मिक ईश्वरभूत का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। पहिले क्रमप्राप्त ईश्वरीय (अधिदैवत) आत्मग्राम की ही मीमांसा कीजिए। बात सब कुछ उपेश्वर, और अंशीरूप महाविराट् के विश्लेषण द्वारा सुनी समझी हुई है। उसीका यहाँ समन्वयमात्र कर लेना है। आध्यात्मिक ईश्वर महाविराट् का अंश है। महाविराट् उपेश्वर का अंश है, उपेश्वर विश्वेश्वर का अंश है। विश्वेश्वर महेश्वर का अंश है। और 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से पूर्व पूर्वस्थ अंशी के सर्व-धर्म्मों का उत्तर-उत्तरस्थ अंशों में समन्वय है। तभी तो कारणरूप महाविराट् को सर्वधर्म्मोपपन्न बतलाया गया है। फलतः कार्य्यरूप इस आध्यात्मिक ईश्वर में भी उन सर्वधर्म्मों का समन्वय प्रकृतिसिद्ध बन जाता है। इसी सर्वधर्म्मदृष्टि को लक्ष्य बना कर 'आत्मग्राम' का समन्वय कीजिए।

यह आत्मग्राम **गूढोत्मा, अव्यक्तात्मा, वैकारिकात्मा,** भेद से तीन भागों में विभक्त है। इस अंशात्मिका ईश्वरविराट्संस्था में महाविराट् के द्वारा भुक्त परात्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-रूपषोडशकल महेश्वरात्मा ही **गूढोत्मा** है। यह अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत-तीनों में समान है। इस संस्था में भुक्त-व्यापक अव्यक्त स्वयम्भूरूप अक्षरप्रधान विश्वेश्वरांश इसका **अव्यक्तात्मा** है, यह भी तीनों में समान है। तीसरा वैकारिकात्मवर्ग तीनों में असमान है। पञ्चोपेश्वरांशभूत महाविराट् में भुक्त स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सौर-चान्द्र-भौम, पाँचों के अंश इस संस्था में क्रमशः **चिदात्मा, हिरण्यगर्भात्मा, सर्वज्ञात्मा, महानात्मा, विराडात्मा,** इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। पाँचों विकारात्मा हैं। पाँचों में से पाँचवाँ विराडात्मा **चित्यात्मा, वराहात्मा, विराडात्मा, हिरण्यगर्भात्मा, सर्वज्ञात्मा,** इन पांच भागों में विभक्त है।

चित्यात्मलक्षण विराडात्मा महाविराट् के भूपिण्डानुगत अंशी का अंश है । वराहात्मलक्षण विराडात्मा महाविराट् के भूवायु-अनुगत अंशी का अंश है । विराडात्मलक्षण विराडात्मा महाविराट् के त्रिवृत्-स्तोमावच्छिन्न वाय्विन्द्रगर्भित अग्निप्रधान त्रिमूर्त्ति विराडग्नि का अंश है । हिरण्यगर्भलक्षण विराडात्मा महाविराट् के पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अग्नीन्द्रगर्भित वायुप्रधान त्रिमूर्त्ति वायुविराट् का अंश है । सर्वज्ञलक्षण विराडात्मा महाविराट् के एकविंशस्तोमावच्छिन्न अग्निवायुगर्भित इन्द्रप्रधान त्रिमूर्त्ति इन्द्रविराट् का अंश है । इसप्रकार भूपिण्ड, भूवायु, त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश-स्तोमावाच्छिन्न अग्नि-वायु-इन्द्र, महाविराट् के इन पाँचों अंशियों के अंश ही इस आध्यात्मिक अधिदैवत ईश्वरविराट् के चित्यात्मादि पाँच विराडात्मा कहलाये हैं । पाँचों में चित्यात्मा वराहात्मा, दोनों का एक विभाग है, यही इस ईश्वर का बाह्यात्मा (शरीर) है । विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ, तीनों का एक विभाग है, यही इस ईश्वर का अन्तरात्मा (आत्मा) है । यही 'सर्वभूतान्तरात्मा देवसत्यात्मा' है । महाविराट् के पञ्चदश स्तोमावच्छिन्न चान्द्रतत्त्व का अंशभूत महानात्मा ही इसका 'मन' है । महाविराट् के एकविंशस्तोम से अनुगत सौर तत्त्व का अंशभूत सर्वज्ञात्मा ही इसकी 'बुद्धि' है । महाविराट् का त्रयस्त्रिंशस्तोमानुगत पारमेष्ठ्य तत्त्वांशभूत हिरण्यगर्भात्मा ही इसका 'महानात्मा' है । महाविराट् का अष्टा-चत्वारिंशस्तोमानुगत पुण्डीरस्वायम्भुव तत्त्वांशभूत चिदात्मा ही इसका शान्तात्मा है । इसप्रकार महाविराट् के प्रवर्ग्य भागों से कृतरूप इस साक्षी अधिदैवत विराट् के वैकारिकात्मा ९ भागों में विभक्त हो रहे हैं । ९ में चार विकारात्मा हैं, पाँच वैकारिकात्मा हैं । दोनों अभिन्न हैं । अतः ९ की समष्टि को विकारात्मा, वैकारिकात्मा, दोनों नामों से व्यवहृत किया जा सकता है । दसवाँ विश्वेश्वरांशभूत-अव्यक्त स्वयम्भु का अंशभूत तत्त्व अव्यक्तात्मा है । यही इसका प्राकृतात्मा है । ग्यारहवाँ महेश्वरांशभूत गूढोत्मा है, यही इसका पुरुषात्मा है । सम्भूय ईश्वरीय आत्मग्राम में एकादश आत्मविवर्त्तों का समन्वय हो रहा है ।

अधिदैवतानुगतः–आत्मग्रामः—

(१) महाविराडऽनुगतः षोडशी महेश्वरः	—तदंशः—	'ईश्वराव्ययो' 'गूढोत्मा' 'अव्यक्तात्मा'	
(२) महाविराडऽनुगतः अक्षरो विश्वेश्वरः	—तदंशः—		
(३) महावि० ४८ स्तोमानुगतं–स्वायम्भुवतत्त्वम्	—तदंशः—	चिदात्मा	ईश्वरीय–आत्मग्रामः
(४) ,, ३३ ,, –पारमेष्ठयतत्त्वम्	—तदंशः—	हिरण्यगर्भात्मा	
(५) ,, २१ ,, सौरतत्त्वम्	—तदंशः—	सर्वज्ञात्मा	
(६) ,, १५ ,, –चान्द्रतत्त्वम्	—तदंशः—	महानात्मा	
(७) ,, २१ ,, –व्यापक-सर्वज्ञतत्त्वम्	—तदंशः—	सर्वज्ञात्मा	
(८) ,, १५ ,, – ,,हिरण्यगर्भतत्त्वम्	—तदंशः—	हिरण्यगर्भात्मा	
(९) ,, ६ ,, – ,,विराट्तत्त्वम्	—तदंशः—	विराडात्मा	
(१०) ,,————भूवायुः	—तदंशः—	वराहात्मा	
(११) ,,————भूपिण्डः	—तदंशः—	चित्यात्मा	

❀—❀—❀

इति नु–अमुत्र–(महाविराट्–पार्थिवेश्वरः–चिदात्मा) चिदात्मा–सर्वेश्वरः—	इति नु–तदन्विह–साक्षीविराट्–अव्ययात्मेश्वरः-चिदंशः (अधिदैवतम्) प्रत्यगात्मा–ईश्वरः

प्रकारान्तरेण—

१–गूढोत्मा——ईश्वरस्य पुरुषात्मा
२–अव्यक्तात्मा— ,, प्राकृतात्मा
—ईश्वरात्मकजीवस्य पुरुषात्मा (सा काष्ठा, सा परा गतिः) ——[१]अमृतसत्यात्मा

३–चिदात्मा—— ,, शान्तात्मा——ईश्वरात्मकजीवस्य शान्तात्मा
४–हिरण्यगर्भात्मा–,, महानात्मा——ईश्वरात्मक जीवस्य महान्
५–सर्वज्ञात्मा—— ,, विज्ञानात्मा (बुद्धिः)-ईश्वरात्मकजीवस्य बुद्धिः
६–महानात्मा—— ,, प्रज्ञानात्मा (मनः)--ईश्वरात्मकजीवस्य मनः

७–सर्वज्ञात्मा— ,, प्राज्ञात्मा
८–हिरण्यगर्भात्मा–,, तैजसात्मा
९–विराडात्मा— ,, वैश्वानरात्मा
—ईश्वरस्य अन्तरात्मा (सर्वभूतान्तरात्मा) (ईश्वरात्मको जीवः) —[२]देवसत्यात्मा | [३]ब्रह्मसत्यात्मा

१०–वराहात्मा—— ,, हंसात्मा
११–चित्यात्मा— ,, शरीरम्
—ईश्वरस्य बाह्यात्मा (ईश्वरात्मकजीवस्य शरीरम्)

एकादशविधः–ईश्वरीयः–आत्मग्रामः

[१—गूढोत्मा——पुरुषात्मा (१)
[२—अव्यक्तात्मा–प्राकृतात्मा (२)

वैकारिकात्मा ३–६

३–वैकारिकात्मा—

विकारात्मा—। १–चिदात्मा, २–हिरण्यगर्भात्मा, ३–सर्वज्ञात्मा, ४–महानात्मा, ५–विराडात्मा।

वैकारिकात्मा—। १–सर्वज्ञात्मा, २–हिरण्यगर्भात्मा, ३–विराडात्मा, ४–वराहात्मा, ५–चित्यात्मा।

सर्वज्ञादि पञ्चविध वैकारिकात्माओं का विराडात्मा नामक पञ्चम विकारात्मा में अन्तर्भाव है। फलतः वैकारिकात्मा पाँच हीं रह जाते हैं। अव्यक्तात्मा का गूढोत्मा में अन्तर्भाव है। अव्यक्तगर्भित गूढोत्मा गूढोत्मा है, पञ्चविध वैकारिकात्मगर्भित पञ्चविध वैकारिकात्मा अधियज्ञात्मा है। गूढोत्मा को अपने गर्भ में रखने वाला, किंवा गूढोत्मा के गर्भ में प्रतिष्ठित पञ्चविध-वैकारिक-अधियज्ञात्मा ही जीवानुगत अधिदैवतलक्षण ईश्वर विराट् का तात्त्विक स्वरूप है। **'अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर !'** वचनानुसार इसी रूप से देहधारी जीवविराट्पुरुषों का वह साक्षी बना हुआ है। तत्त्वतः जीवानुगता ईश्वरविराट्संस्था में गूढोत्मा, पञ्च अधियज्ञात्मा, ये ६ आत्मविवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। महाविराट् की जिन ३५४ विभूतियों का पूर्वपरिच्छेद में विश्लेषण हुआ है, वे अंशभूत इस जीवानुगत विराट् में भी यथानुरूप भुक्त हैं। विभूति-सम्बन्ध से जीव का साक्षी बनने वाला यही अंशात्मक विराट् दर्शनभाषा में **'प्रत्यगात्मा'** कहलाया है, जैसा कि अगले परिच्छेद से स्पष्ट किया जाने वाला है।

६२-जीवविराट्पुरुषानुगता 'भूतग्राम' स्वरूपमीमांसा—

यह तो हुई आत्मग्राम की मीमांसा। अब दो शब्दों में ईश्वरीय भूतग्राम की भी मीमांसा कर लीजिए। भूततत्त्व सूक्ष्म-स्थूल भेद से दो भागों में विभक्त है। गुण-अणु-रेणुभूत सूक्ष्मभूत हैं। भूत (रेणुभूतों के पञ्चीकृत महाभूत-प्रत्यक्षदृष्ट) स्थूलभूत हैं। ईश्वरीय भूतग्राम सूक्ष्मभूतात्मक हैं, जिनका पूर्वपरिच्छेद में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। जीव के भूत स्थूलभूतात्मक हैं, तदनुगत विराडीश्वर के भूत सूक्ष्मभूतात्मक हैं। इन्हीं ईश्वरीय सूक्ष्मभूतों के आधार पर जीवशरीर के पञ्च स्थूल भूत प्रतिष्ठित हैं। जीवानुगत आत्मग्राम की प्रतिष्ठा ईश्वरीय आत्मग्राम है। जीवानुगत भूतग्राम की प्रतिष्ठा ईश्वरीय भूतग्राम है। प्राण, आपः, वाक्, अन्नादः, अन्नं, ही इसके सुसूक्ष्म भूत हैं, जिन्हें 'तन्मात्रा' भी कहा गया है। अधियज्ञ के पाँचों पर्वों से क्रमशः पाँचों प्राणादि सुसूक्ष्म भूत अनुगृहीत हैं। सर्वान्त का अधियज्ञ विराडात्मा है, सर्वान्त का भूत 'अन्नम्' हैं। अतएव-**'अन्नं वै विराट्'** (शत०७।५।२।१९।)-**'विराडन्नाद्यम्'** (ऐ०ब्रा०४।१६।८।४) इत्यादि रूप से विराडात्मा को अन्नभूतात्मक मान लिया गया है। यही वह अन्तिम प्रलोभन है, जिसे लक्ष्य बना कर भोक्ता जीव का आविर्भाव हुआ है। विराडात्माका अन्तिम(पाँचवा वैकारिक)पर्व भूपिण्डांशभूत चित्यात्मा है, यह चित्यात्मलक्षण विराट् ही अन्तिम अन्नभूत से युक्त है। भूपिण्ड-तदनुगत अन्न, दोनों की समष्टिरूप विराडात्मा ही जीवसृष्टि की प्रतिष्ठा बनता है, जैसा कि तत् परिच्छेद में हीं स्पष्ट हो जायगा। एक प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण और। महाविराट् सर्वतः-पाणिपादादि बनता हुआ जहाँ पूर्णेन्द्र है, वहाँ अर्द्धाकाशरस से कृतात्मा जीवात्मा अर्द्धवृगल बनता हुआ अर्द्धेन्द्र है। तदनुगत अंशभूत इस विराडीश्वर को भी अर्द्धेन्द्रावस्था मे ही परिणत रहना पड़ता है। यही सर्वेन्द्रियगुणाभास अर्द्धेन्द्रमूर्त्ति अधिदैवत-जीवानुगत ईश्वरविराट् का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसे सुविज्ञेय महाविराट् की अपेक्षा-'ज्ञात' कह सकते हैं। सर्वथा इसी अध्यात्म में प्रतिष्ठित यह ज्ञात है। केवल पाप्मावरण से यह अज्ञात बन रहा है। यहाँ आकर अविज्ञेय परात्पर, दुर्विज्ञेय महेश्वर, ज्ञेय विश्वेश्वर, सुज्ञेय उपेश्वर, सुविज्ञेय महाविराडीश्वर, ज्ञात जीवानुगत विराडीश्वर, इन आत्मविवर्त्तों का सर्वात्मना समन्वय हो जाता है। यही इस अधिदैवत तत्त्व का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसका परिलेख से स्पष्टीकरण हो रहा है।

गूढोत्मा —

	आत्मग्रामः	भूतग्रामः
गूढोत्मा	१-अव्यक्तात्मगर्भितो **गूढोत्मा** (१)	परमाकाशो भूतम् (ज्ञानकर्म्मणी)
आधियज्ञात्मा	१-चिदात्मा	प्राणो भूतम्
	२-हिरण्यगर्भात्मा	आपो भूतम्
	३-सर्वज्ञात्मा	वाग् भूतम्
	४-हिरण्यगर्भात्मा	अन्नादो भूतम्
	५-पञ्चात्मगर्भितो विराडात्मा	अन्नं भूतम्
	ईश्वरः—साक्षी विराट्	

१-ज्ञानम्, २-क्रिया, ३-प्राणः (आकाशः), ४-आपः (वायुः), ५-वाक् (तेजः), ६-अन्नादः (पृथिवी), अन्नम् (जलम्), इति सप्तान्नानि सप्तभूतानि ।

'यत्सप्तान्नानि तपसाजनयत् पिता'—

इति-भूतग्रामविदः प्राहुः—

आत्मा { १-महाषोडशी गूढोत्मा-ईश्वराव्ययः-सर्वाधिष्ठाता-(विद्याविद्ये-ईशते)

वैकारिकात्मवर्गः—	आत्मग्रामः	भूतग्रामः
	१-स्वयम्भूः—चिदात्मा प्राणमूर्त्तिः	आकाशः
	२-परमेष्ठी—हिरण्यगर्भात्मा अब्मूर्त्तिः	वायुः
	३-सूर्य्यः—सर्वज्ञात्मा वाङ्मूर्त्तिः	तेजः
	४-चन्द्रमाः—महानात्मा अन्नमूर्त्तिः	जलम्
	५-पृथिवी—विराडात्मा अन्नादमूर्त्तिः	मृत्

६३-प्रत्यगात्मानुगत शारीरिक आत्मा, और 'अध्यात्मम्'—

प्रत्यगात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित शारीरिक आत्मा ही 'अध्यात्मम्' है । यही जङ्गम—जीवात्मा है, यही सेन्द्रिय-चेतनद्रव्य है । इस सेन्द्रिय चेतनद्रव्य के अवान्तर १३ विवर्त्त मानें गए हैं । दूसरे शब्दों में चेतन

जीव के १३ श्रेणिविभाग मानें गए हैं, जिनमें ८ का एक विभाग है, ५ का एक विभाग है। बतलाया गया है कि ज्ञानमय प्राज्ञ, क्रियामय तैजस, एवं अर्थमय वैश्वानर, तीनों के तारतम्य से जीववर्ग ससंज्ञ, अन्तःसंज्ञ, असंज्ञ, भेद से तीन भागों में विभक्त है। पाषाण-लोष्ठ-धातु-रस-आदि भौतिक पदार्थों में प्राज्ञ-तैजस, दोनों अभिभूत रहते हैं, अतएव इनमें किसी भी इन्द्रिय का विकास नहीं होने पाता। अतएव च इन्हें अनिन्द्रिय अचेतनद्रव्य कहा गया है। इनमें केवल अर्थमय वैश्वानरात्मा प्रस्फुटित है। अतएव इन प्राज्ञतैजसगर्भित वैश्वानरात्मलक्षण, अनिन्द्रिय, अचेतन जीवों को **'एकात्मकजीव'** कहा गया है। ये ही **'धातुजीव'** नाम से प्रसिद्ध हैं। ओषधि-वनस्पति-लता-गुल्मादि भौतिक पदार्थों में प्राज्ञ अभिभूत है, तैजस, और वैश्वानर प्रस्फुटित हैं। तैजसात्मा प्राज्ञ और वैश्वानर, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। अतएव प्राज्ञ के यत्किञ्चित् अंश का इन तैजसात्मा-प्रधान जीवों में समावेश हो जाता है। जो अवस्था सुप्त चेतन जीव की है, वही अवस्था इन तैजस जीवों की है। अतएव इन्हें एकेन्द्रिय (त्वगिन्द्रिय) अर्द्धचेतनजीव माना गया है। इनका मूल भूगर्भ में समाविष्ट रहता है, अतएव इन्हें **'मूलजीव'** कहा गया है। इनमें तैजस-प्राज्ञ दोनों आत्माओं का विकास है, अतएव ये **'द्व्यात्मकजीव'** नाम से भी प्रसिद्ध है। एकात्मक धातुजीव, द्व्यात्मकमूलजीव, दोनों स्थावरजीव हैं। इनमें तमोगुण का प्राधान्य है। अतएव इन्हें **'तमोविशालसर्ग'** नाम से व्यवहृत किया गया है। प्राधानिक शास्त्र ने उभयविध इस जीववर्ग को **'स्तम्ब'** नाम से व्यवहृत किया है। यही विज्ञान-भाषा में 'अधिभूतम्' है, जगत् है, जिसकी अगले परिच्छेद में मीमांसा की जायगी।

९४-त्र्यात्मक जीव, और चतुर्दशविध भूतसर्ग—

अस्मदादि भौतिक सेन्द्रिय द्रव्यों में वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ, तीनों प्रस्फुटित हैं। अतएव इन्हें **'त्र्यात्मकजीव'** कहा जाता है। एकात्मक धातुजीव असंज्ञ थे, द्व्यात्मक जीव मूलजीव अन्तःसंज्ञ थे, एवं त्र्यात्मक 'जीव' नामक जीव ससंज्ञ हैं। यही जीववर्ग 'अध्यात्मम्' है, जिसके ८-५ भेद से १३ विवर्त्त हो जाते हैं। **कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य** पञ्च जीववर्गों का एक विभाग है। इनमें रजोगुण का प्राधान्य है, अतएव इन्हें सांख्यपरिभाषा में **'रजोविशालसर्ग'** कहा गया है। **राक्षस, पिशाच, यक्ष, गन्धर्व, इन्द्र, पितर, प्रजापति,** ब्रह्म, अष्ट जीववर्गों का एक विभाग है, ये ही चान्द्रजीव हैं। इनमें सत्त्वगुण का प्राधान्य है, अतएव ये **'सत्त्वविशालसर्ग'** नाम से व्यवहृत हुए हैं। अष्टविध सत्त्वविशालसर्ग **देवयोनि** हैं, ये ही 'ऊर्ध्वजीव' हैं। पञ्चविध रजोविशालसर्ग **तिर्य्यग्योनि** हैं, ये ही 'मध्यजीव' हैं। द्विविध, किन्तु सांख्य परिभाषानुसार एकविध (स्तम्ब) तमोविशालसर्ग **भूतयोनि** है, यही मूलजीव हैं। इस दृष्टि से स्तम्ब से आरम्भ-कर ब्रह्मपर्य्यन्त चतुर्दशविध जीव हो जाते हैं। यही **'चतुर्दशविधो भूतसर्गः'** (जीवसर्गः) है। इस चतुर्दशविध भूतसर्ग में से मध्यसर्गात्मक पञ्चविध रजोविशालसर्ग के पञ्च मनुष्यसर्ग में इतर जीवापेक्षया ज्ञान-मात्रा सर्वात्मना प्रस्फुटित है। प्रत्यगात्मलक्षण विराडीश्वर की यच्चयावत् विभूतियों का इसी में पूर्णरूप से समन्वय हुआ है। अतएव यही उस पूर्ण का पूर्ण उदक्त रूप माना गया है-**'पूर्णात पूर्णमुदच्यते'**। इसी आधार पर **'पुरुषो ह वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'** यह निगम प्रतिष्ठित है। 'अध्यात्मम्' की प्रकृत में जो मीमांसा की जायगी, वह इस पुरुषविध (मनुष्यविध) अध्यात्म को ही प्रधानरूप से लक्ष्य बना रही।

१
- १४-१-ब्रह्म (४)
- १३-२-प्रजापतिः (३)
- १२-३-पितरः (२)
- ११-४-इन्द्रः (१)
- *
- १०-५-गन्धर्वः (४)
- ९-६-यक्षः (३)
- ८-७-पिशाचः (२)
- ७-८-राक्षसः (१)

}-सत्त्वविशालसर्गः (देवयोनिः)

२
- ६-१-मनुष्यः
- ५-२-पशुः
- ४-३-पक्षी
- ३-४-कीटः
- २-५-कृमिः

}-रजोविशालसर्गः (तिर्य्यग्योनिः)

सत्त्वविशालसर्गः + रजोविशालसर्गः }-अध्यात्मम् (जङ्गमजीवात्मको जीवः)

३ १-१
- १-मूलजीवः }-अन्तःसंज्ञाः-अर्द्धचेतनाः
- स्तम्बः-तमोविशालसर्गः (भूतयोनिः)
- २-धातुजीवः }-असंज्ञाः-अचेतनाः

}-अधिभूतम् (स्थावरजीवात्मकं जगत्)

अध्यात्मम् + अधिभूतम् }-चतुर्द्दशविधो-भूतसर्गः

* * *

९५--आवरणत्रयी से अनुप्राणिता आध्यात्मिकी विराट्त्रयी—

विकारपरिग्रहयुक्त, 'यज्ञप्रजापति' नामक, उपेश्वरषोडशी की अन्तिम पर्वरूपा पृथिवी का अमृत-चितेनिधेय प्राण ही अञ्जन परिग्रह के द्वारा 'ईश्वर' नामक 'महाविराट्' स्वरूप में परिणत हुआ है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। जीवानुगत, प्रत्यगात्मलक्षण साक्षीविराट्, जीवविराट्, जगद्विराट्, तीनों इसी महाविराट् से प्रसूत हैं। तीनों का क्रमशः सत्त्वाञ्जन, रजोऽञ्जन, तमोऽञ्जन–भावों से सम्बन्ध है। सत्त्वाञ्जन विभूति है, रजोऽञ्जन पाप्मा है, तमोऽञ्जन आवरण है, जैसाकि पूर्व में परिलेखद्वारा स्पष्ट किया जा चुका है (देखिए ८८ पृष्ठ)। विभूति नामक सत्त्वाञ्जन सत्त्वावरण है, पाप्मा नामक रजोऽञ्जन रजोरूप आवरण है, आवरणरूप तमोऽञ्जन तमोरूप आवरण है। तीनों से सावरण साक्षी ईश्वर, सावरण भोक्ता जीव, सावरण भोग्यजगत्, इन तीन सावरण विश्वप्रजापतियों का विकास हुआ है। जिस प्रकार विभूति रूप आवरण–वेद, लोक, देव, पशु, भूत, भेद से पाँच भागों में विभक्त है, एवमेव जीवस्वरूप सम्पादकपाप्मारूप आवरण 'पर्य्याय, ऊर्म्मि, आशय, अवस्था, क्लेश, कर्म्मविपाक, एवं आशय'' भेद से सात भागों में विभक्त माना गया है, जैसा कि आगे स्पष्ट होने वाला है।

९६–चिदात्मानुगत चिदंश, चिदाभास, और चित्य-विवर्त्त—

साञ्जन महाविराट् 'चिदात्मा' है। यह वृक्षवत् स्तब्ध, नित्यकूटस्थ, सर्वतःपाणिपाद-अक्षिशिरोमुख है। यह सर्वथा व्यापक है। इसका जीवात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। निग्रहानुग्रह से असंसृष्ट यह चिदात्मा आलम्बन (सर्वालम्बन] मात्र है—'न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते'। यही आवपनलक्षण 'खं ब्रह्म' है, महामायावच्छिन्न मायी महेश्वर [षोडशीपुरुष] से समतुलित है। एवंविधे यह महाविराट जीवानुगता योगमाया [योगमायात्मिका आवरणत्रयी] से अंशात्मना युक्त हो कर 'चिदंश' नाम धारण कर लेता है। विभूति आवरण से युक्त चिदंश साक्षीविराट् है, पाप्मावरण से युक्त चिदंश भोक्ता जीवविराट् है, आवरणात्मक आवरण से युक्त चिदंश भोग्य जगद्विराट् है। इसप्रकार आवरणत्रयी के सम्बन्ध से योगमाया–वच्छिन्न चिदंश के ही ईश्वर-जीव-जगत्-ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। विभूतिसम्बन्ध असङ्ग सम्बन्ध है। पाप्मासम्बन्ध संशरबन्धन नामक योग सम्बन्ध है, आवरणसम्बन्ध ग्रन्थिबन्धन नामक चिति सम्बन्ध है। असङ्ग चिदंश ईश्वर है, योगात्मक चिदंश जीव है, चित्यात्मक चिदंश जगत् है। इसप्रकार विभूति–योग–चिति, इस सम्बन्धत्रयी के सम्बन्ध से चिदंश तीन विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। ये ही तीनों विवर्त्त क्रमशः—चिदंश, चिदाभास, चित्य, नाम से व्यवहृत हुए हैं। चित्यात्मक चिदंश [भोग्यजगत्] भोक्ता जीव के वैषयिक सुख का साधक बनता हुआ 'कं ब्रह्म' है। चिदाभासात्मक चिदंश [भोक्ता जीव] चित्यात्मक चिदंश से रममाण होता हुआ 'रं ब्रह्म' है। चिदात्मारूप व्यापक महाविराट्–लक्षण 'खं ब्रह्म' से अभिन्न चिदंशात्मक चिदंश [साक्षी ईश्वर] चिदाभासलक्षण चिदंश [जीव] को निग्रहानुग्रहद्वारा प्रकृतिस्थ बनाए रखने वाला शान्तिस्वस्त्ययनप्रवर्त्तक 'शंब्रह्म' है। 'खं' रूप आवपन में शं–रं–कं–रूपा आवरणत्रयी प्रतिष्ठित है।

❀

चिदात्मा	❀–चिदात्मा—साञ्जनो महाविराट्–अविभक्तो व्यापकः—खं ब्रह्म (आवपनम्)।
	❀
चिदंशाः	१–चिदंशात्मकश्चिदंशः—साक्षीविराट्-निग्रहानुग्राहकः—शं ब्रह्म (अन्नादभोक्ता)।
	२–चिदाभासात्मकश्चिदंशः—भोक्ताविराट्—निग्रहीतानुग्रहीतः—रं ब्रह्म (अन्नादः)।
	३–चित्यात्मकश्चिदंशः—भोग्यविराट्—कं ब्रह्म (अन्नम्)।

❀

❀ ❀ ❀

६७–चिद्ग्राहक वीध्रतत्त्व—

चित्यात्मक चिदंश की मीमांसा अधिभूत-परिच्छेद में की जायगी। अभी चिदंशात्मक चिदंश (साक्षीविराट्), एवं चिदाभासात्मक चिदंश, (भोक्ता जीव) ये दो चिदंश विवर्त्त मीमांस्य हैं। चिदंशात्मक चिदंश प्रत्यगात्मा है, चिदाभासात्मक चिदंश शारीरक आत्मा है। दोनों का मूल चिदात्मात्मक महाविराट् है। उदाहरणार्थ प्रतिबिम्ब-दृष्टि को लक्ष्य बनाइए। दर्पण, जलपूर्णपात्र, स्फटिकमणि, आदि वीध्र* पदार्थों में एक प्रकार का प्रतिबिम्बग्राहक धर्म्म है। वही धर्म्म **'वीध्रगुण'** कहलाया है। वीध्रगुणक, अतएव प्रतिबिम्ब ग्राहक इन पदार्थों के साथ सूर्य्यज्योति का सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध आतप, तथा बिम्ब, रूप से दो भागों में विभक्त हो जाता है। जलपात्र में सूर्य्य बिम्ब की प्रतीति होती है। जलपात्रस्थ सूर्य्यबिम्ब उस महान् सूर्य्य का बिम्ब है, अतएव इसे **'प्रतिबिम्ब'** कहा जाता है। आधार-पात्रों के भेद से ये प्रतिबिम्ब अनेक हो जाते हैं। एक जलपात्ररूप योगमाया की उत्क्रान्ति से तत्प्रतिबिम्ब ही उत्क्रान्त होता है।

६८—सूर्य्यदृष्टान्त माध्यम से चिदंश–विवर्त्त–त्रयी का समन्वय—

शेष प्रतिबिम्ब ज्यों के त्यों सुरक्षित बने रहते हैं। इस प्रतिबिम्बित सूर्य्य का जलपात्र के साथ संशर-बन्धनात्मक योगसम्बन्ध है। इस प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त आतप (धूप–प्रकाश–ज्योति) रूप से भी इस पात्र में सूर्य्यज्योति का सम्बन्ध रहता है। स्थूलदृष्ट्या प्रतिबिम्बवत् यह आतप जलपात्रावच्छिन्न बनता हुआ भी तत्त्वतः अपरिच्छिन्न है, असङ्ग है। इस आतपरूप सूर्य्यज्योति का जलपात्र के साथ असङ्गलक्षण विभूति सम्बन्ध है। दोनों हीं ग्रन्थिबन्धनरूप चितिभाव से बहिर्भूत हैं। दर्पण पर आप की आकृति खचित होजाती है। दर्पण के साथ आपकी आकृति का योगसम्बन्ध है। भूतमय कृष्णपट्ट (प्लेट) पर आप का चित्रात्मक प्रतिबिम्ब (फोटो) खचित होजाता है। इस चित्राकृति का उस पट्ट के साथ ग्रन्थिबन्धनात्मक चितिसम्बन्ध है। इसप्रकार आतप, दर्पणाकृतिरूप प्रतिबिम्ब, कृष्णपट्टखचित चित्र, भेद से तीन विवर्त्त होजाते हैं। तीसरे विवर्त्त का चित्यात्मक चिंदश (जगत्) से सम्बन्ध है। शेष दोनों का ईश्वर–जीवभाव से सम्बन्ध है। व्यापक महाविराट् सूर्य्यस्थानीय है। शरीररूप पात्र में आलोमभ्य –आनखाग्रेभ्यः व्याप्त पारमेष्ठ्य आपोमय वीध्र–गुणक महान् जल है। इस पर प्रतिबिम्बित चिदाभास प्रतिबिम्बित सूर्य्यस्थानीय है। विभूतिसम्बन्धसे युक्त

---

* **मसृणअणु परमाणु समूहात्मक समधरातल ही 'वीध्र' है। यही प्रतिबिम्बग्रहण की योग्यता रखता है।**

चिदंश आतपस्थानीय है। आतपस्थानीय चिदंश चिदंश है, यही विभूतिलक्षण प्रत्यगात्मा (ईश्वरात्मा) है। प्रतिबिम्बस्थानीय चिदंश चिदाभास है, यही योगलक्षण शारीरक आत्मा है। प्रत्यगात्मा अधिदैवतं है, शारीरक आत्मा अध्यात्मम् है। **अधिदैवत** प्रत्यगात्मा का स्वरूप पूर्वपरिच्छेद में बतलाया जाचुका है। अध्यात्मशारीक आत्मा का स्वरूप मीमांस्य है, उसी की ओर विज्ञपाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

६६–जीव के पाप्माभावों का सामान्य-स्वरूप-दिग्दर्शन—

जिस प्रकार साञ्जन महाविराट्प्रजापति (चिदात्मा) के अंशभूत साक्षी सावरण विराट्प्रजापति में साञ्जनविराट् के यथायावत् (११) आत्मविवर्त्तों, एवं भूतविवर्त्तों का समन्वय बतलाया गया था, एवमेव इस सावरणविराट् के भोक्ता सखा सावरण शारीरक आत्मा में भी साञ्जन प्रत्यगात्मा के आत्म-भूत-विवर्त्तों का समन्वय होरहा है। जैसा स्वरूप, जो कलाविभाग, प्रत्यगात्मेश्वर का है, ठीक वैसा ही स्वरूप, वही कलाविभाग इस शारीरक जीव का है। केवल पाप्माभावों में अन्तर है। प्रत्यगात्मेश्वर नित्यमुक्त है। वह कभी मुक्तावस्था में रहे, कभी बन्धनावस्था में रहे, इस उभय 'पर्य्यायत' नामक पाप्मा का उसमें अभाव है। इधर शारीरक जीव में मोक्ष, बन्ध, नामक दोनों पर्य्यायत–पाप्माओं का सम्बन्ध रहता है। विद्यात्मक पर्य्याय **मुक्तपर्य्याय**[१] है, कर्म्मात्मक पर्य्याय **बन्धपर्य्याय**[२] है। ईश्वर में **क्षुधा**[१/१] (भूख), **पिपासा**,[२/२] (प्यास), **शोक**[३/३] (सन्ताप), **मोह**[३/४] (वैचित्य), **जरा**[३/५] (बुढापा), **व्याधि**[३/६] (रोग), इन ऊर्म्मिभाव (उच्चावच लहर) रूप पाप्माओं का अभाव है, जीव इन ६ओं ऊर्म्मियों से युक्त रहता है। षडूर्म्मिपाप्माओं से असंस्पृष्ट ईश्वर एकरस है, षडूर्म्मिपाप्माओं से नित्ययुक्त रहता हुआ जीव विभिन्नरस है। ज्ञानात्मक **भावनासंस्कारलेप**[१], कर्म्मात्मक **वासनासंस्कारलेप**[२], इन दोनों आशय नामक पाप्माओं से ईश्वर असंस्पृष्ट रहता हुआ निर्लेप है। इधर जीव दोनों आशयों से युक्त रहता हुआ सलेप है। ईश्वर नित्य जाग्रत, नित्यैकरस रहता हुआ **जाग्रत्**[३/१], **स्वप्न**[३/२], **सुषुप्ति**[३/३], **मोह**[३/४], **मुर्च्छा**[३/५], **मृत्यु**[३/६], इन ६अवस्था नामक पाप्माओं से वियुक्त रहता है, जीव ६ओं अवस्था–पाप्माओं से नित्ययुक्त रहता है। कर्म्ममय सावरण विश्व का मूलप्रवर्त्तक बनता हुआ भी ईश्वर समत्वलक्षण बुद्धियोग के प्रभाव से कर्म्मसंस्कारलेपबन्धन से वियुक्त रहता हुआ **'न करोति–न लिप्यते'** को चरितार्थ करता हुआ निष्कर्म्म बना हुआ है। इधर जीवात्मा यज्ञ–तपो–दान लक्षण विद्या–समुचित **प्रवृत्तिसत्कर्म्म**, इष्ट–आपूर्त्त–दत्त–लक्षण विद्यानिरपेक्ष **प्रवृत्तिसत्कर्म्म**, सुरापान–अगम्यागमन, वृथा हिंसा, स्तेय, भ्रूणहत्या, छलद्वारा धनोपार्ज्जन, इत्यादि शास्त्रनिषिद्ध विकर्म्मरूप (विरुद्धकर्म्मरूप) **असत्कर्म्म**, जलताड़न, कराघात, पादभ्रमण, शिरस्ताडन, अङ्गुलिध्वनि (चुटकी), पादाङ्गुष्ठद्वारा भूमि–विलेखन, अङ्गताडन, शरीरयष्टिवक्रीकरण, तृणच्छेद, वृथाहास्य, निरर्थक कालयापन, आदि आदि शास्त्र–प्रतिषिद्धाविहित अकर्म्मरूप (निरर्थककर्म्मरूप) **असत्कर्म्म**, एवं सर्वमूर्द्धन्य, बुद्धियोगलक्षण, विदेहमुक्ति–(जीवमुक्ति) प्रवर्त्तक **निष्कामकर्म्म**, इन कर्म्मों में से अवश्य ही किसी न किसी कर्म्म में रत रहता हुआ 'कर्म्म' नामक पाप्मा से नित्ययुक्त रहता है। यथाविद्यासंस्कारगर्भित यथाकर्म्मसंस्कार (जन्मान्तरीय कर्म्म–संस्कार) से ही पशु–पक्षी–मनुष्य–कृमि–कीटादि जाति (योनि), अल्प–मध्यम–पूर्ण–दीर्घ–आयु (ऊमर),

सत्–असत् भोग प्राप्त होते हैं। संस्कारानुसार प्राप्त *जाति, आयु, भोग, ही कर्म्मविपाक नाम की पाप्मा–त्रयी है। ईश्वर इनसे असंसृष्ट है, जीव इनसे नित्ययुक्त है। यही जीवानुगत पाप्मा–भावों का सामान्य दृष्टिकोण है।

१००—जीवकलाविभूति, तथा पाप्मभावों का स्वरूपदिग्दर्शन—

अब विशेष दृष्टिकोण से विचार कीजिये। पूर्व की अधिदैवत-मीमांसा में आत्मकलाविभूति, सामान्य–कलाविभूति, विशेषकलाविभूति, भेद से प्रत्यगात्मेश्वर में ७२-२३१-५१ इस क्रम से ३५४ तीन सौ चौवन विभूतियों का दिग्दर्शन कराया गया है। इनमें से ७२ आत्मकला–विभूतियाँ, एवं २३१ सामान्यकलाविभूतियाँ तो जीवेश्वर में समान हैं। इस दृष्टि से दोनों अविशेष हैं, परन्तु विशेषविभूतिकला–दृष्टि से दोनों सविशेष हैं। ईश्वर की विद्या–कामादि १६ विशेष विभूतिकलाओं में से विद्या[1]–काम[2]–कर्म्म[3]–शुक्र[4]–प्राण[5]–इन्द्रिय[6], आरम्भ की ये ६ विभूतिकलाएँ क्रमशः १/४–२/२–३/७–४/६–५/१७–६/५, इन अवान्तर संख्याओं में विभक्त रहतीं हुई ४१ हैं, शेष पूर्णेन्द्रत्वादि १० कलाविभूतियाँ हैं। सम्भूय ५१ विशेषकलाविभूतियाँ हो जातीं हैं। इधर जीवशरीर में केवल ४० ही कलाविभूतियाँ हैं। पूर्णेन्द्रत्त्व–सत्यसंकल्पत्त्व–एकरसत्त्व–एकावस्थत्त्व–व्यापकत्त्व–विश्वसृष्टत्त्व, साक्षित्त्व, सर्ववशित्त्व, कर्म्माध्यक्षत्त्व, पाप्माऽसंस्पृष्टत्त्व, इन १० ईश्वरीय विशेषकला-विभूतियों का जीवसंस्था में अभाव है। विद्यादि ६ विशेष कलाविभूतियाँ हीं इसमें प्रतिष्ठित हैं। इनमें भी काम, शुक्र, इन्द्रिय, नामक तीन विभूतियों में अन्तर हैं। ईश्वर की कामविभूति द्विविधा है, जीवकामविभूति विषयभेद से अनेकविधा, कामत्वेन एकविधा ही है। ईश्वरीय शुक्रविभूति षड्विध है, जीवशुक्रविभूति भावनाशुक्र–वासनाशुक्र भेद से द्विविधा ही है। ईश्वरीय इन्द्रियविभूति पञ्चविध है, जीवेन्द्रियविभूति दशविध है। शेष विशेष कलाविभूतियाँ सामान्यकलाविभूतियों की भाँति जीवेश्वर में समान हैं।

धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य, भेदभिन्ना चतुर्विधा **विद्याविभूति**[1] का उदय सूर्य्य से हुआ है। अतएव इसे **'सौरविभूति'** कहा जा सकता है। एकविधा [2]**कामविभूति** का उदय चन्द्रमा से हुआ है, अतएव इसे **'चान्द्रविभूति'** माना जा सकता है। **यज्ञ–तप–दान–इष्ट–आपूर्त्त–दत्त**–इस षड्विधा **कर्म्म**[3]-विभूति का उदय अदितिपृथिवी से हुआ है, अतएव इसे **'पार्थिवविभूति'** नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। **'भावनाशुक्र, वासनाशुक्र'** इस द्विविधा **शुक्र**[4]विभूति का उदय भूपिण्डावय-भूत विषयों के आधार पर हुआ है, अतएव इसे **'भौमविभूति'** कहना अन्वर्थ बनता है। **पञ्चब्रह्म-पञ्चदेवप्राण, सप्तगुह्यप्राण,** भेदभिन्ना सप्तदशविधा **प्राण**(५)विभूति का उदय सौरइन्द्र से हुआ है, अतएव इसे **'ऐन्द्रविभूति'** मानना समीचीन होता है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, प्राण (घ्राण), भेदभिन्न ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, **वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, पायु,** भेदभिन्न कर्मेन्द्रियपञ्चक, तदित्थं दशविधा **इन्द्रिय**[6]-विभूति का प्रज्ञाप्राणात्मक **चान्द्र इन्द्र** से उदय हुआ है। अतएव इसे **'चान्द्रविभूति'** कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। सम्भूय इन ६ कलाविभूतियों की ४–१–७–२–१७–१०–इन अवान्तर कलाओं के संकलन से जीवानुगत विशेषभूतिकलाएँ ४० हो जाती हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

---

* **आयुः, कर्म्म च, वित्तं च, विद्या, निधनमेव च।**
पञ्चैतानि तु सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

(४) १–विद्याविभूतिः—धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य-भेदभिन्ना चतुर्विधा —सौरविभूतिः

(१) २–कामविभूतिः—विषयभेदादनेकविधा, कामत्त्वेन–एकविधा —चान्द्रविभूतिः

(६) ३–कर्म्मविभूतिः—यज्ञस्तपो–दान–मिष्ट–मापूर्त्त–दत्तमिति–भेदभिन्ना षड्विधा —पार्थिवविभूतिः

(२) ४–शुक्रविभूतिः—भावनाशुक्र–वासनाशुक्र–भेदभिन्ना द्विविधा —भौमविभूतिः

(१७) ५–प्राणविभूतिः-पञ्चब्रह्मप्राण–पञ्चदेवप्राण–सप्तगुहाप्राण-भेदभिन्ना सप्तदशविधा —ऐन्द्रविभूतिः

(१०) ६–इन्द्रियविभूतिः-श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-र्जिह्वा-घ्राण--वाक्-पाणि-पादो-पस्थ-पायु–भेदभिन्ना दशविधा —चान्द्रविभूतिः

—४०—

* * *

१–चतस्रो विद्याः] —४

२–मनसः क्रिया कामः] —१

३–षट् कर्म्माणि] —६

४–ऐहिकामुष्मिकयोर्द्दृष्टानुश्रविकयो–र्विषयग्रामयोरुपजनहेतुभूते–भावना–वासनाभिधे द्वे शुक्रे]—२

५–ब्रह्म–देव–गुहा–भेदेन २८ विभक्ताः प्राणाः] १७

६– [*–त्वक्–चक्षु–र्जिह्वा–घ्राण–श्रोत्र–मिति–पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि
*–वाक्–पाणि–पादो–पस्थ–पायवः–इति पञ्च कर्म्मेन्द्रियाणि] १०

४० जीवानुगताः–विशेषकला–विभूतयः

* * *

पूर्व में जिन पर्य्यायादि पाप्माओं का दिग्दर्शन कराया गया है, यदि उनकी सूक्ष्म मीमांसा की जाती है, तो उनके **'उर्म्मि, अवस्था, क्लेश, बन्ध, कर्म्मविपाक, आशाय, अपूर्णत्त्व, पर्य्याय,'** ये आठ विवर्त्त हो जाते है। आठों क्रमशः ६,६,५,३,१०,२,१,३, इन अवान्तर संख्याओं में विभक्त हैं। संकलन से षट्त्रिंशत् (३६) पाप्मा हो जाते हैं। यह पाप्मारूप आवरण ही जीव का जीवत्त्व है। जब तक जीव इन पाप्माओं से युक्त है, तब तक वह 'अज्ञ' नामक जीव है। पाप्माओं के मध्यावरण ने ही इसका उस विशुद्ध विभूतिलक्षण प्रत्यगात्मेश्वर से पार्थक्य कर रक्खा है। जिस दिन बुद्धियोगप्रभाव से यह पाप्मावरण एकान्ततः निवृत्त हो जाता है, उस दिन यह जीव भी 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' का अनुगामी बनता हुआ ईश्वरीय–सम्पत् प्राप्त कर लेता है। जीवानुगत चत्त्वारिंशत् (४०) विशेषकलाविभूतियों का, एवं जीवानुगत षट्त्रिंशत् (३६) पाप्माकलाओं का तात्त्विक विश्लेषण खण्डचतुष्टयात्मक श्राद्धविज्ञान के प्रथमखण्ड की–**'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्'** नाम की प्रथमा उपनिषत् में हुआ है। विशेष जिज्ञासा रखने वालों को तदुपनिषत् का ही अवलोकन करना चाहिये। यहाँ इन पाप्माओं की तालिकामात्र उद्धृत कर दी जाती है—

जीवानुगताः पाप्मानः—

(१)—क्षुत्-पासे, शोक-मोहौ, जरा-व्याधी, इति षट्	—ऊर्म्मयः	(६)
(२)—जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तयः, मोह-मूर्च्छा-मृत्यवः, इति षट्	—अवस्थाः	(६)
(३)—अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः, इति पञ्च	—क्लेशाः	(५)
(४)—आधिदैविक-आध्यात्मिक-आधिभौतिकाः, इति त्रयः	—बन्धाः	(३)
(५)—जाति-आयु-र्भोगाः, सप्त अन्नानि, इति दश	—कर्म्मविपाकाः	(१०)
(६)—शुभा-शुभौ, इति भोगहेतू, द्वौ	—आशयौ	(२)
(७)—स्त्री-पुरुषाभ्यामात्मनो द्विधाभावत्त्वम्	—अपूर्णत्त्वम्	(१)
(८)—संसारः, बन्धपर्य्यायः, मुक्तपर्य्यायः, इति त्रयः	—पर्य्यायाः	(३)

तदित्थं पाप्मानः षट्त्रिंशत् (३६)

——(०)——

जीवसंस्थायां—

(१)—आत्मविभूतिकलाः	७२	—सम्भूय ३७९ कलाः-जीवात्मनि भुक्ताः
(२)—सामान्यविभूतिकलाः	२३१	
(३)—विशेषविभूतिकलाः	४०	
(४)—पाप्मकलाः	३६	

——(०)——

१०१–अधिदैवत गूढोत्मा, एवं अध्यात्म गूढोत्मा—

प्रकृत दृष्टि से विषय का समन्वय कीजिए। अधिदैवतलक्षण साक्षी प्रत्यगात्मा की भाँति चिदाभास–लक्षण भोक्ता शारीरक आत्मा में भी आत्मग्राम, भूतग्राम, भेद से दोनों विवर्त्त हैं। एवं तद्वत् ही आत्मग्राम यहाँ भी **गूढोत्मा, अव्यक्तात्मा, वैकारिकात्मा,** भेद से तीन भागों में विभक्त है। साथ ही तद्वत् ही गूढोत्मा, अव्यक्तात्मा, दोनों आत्मविवर्त्त अधिदैवतवत् इस अध्यात्म में समान हैं, वैकारिकात्मविवर्त्त असमान हैं, विशेष हैं। चिदाभासात्मक चिदंशरूप इस शारीरक आत्मा (भोक्ता जीव) में चिदंशात्मक चिदंशरूप प्रत्यगात्मा (साक्षी ईश्वर, विराट्) के द्वारा भुक्त परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षररूप षोडशकल महेश्वरात्मा ही अध्यात्मलक्षण गूढोत्मा है। अधिदैवतानुगत षोडशी **ईश्वराव्यय** कहलाया है, अध्यात्मानुगत षोडशी **जीवाव्यय** कहलाया है। गीता में दोनों के स्वरूपों का विभिन्नरूप से विश्लेषण हुआ है। तत्त्वानुगता व्याख्या को मूलभाष्य पर छोड़ते हुए यहाँ केवल तत्स्वरूपविश्लेषक वचनमात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं—

ईश्वराव्ययधर्म्माः
(अधिदैवतं-गूढोत्मा) } —गति, भर्त्ता, प्रभुः, **साक्षी**, निवासः, शरणं, सुहृत् ।

प्रभवः, प्रलयः, स्थानं, निधानं, बीजमव्ययम् ॥ गी०६।१८।

* * *

जीवाव्ययधर्म्मा.–
(अध्यात्मम्–गूढोत्मा) } —उपद्रष्टा, ऽनुमन्ता च, भर्त्ता, **भोक्ता** महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ गी०१३।२२।

* * *

१०२–एकोनविंशतिमुख जीवात्मा का स्वरूपविस्तार—

अव्ययप्रधान गूढोत्मा परपुरुष है, अक्षरप्रधान अव्यक्तात्मा परावरपुरुष है, आत्मक्षरप्रधान वैकारि–कात्मा अवरपुरुष है। तीनों की समष्टि ही 'अधिदैवतम्' है, तीनों की समष्टि ही 'अध्यात्मम्' है। अधिदैवत में प्रतिष्ठित परपुरुषरूप को गीता ने 'अव्यय' शब्द से व्यवहृत किया है। कारण **'बिभर्त्यव्यय–ईश्वरः'** इस अन्य वचनानुसार 'अव्यय' शब्द 'ईश्वर' भाव का सूचक है, और अधिदैवतप्रपञ्च साक्षीरूप ईश्वर ही माना गया है। यह अव्ययेश्वर ही अध्यात्मसंस्था के गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृत् (सखा), प्रभव, प्रलय, स्थान, निधान, एवं बीज है। आध्यात्मिक गूढोत्मा भी अधिदैवत गूढोत्मा की भाँति अव्ययप्रधान अवश्य है। परन्तु यह ईश्वराव्यय नहीं, अपितु जीवाव्यय है। साक्षी अव्यय नहीं, अपितु भोक्ता अव्यय है। अतएव इसे ईश्वरभावसमर्थक 'अव्यय' शब्द से व्यवहृत न कर **'देहेऽस्मिन् पुरुषः परः'** इत्यादिरूप से 'परपुरुष' नाम से ही व्यवहृत किया गया है। ईश्वराव्यय देहाभिमान से विमुक्त रहता है। अतएव उसके लिए किसी सोपाधिक भाव का प्रदर्शन न कर केवल 'अव्ययम्' कह दिया गया है। इधर जीवाव्यय उपद्रष्टा–अनुमन्ता–भर्त्ता–भोक्ता बनता हुआ देहाभिमानी अव्यय है, अतएव इसके लिए 'देहे–

ऽस्मिन्' यह सङ्केत करना आवश्यक समझा गया है। देहाभिमानी जीवाव्यय सविशेष है, प्रतिशरीर में विभिन्न है, यही प्राधानिकशास्त्र का जीवनानात्ववाद है, जो इस दृष्टिकोण से सर्वथा समीचीन है। देह में हीं प्रतिष्ठित, किन्तु देहाभिमान से असंस्पृष्ट प्रत्यगात्मा शरीरोपाधिबन्धन से विमुक्त रहता हुआ स्वप्रभवभूत महाविराट् दृष्टया एक है, यही वेदान्तशास्त्र का ऐकात्म्यवाद है, जो इस दृष्टिकोण से सर्वथा प्रामाणिक है। अधिदैवत-लक्षण गूढोत्मा, एवं अध्यात्मलक्षण गूढोत्मा का यही तात्त्विक विभेद है।

दूसरा क्रमप्राप्त अव्यक्तात्मा है। साक्षी ईश्वरद्वारा अध्यात्मसंस्था में शरीराकाशरूप से युक्त अव्यक्त स्वायम्भुव अंश ही अव्ययात्मा है, जो गूढोत्मा से समतुलित रहता हुआ तद्रूप से ही गृहीत है। अब क्रमप्राप्त तीसरे वैकारिकात्मा पर दृष्टि डालिए। वैकारिकात्मा ईश्वरीय वैकारिक आत्मा की भाँति ९ भागों में विभक्त है। अधिदैवतसंस्था में भुक्त चिदात्मादि ९ वैकारिक आत्माओं के प्रवर्ग्यभूत ९ वैकारिक अंश ही ही इस अध्यात्मसंस्था के ९ वैकारिक आत्मा हैं। अधिदैवत में इन वैकारिकात्माओं के नवविवर्त्तों का जो संस्थान-क्रम बतलाया गया है, वही क्रम यहाँ व्यवस्थित समझिए। केवल नाममात्र में विशेषता है। नाममात्रोल्लेख से इस आध्यात्मिक वैकारिकात्म-वर्ग का स्वरूप अधिदैवतस्वरूप से गतार्थ बन रहा है। वे ९ विवर्त्त क्रमशः **शान्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा (बुद्धि), प्रज्ञानात्मा (मन), प्राज्ञात्मा, तैजसात्मा, वैश्वनारात्मा, हंसात्मा, भूतात्मा,** इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। शान्त-महान्-विज्ञान-प्रज्ञान, और ८वें ९वें हंस-भूत, ये आत्मा तो विकारात्मा हैं, ब्रह्मसत्यात्मा हैं। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ, तीनों वैकारिकात्मा हैं, तीनों की समष्टि ही देवसत्यात्मा है। यही षड्ब्रह्मसत्यगर्भीभूत वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञलक्षण-भोक्ता देवसत्य के वैकारिकात्म-विवर्त्त का तात्विक स्वरूपविश्लेषण है।

यदि इन ९ वैकारिकात्माओं के सूक्ष्म विभागों का विचार किया जाता है, तो यह ९ संख्या १६ संख्या पर विश्राम करती है। १७ वाँ अव्यक्तात्मा है, १८ हवाँ गूढोत्मा है, १९ वाँ सर्वाधारभूत, सर्वबलविशिष्ट-रसैकमूर्त्ति, किन्तु मायी परात्परपुरुषात्मा है। स्वायम्भुव चिदात्मा के अंशभूत शान्त आत्मा के १ अन्तर्यामी, २-**सूत्रात्मा**, ३-**वेदात्मा**, ४-**चिदात्मा**, ये चार विवर्त्त हो जाते हैं। पारमेष्ठ्य हिरण्यगर्भात्मा के अंशभूत महानात्मा के **आकृत्यात्मा, प्रकृत्यात्मा, अहङ्कृत्यात्मा, यज्ञात्मा**, भेद से चार विवर्त्त हो जाते हैं। सौर सर्वज्ञात्मा के अंशभूत विज्ञानात्मा के **विज्ञानात्मा**, यज्ञातिशयरूप **दैवात्मा**, ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। पार्थिव विराडात्मा के अंशभूत भूपिण्ड-भूवायु-त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-इन पाँच अंशो के प्रवर्ग्यरूप पाँच पार्थिवात्मा क्रमशः **भूतात्मा-हंसात्मा, वैश्वानरात्मा-तैजसात्मा-प्राज्ञात्मा,** ये पाँच विवर्त्त हो जाते हैं। ४-४-२-५-के संकलन से स्वायम्भुव, पारमेष्ठ्य, सौर, चान्द्र भेद से १६ वैकारिकात्मविवर्त्त हो जाते हैं। १६ वैकारिकात्मा, १७ वाँ अव्यक्तात्मा, १८ वाँ गूढोत्मा, १९ वाँ परात्परात्मा, यही **'एकोनविंशतिमुखः'** 'अध्यात्मम्' है। हमारे शरीर में एक आत्मा नहीं है, अपितु वृक्षवत् अनेक (१९)

आत्मा हैं। अतएव इस आत्मतत्त्व को 'आत्मग्राम' (अनेक आत्माओं के रहने का स्थान) कहना अन्वर्थ बनता है। एक ही तत्त्व एकोनविंशतिमुख बना है, इस दृष्टि से–'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' मूलक अद्वैतवाद भी अक्षुण्ण है। यही उपनिषदों की 'अद्वैतमूला ज्ञानदृष्टि है। 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्' न्याय से १६ रूप विभिन्न हैं, यही तत्त्वानुगत द्वैतवाद की अक्षुण्णता है। यही उपनिषदों की 'विज्ञान (विविधज्ञान) दृष्टि' है। संचरधिया उसके १६ विवर्त्त सत्य हैं, प्रतिसञ्चरधिया उसका एकत्व अक्षुण्ण है। यही भारतीय दर्शनशास्त्र का सुप्रसिद्ध भेदसहिष्णु–अभेदवाद है।

अध्यात्मानुगतः–आत्मग्रामः–(१२७ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)—

जैवः—आत्मग्रामः—	(१) साक्षीविराट्–प्रत्यगात्मा तत्रभुक्त––विराड्द्वारा–ईश्वराव्ययो गूढोत्मा		तत्प्रवर्ग्यभागा:	जीवाव्ययो गूढोत्मा
	(२) भुक्तः ,,	अव्यक्तात्मा	तत्प्रवर्ग्यभागः	अव्यक्तात्मा
	(३) ,,	चिदात्मा (४८पार्थिवस्तोमानुगत–स्वायम्भुवांशः)	तत्प्रवर्ग्यभागः	शान्तात्मा
	(४) ,,	हिरण्यगर्भात्मा(३३ ,, परामेष्ठ्यांशः)	,,	महानात्मा
	(५) ,,	सर्वज्ञात्मा (२१ ,, सौरांशः)	,,	विज्ञानात्मा
	(६) ,,	महानात्मा (१५ ,, चान्द्रांशः)	,,	प्रज्ञानात्मा
	(७) ,,	सर्वज्ञात्मा (२१ ,, व्यापकसर्वज्ञांशः)	,,	प्राज्ञात्मा
	(८) ,,	हिरण्यगर्भात्मा(१५ ,, ,, हिरण्यगर्भांशः)	,,	तैजसात्मा
	(९) ,,	विराडात्मा (९ ,, ,, विराजोंऽशः)	,,	वैश्वानरात्मा
	(१०) ,,	वराहात्मा (भूवायोरंशः)	,,	हंसात्मा
	(११) ,,	चित्यात्मा (भूपिण्डांशः)	,,	भूतात्मा

चिदात्मा	इति नु–अधिदैवतम्–'यदमुत्र' साक्षीविराट्–प्रत्यगात्मा (ईश्वरः) चिदंशः–अध्यात्मेश्वरः—	चिदाभासः	इति नु अध्यात्मम्–तदन्विह भोक्ता–विराट् शारीरक आत्मा जीवः

प्रकारान्तरेण—(१२८ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)—

१–पुरुषात्मा	सोऽयंजीवस्य गूढोत्मा	जीवात्मकजीवस्य पुरुषात्मा, (सा काष्ठा सा परा गतिः)	१ अमृतसत्यात्मा	
२–प्राकृतात्मा	,, अव्यक्तात्मा			
३–शान्तात्मा	,, चिदात्मा	चिदात्मा—जीवात्मकजीवस्य चिदात्मा		
४–महानात्मा	,, हिरण्यगर्भात्मा	हिरण्यगर्भात्मा-जीवात्मकजीवस्यहिरण्यगर्भात्मा		
५–विज्ञानात्मा	,, सर्वज्ञात्मा	जीवात्मकजीवस्य सर्वज्ञात्मा		
६–प्रज्ञानात्मा	,, महानात्मा	जीवात्मकजीवस्य महानात्मा		
७–प्राज्ञात्मा	,, सर्वज्ञात्मा	–जीवात्मकः–अन्तरात्मा (सर्वभूतान्तरात्मा) (जीवात्मको जीवः)	२ देवसत्यात्मा	ब्रह्मसत्यात्मा
८–तैजसात्मा	,, हिरण्यगर्भात्मा			
९–वैश्वानरात्मा	,, विराडात्मा			
१०–हंसात्मा	,, वराहात्मा	–जीवात्मनः–बाह्यात्मा जीवात्मकजीवस्य चित्यात्मा		
११–शरीरम्	,, चिदात्मा			

* * *

एकादशविधो जैवः–आत्मग्रामः:

११– १–गूढोत्मा——पुरुषात्मा

१२– २–अव्यक्तात्मा–प्राकृतात्मा

वैकारिकात्मानः–९

३–वैकारिकात्मा

विकारात्मा । १–शान्तात्मा, २–महानात्मा, ३–विज्ञानात्मा, ४–प्रज्ञानात्मा,–५–भूतात्मा ।

वैकारिकात्मा । १–प्राज्ञात्मा, २–तैजसात्मा, ३–वैश्वनरात्मा, ४–हंसात्मा, ५–भूतात्मा

* * *

प्रकृतदृष्ट्या-(एकोनविंशतिमुखो जीवात्मा)—

*-मायी-परात्परपुरुषः (१)

१-गूढोत्मा-षोडशी (२)

२-अव्यक्तात्मा-विश्वेश्वरः (३)

१-शान्तात्मा-(स्वायम्भुवः)

१-अन्तर्यामी[४], २-सूत्रात्मा[५], ३-वेदात्मा[६], ४-चिदात्मा[७]

२-महानात्मा-(पारमेष्ठ्यः)

१-आकृत्यात्मा[८], २-प्रकृत्यात्मा[९], ३-अहङ्कृत्यात्मा[१०], ४-यज्ञात्मा[११]

३-विज्ञानात्मा (सौरः)

१-विज्ञानात्मा[१२], २-दैवात्मा[१३]

४-प्रज्ञानात्मा[१४] (चान्द्रः)

५-भूतात्मा (पार्थिवः)

१-प्राज्ञात्मा[१५], २-तैजसात्मा[१६], ३-वैश्वानरात्मा[१७], ४-हंसात्मा[१८], ५-भूतात्मा[१९]

कर्म्मात्मा-अन्तरात्मा

* * *

प्रकारान्तरेण—

१–१ { १–मायी परात्परपुरुषः (१६), २–जीवाव्ययो गूढोत्मा (१८) } —— द्विविधो गूढोत्मा (३)–२

२–१ [१–जीवाक्षरोऽव्यक्तात्मा (१७)] —— एकविधः–अव्यक्तात्मा (२)–१

३–१ { १–अन्तर्य्यामी (१६), २–सूत्रात्मा (१५), ३–वेदात्मा (१४), ४–चिदात्मा (१३) } —— चतुर्विधः शान्तात्मा स्वायम्भुवः (४)

४–२ { १–आकृत्यात्मा (१२), २–प्रकृत्यात्मा (११), ३–अहङ्कृत्यात्मा (१०), ४–यज्ञात्मा (९) } —— चतुर्विधो महानात्मा पारमेष्ठ्यः (४)

५–३ { १–विज्ञानात्मा (८), २–दैवात्मा (७) } —— द्विविधो विज्ञानात्मा सौरः (२)

६–४ [१–प्रज्ञानात्मा (६)] —— एकविधः प्रज्ञानात्मा चान्द्रः (१)

७–५ [१–प्राज्ञात्मा (५)

८–६ [२–तैजसात्मा (४)

९–७ [३–वैश्वानरात्मा (३) } दैवसत्यात्मा } अन्तरात्मा

१०–८ [४–हंसात्मा (२)

११–९ [५–भूतात्मा (१) } बाह्यात्मा } शरीरात्मा

} —— पञ्चविधो भूतात्मा–पार्थिवः (५)

षोडशविधः—वैकारिकात्मा (?) १६

स एष एकोनविंशतिमूलो जीवात्मा–अध्यात्मम्
"आत्मग्रामः"

१०३--आत्मखण्डस्वरूपसमर्थकवचन—

आत्मग्राम की पूर्वप्रदर्शित तालिकाएँ जहाँ विज्ञानसहकृतज्ञाननिष्ठों के आत्मप्रसाद की कारणभूता हैं, वहाँ विशुद्धज्ञानाभिनिविष्ट जगन्मिथ्यात्ववादियों की दृष्टि में ये ही वेदना का कारण बन सकतीं हैं। **'हमारे शरीर में एक आत्मा नहीं, १६ आत्मा हैं'** ज्ञानसहकृत यह विज्ञानसिद्धान्त अवश्य ही वर्त्तमान युग के विद्वत्समाज के लिए इसलिए चर्चा का विषय बन सकता है कि, वैदिक तत्त्ववाद के विलुप्तप्राय हो जाने से, जगन्मिथ्यात्ववादी व्याख्याताओं की काल्पनिक व्याख्याओं के अनुग्रह से, सर्वोपरि कालमहिमा से भारतीय आत्मविज्ञान एकान्ततः लुप्त हो गया है। यही कारण है कि, आज शास्त्रीय कर्म्मों के सम्बन्ध में पदे पदे शङ्काएँ उपस्थित हो रहीं हैं। यदि आत्मा अखण्ड है, तो जन्म किसने लिया ?, यदि वह जन्म लेता है, तो अखण्ड कैसे रहा ?, यदि जीवात्मा शरीर छोड़ते ही अन्य देह धारण कर लेता है, तो श्राद्धान्न किसके लिए दिया जाता है ?, आदि आदि यच्चयावत् शङ्काओं का एकमात्र कारण आत्मा के तात्त्विक स्वरूपज्ञान की विलुप्ति ही माना जायगा। किस आत्मा का क्या कर्म्म है ?, कौन कर्म्मभोक्ता है ?, कौन श्राद्धान्नभोक्ता है ?, किसके लिए गयाश्राद्ध विहित है ?, कौन अविज्ञेय है ?, कौन विज्ञेय है ?, आदि आत्मविषयक यच्चयावत् प्रश्नों का समाधान करना प्रकृत बुद्धियोगखण्ड में अप्राकृत है *। आत्मस्वरूपप्रतिपत्तिलक्षणा, उपक्रम में प्रतिज्ञाता ब्राह्मीस्थिति से सम्बन्ध रखने वाले १६ आत्माओं के आधार पर ही इन सब प्रश्नों का उत्तर यथानुरूप व्यवस्थित है। उदाहरण के लिए परात्पर आत्मा अखण्ड है, अजन्मा है। श्राद्ध महानात्मा के लिए ही विहित है। देहान्तर (आतिवाहिक शरीर) धारण कर कर्म्मानुसार कर्म्मफलभोक्ता आत्मा वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञलक्षण कर्म्मात्मा ही है। गयाश्राद्ध 'प्रेतात्मा'-नामक 'हंसात्मा' के लिए ही विहित है। इन १६ आत्माओं में १८ आत्मा तो मनुष्यमात्र में विद्यमान हैं। केवल एक आत्मा विशेष है, और वह है सौर-**'दैवात्मा'**। जिन प्रकृत्या द्विजातियों को यज्ञाधिकार वर्णतः प्राप्त है, यज्ञद्वारा उनके कर्म्मात्मा में दिव्यप्राणदेवातिशय प्रतिष्ठित हो जाता है। इसका सप्तदशस्तोमस्थ नाचिकेतस्वर्ग में प्रतिष्ठित दिव्य देवप्राण से हृद्ग्रन्थिबन्धन रहता है। यावदायुर्भोगानन्तर स्थूलशरीर छोड़ने पर कर्म्मात्मा इस दिव्यातिशय (यज्ञातिशय) रूप दैवात्मा के सहयोग से सप्तदशस्थ दिव्य प्राणाकर्षण से यावत्-दिव्यातिशयस्थितिपर्य्यन्त वहाँ प्रतिष्ठित हो जाता है। यही यज्ञजनिता स्वर्गफलावाप्ति है, जिसके लिए-**'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** इत्यादि वचन विहित हैं। अतएव इस सौर दैवात्मा को **'काम्य आत्मा'** कहा जा सकता है, जिसका केवल यज्ञकर्त्ता द्विजातियों से ही सम्बन्ध है। शेष १८ आत्मविवर्त्त सर्वत्र भुक्त रहते हुए अविशेष हैं, अतएव इन्हें **'नित्य आत्मा'** कहा जा सकता है। युक्ति, तर्क, विज्ञान, आदि से यद्यपि लक्ष्यैकचक्षुष्क विद्वानों के लिए इन आत्मविवर्त्तों की प्रामाणिकता सर्वात्मना सिद्ध है। तथापि जो 'लक्षणैकचक्षुष्क' हैं, **'शब्दप्रामाणका वयं, यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्'** यही अभिनिवेश

* इसके लिए 'श्राद्धविज्ञान' प्रथम खण्ड द्रष्टव्य है।

है, जो तथ्यपूर्ण वासिष्ठसिद्धान्त का समादर नहीं करते ×, उनके परितोष के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि, इन आत्मसंस्थाओं की प्रामाणिकता का समर्थन करने वाले कुछ एक वचन भी उद्धृत कर दिए जाँय। हमें विश्वास है–प्रमाणैकभक्त महानुभावों का अवश्य ही इन वचनों से ही परितोष हो जायगा—

***अखण्डः परात्परः-(१)–'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्** (छां० उ० ६।२।१।)

(२)—यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

(३)—सं विदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

❀ ❀ ❀

१-मायी परात्परपुरुषः-यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ॥
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

—मुण्डकोपनिषत् ३।२।८।

❀ ❀ ❀

२-जीवाव्ययो गूढोत्मा-एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

—कठोपनिषत् १।३।१२।

❀ ❀ ❀

३-जीवाक्षरोऽव्यक्तात्मा-'स एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा' (जाबालोपनिषत् २)।

❀ ❀ ❀

४–शान्तात्मा स्वायम्भुवः) —	अव्यक्तम्	**इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।**
५–महानात्मा (पारमेष्ठ्यः) —	महान्	**मनस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥१॥**
६–विज्ञानात्मा (बुद्धिः, सत्त्वम्) सौरः —	बुद्धिः	**महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।**
७–प्रज्ञानात्मा (मनः–चान्द्रः) —	मनः	**पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥२॥**
८–भूतात्मा (शरीरम्–पार्थिवम्)	शरीरम्	—कठोपनिषत्

* * *

× –**युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ॥**
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ॥१॥
अपि पौरुषमादेयं शास्त्रं चेद्युक्तिबोधकम् ॥
अन्यत्त्वार्षमपि त्याज्यं भाव्यं न्याय्यैकसेविना ॥२॥

—योगवासिष्ठे

चतुर्विधः शान्तात्मा स्वायम्भुवः—

* शान्तात्मा–"नमः शान्तात्मने तुभ्यम्" (मै० उप० ५।१।)।

"चतुर्थः शान्त आत्मा प्लुतप्रणवप्रयोगेण समस्तमोमिति"

(अथर्वशिखो० १।)।

यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत् ॥

यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ मनुः १।५२।

——*——

१-अन्तर्य्यामी–"यः पृथिव्यां तिष्ठन्, पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्य्याम्यमृतः"।

—बृ० उप० ३।७।३।

——*——

२-सूत्रात्मा–"वायुर्वै गौतम ! तत् सूत्रम्। वायुना वै गौतम ! सूत्रेणायं च लोकः, परश्च लोकः, सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति"

—बृ० उप० ३।७।२।

——*——

३-वेदात्मा–"स एव नित्यकूटस्थः, स एव वेदपुरुष इति मन्यन्ते" (परमहंसोप० १।)।

——*——

४-चिदात्मा–"अनुज्ञैकरसो ह्ययमात्मा चिद्रूप एव" (नृ० उ० ता० उप० २।)।

——*——

* –चतुर्विधो महानात्मा पारमेष्ठ्यः—

"स वा एष महानज आत्मा, योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु, य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते, सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः, सर्वस्याधिपतिः। स न साधुना कर्म्मणा भूयान्, नो एवासाधुना कनीयान्। एष सर्वेश्वरः, एष भूताधिपतिः, एष भूतपालः, एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय"—बृ० उप० ४।४।२२।

——*——

१ आकृत्यात्मा—यस्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः।

वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥ऋक्सं१०।८५।५।

❀

२ प्रकृत्यात्मा—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥श्वे०उ० ४।१०।

❀

३ अहङ्कृत्यात्मा—अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।
बुध्देर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥श्वे५।८।

❀

४ यज्ञात्मा—एष ह वै यजमानस्यामुष्मिंल्लोक ऽआत्मा भवति, यद्यज्ञः ।
स ह सर्वतनूरेव यजमानो ऽमुष्मिंल्लोके सम्भवति, य एवं-
विद्वान्निष्क्रीत्या यजते"—शत०ब्रा०११।१।८।६।

❀

*-द्विविधो विज्ञानात्मा सौरः—

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्व्वज्ञः सर्व्वमेवाविवेश ॥
—प्रश्नोपनिषत् ४।११।

❀

१ विज्ञानात्मा—एव हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, योद्धा,
कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः । स परेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ।
—प्रश्नोपनिषत् ४।६।

❀

२ दैवात्मा—दैवो वाऽअस्यैष आत्मा, मानुषोऽयम् । स यन्न न्यञ्ज्यात्,
न हैतं दैवात्मानं प्रीणीयात् । अथ यन्न्यनक्ति, तथो हैतं
दैवात्मानं प्रीणाति—शत०ब्रा० ६।६।४।५।

❀

*—एकविधः प्रज्ञानात्मा चान्द्रः—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥यजुः संहिता"
"यदेतत्-हृदयं मनश्चैतत् संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधादृष्टिर्धृति-
र्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश-इति सर्वाण्येवै-

तानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति । सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानं ब्रह्म"—ऐतरयोपनिषत,

❀

पञ्चविधो भूतात्मा पार्थिवः—

"अथान्यत्राप्युक्तं-संमोहो, भयं, विषादो, निद्रा, तन्द्रा, व्रणो, जरा, शोकः, क्षुत्, पिपासा, कार्पण्यं, क्रोधो, नास्तिक्यं, अज्ञानं, मात्सर्य्यं, वैकारुण्यं, मूढत्त्वं, निर्व्रीडत्वं, निकृतत्त्वं, उद्धतत्त्वं, असमत्त्वं, इति तामसान्वितः—तृष्णा, स्नेहो, रागो, लोभो, हिंसा, रति, दृष्टिव्यापृतत्त्वं, ईर्ष्या, कामं, अवस्थितत्त्वं, चञ्चलत्त्वं, जिहीर्षा, अर्थोपार्जनं, मित्रानुग्रहणं, परिग्रहावलम्बो, ऽनिष्टेषु—इन्द्रियार्थेषु द्विष्टि, रिष्टेष्व-भिषङ्ग—इति—राजसान्वितैः परिपूर्णः, एतैरभिभूतः, इत्ययं भूतात्मा । तस्मान्नाना रूपाण्याप्नोति" । —मैत्रायण्युपनिषत् ३।५।

❀

१ प्राज्ञात्मा—"सुषुप्तस्थानः, एकीभूतः, प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्—चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः"—माण्डूक्योपनिषत् ५।

❀

२ तैजसात्मा—"स्वप्नस्थानो ऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एनोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्-तैजसो द्वितीयः पादः"—मा० ४।

❀

३ वैश्वानरात्मा—"जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक्-वैश्वानरः प्रथमः पादः"—मा० ३।

४ हंसात्मा—"नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ श्वे०उप० ३।१८।

❀

५ भूतात्मा(शरीरम्)—"आत्मा वै तनूः" (शत० ६।७।२।६।)—"तस्मादितर आत्मा मेद्यति च, कृश्यति च" (तां०म०ब्रा० ५।१।७।)—'तत्सर्व आत्मा (शरीरं) वाचमप्येति, वाङ्मयो भवति" ।
(कौ०ब्रा० २।७।) ।

—❀—

१०४-प्रतिमाषोडशी में पञ्चोपेश्वरषोडशी-विवर्त्तों का अन्तर्भाव—

पूर्व के अवान्तर परिच्छेदों में क्रमशः निष्कल, षोडशी, प्रतिमाषोडशी, इन तीन कारणों की क्रमिक मीमांसा हुई है। वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, महामायावच्छिन्न-विशुद्ध-मनोमूर्त्ति परात्पर-पुरुष निष्कलतत्त्व है। सहस्रबल्शात्मक-षोडशकल-महामायावच्छिन्न-गूढोत्मा-अश्वत्थब्रह्म षोडशीतत्त्व है। एवं सत्यस्वयम्भू नामक व्यापक अव्यक्ततत्त्व प्रतिमाषोडशी है। इस अव्यक्ततत्त्व के अव्यक्त, पुण्डीर, भेद से आगे जाकर दो विवर्त्त हो जाते हैं। पुण्डीर अव्यक्ततत्त्व ही 'उपेश्वरषोडशी' कहलाया है। यह उपेश्वरषोडशी ही स्वयम्भू (पुण्डीरस्वयम्भू), परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, इन पाँच भागों में विभक्त होकर पञ्चावयव बना रहता है। पञ्चावयव उपेश्वरषोडशी निरवयव अव्यक्त नामक प्रतिमाषोडशी से अभिन्न है। उसी की ये पाँच अभिव्यक्तियाँ हैं। अतएव इन पाँचों का उस प्रतिमाषोडशी-स्वरूप में हीं अन्तर्भाव किया जा सकता है।

१०५-आध्यात्मिक प्रतिमाषोडशी-सप्तकस्वरूपदिग्दर्शन—

अव्यक्तस्वयम्भू अव्यक्तप्रतिमाषोडशी है, उपेश्वरात्मक पुण्डीरस्वयम्भू व्यक्त प्रतिमाषोडशी है। इसका व्यक्तीभाव पारमेष्ठय महान् पर निर्भर है, अतएव इस पुण्डीरस्वयम्भू का महान् में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। उधर अव्यक्तप्रतिमाषोढशी क्योंकि व्यापकत्त्वेन षोडशकल मायीमहेश्वर से समतुलित है, अतएव इसका उसमें अन्तर्भाव मान लिया जाता है। निष्कर्ष इस अन्तर्भावप्रक्रिया का यह निकलता है कि, निष्कल परात्परपुरुषरूप आलम्बन पर प्रतिष्ठित माहामायी षोडशीपुरुष के गर्भ में महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, शरीर, इन चार प्रतिमाभावों की सत्ता सिद्ध हो जाती है, जिसे वैज्ञानिकों नें **महान्, बुद्धि, मन, वायु, वैश्वानर, शरीर, महिमा,** इन सात संख्याओं में विभक्त माना है। निष्कलाविनाभूत षोडशी महाषोडशी है, तदविनाभूत अव्यक्तषोडशीरूप प्रतिमाषोडशी इसी महाषोडशी में अन्तर्भूत है। पुण्डीरषोडशीरूप प्रतिमाषोडशी महान्षोडशी में अन्तर्भूत है। फलतः 'प्रतिमा' शब्द से प्रथम संग्राह्य केवल महान् तथा परमेष्ठी ही बच रहते हैं। इस नवीन दृष्टिकोण को आधार बना कर ही हमें दो शब्दों में प्रतिमाषोडशी सप्तक-की मीमांसा करनी है।

(१) निष्कलः————-श्वोवस्यसूत्रह्मात्मकः परात्परपुरुषः

(२) षोडशी————परात्पराव्ययाक्षररात्मक्षरूपो महाषोडशी { ——अत्रान्तर्भावो व्यापकस्याव्यक्तस्य

(३) प्रतिमाषोडशी— | महाषोडशिना समतुलितः-अव्यक्तषोडशी |

पञ्चावयवोपेश्वरः —
(१) पुण्डीरस्वयम्भूः (अव्यक्तम्)
(२) पुण्डीरपरमेष्ठी (महान्) } अत्र अन्तर्भावः पुण्डीराव्यक्तस्य
(३) पुण्डीरसूर्य्यः (बुद्धिः)
(४) पुण्डीरचन्द्रमाः (मनः)
(५) पुण्डीरपृथिवी (शरीरम्)

——✻✻——

निष्कलः (परात्परः) —— निष्कलः (१)

षोडशी (षोडशी)
अव्यक्तषोडशी (सत्यः) —— महाषोडशी (२)

——

पुण्डीरस्वयम्भूः (अव्यक्तम्)
पुण्डीरपरमेष्ठी (महान्) —— महान् (४)
पुण्डीरसूर्य्यः (बुद्धिः) —— बुद्धिः (३)
पुण्डीरचन्द्रमाः (मनः) —— मनः (२)
पुण्डीरपृथिवी (शरीरम्) —— शरीरम् (१)
—— प्रतिमाषोडश्यः (३)

——✻✻——

जिस प्रकार निरूपित अधिदैवतसंस्था में भूत, आत्म,-ग्रामों का समन्वय है, एवमेव प्रकान्त अध्यात्म-संस्था में भी दोनों विभाग यथानुरूप प्रतिष्ठित हैं। अन्तर केवल इतना हीं है कि, अधिदैवत षोडशी महामाया-सम्बन्ध से जहाँ महाषोडशी कहलाया है, वहाँ आध्यात्मिक षोडशी योगमाया के सम्बन्ध से जीवषोडशी कहलाया है, जिसे कि हम हमारी आध्यात्मिक त्रिलोकी की दृष्टि से महाषोडशी भी कह सकते हैं। व्यापक अव्यक्त-गर्भित महाषोडशी (ईश्वरषोडशी) का अंशभूत योगमायावच्छिन्न जीवषोडशी अध्यात्मसंस्था का षोडशी है। इस षोडशी के गर्भ में अधिदैवत के पुण्डीरस्वयम्भू, पुण्डीरपरमेष्ठी, पुण्डीरसूर्य्य, तीनों के प्रत्यंशभूत

शान्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा प्रतिष्ठित हैं। शान्तात्मा महानात्मा के गर्भ में अन्तर्भूत है। फलतः महान्, और विज्ञान, ये प्रतिमाषोडशी शेष रह जाते हैं। पुण्डीरचन्द्रमा, तथा पुण्डीरपृथिवी के रसों के प्रवर्ग्य से अध्यात्मसंस्था में मन, वायु, वैश्वानर, शरीर, इन चार प्रतिमाभावों का उदय होता है। इन के अतिरिक्त इन ६ ओं प्रतिमाभावों की महिमा (साहस्रीमण्डल, पुनःपद) का समावेश और रहता है। सम्भूय **महान्, बुद्धि, मन, वायु, वैश्वानर, शरीर, महिमा,** ये सात प्रतिमाप्रजापति हो जाते हैं, जो आध्यात्मिक जीवषोडशी के गर्भ में भुक्त हैं। इस आध्यात्मिक सप्तक के समन्वय के लिए आधिदैविक सप्तक पर भी दृष्टि डाल लेना आवश्यक होगा।

१०६–आधिदैवक–सप्त–प्रतिमाषोडशी–स्वरूपदिग्दर्शन—

पञ्चावय उपेश्वर के पाँचों पर्व क्रमशः प्राणमय (स्वयम्भू), आपोमय (परमेष्ठी), वाङ्मय (सूर्य्य), अन्नमय (चन्द्रमा), अन्नादमय (पृथिवी) हैं। अन्नादमय पाँचवाँ पृथिवीपर्व अग्निमय है। चित्य (मर्त्य), चितेनिधेय (अमृत) भेद से इसके दो विवर्त्त हैं। चित्याग्नि भूपिण्ड है, यही मर्त्यापृथिवी है। चितेनिधेयाग्नि की ही त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंशस्तोमभेद से घन-तरल-विरलावस्थाओं के द्वारा तीन स्थितियाँ हो रहीं हैं, जो क्रमशः अग्नि, वायु, इन्द्र, नामों से प्रसिद्ध हैं। त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश, तीनों स्तोम क्रमशः पृथिवी–आन्तरिक्ष–द्यौ–नामक तीन पार्थिव विश्व हैं। तीनों के क्रमशः अग्नि–वायु-इन्द्र-तीन नर (नायक, अधिष्ठाता) हैं। इन तीनों नरों के समन्वय से उत्पन्न होने वाला सांयौगिक त्रिधर्म्मावच्छिन्न तत्त्व ही विराट् कहलाया है। यही अध्यात्मपरिभाषा में 'वैश्वानर' कहलाया है। वाय्विन्द्रगर्भित अग्निप्रधान विराट् विराट् है। अग्नीन्द्र–गर्भित वायुप्रधान विराट् हिरण्यगर्भ है। एवं अग्निवायुगर्भित इन्द्रप्रधान विराट् सर्वज्ञ है। इसप्रकार अग्नि–वायु–इन्द्र–के समन्वय से उत्पन्न एक ही विराट् के अग्नि–वायु–इन्द्र की प्रधानता–अप्रधानता से विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ–ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं, जिनका केवल विराट् नाम से भी संग्रह किया जा सकता है।

त्रिमूर्त्तिविराट् का तीसरा इन्द्रप्रधान सर्वज्ञपर्व चान्द्रसोम के प्रवर्ग्यभाग से युक्त होकर चिन्मय बनता हुआ अपने सर्वज्ञ नाम को अन्वर्थ बना रहा है। चान्द्रसोम अपने स्वाभाविक वीध्रधर्म्म से चिद्ग्राहक बनता हुआ क्रियामय इन्द्रात्मक विराट् को ज्ञानमय भी बना देता है। चिच्छक्तिमय यही सोम हैमवतीउमा नाम से उपनिषदों में उपवर्णित हुआ है। इसी के सम्बन्ध से इन्द्र सर्वज्ञ बन रहे हैं। तात्पर्य्य-पार्थिव चितेनिधेय विराडग्नि ही विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ, इन तीन विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। भूपिण्ड के चारों ओर व्याप्त रहने वाला वराहवायु एक स्वतन्त्र तत्त्व है। इसप्रकार पुण्डीर पृथिवीपर्व के भूपिण्ड, वराहवायु, त्रिविध विराट्, ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। चौथा पुण्डीर चन्द्रमा है, पाँचवाँ पुण्डीर सूर्य्य है, छठा पुण्डीर परमेष्ठी है, सातवाँ पुण्डीर स्वयम्भू है, यही आकाश है, यही महिमा है। इसप्रकार अधिदैवतसंस्था में महिमा, (स्वयम्भू), परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, वराहवायु, त्रिविधविराट्, भूपिण्ड, ये सात प्रतिमाषोडशी हो जाते हैं।

१०७–प्रज्ञा, और प्राण को अभिन्नता—

उक्त आधिदैविक सप्तक से ही आध्यात्मिक सप्तक का निर्म्माण हुआ है। आध्यात्मिक सातों पर्व क्रमशः–महिमा (स्वयम्भू का प्रवर्ग्यरूप आकाश), महान्, बुद्धि, मन, त्रिविध वैश्वानर, वायुमूर्त्ति हंसात्मा, शरीर, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। अधिदैवतसंस्था का त्रिमूर्त्ति विराट् ही अध्यात्मसंस्था में त्रिमूर्त्ति वैश्वानर कहलाया है। वाय्विन्द्रगर्भित अर्थप्रधान आग्नेय वैश्वानर वैश्वानर नाम से, अग्नीन्द्रगर्भित क्रियाप्रधान

वायव्य वैश्वानर तैजस नाम से, एवं अग्निवायुगर्भित ज्ञानप्रधान ऐन्द्र वैश्वानर प्राज्ञ नाम से व्यवहृत हुआ है। ऐन्द्र प्राज्ञ में चिदंश, सोम, प्राण, तीनों तत्त्वों का समन्वय हो रहा है। चिदंश, सोम, दोनों की समष्टि 'प्रज्ञा' है। यह प्रज्ञातत्त्व इन्द्रप्राणात्मक है। प्रज्ञा (सोमविशिष्ट चिदंश) विशिष्ट इन्द्रप्राण ही 'प्राज्ञ' है। प्रज्ञा, और प्राण, दोनों अविनाभूत हैं। अतएव प्रज्ञा को प्राण कह दिया जाता है, एवं प्राण को प्रज्ञा नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है, जैसाकि निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है—

"यो वै प्राणः, सा प्रज्ञा। या प्रज्ञा, स प्राणः। सह ह्येता-वस्मिञ्छरीरे वसतः, सहोत्क्रामतः। तस्यैषैव दृष्टिः"। (कौ० उप० ३।३।)

इति नु—अधिदैवतम्			इति–नु–अध्यात्मम्		
आत्मा	निष्कलः, महाषोडशी, अव्यक्तः	—महाषोडशी गूढोत्मा	आत्मा	निष्कलः, जीवषोडशी, अव्यक्तः	—जीवषोडशी गूढोत्मा
अक्षर	स्वयम्भूः	]—महिमा (१)	अक्षर	अव्यक्तम्	]—महिमा (१)
	परमेष्ठी	]—परमेष्ठी (२)		महान्	]—महान् (२)
	सूर्य्यः	]—सूर्य्यः (३)		बुद्धिः	]—बुद्धिः (३)
	चन्द्रमाः	]—चन्द्रमाः (४)		मनः	]—मनः (४)
दैवसत्यः	सर्वज्ञः, हिरण्यगर्भः, विराट्	—विराट् (५)	दैवसत्यः	प्राज्ञः, तैजसः, वैश्वानरः	—वैश्वानरः (५)
वस्तुः	वराहः	]—वायुः (६)	सत्यः	हंसः	]—वायुः (६)
	भूपिण्डः	]—भूपिण्डः (७)		शरीरम्	]—शरीरम् (७)
प्रतिमा षोडशी:—१			प्रतिमाषोडश्यः—१		

यदमुत्र–पूर्णमदः—   तदन्विह–पूर्णमिदम्

१ —
१–मायी परात्परपुरुषः (१९)–१
२–जीवाव्ययो गूढोत्मा (१८)–२
३–जीवाक्षरोऽव्यक्तात्मा (१७)–३
–गूढोत्मा–जीवषोडशी (८)]–षोडशी १

२ —
४–अन्तर्य्यामी (१६)–१
५–सूत्रात्मा (१५)–२
६–वेदात्मा (१४)–३
७–चिदात्मा (१३)–४
——महिमा (आकाशोऽव्यक्तः) (७)

३ —
८–आकृत्यात्मा (१२)-१
९–प्रकृत्यात्मा (११)–२
१०–अहङ्कृत्यात्मा(१०)-३
११–यज्ञात्मा (९)–४
——महानात्मा (६)

४ —
१२–विज्ञानात्मा (८)–१
१३–दैवात्मा (७)–२
——बुद्धिः (५)

५ १४–प्रज्ञानात्मा (६)–१]——मनः (४)

६ —
१५–प्राज्ञात्मा (५)–१
१६–तैजसात्मा (४)–२
१७–वैश्वानरात्मा (३)–३
–वैश्वानरः (३

७ १८–हंसात्मा (२)–१]–वायुः (२)

८ १९–भूतात्मा (१)–१]–शरीरम् (१)

पूर्वप्रतिपादित एकोनविंशतिमुख (१९) आत्मविवर्त्तों का उक्त आठों आत्मपर्वों में अन्तर्भाव हो जाता है। १-मायी परात्परपुरुष, २-जीवाव्ययगूढोत्मा, ३-जीवाक्षर अव्यक्तात्मा, तीनों आत्मविवर्त्तों की समष्टि का आठवें गूढोत्मा में अन्तर्भाव है। अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा, वेदात्मा, चिदात्मा, चारों का सातवें स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा में अन्तर्भाव है। आकृत्यात्मा, प्रकृत्यात्मा अहङ्कृत्यात्मा, यज्ञात्मा, चारों का छठे पारमेष्ठ्य महानात्मा में अन्तर्भाव है। विज्ञानात्मा, दैवात्मा, दोनों का पाँचवें बुद्धिविवर्त्त में अन्तर्भाव है। प्रज्ञानात्मा ही चौथा मनःपर्व है। प्राज्ञ, तैजस, वैश्वानर-लक्षण वैश्वानर तीसरे वैश्वानर पर्व से संगृहीत है। हंसात्मा इसका वायव्य हंसपर्व है। भूतात्मा पहिले शरीरपर्व से संगृहीत है। इसप्रकार १९ सों आत्मविवर्त्त इस पर्वाष्टक से संगृहीत हो रहे हैं, जैसाकि पूर्व परिलेख में स्पष्ट है।

१०८--अधिदैवतानुगत सप्तपर्व, तथा अध्यात्मानुगत षट्पर्व—

जिस प्रकार १९ आत्मविवर्त्तों का ८ में अन्तर्भाव है, एवमेव आठ आत्मविवर्त्तों का ६ आत्मविवर्त्तों में भी अन्तर्भाव माना जा सकता है। भूतात्मलक्षण शरीर, हंसात्मलक्षण वायु, वैश्वानरात्मलक्षण वैश्वानर, तैजसलक्षण वैश्वानर, प्राज्ञलक्षण वैश्वानर, ये पाँचों पार्थिवविवर्त्त हैं, पाँचों की समष्टि को **'भूतात्मा'**[1] इस एक नाम से संगृहीत माना जा सकता है, यही प्रथम अधियज्ञात्मा है। मनोलक्षण **'प्रज्ञानात्मा'**[2] द्वितीय अधियज्ञात्मा है। बुद्धिर्लक्षण **'विज्ञानात्मा'**[3] तृतीय अधियज्ञात्मा है। आकृति-प्रकृति-अहंकृति-यज्ञ-लक्षण **'महानात्मा'**[4] चतुर्थ अधियज्ञात्मा है। अन्तर्य्यामी-सूत्र-वेद-चित्-लक्षण **'अव्यक्तात्मा'** पञ्चम अधियज्ञात्मा है। मायी परात्पर, जीवषोडशी, जीवाव्यक्त-समष्टिरूप षोडशी, इन पाँचों अधियज्ञात्माओं पर व्याप्त रहने वाला ६ ठा आत्मा है। एवं अधिदैवत, तथा अध्यात्मदृष्टि से ये षड्विवर्त्त समतुलित हैं।

अध्यात्मसंस्था में एक आत्मपर्व विशेष इसलिए है कि, अध्यात्मसंस्था अधिदैवत के गर्भ में प्रतिष्ठित है। अतएव प्रातिस्विक जीवषोडशी के अतिरिक्त इस अध्यात्मसंस्था में सर्वव्यापक ईश्वरषोडशी भी विभूति-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है। तात्पर्य्य-अध्यात्म में ईश्वरषोडशी, जीवषोडशी, पञ्च अधियज्ञात्मा, इन सात पर्वों का समन्वय है। अध्यात्मसंस्था के कितनें एक परिगणित कार्य्य जीवषोडशी पर निर्भर हैं, एवं कितनें एक कर्म्म आध्यात्मिक ईश्वरषोडशी की प्रेरणा पर अवलम्बित हैं। भोजनकर्म्म जहाँ जीवेच्छा पर निर्भर है, वहाँ भुक्तान्न को रसासृगादिरूप में परिणत करना ईशकामना पर निर्भर है। चक्रवर्त्ती नृपति के साम्राज्य में तत्तज्जनपदों में मूर्द्धाभिषिक्त मण्डलेश्वर नृपतियों की भी सत्ता रहती है। चक्रवर्त्ती के व्यापक शासनसूत्र का विरोध न करते हुए मण्डलेश्वरों को अपने अपने तन्त्रों का शासन करना पड़ता है। यदि मण्डलेश्वर पूर्ण बलशाली होकर स्वतन्त्र बन जाते हैं, तो ये स्वयं चक्रवर्त्ती भी बन जाते हैं। ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए। ईश्वर चक्रवर्त्ती है, जीव मण्डलेश्वर हैं। निर्बलदशा में स्वतन्त्र बनने का प्रयास करने वाले मण्डलेश्वरजीव दण्डित होते हुए पराभूत हो जाते हैं। परिपूर्ण विद्याबल (बुद्धियोग) के प्रभाव से ये स्वयं ईश्वरभाव में परिणत हो जाते हैं। तात्पर्य्य-जीवसंस्था में ईश्वर का भी हस्तक्षेप रहता है। अतएव जीव परतन्त्र मानें गए हैं *। यही परमार्थदृष्टि है।

---

* **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।**
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
—गीता

अध्यात्मम्—सप्त पर्वाणि				अधिदैवतम्-षट्पर्वाणि	
मायी परात्परपुरुषः (१९)	—जीवषोडशी (८)	—ईश्वराव्ययः (७)		— * * * *	
जीवाव्ययो गूढोत्मा (१८)		—जीवाव्ययः (६)		—ईश्वराव्ययः (६)	
जीवाक्षरोऽव्यक्तात्मा (१७)					
अन्तर्य्यामी (१६)	—महिमा (७)	—अव्यक्तात्मा (५)		—स्वयम्भूः (५)	आधियज्ञात्मानः—पञ्च
सूत्रात्मा (१५)					
वेदात्मा (१४)					
चिदात्मा (१३)					
आकृत्यात्मा (१२)	—महान् (६)	—महानात्मा (पारमेष्ठ्यः) (४)		—परमेष्ठी (४)	
प्रकृत्यात्मा (११)					
अहंकृत्यात्मा (१०)					
यज्ञात्मा (९)					
विज्ञानात्मा (८)	—बुद्धिः (५)	—विज्ञानात्मा (सौरः) (३)		—सूर्य्यः (३)	
दैवात्मा (७)					
प्रज्ञानात्मा (६)	—मनः (४)	—प्रज्ञानात्मा (चान्द्रः) (२)		—चन्द्रमाः (२)	
प्राज्ञात्मा (५)	—वैश्वानरः (३)	—भूतात्मा (पार्थिवः) (१)		—पृथिवी (१)	
तैजसात्मा (४)					
वैश्वानरात्मा (३)					
हंसात्मा (२)	—वायुः (२)				
भूतात्मा (१)	—शरीरम् (१)				

अध्यात्मम्—

आत्मा (१) १-महाषोडशी गूढोत्मा—ईश्वराव्ययः (सर्वाधिष्ठातृत्वेन जीवस्यापि-अधिष्ठाता) विद्याविद्ये
२-जीवषोडशी गूढोत्मा—जीवाव्ययः (अध्यात्माधिष्ठाता प्रातिस्विकः) ज्ञानकर्म्मणी

वैकारिकात्मवर्गः

(२)	१-अव्यक्तात्मा	स्वायम्भुवः प्राणमूर्त्तिः	आकाशः
(३)	२-महानात्मा	पारमेष्ठ्योऽब्मूर्त्तिः	वायुः
(४)	३-विज्ञानात्मा	सौरो वाङ्मूर्त्तिः	तेजः
(५)	४-प्रज्ञानात्मा	चान्द्रोऽन्नमूर्त्तिः	जलम्
(६)	५-भूतात्मा	पार्थिवोऽन्नादमूर्त्तिः	मृत्

आत्मग्रामः — भूतग्रामः



१०६-राजर्षिमनुसम्मत आत्मस्वरूपसमन्वय—

उक्त विवेचन से पाठकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि, अध्यात्मसंस्था में प्रधानता भूतात्मा, प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा, महानात्मा, शान्तात्मा (अव्यक्तात्मा), गूढोत्मा, इन ६ आत्मविवर्त्तों की ही है। शेष आत्मा इन्हीं ६ ओं आत्माओं के अवान्तर विवर्त्त हैं। इन ६ ओं में गूढोत्मा मुख्य आत्मा है, शान्तात्मादि पाँचों वैकारिक आत्मा हैं। भगवान् मनु ने इन्हीं पाँचों का स्वरूपविश्लेषण किया है। "हमारी अध्यात्मसंस्था में एक आत्मा नहीं, अपितु अनेक आत्मा हैं, एवं उनके नाम-रूप-कर्म्म पृथक् पृथक् हैं" इस वैज्ञानिक सिद्धान्त का जगन्मिथ्यात्ववादी कल्पित-वेदान्तनिष्ठों की दृष्टि में भले ही कोई मूल्य न हो, परन्तु शास्त्रभक्त वैज्ञानिकों की दृष्टि में तो समस्त धर्म्मेतिकर्त्तव्यता की मूलप्रतिष्ठा यही वैज्ञानिक आत्मभेद है। मानवशास्त्र-परिभाषानुसार ये पाँचों वैकारिक आत्मा क्रमशः **'शान्तात्मा, जीवात्मा, क्षेत्रज्ञात्मा, मन, भूतात्मा,'** इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। एवं ६ ठा गूढोत्मा **'साक्षी'** नाम से व्यवहृत हुआ है। वैकारिक आत्मपञ्चक का साक्षी गूढोत्मा ही माना गया है। जब तक आत्मा (वैकारिक आत्मा) आत्मा (गूढोत्मा) के नियन्त्रण में रहता हुआ प्रकृत्यनुकूल आचरण करता रहता है, तभी तक इसका अभ्युदय निःश्रेयस् है *। भोगप्रपञ्च का सम्बन्ध केवल वैकारिक आत्मप्रपञ्च के साथ ही माना गया है। अव्ययप्रधान गूढोत्मा तो वस्तुतः केवल साक्षी ही बना रहता है, जिसके लिए गीता में-**'गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी'** (गी० ९।१८।···) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। यही मनुभगवान् का पहिला साक्षी गूढोत्मा है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है-

---

*—**'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'** (कठोपनिषत्)।

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी, गतिरात्मा तथात्मनः ।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ (मनुः ८।८४।*।) ।

पाँचों वैकारिक आत्माओं में शान्तात्मा स्वायम्भुव है, अव्यक्तधर्म्मा है । शेष चारों व्यक्त हैं । शान्तात्मा की व्यक्तावस्था ही सृष्टि है, अव्यक्तावस्था ही लय है । अहरागम में अव्यक्त ही व्यक्तभाव में परिणत होकर सृष्टिकर्म्म का मूलप्रभव बनता है, एवं रात्र्यागम में अव्यक्त ही यच्चयावत् व्यक्तभावों को अपने अव्यक्तस्वरूप में लीन करता हुआ सृष्टि का उपसंहार बन जाता है । यही अव्यक्तधर्म्मा प्राणमूर्त्ति स्वायम्भुव 'शान्तात्मा' नामक प्रथम वैकारिक आत्मा का स्वरूपविश्लेषण है, जिसका निम्न लिखित वचन से समर्थन हुआ है—

यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥१॥
तस्मिन् स्वपिति सुस्थे तु कर्म्मात्मानः शरीरिणः ।
स्वकर्म्मभ्यो निवर्त्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥२॥
युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन् महात्मनि ।
तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥३॥ (मनुः १।५२,५३,५४।) ।

१०९–शान्तात्मस्वरूपदिग्दर्शन—

शान्तात्मा क्योंकि अव्यक्तधर्म्मा है, अतएव इसमें भुक्त गूढोत्मा नामक चिदात्मा का अप्यय हो जाता है । अतएव अव्यक्तानुगत चिदात्मा का व्यक्तीभाव नहीं होने पाता । अतएवच अव्यक्तज्ञान हमारे लिए अव्यक्त अज्ञात) ही बना रहता है । हम(जीवात्मा)नहीं जान पाते कि, शान्तात्मा का कैसा स्वरूप है ? । चिदात्मा को महद्गर्भ में प्रतिष्ठित कर चिदात्मा को व्यक्तरूप प्रदान करना इसका प्रधान कर्म्म है । शारीर-भैषज्ययज्ञ को स्व-वेदमहिमा के द्वारा सुरक्षित रखना इसका दूसरा कर्म्म है । अपने ऋत, सत्य-सूत्रों के द्वारा अपने स्वाभाविक प्राणात्मक विधरणधर्म्म से आध्यात्मिक क्षर-भौतिक परमाणुओं को कूटस्थरूप से सुसंघटित बनाए रखना इसका तीसरा कर्म्म है । अपने दहरपुण्डीरात्मक हृद्यरूप से स्थिति-आगति-गति-रूपा-भावत्रयी से पदार्थों का नियमन करते रहना, उन्हें नियत-प्राकृतिक-मर्य्यादा से सञ्चालित रखना इसका चौथा काम है । इसी कर्म्मचतुष्टयी-भेद से इस एक ही स्वायम्भुव शान्तात्मा के चिदात्मा, वेदात्मा, सूत्रात्मा, अन्तर्य्यामी, ये चार विवर्त्त हो जाते हैं, जिनका पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है । इसके ये चारों हीं विवर्त्त अव्यक्त, अतएव अविज्ञात हैं । हम इनके सम्बन्ध में यह अनुमान भर लगा सकते हैं, कि अवश्य ही हमारी अध्यात्म-संस्था में कोई तत्त्व ऐसा है, जिसे हम जानते तो नहीं, किन्तु जो अपनी नियति से हमारी नियतकर्म्म की

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयःस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ (गी० ९।१८।···) ।

ओर प्रवृत्ति बनाए रखता है–'**केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि**'। अवश्य ही किसी तत्त्व ने शारीर क्षरपरमाणुओं का एकसूत्र में संघठन कर रक्खा है। निश्चयेन अग्नीषोमात्मक शरीर–यज्ञ का कोई न कोई आलम्बन है। अवश्य ही किसी अव्यक्तप्रेरणा से चिदात्मा चिदाभासरूप में परिणत हो रहा है। अनुमानैकगम्य, अव्यक्तधर्म्मा, चतुर्विध शान्तात्मा का यही इतिवृत्त है।

११०—मीमांस्य महानात्मा–

स्वायम्भुव, अव्यक्तधर्म्मा, शान्तात्मा के अनन्तर पारमेष्ठ्य, व्यक्तधर्म्मा महानात्मा की ओर हमारी दृष्टि जाती है। यही आत्मा मानवपरिभाषानुसार 'जीवात्मा' नाम से भी व्यवहृत हुआ है। यद्यपि औपनिषद सिद्धान्तानुसार 'भोक्तात्मा' ही जीवात्मा है। एवं 'वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ' की समष्टिरूप कर्म्मात्मा, तथा मन इन्द्रिय, इन तीनों के समन्वितरूप का ही नाम भोक्तात्मा है *। तथापि एक विशेष हेतु से भगवान् मनु ने महानात्मा को भी जीवात्मा नाम से व्यवहृत कर दिया है। उस विशेष हेतु के समन्वय के लिए हमें महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, तीनों के स्वरूप पर एक साथ दृष्टि डालनी पड़ेगी। क्योंकि अध्यात्मसंस्था में इन तीनों आत्मविवर्त्तों का स्वरूप परस्पर संश्लिष्ट–सा है। अतएव महानात्मा मीमांस्य बन रहा है।

१११–अव्यक्त स्वयम्भू की दर्शपूर्णमासप्रक्रिया—

अधिदैवतसंस्था में पृथिवी भूतात्मा है, चन्द्रमा प्रज्ञानात्मा है, सूर्य्य विज्ञानात्मा है, एवं परमेष्ठी महानात्मा है। आध्यात्मिक आत्मतत्त्व के समन्वय से पहिले इस आधिदैविक आत्मस्वरूप की विशेषता पर दृष्टि डालिए। प्रज्ञानात्मलक्षण चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। चन्द्रमा को साथ लिए हुए भूतात्मलक्षणा पृथिवी सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रही हैं। सचन्द्रा पृथिवी को साथ लिए हुए विज्ञानात्मलक्षण सूर्य्य परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। सचन्द्रा पृथिवी, एवं सूर्य्य को साथ लिए हुए महानात्मलक्षण परमेष्ठी शान्तात्मलक्षण स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। शान्तात्मलक्षण स्वयम्भू सर्वथा स्थिर, अतएव अव्यक्त है। इस परिक्रमा से इन पाँचों पर्वों के धर्म्मों का परस्पर अन्न–अन्नाद-भाव बना हुआ है। परिक्रमणमूला आदानविसर्गभावात्मिका अन्नअन्नादात्मिका यह प्रक्रिया ही यज्ञपरिभाषा में 'दर्शपूर्णमास' नाम से प्रसिद्ध हुई है। पाँचों में से केवल स्वयम्भू तो दर्श–यज्ञ का ही प्रवर्त्तक है, शेष चारों में दर्श–पूर्णमास दोनों का समन्वय हो रहा है। पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य्य, परमेष्ठी, चारों का रसनिर्गमनकाल दर्शावस्था है, चारों का रसागमनकाल पूर्णमासावस्था है। स्थिर स्वयम्भू किसी के परिक्रमा नहीं लगाता, एकमात्र इसी दृष्टिकोण से इसे केवल दर्शप्रक्रिया का अनुगामी मान लिया गया है। तत्त्वतः विसर्गवत् यह भी चारों पर्वों की भाँति आदन का भी अधिष्ठाता बना हुआ है। क्योंकि चारों पर्व इसके महिमामण्डल में भुक्त हैं। अतएव–'**आत्मनि प्रजातिमधत्त**' सिद्धान्तानुसार इसमें भी चारों के रसों का आदान हो रहा है। अतएव च इस दृष्टिकोण से इसे भी दर्शवत् पूर्णमास का भी अधिष्ठाता मान लिया गया है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

---

*—'**आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्म्मनीषिणः**' (कठोपनिषत्)।

"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत । तदैक्षत-न वै तपस्यानन्त्यमस्ति, हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि-इति । तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि, सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्येत्"—शत० ब्रा० १३।७।१।१।

(भूतेष्वात्मानं हुत्वा—रसविसर्गावस्था-दर्शः)
(भूतानि चात्मनि हुत्वा—रसादानावस्था-पूर्णमासः)

११२—आकृति—प्रकृति—अहङ्कृति—जनक दर्शपूर्णमासयज्ञ—

उक्त दर्शपूर्णमासप्रक्रिया का फल होता है—त्रैगुण्यभाव । महल्लक्षण परमेष्ठी, विज्ञानलक्षण सूर्य्य, प्रज्ञानलक्षण चन्द्रमा, शरीरलक्षणा (भूतात्मालक्षणा) पृथिवी, चारों सत्त्व—रज—स्तमो—गुणों से युक्त रहते हैं, एवं इस त्रिगुण की प्रतिष्ठा इसी दर्शपूर्णमासप्रक्रिया पर अवलम्बित है । पहिले महल्लक्षण—परमेष्ठी के त्रिगुणभाव की ही मीमांसा कीजिए । भृग्वङ्गिरोलक्षण—अब्मूर्त्ति—परमेष्ठी के चारों ओर सूर्य्य परिक्रमा लगा रहा है, यह कहा जा चुका है । यही सूर्य्य का दर्शपूर्णमासयज्ञ है । सूर्य्यमहिमा में चन्द्रमा, और पृथिवी भी प्रतिष्ठित है । फलतः सूर्य्य के साथ साथ परमेष्ठी में इन दोनों का भी समन्वय प्रकृतिसिद्ध बन जाता है । पार्थिव परिभ्रमण के कारण परमेष्ठी महान् में—**'आकृतिभाव'** का उदय हो जाता है । चान्द्र परि–भ्रमण के कारण **'प्रकृतिभाव'** का उदय हो जाता है । एवं सौर परिभ्रमण के कारण अहङ्कृतिभाव का उदय हो जाता है । आकृति का पार्थिव भूतभाग से सम्बन्ध है, प्रकृति का चान्द्र प्रज्ञाभाव से सम्बन्ध है, एवं अहङ्कृति का सौर आयुर्भाग से सम्बन्ध है । इसप्रकार पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य्य, तीनों के परिभ्रमण से परमेष्ठी–महान् में आकृति—प्रकृति—अहङ्कृति, तीन अवस्थाओं का उदय हो जाता है ।

११३—त्रैगुण्यभावजनक दिति—अदिति—भाव—

सूर्य्य स्वज्योतिर्घन पदार्थ है । इसके सम्बन्ध से परमेष्ठी में भी उसीप्रकार दिति—अदिति—भावों का उदय हो जाता है, जैसेकि पृथिवी में इन दोनों का सम्बन्ध रहता है । सौर-ज्योति से अनुगत पार्थिव अर्द्ध—मण्डल अदिति—पृथिवी है, सूर्य्यविरुद्धदिगनुगत पार्थिव अर्द्धमण्डल दितिपृथिवी है । अदितपृथिवी ज्योतिर्म्मयी है, यही अहःकाल है । दितिपृथिवी तमोमयी है, यही रात्रिकाल है । इन दोनों के मध्य में एक तीसरे सान्ध्यकाल का उदय और हो जाता है । ठीक यही अवस्था परमेष्ठी में समझिए । परमेष्ठी का जो भाग सूर्य्या–नुगत बना रहता है, वह ज्योतिर्म्मयी आदिति है *। जो भाग सूर्य्यविरुद्धदिगनुगत बना रहता है, वह तमोमयी दिति है । ज्योतिर्म्मय अर्द्धपरमेष्ठी सत्त्वगुणक है, तमोमय अर्द्धपरमेष्ठी तमोगुणक है । दोनों की सान्ध्यावस्था से युक्त परमेष्ठी रजोगुणक है । इसप्रकार केवल सूर्य्यपरिक्रमात्मक सौर दर्शपूर्णमास से परमेष्ठी के

*—या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत ।।
—कठोपनिषत्४।७।

ज्योतिर्म्मय-सान्ध्य-तमोमय ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं. एवं इसके ये तीनों विवर्त्त ही क्रमशः सत्त्व-रज-स्तमोगुणक महान् कहलाए हैं । सूर्य्यानुगत सत्त्वगुणक परमेष्ठी सूर्य्यात्मक अहङ्कृतिभाव-प्रधान है । सूर्य्य-विरुद्धदिगनुगत तमोगुणक परमेष्ठी चन्द्रात्मक प्रकृतिभाव-प्रधान है । सान्ध्य भावानुगत रजोगुणक परमेष्ठी पृथिव्यात्मक आकृतिभाव-प्रधान है । तात्पर्य्य-सत्त्वगुण का सूर्य्यात्मक अहङ्कृतिभाव से, रजोगुण का चन्द्रात्मक प्रकृतिभाव से, एवं तमोगुण का पृथिव्यात्मक आकृतिभाव से प्रधान सम्बन्ध है । आगे जाकर आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति, तीनों में इन तीनों गुणों का समन्वय हो जाता है ।

११४-षड्भावापन्न पारमेष्ठ्य महान् की महत्ता—

उक्त कथन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य्य के द्वारा तो परमेष्ठी में क्रमशः आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति-भावों का उदय हुआ । एवं सूर्य्यपरिभ्रमण से परमेष्ठी में सत्त्वरजस्तमोगुणों का उदय हुआ । इसप्रकार षड्भावापन्न यही परमेष्ठी महान् कहलाया । सब से महान्, अतएव 'महतो महीयान्' नाम से प्रसिद्ध गूढोत्मापरपर्य्यायक चिदात्मा की योनि यही परमेष्ठी बना । महतो महीयान् आत्मा को भी इसने अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर लिया । अव्यक्तधर्म्मा पुण्डीरस्वयम्भू भी **'सोऽपोऽसृजत-वाच एव लोकात्'** सिद्धान्तानुसार इसमें अब्रूप से अन्तर्भूत हो गया । समहिम-सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी इसकी महिमा के गर्भ में प्रकृत्या ही प्रविष्ट हैं । परमेष्ठी की इसी महत्ता की दृष्टि से यह सर्वापेक्षया 'महान्' कहलाया ।

षड्भावापन्नो-महान्	आकृतिमहान् (पृथिव्यनुगतः परमेष्ठी)	तमोगुणकः—	सूर्य्यविरुद्धदिगनुगतः
	प्रकृतिमहान् (चन्द्रमानुगतः परमेष्ठी)	रजोगुणकः—	सान्ध्यः
	अहङ्कृतिमहान्(सूर्य्यानुगतः परमेष्ठी)	सत्त्वगुणकः--	सूर्य्यदिगनुगतः

——❀——

११५-चित्स्वरूपग्राहक वीध्र 'महान्'—

अब हमारे सामने वह प्रश्न उपस्थित हुआ, जिसके समन्वय के लिए हमें महान् की महत्ता का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराना पड़ा । महानात्मरूप परमेष्ठी, किंवा परमेष्ठीरूप महानात्मा जीवात्मा क्यों कहलाया ?, प्रश्न का उत्तर इसके मनोताभाव पर निर्भर है । परमेष्ठीपर्व के मनोता भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, भेद से तीन भागों में विभक्त हैं । इनमें भृगु नामक स्नेहगुणक मनोता ही प्रश्न के उत्तर का प्रधान आलम्बन है । घन-तरल-विरल भेद से भृगु की आपः-वायुः-सोमः-ये तीन अवस्था हो जाती हैं * । जिसप्रकार सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी सूर्य्य प्रतिबिम्बग्राहक जल, आदर्श, आदि वीध्र धरातलों के अतिरिक्त अन्यत्र प्रतिबिम्बित नहीं होता, एवमेव अप्-वायु-सोम, इन तीन भार्गव वीध्र धरातलों को छोड़ कर सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी

*-वायु-राप-श्चन्द्रमाः (सोमः)-इत्येते भृगवः ।

(—गोपथब्रा०पू०२।८।६।) ।

चिदात्मा अन्यत्र प्रतिभासित नहीं होता । सूर्य्यस्थानीय चिदात्मा का आभास (प्रतिबिम्ब) ही चिदाभास कहलाया है । एवं दार्शनिक परिभाषानुसार चिदाभास ही 'जीव' माना गया है । चिदाभासलक्षण (चित्प्रतिबिम्ब-लक्षण) जीवात्मा का जीवत्त्व भार्गव पारमेष्ठ्यतत्त्व पर ही अवलम्बित है । महान् परमेष्ठी ही भृगुत्रयीरूप से चित् का ग्राहक बनता है । अतएव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जीवसर्ग आप्य, वायव्य, सौम्य, भेद से तीन भागों में ही विभक्त है । अवस्थात्रयोपेत पारमेष्ठ्य सोम जब तक चिज्ज्योति से युक्त नहीं हो जाता, तब तक यह केवल सोम ही कहलाता है । यही इसकी रात्रिलक्षणा नीरूपावस्था है, जो अवस्था 'अनिरुक्तकृष्ण' नाम से व्यवहृत हुई है । चिज्ज्योति के आभास से यह बीभ्र सोम चमक पड़ता है । यही इसकी महदवस्था है । चिद्युक्त पारमेष्ठ्य सोम ही महान् है, यही निष्कर्ष है । अव्यय ज्योतिष्मान् अवश्य है । परन्तु इसका ज्योतिः-प्रसार-धर्म्म परायत्त (चिद्ग्राहकायत्त) है । बिना सोममय महान् के यह प्रकाशित नहीं होता । महान् ही इसकी चिद्-ग्राहिणी योनि है, जैसा कि निम्न लिखित गीतावचन से प्रमाणित है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥१॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥२॥–(गीता१४।३,४,)।

११६–सूर्य्यानुगत चितिभाव—

अप्यय, और चिति, इन दो सम्बन्धों को लक्ष्य बनाइए । परमेष्ठी आपोमय है, अतएव अप्यय(विलयन) इसका स्वाभाविक धर्म्म है । प्रत्यक्ष में भी पानी में जो भी वस्तु डाली जाती है, अपीत हो जाती है । आपोमय महान् परमेष्ठी चिद्ग्राहक अवश्य है । परन्तु स्वाभाविक अप्ययधर्म्म के कारण चिदात्मा तब तक इसमें प्रस्फुटित नहीं हो सकता, जब तक कि इसमें चिति-सम्बन्ध का उदय नहीं हो जाता । चितिधर्म्म अग्निसापेक्ष है । अतएव अग्नियज्ञ चितियज्ञ (चयन, चित्या) नाम से व्यवहृत हुआ है । विश्वकेन्द्रस्थ, सावित्राग्निमय, विज्ञानघन सूर्य्य ही इस चितिधर्म्म से युक्त है । इसी के द्वारा महान् में गर्भित चिदात्मा अपने वास्तविक चिद्रूप से प्रस्फुटित होता है । एकमात्र इसी आधार पर सौरतत्त्व को स्थावर-जङ्गम-प्रपञ्च का आत्मा मान लिया गया है, जैसाकि, 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुःसं०) इत्यादि मन्त्रवचन से प्रमाणित है । तात्पर्य्य यही हुआ कि, विज्ञानात्मलक्षण सूर्य्य के सम्बन्ध से ही महानात्मलक्षण परमेष्ठी के गर्भ में अपीत चिदात्मा चिद्रूप से प्रस्फुटित होता है । यही महान् , और विज्ञान का परस्पराविनाभावलक्षण ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध है । महान् की महत्ता, महान् का आत्मलक्षण अहंभावात्मक जीवभाव विज्ञानसम्बन्ध पर ही निर्भर है । अहङ्कृत्यात्मलक्षण महानात्मा तो प्रत्यक्ष में ही सूर्य्यानुगत, आत्मोपयिक आयुर्भाग के आधार पर प्रतिष्ठित है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है ।

११७–गुणत्रयभावापन्न महानात्मा का 'जीवात्मकत्त्व'—

वायु-सोमगर्भित, अप्प्रधान महानात्मा तमोगुणप्रधान है । इसका आकृतिभाव से प्रधान सम्बन्ध है । क्योंकि, 'अद्भ्यः पृथिवी' (तैत्तिरीयोपनिषत्) सिद्धान्तानुसार पृथिवी का उपादान अप्तत्त्व है,

एवं पृथिवी को ही आकृतिभावप्रवर्त्तिका बतलाया गया है। आप्य जीवों में पृथिव्यनुगत आकृतिमहान् का ही प्रधानरूप से विकास रहता है, एवं गुणत्रयी में से आकृतिभावानुगत तमोगुण विकसित रहता है। अप्-सोमगर्भित वायुप्रधान महानात्मा रजोगुणप्रधान है। इसका प्रकृतिभाव से प्रधान सम्बन्ध है। क्योंकि, वायु और चन्द्रमा, दोनों आन्तरीक्ष्य होने से समानस्थानीय बनते हुए समानधर्म्मा हैं। एवं चन्द्रमा हीं प्रकृति-भाव का प्रवर्त्तक माना गया है। अस्मदादि वायव्य जीवों में चन्द्रमानुगत * प्रकृतिमहान् का ही प्रधानरूप से विकास रहता है, एवं गुणत्रयी में से प्रकृतिभावानुगत रजोगुण विकसित रहता है। अब्-वायुगर्भित, सोमप्रधान महानात्मा सत्त्वगुणप्रधान है। इसका अहङ्कृतिभाव से सम्बन्ध है। क्योंकि सौर इन्द्र का सोम के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उधर-**'तं मामायुरमृतमित्युपास्व'** इत्यादि कौषीतकिश्रुत्यनुसार सौर इन्द्र ही आयुरूप अहंभाव है। सौर इन्द्रात्मक आयु को ही अहङ्कृतिभाव का प्रवर्त्तक कहा गया है। सौम्य चान्द्र जीवों में सूर्य्यानुगत अहङ्कृतिमहान् का ही प्रधानरूप से विकास रहता है, एवं गुणत्रयी में से अहङ्कृतिभावानुगत सत्त्वगुण विकसित रहता है। स्तम्बोपलक्षित आप्य जीव तमोविशालसर्ग है, पञ्चविध वायव्य जीव रजोविशालसर्ग है, अष्टविध सौम्य जीव सत्त्वविशालसर्ग है। यही सांख्यशास्त्र का चतुर्दशविध भूतसर्ग है, जिसका आप्य-वायव्य-सौम्य, इन तीन जीवसर्गों में अन्तर्भाव हो रहा है। इस दृष्टि से भी गुणत्रयभावापन्न महानात्मा का जीवभावत्व सिद्ध हो रहा है।

११८-महानात्मस्वरूपदिग्दर्शन—

आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति, तीनों का अब्-वायु-सोमात्मिका भृगुत्रयी से सम्बन्ध है। एवं अङ्गिरात्रयी का पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा से सम्बन्ध है। भार्गव सोम, आङ्गिरस अग्नि, दोनों के समन्वितरूप से जो महान् का अग्नीषोमात्मक अपूर्व स्वरूप उद्भूत होता है, वही यज्ञात्मा नामक महान् है। यही यज्ञतत्त्व सामवेद में पञ्चदशाह (पञ्चदश अहर्गणात्मक) 'गोसव' यज्ञ कहलाया है, जिसकी पार्थिव २२ वें अहर्गण से ३६ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्ति मानी गई है। इसप्रकार भृगुत्रयी, और आङ्गिरस अग्निमनोता के भेद से एक ही महान् परमेष्ठी के अहङ्कृति, प्रकृति, आकृति, यज्ञ, ये चार विवर्त्त हो जाते हैं, जिनका पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है।

चिद्युक्त पारमेष्ठ्य सोम महान् है, चिद्युक्त सौरप्राण विज्ञान है। न पारमेष्ठ्य सोम में प्रकाश है, न सौर प्राण में प्रकाश है। दोनों अपने प्रातिस्विक रूपों से घोर कृष्ण हैं। ज्योतिर्लक्षण प्रकाश का (भूतज्योति का) आविर्भाव होता है दोनों के समन्वय से। विशाल अन्तरिक्ष में प्राणावस्थापन्न दाह्य सोम व्याप्त है। दाहक सौर प्राण के सम्बन्ध होते ही यह दाह्य सोम जल पड़ता है। इस प्रज्वलित सोम का नाम ही वह प्रकाश है, जिसका 'आतप' (धूप) रूप से हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं। रात्रि में केवल सोमतत्त्व का (सोमवंशी कृष्णतत्त्व का) ही साम्राज्य रहता है, सौरप्राण का अभाव रहता है। 'राधा' सांसारिक सम्पत्ति है, प्रकाश है, अहःकाल है, कृष्ण विश्वातीत, नित्य, परोक्षतत्त्व है। इसके अहःकालोपलक्षित राधा-

---

*-**विचक्षणात्-ऋतवो रेत आभृतम्**। (कौ०ब्रा०उप०१।२)।
चन्द्रमा वै विचक्षणम्। (ऐ०ब्रा०१।६)।

संयुक्त ज्योतिर्म्मय, सोपाधिकरूप का ही हम साक्षात् कर सकते हैं । तात्पर्य्य–'त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ' (ऋक्सं० १।९१।२२।) के अनुसार कृष्णसोम ही सौरप्राणाग्नि में हुत होकर ज्योतिर्भाव का जनक बनता है ।

अव्यय का ही नाम चिदात्मा है । आनन्द, विज्ञान, मनोमय चित् विद्यात्मक है, मनः–प्राण–वाङ्मय चित् अविद्यात्मक है । विज्ञानात्मक सौरप्राण सर्वात्मना इस उभयात्मक (विद्या–अविद्यात्मक) चिदात्मा पर व्याप्त रहता है । चिदात्मा के इन दो स्वरूपों के कारण विज्ञान के भी विद्यात्मक, अविद्यात्मक, दो रूप हो जाते हैं । विद्यात्मक विज्ञान **'विद्याबुद्धि'** कहलाया है, अविद्यात्मक विज्ञान **'अविद्याबुद्धि'** कहलाया है । विज्ञानात्मा के इन दोनों स्वरूपों का **'बुद्धितत्त्वस्वरूपमीमांसा'** नामक अगले परिच्छेदों में विस्तार से निरूपण होने वाला है, अतः इस विषय को यहीं छोड़ केवल महान् की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

महान् सोमपिण्ड है । कल्पना कीजिए–महान् चन्द्रमा है, अव्ययलक्षण चिदात्मा सूर्य्य है । चिदात्मरूप सूर्य्य का महद्रूप चन्द्रमा पर प्रतिबिम्ब पड़ता है । जिसप्रकार सूर्य्यरश्मिप्रतिबिम्ब से तदनुगत अर्द्ध चन्द्रमा चमक पड़ता है, एवमेव अव्ययानुगत महान् भी चमक पड़ता है । चिदात्मा के प्रतिबिम्ब से ज्योतिष्मान् बना हुआ यह महद्भाग ही 'सत्त्व' कहलाया है । चित्–सम्बन्ध से वञ्चित पृष्ठभाग तमोमहान् कहलाया है, एवं सान्ध्यभाग रजोमहान् कहलाया है । इसप्रकार एक ही महान् प्रतिबिम्ब के तारतम्य से सत्त्व–रज–स्तमो–भावों में परिणत हो जाता है । अव्यय क्योंकि विद्या–अविद्यात्मक है । अतएव तत्प्रतिबिम्बरूप सत्त्वमहान् के भी विद्यात्मक शुद्धसत्त्व, अविद्यात्मक मलिनसत्त्व, भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं । इसप्रकार विज्ञानात्मवत् इस महानात्मा का सत्त्वरूप भी दो भागों में विभक्त हो रहा है । अन्तर दोनों में केवल यही है कि, विज्ञानात्मा जहाँ चिदात्मा में सर्वात्मना ओतप्रोत है, वहाँ महानात्मा अपने अर्द्धभाग से ही चिज्ज्योति से युक्त है । अतएव महान् में तमोभाग पृथक् बच रहता है । विज्ञानात्मा में चिदात्मा क्योंकि सर्वात्मना ओतप्रोत है । अतएव इसमें तम नहीं रहने पाता । इसी लिए विज्ञानघन सूर्य्य को वैज्ञानिकों नें 'स्वज्योतिः' नाम से व्यवहृत किया है । निष्कर्ष यही निकला कि, चिदात्मा से युक्त होकर सौरदर्शपूर्णमासयज्ञ के सम्बन्ध से महानात्मा गुणत्रयविशिष्ट बन जाता है, पृथिवी–चन्द्रमा–सूर्य्य–सम्बन्ध से आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति–भावमय बन जाता है, एवं भृगु–अङ्गिरा के समन्वय से यज्ञस्वरूप में परिणत हो जाता है । ऐसा यह अशरीरी महान् चिदात्मा, अव्यक्त, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा, इन इतर सब आत्मविवर्त्तों को अपने गर्भ में रखता हुआ सचमुच विभु है, महान् है । महान् की इसी महत्ता का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

—कठोपनिषत् २।२२।

११९–प्राणशरीरनेता अन्नमय महानात्मा—

भार्गव ऋतसोम ही महान् का स्वरूपारम्भक है । ऋततत्त्व का अपना कोई आयतन नहीं होता, अपितु–**'यद्यच्छरीरमादत्ते, तेन तेन स युज्यते'** सिद्धान्तानुसार जिस जिस शरीररूप आयतन में यह

प्रविष्ट होता है, इसका वैसा वैसा ही आकार उसी प्रकार हो जाता है, जैसेकि ऋतलक्षण पानी आयतन के आकार सदृश ही अपना आकार बना लेता है। अतएव वैज्ञानिकों नें ऋततत्त्व का लक्षण किया है- **'अशरीरमहृदयं-ऋतम्'** । सोमात्मक महान् क्योंकि स्वस्वरूप से ऋत है, अतएव इसे **'अशरीर'** (परशरीरी) कहना अन्वर्थ बनता है। महानात्मा का स्वरूपज्ञान हमें नहीं होने पाता । मानते अवश्य हैं, परन्तु विज्ञान-प्रज्ञानवत् उसका बोध नहीं है। अतएव **'मत्त्वा'** कहा गया है। महान् का सत्त्वभाग मनोमय है, रजोभाग प्राणमय है, तमोभाग वाङ्मय है। अतएव **'स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयो, मनोमयः'** के अनुसार महान् को 'महानात्मा' कहना अन्वर्थ बनता है । सत्त्वगुणापेक्षया मनोमय बना हुआ महान् रजोगुणानुगत प्राणात्मक शरीर का नेता है, सञ्चालक है। साथ ही यह हृदय में अन्नाधार पर प्रतिष्ठित है । क्योंकि, सोमात्मक महान् की स्वरूपरक्षा अन्नाहुतिरूप सोमादान पर ही निर्भर है । महान् के सन्निकट विज्ञानात्मा है। विज्ञानात्मा ही इसकी प्राप्ति का अन्यतम द्वार है । सच्चिदानन्दलक्षण चिदात्मा को अपने गर्भ में रखने वाले, अतएव स्वयमपि आनन्दघन बने रहने वाले इस महान् के दर्शन तत्संश्लिष्ट विज्ञान (विद्याबुद्धिलक्षण बुद्धियोग) पर ही निर्भर है । महान् के इसी आत्मभाव का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

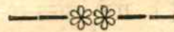
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥

—मुण्डकोपनिषत् २।२२

मनोमयः——{ **स वा एष महानात्मा मनोमयः**

प्राणशरीरनेता—{ **प्राणमयः**

प्रतिष्ठितोऽन्ने—{ **वाङ्मयः**



१२०–महान् का विशुद्धसत्त्वात्मक स्वरूप—

शान्तात्मानुगत वाक्-प्राण, महानात्मानुगत रयि-प्राण, विज्ञानात्मानुगत धिषणा-प्राण, प्रज्ञात्मानुगत प्रज्ञा-प्राण, भूतात्मानुगत भूत-प्राण, ये पाँचों प्राण इस अणु महानात्मा में समर्पित हैं । क्योंकि यह शेष चारों को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखता है । मलिनसत्त्व की ऐकान्तिक निवृत्ति से जब महान् विशुद्ध सत्त्वधर्म्मा बन जाता है, तब तद्गर्भीभूत चिदात्मा 'विवृणुते तनूं स्वाम्' न्याय से प्रस्फुटित हो जाता है। महान् के इसी विशुद्ध सत्त्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा"

—मुण्डकोपनिषत् ३।१।९।

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ॥
बुद्धे र्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥१॥

गुणान्वयो यः फलकर्म्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ॥
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्म्मभिः ॥२॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥३॥

१२१–महानात्मा की स्वरूपाभिनिष्पत्ति, एवं पार्थक्य–

उक्त उपनिषत्–मन्त्रश्रुतियाँ त्रिगुणभावापन्न, आकृति–प्रकृति–अहङ्कृतिरूप से त्रिवर्त्मा बने हुए इस महानात्मा का ही यशोगान कर रहीं हैं। मनुष्य ऊर्ध्वाकाराकारित क्यों है ?, पशु के चार पाद क्यों हैं ?, मनुष्य के सींग क्यों नहीं ?, पशु के सींग क्यों ?, मनुष्य उभयतोदत् क्यों ?, शृङ्गीपशु एकतोदत् क्यों ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान यही महानात्मा है। विज्ञान (बुद्धि), प्रज्ञान (मन), दोनों की इच्छा का हमें (वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञलक्षण कर्म्मात्मा का) परिज्ञान है। परन्तु महान् की इच्छा हम नहीं जानते, केवल उसका कर्म्म देखते हैं। बिना ज्ञान के किसी भी कर्म्म की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। साथ ही एक समय में एक ज्ञान एक ही कर्म्म का प्रेरक बनता है। आप किसी निर्दिष्ट स्थान की ओर गमन कर रहे हैं। गमन एक स्वतन्त्र कर्म्म है, जाते हुए इन्द्रियों के द्वारा विविध दृश्य देखते जाना, मार्ग में मिलते हुए वृक्षों का गन्ध ग्रहण करते जाना, आदि ऐन्द्रियक कर्म्मसमष्टि एक स्वतन्त्र कर्म्म है। अपने अन्तर्जगत् में किसी विचारणीय विषय की मीमांसा करते जाना एक स्वतन्त्र कर्म्म है। तीनों कर्म्म एक साथ चल रहे हैं। मानना पड़ेगा कि, अवश्य ही तीनों के ज्ञान पृथक् पृथक् हैं। वैज्ञानिकोंनें इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था की है कि, शरीरधातुओं का अन्तर्व्यापार, एवं गमन, दोनों महानात्मा के ज्ञान से सञ्चालित हैं। दृश्यदर्शन, गन्धग्रहणादि ऐन्द्रियक कर्म्म प्रज्ञानात्मा (मन) के ज्ञान से सञ्चालित हैं। एवं अन्तर्जगत् में प्रवाहित विचारधारारूप कर्म्म विज्ञानात्मा (बुद्धि) के ज्ञान से सञ्चालित हैं। तीनों अपने अपने कर्म्मों के प्रवर्त्तक बनते हुए तीनों एक दूसरे के कर्म्मों के भी अंशतः सहायक बने रहते हैं। यदि तीनों में से कोई भी ज्ञानधारा प्रबल बन जाती है, तो शेष दोनों ज्ञानधाराएँ उस प्रधान ज्ञानधारा में सर्वात्मना आत्मसमर्पण करती हुई अपना कर्म्म छोड़ बैठती है। और उस दशा में केवल प्रधानज्ञानधारा से सम्बद्ध कर्म्म ही शेष रह जाता है। यदि गमनकर्म्माध्यक्ष महत्–ज्ञान प्रबल है, तो विज्ञान–प्रज्ञान, दोनों इसमें विलीन हो जाते हैं। इस अवस्था में न तो विज्ञानानुगता विचारधारा ही प्रवाहित रहती, न प्रज्ञानानुगत ऐन्द्रियक विषयग्रहण ही सुरक्षित रहता। केवल गमनमात्र सुरक्षित रहता है। मार्ग में कब क्या आया, क्या मिला, इत्यादि कुछ भी भान नहीं रहता। एवमेव यदि प्रज्ञानज्ञानधारा प्रबल है, तो महदनुगत गमनव्यापार भी अवरुद्ध हो जाता है, विचारधारा भी अवरुद्ध हो जाती है। रह जाता है केवल ऐन्द्रिक व्यापार। एवमेव विज्ञानज्ञानधारा के प्राबल्य में शेष दोनों के व्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं। इसप्रकार इस विज्ञानधारा के आधार पर भी तीनों के पार्थक्य का (विभिन्न स्वरूपों का) अनुमान लगाया जा सकता है।

१२२--मनुवचन, और आत्मस्वरूपपार्थक्य—

सुषुप्ति में प्रज्ञान (मन) को स्वगर्भ में लीन कर विज्ञान (बुद्धि) पुरीतति नाड़ी में लीन हो जाता है, अतएव सुषुप्तिदशा में न तो प्रज्ञानानुगत ऐन्द्रियक विषयबोध रहता, न विज्ञानानुगता विचारधारा ही प्रस्फुटित रहती। परन्तु देखते हैं—श्वास प्रश्वासादि व्यापार घोर सुषुप्ति में भी जाग्रदवस्थावत् अक्षुण्ण बने रहते हैं। किस ज्ञान की प्रेरणा से सुषुप्ति में यह व्यापार चलता रहता है ?, जबकि अनुभूत विज्ञान, प्रज्ञान, दोनों हीं ज्ञान इस अवस्था में एकान्ततः अभिभूत हैं। उत्तर वही महत्-ज्ञान है। वह कभी नहीं सोता। उसकी सुषुप्ति तो जीवात्मा की मृत्यु है। इसी महत्-ज्ञान को सुषुप्त्यनुगत शान्तानन्द का अनुभव होता है। इस महत् के अनुभव के आधार पर ही प्रातः शय्या छोड़ने पर प्रज्ञान के मुख से—'सुखमहमस्वाप्सम्' ये अक्षर निकलते हैं। इस दृष्टि से भी महानात्मा का विज्ञान-प्रज्ञानापेक्षया पृथगात्मत्त्व सिद्ध हो रहा है।

जिसप्रकार मानव-परिभाषा में महानात्मा 'जीवात्मा' कहलाया है, एवमेव विज्ञानात्मा '**क्षेत्रज्ञात्मा**' नाम से व्यवहृत हुआ है, प्रज्ञानात्मा '**मन**' नाम से, एवं वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-मूर्त्ति कर्म्मात्मा '**भूतात्मा**' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। क्षेत्रज्ञ विज्ञानात्मा कारयिता है, भूतात्मा कर्म्मकर्त्ता है, जन्मानुगत योनिभावों में सुख दुःखों का निमित्त बनने वाला अन्तरात्मा नामक जीवात्मा ही महानात्मा है। जीवसंज्ञक महानात्मा, और कारयिता क्षेत्रज्ञात्मा, दोनों भूतात्मा के सम्बन्ध से भूतमात्रा से संश्लिष्ट बने रहते हैं। निम्न लिखित मनुवचनों से इन्हीं तीनों आत्मविवर्त्तों का स्पष्टीकरण हो रहा है—

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ॥
यः करोति तु कर्म्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१॥
जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ॥
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥२॥
तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च ॥
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥३॥
असंख्या मूर्त्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः ॥
उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः ॥४॥
सत्त्वं-रज-स्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान् ॥
यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान् महान् सर्वानशेषतः ॥५॥

—मनुः १२।१२, १३, १४, १५, २४।

१२३-प्रज्ञानात्मस्वरूपदिग्दर्शन—

पाँचों वैकारिक आत्माओं में से शान्तात्मा, महानात्मा, दोनों का स्वरूपदिग्दर्शन कराया गया। विज्ञानात्मा का स्वरूप स्वतन्त्र परिच्छेद में प्रतिपादित होगा। भूतात्मा का स्वरूप पूर्व में बतला दिया गया। अब केवल मनोरूप प्रज्ञानात्मा शेष रह जाता है। प्रसङ्गोपात्त दो शब्दों में इसका भी दिग्दर्शन करा यह

आध्यात्मिकमीमांसा उपरत हो रही है। महानात्मा का पार्थिवप्राणयुक्त भाग ही प्रज्ञानात्मा है, एवं सौर-प्राणयुक्त भाग ही विज्ञानात्मा है। स्वयं पारमेष्ठ्यभाग महानात्मा है, वही पारमेष्ठ्य महद्भाग सौरप्राणयुक्त बन कर विज्ञानात्मा कहलाने लगता है, एवं वही पारमेष्ठ्य महद्भाग चान्द्रसोमानुगत पार्थिव भाग से युक्त होकर प्रज्ञानात्मा कहलाने लगता है। विशुद्ध पार्थिव भाग भूतात्मा नाम से व्यवहृत होने लगता है। आध्यात्मिक इन्द्रियवर्ग का अधिष्ठाता प्रज्ञानात्मा कहलाया है। **श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः**, जिह्वा, **घ्राण**, इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों पर, एवं **वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ**, इन पाँच कर्म्मेन्द्रियों पर, तथा संकल्प-विकल्पात्मक, **'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि'** वाले इन्द्रियमन पर व्याप्त होने वाला प्रज्ञान ही प्रज्ञानात्मा है। वैज्ञानिक परिभाषा में मनस्तत्त्व चार विवर्त्तभावों में परिणित माना गया है। रसबलात्मक, सर्वत्र समानरूप से भुक्त अव्ययमन प्रथम मन है। निष्कामात्मक कामभाव ही इस अव्ययमन का प्रातिस्विक रेत है, जिसके लिए-**'कामस्तदग्रे-समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'** (ऋक्संहिता) यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। यही अव्ययमन अपनी-**'एको ऽहं बहु स्याम्'** इस बहुत्व-कामना से श्वः श्वः (उत्तरोत्तर) वसीयान् बनता हुआ **'श्वोवसीयस्'** नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसे भगवान् तित्तिरि ने-**'श्वोवस्यस् ब्रह्म'** नाम से व्यवहृत किया है। काममय, तत्त्वतः-अकाममय यह अव्ययमन कोशात्मक मन है, सर्वालम्बन, किन्तु स्वयं निरावलम्ब मन है। इस अव्ययमन के आधार पर महानात्मा का सत्त्वभाग प्रतिष्ठित है। महद्ब्रह्म का सत्त्वभाग भी 'मन' कहलाया है। **'येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु'** (**मनुः १२।१३**) के अनुसार जीवसंज्ञक महानात्मा का सत्त्वरूप यही महन्मन सुख-दुःखानुभवकर्त्ता माना गया है। यही मनका दूसरा विवर्त्त है। महान् के सत्त्वभाग (सत्त्वमन) से अनुगृहीत चान्द्ररसानुगत पार्थिवरस ही तीसरा प्रज्ञानमन है। चान्द्ररस सोम है, सत्त्वानुगत चिदंश से युक्त यही चान्द्रसोम 'प्रज्ञा' है। चान्द्र-आन्तरीक्ष्य इन्द्रप्राण ही प्राण है, पार्थिव भूतभाग ही भूत है। इस प्रकार प्रज्ञान मन में **चित्, प्राण, भूत**, तीनों भावों की सत्ता सिद्ध होजाती है। चान्द्रसोम, पार्थिवभूत, दोनों भूतभाग हैं, आन्तरिक्ष्य इन्द्र प्राणभाग है, महदात्मक चित् चिद्भाग है। चिद्-भाग प्रज्ञामात्रा है, प्राणभाग प्राणमात्रा है, भूतभाग भूतमात्रा है। प्रज्ञामात्रा मनोमय ज्ञान है, प्राणमात्रा प्राणमयी क्रिया है, भूतमात्रा वाङ्मय अर्थ है। इसप्रकार चित्-प्राण-भूत भेद से तत्समष्टिरूप प्रज्ञानात्मा भी महानात्मवत् मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ अपनी आत्माभिधा को अन्वर्थ बना रहा है। सभी आत्म-विवर्त्तों में इस आत्मस्वरूप का अन्तर्भाव समझना चाहिए। सभी में चित्-प्राण-भूतभावों का समन्वय है। तभी तो सबको 'आत्मा' शब्द से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है।

१२४-दार्शनिक ११ इन्द्रियाँ, तथा वैदिक ५ इन्द्रियाँ—

'नियतविषयत्त्वमिन्द्रियत्त्वम्' ही इन्द्रिय का लक्षण माना गया है। वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्रादि सभी इन्द्रियाँ गुणभूत बनतीं हुईं अपनें अपनें नियत विषयों का ही ग्रहण करने में समर्थ हैं। किसी भी इन्द्रिय का काम अन्य इन्द्रिय से नहीं चल सकता। इसी आधार पर इन्द्रियों के सम्बन्ध में-**'गुणानां च परार्थत्त्वात्, असम्बन्धः समत्त्वात्'** यह न्याय घटित हुआ है। विषय का ग्रहण करना संकल्प है, छोड़-देना विकल्प है। संकल्प-विकल्पाधिष्ठाता मन नियतविषयानुगामी बनता हुआ इन्द्रियलक्षण में अन्तर्भूत है। अतएव इसे **'इन्द्रियमन'** कहा जायगा। दर्शनशास्त्रानुगत ५ कर्मेन्द्रियवर्ग, ५ ज्ञानेन्द्रियवर्ग, १-इन्द्रियमन, इन ११ इन्द्रियों का वैज्ञानिकों नें (वेदशास्त्र ने) वाक्, प्राण, चक्षुः, श्रोत्र, मन, इन पाँच हीं इन्द्रियों में अन्तर्भाव मान लिया है। पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, इन चार कर्म्मेन्द्रियों का, प्राण नामक ज्ञानेन्द्रिय का,

एवं वाक् नाम की कर्म्मेन्द्रिय का 'वाक्' नाम की इन्द्रिय में अन्तर्भाव है। इस प्रकार ११ का ५ में ही अन्तर्भाव होजाता है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

(१) पाणि
(२) पाद
(३) पायु
(४) उपस्थ
(५) घ्राण

— २ प्राणः — (६) वाक्, (७ जिह्वा, (८) त्वक्

— १ वाक् — (९) ३ चक्षुः, (१०) ४ श्रोत्रम्, (११) ५ मनः

१२५–इन्द्रियपञ्चक का मूलाधार—

वैदिक पञ्चेन्द्रियवर्ग का आधार है पार्थिवस्तोमपञ्चक। त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३), स्तोम-भेद से महिमापृथिवी में पाँच स्तोमप्रदेश माने गए हैं। इन पाँचों स्तोम प्रदेशों में क्रमशः **अग्नि, वायु, आदित्य, भास्वरसोम, दिक्सोम,** ये पाँच अग्नीषोमात्मक प्राणदेवता प्रतिष्ठित मानें गए हैं। अर्वाग्बिल, ऊर्ध्वचमस शिरोभाग में इन पाँचों प्राणदेवताओं का प्रत्यक्ष में भोग उपलब्ध हो रहा है। **मुख, नासिका, चक्षुः, श्रोत्र, ब्रह्मरन्ध्र,** इन पाँच स्थानों में क्रमशः आग्नेयी-वाक्, वायव्य प्राण, सौर चक्षु, दिक्सोममय श्रोत्र, एवं भास्वरसोममय मन, इन पाँच इन्द्रियदेवताओं की प्रतिष्ठा है। अग्नि का प्रवर्ग्य मुखानुगता वाक् है, वायु का प्रवर्ग्य नासानुगत प्राण है, आदित्य का प्रवर्ग्य चक्षुर्गोलानुगत चक्षुः है, दिक्सोम का प्रवर्ग्यभाग श्रोत्र है, भास्वरसोम का प्रवर्ग्यभाग इन्द्रियमन है। साक्षात् चान्द्रसोम जहाँ प्रज्ञानमन का स्वरूपसमर्पक है, वहाँ चान्द्रसोम का वह प्रवर्ग्यांश, जो पार्थिव-त्रिणवस्तोमप्रदेश में भुक्त होता हुआ पृथिवी की प्रातिस्विक वस्तु बन जाता है—इस संकल्प-विकल्पात्मक इन्द्रियमन का प्रभव बनता है। प्रज्ञान और इन्द्रियमन दोनों हीं यद्यपि चान्द्रसोमात्मक हैं। तथापि दोनों के स्वरूपों में अहोरात्र का अन्तर है। चान्द्रसोम प्रज्ञान का आरम्भक है, पृथिवीभुक्त पार्थिवभावमय चान्द्र-सोम इन्द्रियमन का आरम्भक है। इसी तात्त्विक स्थिति के आधार पर वैज्ञानिकोंनें अध्यात्मसंस्था में पाँच ही इन्द्रियों का समावेश माना है, जैसाकि आगे के ऐतरेयश्रुति-सन्दर्भ से स्पष्ट होने वाला है।

१२६–गुहानिहिता सप्त-प्राणचतुष्टयी—

उक्त पाँचों पार्थिव इन्द्रियों में वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र, इन चार इन्द्रियों का एक स्वतन्त्र विभाग है, एवं मन का स्वतन्त्र विभाग है। चार इन्द्रियप्राण अग्नि-वायु-आदित्य-दिक्सोमात्मक देवता हैं। इन देवताओं से सप्तविध साक्षप्राणों का आविर्भाव होता है। प्राण की सामान्य संज्ञा 'ऋषि' है *। क्योंकि इन्द्रियानुगत साक्षप्राणों की मूलप्रतिष्ठा अग्न्यादि देव हैं, अतएव इन सप्त-ऋषि प्राणों को 'देवजाः' कहा

* के ते ऋषय इति ?, प्राणा वा ऋषयः। शत० ६।१।१।१।

गया है। इन सातों में ६ प्राण यमज (जोड़ले) हैं, सातवाँ एकज है, एकाकी है। २ श्रोत्रप्राण, २ चक्षुःप्राण, २ नासाप्राण, इसप्रकार ६ प्राण यमज हैं। वागनुगत मुखप्राण एकज है। यही साकञ्जप्राणसप्तक का शिरोऽनुगत प्रथम विस्तार है। शिरोगुहावत् उरोगुहा, उदरगुहा, बस्तिगुहा में भी इस सप्तक का वितान होता है। दो हाथ, दो स्तन, दो फुप्फुस, हृदय, यह सप्तक उरोगुहा में प्रतिष्ठित है। २-यकृत्-प्लीहा (जिगर, और तिल्ली), २-क्लोम, २-वृक्क, १-नाभि, यह सप्तक उदरगुहा में प्रतिष्ठित है। २-श्रोणी, २-आण्ड, २-मूत्ररेतसी, १-गुद, यह सप्तक बस्तिगुहा में प्रतिष्ठित है। इसप्रकार इस प्राणसप्तक का अध्यात्मसंस्था में चार स्थानों में वितान हो रहा है। इस वितान का श्रेय इन्द्रियप्राणचतुष्टयी को ही है। निम्न लिखित श्रुतियाँ इसी साकञ्ज-प्राणसप्तक का यशोगान कर रहीं हैं—

१-साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजाः।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥

—ऋक्सं० १।१६४।१५।

२-अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासतऽऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥

—शत० १४।५।२।४।

३-सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त।

—मुण्डको० २।१।८।

१	२-श्रोत्रे २-चक्षुषी २-नासिके १-मुखम्	शिरोगुहा ७	३	२-यकृत्-प्लीहानौ २-क्लोमानौ २-वृक्के १-नाभिः	उदरगुहा ७
२	२-हस्तौ २-स्तनौ २-फुफ्फुसौ १-हृदयम्	उरोगुहा ७	४	२-श्रोणी २-आण्डे २-मूत्ररेतसी १-गुदम्	बस्तिगुहा ७

१–अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्——वाक्
२–वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्—प्राणः
३–आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा ऽक्षिणीप्राविशत्—चक्षुः
४–दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्——श्रोत्रम्
५–चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्—मनः

—ऐतरेयोपनिषत् २।४।

——*——

भूः–महिममण्डलम्–पृथिवी

(३३) त्रयस्त्रिंशस्तोमः—दिक्सोमलोकः	दिक्सोमः	कर्णौ	श्रोत्रम्
(२७) त्रिणवस्तोमः—भास्वरसोमलोकः	भास्वरसोमः	हृदयम्	मनः
(२१) एकविंशस्तोमः—आदित्यलोकः	आदित्यः	अक्षिणी	चक्षुः
(१५) पञ्चदशस्तोमः—वायुलोकः	वायुः	नासिके	प्राणः
(९) त्रिवृत्स्तोमः—अग्निलोकः	अग्निः	मुखम्	वाक्
	अधिदैवतम्	इन्द्रियगोलकानि	इन्द्रियाणि

-भूपिण्डः-

ब्रह्मरन्ध्रानुगामी, भास्वरसोमात्मक, इन्द्रियमन हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त स्थिरप्राणवत् व्याप्त है। इस मनोमय सौम्यधरातल पर चारों इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित हैं, जिस स्थिति का भगवान् पिप्पलाद ने निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

"तस्मै स होवाच–आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः-श्रोत्रञ्च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति–वयमेतद्-बाणमवष्टभ्य विधारयामः" (प्रश्नोपनिषत् २।२)।

शिरोगुहा

२-श्रोत्रे
२-चक्षुषी
२-नासिके
१-मुखम्

७

उरोगुहा

२-हस्तौ
२-स्तनौ
२-फुफ्फुसौ
१-हृदयम्

७

उदरगुहा

२-यकृतप्लीहे
२-क्लोमानौ
२-वृक्के
१-नाभिः

७

वस्तिगुहा

२-श्रोणी
२-आण्डे
२-मूत्ररेतसी
१-गुदम्

७

—* गुहाचतुष्टयी, एवं तदनुगतप्राणपञ्चकचतुष्टयी-परिलेख *—

★◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆ब्रह्मरन्ध्रम्—मनः—चन्द्रमाः *

◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆कर्णौ—श्रोत्रम्—दिशः ४

◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆अक्षिणी—चक्षुः—आदित्यः ३

◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆नासिके—प्राणः—वायुः २

◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆मुखम्—वाक्—अग्निः १

◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆◆हृदयम्—मनः—चन्द्रमाः *
★

१२७–अतीन्द्रिय–अनिन्द्रिय–सर्वेन्द्रिय–लक्षण प्रज्ञानमन—

उक्त विवेचन से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, श्वोवसीयस् अव्ययमन, महदात्मक सत्त्वमन, चान्द्र-प्रज्ञानमन, इन तीन मनोविवर्त्तों के अतिरिक्त चौथा संकल्प-विकल्पात्मक इन्द्रियमन और है। सङ्कल्प-विकल्परूप नियतविषयग्रहणानुगामी बनता हुआ यह मन **'तेषामिष्टानि विहितानि धामशः'** इस इन्द्रिय-लक्षण से युक्त है। अतः इसे अवश्य ही 'इन्द्रियमन' कहा जा सकता है। प्रज्ञानमन में प्रज्ञा (चिद्विशिष्ट-सोम), प्राण (आन्तरिक्ष्य मरुत्वान् नामक इन्द्रप्राण), भूत (पार्थिवभूत), इन तीन कलाओं की सत्ता बतलाई गई है। इन तीनों में से मध्यस्थ इन्द्रप्राण से सब इन्द्रियाँ जुष्ट हैं, अतएव इन्हें 'इन्द्रिय' कहना अन्वर्थ बनता है। यह प्रज्ञानमन सब इन्द्रियों में समानरूप से अनुस्यूत रहता है। बिना प्रज्ञानमन के सहयोग के कोई भी इन्द्रिय स्वव्यापार सञ्चालन में समर्थ नहीं है। सर्वेन्द्रियों में अपने अर्कभाव से व्याप्त रहने के कारण ही यह प्रज्ञानमन 'सर्वेन्द्रियमन' कहलाया है। इसका इन्द्रियवत् कोई नियत विषय नहीं है। अपितु सभी ऐन्द्रियक विषय इसके विषय हैं।

अतएव यह **'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्'** इस इन्द्रियलक्षण से अतिक्रान्त रहता हुआ 'अतीन्द्रिय-मन' नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है। इसप्रकार यह अनिन्द्रिय मन सर्वेन्द्रिय में व्याप्त रहने से 'सर्वेन्द्रिय' नाम से एवं नियतविषयमर्यादातिक्रान्त रहने से 'अतीन्द्रिय' नाम से व्यवहृत हो रहा है।

१२८-इन्द्रियों के 'मात्रा'-भाव—

जिस पार्थिव भूत भाग का इस प्रज्ञानमन में समावेश रहता है, उस भूत (महाभूत) का मूल रेणुभूत है। रेणुभूत का मूल गुणभूत है, एवं यही गुणभूत 'तन्मात्रा' नाम से व्यवहृत हुआ है, जो कि तन्मात्राएँ रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। पार्थिवभूत तेज-अप्-अन्न के त्रिवृतकरण से पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश, इन पाँच भागों में विभक्त है। पृथिवी की तन्मात्रा गन्ध है, जल की तन्मात्रा रस है, तेज की तन्मात्रा रूप है, वायु की तन्मात्रा स्पर्श है, एवं आकाश की तन्मात्रा शब्द है। पाँचों क्रमशः स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी से सम्बन्ध रखते हैं। आकाशभूतात्मक स्वयम्भू में केवल शब्दतन्मात्रा का विकास है। वायुभूतात्मक-परमेष्ठी में शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, इन दो तन्मात्राओं का विकास है। तेजोभूतात्मक सूर्य्य में शब्द-स्पर्श, रूप, इन तीन तन्मात्राओं का विकास है। जलभूतात्मक चन्द्रमा में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-इन चार तन्मात्राओं का विकास है। एवं मृद्भूतात्मिका पृथिवी में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, ये पाँचों तन्मात्राएँ विकसित हैं। इसी आधार पर पार्थिवभूत को हम पञ्चात्मक कह सकते हैं—

५-स्वयम्भूः-आकाशः-शब्दतन्मात्रा (१)
४-परमेष्ठी--वायुः——शब्दः, स्पर्शतन्मात्रा च (२)
३-सूर्य्यः—तेजः——शब्दः, स्पर्शः, रूपतन्मात्रा च (३)
२-चन्द्रमाः-जलम्——शब्दः,-स्पर्शः,-रूपं-रसतन्मात्रा च (४)
१-पृथिवी-मृत्——शब्दः-स्पर्शः-रूपं-रसः-गन्धतन्मात्रा च (५)

१२९-मानस ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-का उदय—

क्योंकि प्रज्ञानमन में पञ्चतन्मात्रात्मक पार्थिव भूत का समावेश है, अतएव तदभिन्न प्राणभाग के, एवं तदभिन्न प्रज्ञाभाग के भी पाँच पाँच विभाग हो जाते हैं। फलस्वरूप प्रज्ञारूप मन, प्राणरूप प्राण, एवं भूतरूपा वाक् से मनःप्राणवाङ्मय बने हुए त्रिधातु प्रज्ञानात्मा के प्रज्ञा-प्राण-भूत-इन तीनों उक्थ धातुओं के पाँच पाँच अर्क विभाग हो जाते हैं। इन अर्कभागों को ही प्रज्ञामात्रा, प्राणमात्रा, भूतमात्रा, नामों से व्यवहृत किया गया है। उक्थरूप धातु हैं, अर्करूप इस त्रिधातु आत्मा की महिमा हैं। इन महिमारूपों से ही प्रज्ञानमन इन्द्रियकर्म्मों का सञ्चालक बनता है। प्रज्ञामात्रा ज्ञानभाग है, प्राणमात्रा क्रियाभाग है, भूत-मात्रा अर्थभाग है। तीनों परस्पर अविनाभूत हैं। अतएव ज्ञान, कर्म्म, अर्थ, तीनों में प्रज्ञा-प्राण-भूत,

तीनों उपलब्ध होते हैं। तीनों के समन्वय से ही मानस ज्ञान, मानस कर्म्म, मानस अर्थ का उदय होता है। 'घटमहं जानामि' इस वाक्य में 'अहं' प्रज्ञामात्रा है, 'घटं' भूतमात्रा है, 'जानामि' प्राणमात्रा है। प्रज्ञा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है, प्राण अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न चैतन्य है, एवं भूत (घट) विषयावच्छिन्न चैतन्य है। तीनों के एकत्र (मानस धरातल पर) समन्वित होने से ही 'घटमहं जानामि' इत्याकारक 'घट'–प्रत्यय (घटज्ञान) का उदय हुआ है। प्रत्यय, कर्म्म, अर्थ, तीनों का स्वरूप चैतन्यत्रयी, प्राणत्रयी, भूतत्रयी से ही निष्पन्न होता है।

१३०–प्रज्ञामात्रा, और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ—

तात्पर्य्य यही है कि, जिसे हम 'ज्ञान' कहते हैं, उसमें प्रज्ञात्मक ज्ञान प्रधान है, प्राणात्मिका क्रिया, एवं भूतात्मक अर्थ गौण हैं। परन्तु है ज्ञान में तीनों का समन्वय। एवमेव कर्म्म में प्राणभाग प्रधान, तथा प्रज्ञा, और भूतभाग गौण हैं। एवमेव च अर्थ में भूतभाग प्रधान, तथा प्रज्ञा, और प्राणभाग गौण हैं। जिन्हें हम घट–पटादि अर्थ कहते हैं, उनमें भूतभाग प्रधानरूप से विकसित है। तदन्तर्गर्भित प्राण है, यही क्रिया है। इसी से जड़ अर्थों में भी अवस्थापरिवर्त्तन होता रहता है। प्राणगर्भ में प्रज्ञात्मक ज्ञान निगूढ़ है, इसी से प्राणात्मिका क्रिया का सञ्चार होता है। इसप्रकार भौतिक अर्थों में अर्थात्मिका भूतमात्रा, क्रियात्मिका प्राणमात्रा, ज्ञानात्मिका प्रज्ञामात्रा, तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। एवमेव गमन, पाक, शयन, आदि आदि जितनें भी कर्म्म हैं, उनमें प्राणभाग प्रधानरूप से विकसित रहता है। प्राणाधारभूता (क्रियाधारभूता) प्रज्ञामात्रा भी कर्म्म में विद्यमान है, एवं प्राणाधारभूता भूतमात्रा भी विद्यमान है। प्राणात्मक कर्म्म क्रियाभाव है। क्रियासञ्चार निष्क्रिय अर्थालम्बन की अपेक्षा रखता है। इसप्रकार प्राणात्मक कर्म्मों में भी तीनों मात्राओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है। एवमेव 'घटमहं जानामि' इत्यादि ज्ञानभावों में भी तीनों विद्यमान हैं, जैसा कि पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है। तीनों मात्राओं में यदि एक का भी अभाव हो जाता है, तो न तो ज्ञान की ही स्वरूपनिष्पत्ति होती, न कर्म्म का ही स्वरूपनिर्म्माण हो पाता, एवं न अर्थ का ही विकास होता।

तीनों मात्राओं की परस्पर आहुति होती है, इससे 'ज्ञान–कर्म्म–अर्थ' ये तीन भाव प्रादुर्भूत हो जाते हैं। "हम जानते हैं, हम कर्म्म करते हैं, कर्म्मद्वारा किसी भी अर्थ का स्वरूप निर्म्माण करते हैं" इस वाक्यत्रयी में हीं प्रज्ञा–प्राण–भूतमात्रात्मक प्रज्ञानात्मा का व्यापार विश्रान्त है। प्रज्ञा को अग्नि समझिए, प्राण, और भूत को सोम समझिए। प्रज्ञात्मिका अग्नियोनि में जब प्राणभूतात्मक सोम की आहुति होती है, तो 'ज्ञानेन्द्रिय' का विकास होता है। दूसरे शब्दों में प्रज्ञा, प्राण, भूत तीनों मात्राओं में यदि प्रज्ञामात्रा आधार, एवं प्राण–भूतमात्रा आधेय हैं, तो इस समन्वय से ज्ञानप्रधान–सम्पत्ति का प्रादुर्भाव होगा। प्रज्ञाग्नि में आहुति होने वाली प्राणयुक्ता भूतमात्रा क्योंकि शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्ध–भेद से पञ्चधा विभक्त है, अतएव त्रिसमन्वितरूप प्रज्ञान पाँच हीं प्रकार का उत्पन्न होता है। यही पञ्च ज्ञानधारा पञ्च ज्ञानेन्द्रियवर्ग है। 'कानों से सुना है, हाथों से छुआ है, आखों से देखा है, जिह्वा से स्वाद लिया है, नाकों से सूँघा है'। ये ही 'श्रोत्र–त्वक्–चक्षु–जिह्वा–घ्राण' नाम की पाँच ज्ञानेन्द्रियां हैं। पाँचों में यद्यपि प्रज्ञा–प्राण–भूत, तीनों मात्रा हैं, परन्तु प्रज्ञाधारत्त्वेन प्राधान्य प्रज्ञात्मज्ञान का ही है, अतएव इन्हें ज्ञानेन्द्रिय कहना अन्वर्थ बनता है।

१--सङ्गीतमहं शृणोमि—शब्दतन्मात्रा (आकाशात्मिका)-श्रोत्रम्	ज्ञानप्रधानवाक्यानि तानीमानि पञ्च ज्ञानेद्रियाणि
२-बालकमहं स्पृशामि—स्पर्शतन्मात्रा (वाय्वात्मिका)-त्वक्	
३-चित्रमहं पश्यामि—-रूपतन्मात्रा (तेजोमयी)-चक्षुः	
४-द्राक्षारसमहं पिबामि—रसतन्मात्रा (जलमयी)-जिह्वा	
५-गन्धमहं जिघ्रामि—-गन्धतन्मात्रा (मृण्मयी)-घ्राणः	

——*——

१ प्रज्ञामात्रा—-आधारभूतोऽग्निः		समन्वयात् प्रज्ञाप्रधानानां ज्ञानेन्द्रियाणां पञ्चानां विकासः तदिदं ज्ञानतन्त्रम्
१ प्राणमात्रा २ भूतमात्रा	—आधेयभूतः सोमः	

१३१-प्राणमात्रा, और पञ्च कर्म्मेन्द्रियाँ—

अत्र प्राण को आधारभूत अग्नि समझिए, एवं प्रज्ञा, तथा भूत दोनों को आधेय सोम मानिए। इस समन्वयत्रयी से जो प्राणप्रधान अपूर्व पञ्चक उत्पन्न होता है, वही पञ्च कर्म्मेन्द्रियवर्ग कहलाया है। भूतमात्रापञ्चक के भेद से प्रज्ञावत् क्रियारूपा प्राणमात्रा के भी पाँच ही विभाग हो जाते हैं। प्रज्ञा-भूतगर्भिता पञ्चप्राणमात्रा ही कर्म्मप्रधान कर्म्मेन्द्रियाँ हैं, जो वाक्-पाणी-पाद-पायु-उपस्थ, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। मुख से बोलना, हाथों से काम करना, पैरों से चलना, पायु से मलोत्सर्ग करना, उपस्थ से रत्यादि कर्म्म करना, ये सब कर्म्मस्वरूप के विकास हैं। यहाँ सर्वत्र 'करने' पर ही विश्राम है। वाक् का शब्दतन्मात्रा से, पाणी का स्पर्शतन्मात्रा से, पाद का रूपतन्मात्रा से सम्बन्ध है *। पार्थिव अपानप्राणात्मकत्वेन पायु का

---

* सूर्य्यानुगत तेजोभूत की मूलप्रतिष्ठा ही रूपतन्मात्रा मानी गई है। सौर मघवा इन्द्र ही **'रूपं रूपं मघवा बोभवीति'** सिद्धान्तानुसार रूप का प्रवर्त्तक है, एवं यही-**'या च का च बलकृतिरिन्द्र-कर्म्मैव तत्'** (या० नि०) के अनुसार गतिभाव का प्रवर्त्तक है। रूपदर्शन चक्षु से होता है, गति पादों से सम्बन्ध रखती है। रूप, और गति दोनों सौर तेजोमय इन्द्र के प्रातिस्वक धर्म्म हैं। यही रूपतन्मात्रा की प्रतिष्ठा है। अतएव पादगति का भी अवश्य ही रूपतन्मात्रा से सम्बन्ध माना जा सकता है।

गन्धतन्मात्रा से सम्बन्ध है। चान्द्र-शुक्रनिर्गमनत्त्वेन उपस्थ का रसतन्मात्रा से सम्बन्ध है। इसप्रकार ज्ञानेन्द्रियपञ्चकवत् कर्म्मेन्द्रियपञ्चक में भी पाँचों तन्मात्राओं का उपभोग हो रहा है।

१–शब्दमहं वदामि—–शब्दतन्मात्रा (आकाशात्मिका)–वाक्		
२–कर्म्ममहं करोमि—–स्पर्शतन्मात्रा (वाय्वात्मिका)–पाणी		
३–उद्यानमहं गच्छामि–रूपतन्मात्रा (तेजोमयी)–पादः	कर्म्मप्रधानवाक्यानि तानीमानि पञ्च कर्म्मेन्द्रियाणि	
४–मलोत्सर्गमहं करोमि–गन्धतन्मात्रा (मृण्मयी)–पायुः		
५–रतिक्रियामहं करोमि–रसतन्मात्रा (जलमयी)–उपस्थः		

—*—

१ प्राणमात्रा—आधारभूतोऽग्निः		समन्वयात् प्राणप्रधानानां कर्म्मेन्द्रियाणां पञ्चानां विकासः। तदिदं कर्म्मतन्त्रम्
१ प्रज्ञामात्रा २ भूतमात्रा	आधेयभूतः सोमः	

—*—

१३२–इन्द्रियव्यापार, और काममय मन का अनिवार्य्य सहयोग—

ज्ञान में ज्ञाता (प्रज्ञामात्रा), ज्ञान (ज्ञानसाधनभूता प्राणमात्रा), ज्ञेय (भूतमात्रा), तीन पुटों के समन्वय की अपेक्षा है, अतएव ज्ञानविवर्त्त 'त्रिपुटी' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'मैं गन्धानुभव कर रहा हूँ' इस वाक्य में गन्ध सूँघने वाली प्रज्ञामात्रा है, यही 'ज्ञाता' है। गन्धद्रव्य भी है, घ्राणेन्द्रिय भी है, परन्तु यदि प्रज्ञानमन इस ओर अनुगत नहीं है, तो गन्धानुभव असम्भव है। मन भी है, गन्धद्रव्य भी है, यदि घ्राणेन्द्रियरूपा प्राणमात्रा नहीं है, तब भी गन्धानुभव असम्भव है। एवमेव मन, और घ्राणेन्द्रिय के रहने पर भी गन्धद्रव्यरूपा भूतमात्रा के अभाव में गन्धानुभव असम्भव है। ठीक यही स्थिति कर्म्म में समझिए। वाक्–पाणी–पादादि प्राणमात्रा हैं। यदि इनके साथ प्रज्ञामात्रारूप से मन नहीं है, तो इनसे कर्म्मप्रवृत्ति असम्भव है। अमनस्क कर्म्म अकामकर्म्म है। एवं अकामभाव में कर्म्मप्रवृत्ति अवरुद्ध है। निम्न लिखित वचन कर्म्म में आवश्यरूप से अपेक्षित इस काममय मनःसहयोग का ही समर्थन कर रहे हैं—

१–ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्यं *क्रतुर्भवेत् ।
क्रतुजन्यं भवेत् कर्म्म, तदेतत् कृतमुच्यते ॥

२–संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्म्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥

३–अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥ (मनुः२।३,४,)।

४–"न ह्ययुक्तेन मनसा किञ्चन सम्प्रति शक्नोति कर्त्तुम्"–(शत०६।३।१।१४।)।

५–"अन्यत्र मना अभूवं-नादर्शम् । अन्यत्र मना अभूवं–नाश्रौषम्–इति ।
मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति" (शत०१४।४।३।८।)।

हम चाहते हैं, सो बुलता है । रामशब्दोच्चारण में हमारा मन प्रज्ञामात्रा–रूप से ओतप्रोत है । बिना मनःसहयोग के कर्म्मप्रवृत्ति सर्वथा असम्भव है । यदि अन्य की मनःप्रेरणा से हम बलपूर्वक किसी कर्म्म में प्रवृत्त होते हैं, तो वह कर्म्म अन्तर्य्याम नहीं बनने पाता । कर्त्ता, करण, कर्म्म, भेद से कर्मतन्त्र भी ज्ञानतन्त्र–वत् त्रिभाव में हीं विभक्त रहता है । ज्ञानतन्त्र कर्म्मनोदना है, कर्म्मतन्त्र कर्म्मसंग्रह है । निम्न लिखित गीतावचन इन दोनों तन्त्रों के इसी त्रिपुटीभाव का स्पष्टीकरण कर रहा है—

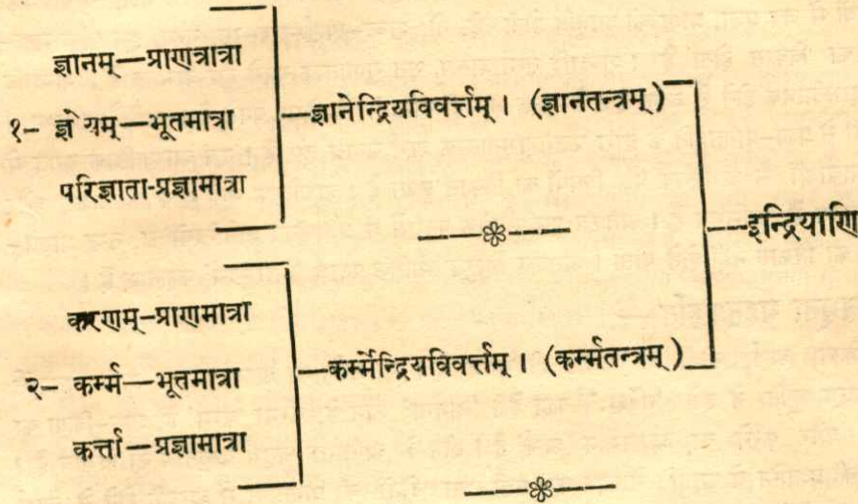
ज्ञानं, ज्ञेयं, परिज्ञाता त्रिविधा कर्म्मचोदना ।
करणं, कर्म्म, कर्त्तेति त्रिविधः कर्म्मसंग्रहः ॥
—गीता१८।१८।

---

* जिसे लोकव्यवहार में यत्न–चेष्टा–कृति कहा जाता है, उसी मानस–प्राणव्यापाररूप अन्तर्व्यापार के लिए वेद में 'क्रतु' शब्द प्रयुक्त है । अतएव–'इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्' के स्थान में हमनें 'इच्छाजन्यं क्रतुर्भवेत्' पाठ कर दिया है । प्राणव्यापाररूप मनोजव ही कृति है, यही कृति है, जैसा कि निम्न लिखित बचनों से प्रमाणित है—

(१)–स यदेव मनसा कामयते–इदं मे स्यात्, इदं कुर्वीय, इति–स एव क्रतुः ।
—शत०४।३।४।१।

(२)–हृत्सु–क्रतुं वरुणो विच्वग्निम् । हृत्सु ह्ययं क्रतुर्म्मनोजवः प्रविष्टः ।
—शत०३।३।४।७।



१३२—दशविध इन्द्रियमात्रविवर्त्त—

ज्ञानेन्द्रियपञ्चक की ५ प्रज्ञामात्रा, ५ भूतमात्रा, ५ प्राणमात्रा हैं। तीनों पञ्चक अविनाभूत हैं। एवमेव कर्म्मेन्द्रियपञ्चक की भी ५ प्रज्ञामात्रा, ५ भूतमात्रा, ५ प्राणमात्रा हैं। तीनों पञ्चक अविनाभूत हैं। ज्ञान–कर्म्मेन्द्रिय, दोनों के मात्रापञ्चकों के समन्वय से तीनों के १०-१०-१०-विवर्त्त हो जाते हैं। तीनों दशक अविनाभूत हैं। अतः दोनों के मात्राविवर्त्त १० ही से शेष रह जाते है, जिन दसों मात्राविवर्त्तों का निम्न लिखित श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है--

"न हि प्रज्ञापेता वाक्—नाम किञ्चन प्रज्ञापयेत्, अन्यत्र मे मनोऽभूत्, इत्याह। नाहमेतन्नाम प्राज्ञासिषम्—इति।XXXX। ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं, दश--प्रज्ञामात्रा अधिभूतम्। यद्धि भूतमात्रा न स्युः, न प्रज्ञामात्राः स्युः। यद्वा प्रज्ञामात्रा न स्युः, न भूतमात्राः स्युः। न ह्यन्यतरतो रूपं किञ्चन सिद्ध्येत्। नो एतन्नाना। तद्यथा-रथस्यारेषु नेमिरर्पितः, नाभावरा अर्पिताः, एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः, प्रज्ञा-मात्राः प्राणेऽर्पिताः। स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः। न साधुना कर्म्मणा भूयान्, नो एवासाधुना कनीयान्। एष ह्येवैनं (भूतात्मानं) साधु कर्म्म कारयति तं, यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवैनमसाधु कर्म्म कारयति तं, यमधो निनीषते। एष (प्रज्ञानात्मा) लोकपालः, एष लोकाधिपतिः, एष सर्वेशः। स म आत्मेति विद्यात्"
कौषीतक्युपनिषत्३।८।।

१३३—भूतमात्रा, और पञ्च इन्द्रियार्थ—

बतलाया गया है कि, प्रज्ञा–प्राण–भूत, तीनों हीं आधार बनते हैं, एवं तीनों हीं आधेय बनते हैं। तीनों मे से प्रज्ञा, और प्राण के आधाराधेयभाव का निरूपण किया, जिसका निष्कर्ष यह निकला कि, प्रज्ञा के

आधार बनने से, एवं प्राण के आधेय बनने से तो पाँच ज्ञानेन्द्रियों का विकास होता है । एवं प्राण के आधार बनने से, तथा प्रज्ञा के आधेय बनने से पाँच कर्म्मेन्द्रियों का विकास होता है। अब शेष रह जाती है–भूतमात्रा। इस भूतमात्रारूप आधाराग्नि में जब प्रज्ञा–प्राणरूप आधेय सोम की आहुति होती है, तो अर्थतन्त्र का स्वरूप उद्भूत होता है । शब्दात्मक आकाश, स्पर्शात्मक वायु, रूपात्मक तेज, रसात्मक जल, गन्धात्मिका पृथिवी, इन पाँचों में जब प्रज्ञा, प्राण की आहुति होती है, तो शब्द–स्पर्श–रूप–रस, गन्ध, इन पाँच महा–भौतिक अर्थों का विकास होता है । शब्दादि तन्मात्रारूप भूत गुणात्मक बनते हुए अव्यक्त हैं। शब्दादि अर्थरूप भूत महाभूतात्मक होने से व्यक्त हैं। ये व्यक्त भूत हीं इन्द्रियों के विषय बनते हैं। अधिदैवतसंस्था में भी पञ्चतन्मात्राओं से प्रज्ञा–प्राणाहुति के द्वारा पञ्चमहाभूतात्मक अर्थ उत्पन्न हुए हैं। एवं आध्यात्मिक जगत् में भी इन्हीं पञ्चतन्मात्राओं से अर्थात्मक पञ्च विषयों का विकास हुआ है। अर्थात्मक भूतों में क्योंकि प्रज्ञा, और प्राणमात्रा का अप्यय है, अभिभव है। अतएव इन भौतिक पदार्थों में प्रज्ञानुगत ज्ञानेन्द्रियों का, तथा प्राणा–नुगत कर्म्मेन्द्रियों का विकास नहीं होने पाता। अतएव विशुद्ध भौतिक पदार्थ 'निरिन्द्रिय' कहलाए हैं।

१३४–सर्वमूलभूता महत्प्रकृति—

ज्ञान, क्रिया, अर्थ, तीनों की समष्टि ही 'सर्वम्' है। इस सर्वम् का अध्यत्त्य प्रज्ञा–प्राण–भूतमूर्त्ति प्रज्ञान ही है, अतएव श्रुति ने इसे 'सर्वेशः' कहा है। 'जानना' ज्ञान है, करना 'कर्म्म' है, ज्ञान–क्रिया का आधार, जानने, और करने का आलम्बन 'अर्थ' है। तीन के अतिरिक्त चतुर्थ वस्तुतत्त्व का अभाव है। प्राण–भूत, दोनों की प्रज्ञाग्नि में आहुति से ज्ञान का, प्रज्ञा–भूत दोनों की प्राणाग्नि में आहुति होने से कर्म्म का, एवं प्रज्ञा, प्राण, दोनों की भूताग्नि में आहुति होने से अर्थ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। तीनों उसी प्रज्ञा–प्राण–भूतिमूर्त्ति प्रज्ञान की महिमा हैं। वही प्रज्ञानब्रह्म तीन महिमाओं में परिणत होकर अधिदैवत, अध्यात्म, दोनों विश्वों का सञ्चालक बन रहा है। यह प्रज्ञान महान् के सत्त्वरूप मन का ही इन्द्रियानुगत रूप है, यह कहा जा चुका है। अतएव इसे भी हम विज्ञानवत् महत्स्वरूप में ही अन्तर्भूत मान सकते हैं। वस्तुस्थिति तो वास्तव में यही है कि, चिदात्मा का चिदात्मत्त्व, विज्ञानात्मा का विज्ञानात्मत्त्व, प्रज्ञानात्मा का प्रज्ञानात्मत्त्व, भूतात्मा का भूतत्त्व, सब कुछ त्रिगुणभावापन्ना महत्प्रकृति (व्यक्तप्रकृति) पर ही प्रतिष्ठित है। गुणत्रयविशिष्टा इसी महत्प्रकृति के आकर्षण से निर्धर्म्मक, अज, अव्यय को भी सर्वधर्म्मोपपन्न बन कर योगमायारूप से जन्म लेना पड़ता है। यही महत्प्रकृति भूतग्रामद्वारा जगत्स्वरूप का निर्म्माण करती है। निम्न लिखित वचन महत्–प्रकृति की इसी सर्वप्रवृत्ति का विश्लेषण कर रहे हैं--

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥१॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्त्तते ॥२॥ (गीता९।८।१०)।

सर्वेसर्वा इसी महानात्मा की स्तुति करते हुए ऋषि कहते हैं—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः ॥
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति जायमानं च पश्येत् ॥१॥

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः ॥
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा (महानात्मा) ॥२॥
—श्वे० उप० ५।२,३,।

१३५–कणाद का अणुपरमाणुवाद, और कपिल का गुणवाद–

कपिल से पहिले वैशेषिकों का (कणाद का) परमाणुवाद प्रचलित था । सृष्ट्युपादान के सम्बन्ध में परमाणुरूप अणुभूतों पर हीं विश्राम मान लिया जाता था । महर्षि कपिल ने इस परमाणुवाद का खण्डन कर गुणभूतात्मक (पञ्चतन्मात्रात्मक) प्रकृतिवाद स्थापित किया । कपिल ही इस प्रकृतिवाद के प्रथम प्रवर्त्तक बने । अतएव तत्समय की परिभाषानुसार कपिलदृष्टा यह महत्प्रकृति भी उसी प्रकार 'कपिल' नाम से प्रसिद्ध हो गई, जैसे कि वसिष्ठ–अगस्त्य–मत्स्यादि मौलिक ऋषिप्राणों के प्रथम परीक्षक विद्वान् वसिष्ठादि नामों से ही प्रसिद्ध हो गए हैं । कपिलदृष्ट इसी महानात्मा का सत्त्वभाग इन्द्रियानुगति में परिणत हो कर 'प्रज्ञानात्मा' कहलाने लगता है । साक्षात्रूप से यह इन्द्रियानुगामी नहीं बनता । अपितु पारमेष्ठ्य महल्लक्षण अप्तत्त्व पहिले पृथिवी–स्वरूप में परिणत होता है । पार्थिव प्राण धामच्छद अत्रिप्राण है । अत्रिप्राणयुक्त भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाता है । इस परिक्रमा से अत्रिप्राण के द्वारा पृथिवी-भुक्त महद्भाग प्रस्तुत हो कर चन्द्ररूप में परिणत हो जाता है । अतएव चन्द्रमा को अत्रिपुत्र, एवं पृथिवी का उपग्रह माना गया है । पृथिव्युपग्रहभूत चन्द्रमा रेतः–श्रद्धा–यशो–मय है । रेत पार्थिव भाग है, यश सौर भाग है, श्रद्धा स्वयं चान्द्र भाग है । **'श्रद्धा वा आपः'** (श्रुतिः) के अनुसार चान्द्र श्रद्धा-तत्त्व अप्सोमात्मक है । इसकी आदित्याग्नि मे आहुति होती है, इससे श्रद्धा सोमरूप में परिणत हो जाती है । सोम की पर्जन्याग्नि में आहुति होती है, इससे सोम वृष्टि (जल) रूप में परिणत हो जाता है । वृष्टि की पार्थिव अग्नि में आहुति होती है, इससे वृष्टि ओषधिरूप में परिणत हो जाती है । ओषधिरूप अन्न की पुरुषाग्नि (वैश्वानराग्नि) में आहुति होती है, इससे अन्न रेतोरूप में परिणत हो जाता है । इस रेत की सुसूक्ष्मावस्था ही प्रज्ञानमन है । इसप्रकार पारमेष्ठ्य महत्–तत्त्व पृथिवी के द्वारा पहिले चन्द्ररूप में परिणत होता है । अनन्तर श्रद्धा–सोम–वृष्टि–ओषधि–रेतो–रूप में परिणत होता हुआ अन्न के द्वारा प्रज्ञानमनोरूप में परिणत होता है, जैसाकि—**'अन्नमयं हि सोम्य ! मनः'** इत्यादि छान्दोग्यश्रुति से प्रमाणित है । चिद्विशिष्ट श्रद्धा प्रज्ञामात्रा है, यशोरूप इन्द्रप्राण प्राणमात्रा है, रेतोरूप पार्थिव भाग भूतमात्रा है । तीनों की समष्टि ही 'प्रज्ञानम्' है । आगे जाकर प्रज्ञा–प्राण–भूत की परस्पराहुति से यही प्रज्ञान प्रज्ञाप्राणगर्भित भूतमहिमा, प्रज्ञाभूतगर्भित प्राणमहिमा, प्राणभूतगर्भित प्रज्ञामहिमा में परिणत होता हुआ अर्थ–कर्म्म–ज्ञान, इन तीन तन्त्रों का प्रवर्त्तक बन जाता है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है ।

१३६–अपूर्वशिल्प, एवं प्रतिकृतिशिल्प-द्वारा भूतविवर्त्त का समन्वय–

ज्ञान, कर्म्म, अर्थ, तीनों में ज्ञान, कर्म्म तो आत्मा (प्रज्ञानात्मा) के प्रातिस्विक रूप हैं, नित्य हैं । एवं अर्थ आगन्तुक है, कृत्रिम रूप है । इस सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है । प्रसङ्गोपात्त इसका भी निराकरण कर लेना चाहिए । 'घटमहं जानामि' इत्यादि ज्ञानविवर्त्तों में प्रज्ञा-प्राण–भूत, तीनों मात्राओं का ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय रूप से प्रत्यक्ष हो रहा है । एवमेव 'कर्म्महं करोमि' इत्यादि लक्षण कर्म्म तन्त्रों में भी कर्त्ता-कर्म्म-करण-भेद से तीनों मात्राओं का प्रत्यक्ष हो रहा है । परन्तु घट-पटादि अर्थतन्त्रों में केवल भूतमात्रा को

छोड़ शेष प्रज्ञा-प्राण नाम की दोनों मात्राओं का प्रत्यक्ष नहीं होता, जबकि अर्थतन्त्र में भी ज्ञान-कर्म्म तन्त्रवत् तीनों का समन्वय प्रकृतिसिद्ध है। ऐसा क्यों ?।

विप्रतिपत्ति का निराकरण कीजिए। सांसारिक चर-अचर पदार्थों का कोई न कोई कर्त्ता अवश्य है। कितनें एक पदार्थों का निम्र्माता तो स्वयं ईश्वर है, एवं घट-पट-मठादि कितनें एक पदार्थों का निम्र्माता जीवात्मा है। ईश्वरलक्षण परमात्मा, एवं जीवात्मा, दोनों का ही सृष्टिकर्म्म अपूर्वशिल्प, प्रतिरूपशिल्प, भेद से दो भागों में विभक्त है, जैसाकि भक्तिपरीक्षा-उत्तरखण्ड में विस्तार से प्रतिपादित हुआ है। आकाश, सूर्य्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, पृथिवी, आदि प्राकृतिक पदार्थ ईश्वरकृत अपूर्वशिल्प हैं। सर्वथा अपूर्व कारीगरी है। पृथिवी का एक चन्द्रमा, शनिमण्डल के आठ चन्द्रमा, आदि पदार्थ ईश्वरकृत प्रतिरूपशिल्प हैं। अभूतपूर्व पदार्थ का नाम अपूर्वशिल्प है, निर्म्मित वस्तु के सदृश निर्म्मित पदार्थ का नाम प्रतिरूपशिल्प है। आकाश, परमेष्ठी, सूर्य्य, पृथिवी आदि षोडशीप्रजापतिलक्षण महामायावच्छिन्न ईश्वर के अपूर्वशिल्प हैं, अभूतपूर्वशिल्प हैं। एवं परमेष्ठी आदि की प्रतिकृति (नकल) पर निर्म्मित चन्द्रमादि ईश्वर के प्रतिरूपशिल्प हैं। इसप्रकार ईश्वरीय शिल्प दो भागों में विभक्त हो रहा है।

जीव ईश्वर का अंश है। परमात्मा कारण है, जीवात्मा कार्य्य है। कारणगुण अवश्य ही कार्य्य में प्रतिष्ठित रहते हैं। फलतः कारणभूत ईश्वर के उभयविध शिल्पकर्म्म का कार्य्यभूत जीव में भी समावेश हो जाना प्रकृतिसिद्ध बन जाता है। इसप्रकार ईश्वरवत् जीवकृत शिल्प भी अपूर्व-प्रतिरूप भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। हर्य्यश्व, पुष्पक आदि विमान जिस वैज्ञानिक द्वारा सर्वप्रथम विनिर्म्मित हुए, वह उसका अपूर्वशिल्प माना जायगा। एवं इन अपूर्वशिल्पों के आधार पर अन्य शिल्पियोंनें जो अनेक विमान बना डाले, वह उन व्यक्तियों का प्रतिरूपशिल्प माना जायगा। जीवात्मकृत यह प्रतिरूपशिल्प जीवानुगत, ईश्वरानुगत, भेद से दो प्रकार का माना गया है। जीवात्मा के अपूर्वशिल्प (विमानादि) की प्रतिकृति जीवानुगत जीवकर्त्तृक प्रतिरूपशिल्प कहलाया है। एवं ईश्वरात्मा के अपूर्वशिल्प (अश्व-गौ-रासभादि) की धातु मृत्-काष्ठादिरूपा प्रतिमाएँ ईश्वरानुगत-जीवकर्त्तृक प्रतिरूपशिल्प कहलाया है। किसी का भी कोई सा भी शिल्प हो, उसके प्रकार अपूर्व, प्रतिरूप, भेद से दो ही मानें गए हैं।

उक्त उभयविध शिल्प का निम्र्माण प्रज्ञामात्रा की आवश्यकरूप से अपेक्षा रखता है। कोई भी शिल्पी (कारीगर) जब किसी शिल्प (कारीगरी) के निम्र्माण का संकल्प करता है, तो सर्वप्रथम वह अपने प्रज्ञात्मक मानस धरातल पर उसका प्रतिरूप अङ्कित करता है। पहिले शिल्प का आकार उसके प्रज्ञात्मक अन्तर्जगत् में खचित होता है। तदन्तर प्रज्ञानुरूप ज्ञानात्मक उस सुसूक्ष्म शिल्प के अनुरूप वह उसमें बाह्य भौतिक द्रव्यों का समावेश कर उस अन्तर्जगत् के शिल्प को बहिर्जगत् का स्वरूप प्रदान करता है। यदि बाह्य भौतिक शिल्प का कोई सा भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग उस शिल्पी के आभ्यन्तर ज्ञानीय शिल्पाकार से हीनाङ्ग, अथवा तो अतिरिक्ताङ्ग बन जाता है, तो वह उसके मनोराज्य में तबतक खटकता रहता है, जबतक कि वह अपने ज्ञानीय शिल्प के अनुरूप उस भौतिक शिल्प को व्यवस्थित नहीं कर लेता। प्रत्येक शिल्पी का प्रत्येक भौतिक शिल्प उस शिल्पी की प्रज्ञा [अकल] का नमूना है। प्रत्येक शिल्प से शिल्पी की प्रज्ञा का आनुमानिक प्रत्यक्ष हो जाता है। ईश्वरीय शिल्प हो, अथवा जीवकृत शिल्प। अपूर्वशिल्प हो, अथवा प्रतिरूपशिल्प, शिल्प शिल्पी की

प्रज्ञा का प्रतिरूप [नमूना] है। शिल्पी की प्रज्ञा पर ही यह उभयविध भौतिक शिल्प प्रतिष्ठित रहता है। शिल्प में जो शिल्पत्त्व [कारीगरी] है, कौशल है, वह न प्राणमात्रा है, न भूतात्मा। अपितु वह शिल्पी की प्रज्ञामात्रा है। दर्शक की दृष्टि सर्वप्रथम शिल्प के इस प्रज्ञाभाव [कारीगरी] पर ही जाकर ठहरती है। उत्कृष्ट शिल्प को देख कर द्रष्टा के मुख से शिल्पी की प्रज्ञा के लिए ही धन्य धन्य निकलता है। इसप्रकार प्रत्येक शिल्प में, प्रत्येक अर्थ में शिल्पत्वरूप से हम 'प्रज्ञामात्रा' का भी साक्षात्कार कर रहे हैं।

१३७–जड़भूतों में प्राणमात्रा का समन्वय—

अब क्रमप्राप्त प्राणमात्रा का समन्वय कीजिए। विश्वपदार्थों का घन, तरल, विरल, भेद से तीन भागों में वर्गीकरण किया जासकता है। पार्थिव पदार्थ घन मानें गए हैं, आन्तरिक्ष्य पदार्थ तरल मानें गए हैं, एवं दिव्य पदार्थ विरल मानें गए हैं। इस प्रकार त्रैलोक्य के पदार्थ ध्रुवात्मक निबिडावयव, धर्त्रात्मक तरलावयव, धरुणात्मक बाष्पावयव, भेद से तीन जातियों में विभक्त हो रहे हैं। तीनों अवस्थाओं का कर्पूरखण्ड में प्रत्यक्ष किया जासकता है। कर्पूरखण्ड (डली) घनावयव पार्थिव द्रव्य है। अग्निसंयोग से द्रुत (पिघला-हुआ) कर्पूर तरलावयव आन्तरिक्ष्य द्रव्य है। अत्यन्तानलसंयोग से बाष्परूप (प्राणरूप) में परिणित होकर अन्तरिक्ष में विलीन होजाने वाला कर्पूर विरलावय दिव्यद्रव्य है। यच्चयावत् पदार्थों के ये ही तीन परिणाम मानें गए हैं।

१३८–तीनों तन्त्रों का त्र्यात्मकत्त्व—

प्रश्न होता है कि, द्रव्यों में यह अवस्थात्रयी कैसे उत्पन्न होती है ?। वैज्ञानिकों नें 'प्राण' तत्त्व को आगे करते हुए ही इस प्रश्न का समाधान किया है। अनन्त–विध प्राणों में से भूताधारभूत प्राणविशेष ही 'सौम्यप्राण' कहलाया है। यह सौम्यप्राण ध्रुव–धर्त्र–धरुण–भेद से तीन अवस्थाओं में परिणित रहता है। जिस पदार्थ में ध्रुवप्राण की प्रधानता रहती है, वह निबिड़ावयव बन जाता है, धर्त्रप्राणात्मक पदार्थ तरलावयव, एवं धरुणप्राणात्मक पदार्थ बाष्पावयव बन जाता है। इसप्रकार विधरणधर्म्मा सौम्यप्राण के तारतम्य से ही पदार्थभुक्त क्षरात्मक परमाणुओं के संगठन में तारतम्य होता रहता है। जबतक इस सौम्यप्राण-रूपा प्राणमात्रा का भूतमात्राप्रधान भौतिक अर्थ पर अनुग्रह रहता है, तभी तक भौतिक क्षर कूटभाव में परिणित रहते हुए एकसूत्र (प्राणसूत्र) से सुसंघठित बने रहते हैं। इस प्राणमात्रा के उत्क्रान्त होते ही क्षर संघठन श्लथ होजाता है, भौतिक द्रव्य जीर्ण–शीर्ण बन कर स्वस्वरूप से उत्क्रान्त होजाता है। जीर्ण वस्तु के लिए लोकभाषा में–'अब इस पदार्थ में 'दम' नहीं रहा यह वाक्य प्रयुक्त होता है। यह 'दम' यही प्राणतत्त्व है, जो अपने शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्धाभावयुक्त अधामच्छदधर्म्म से इन्द्रियातीत बनता हुआ हमारे लिए अप्रत्यक्ष बना रहता है। इसप्रकार भूतमात्राप्रधान अर्थतन्त्र में भी प्रज्ञामात्राप्रधान ज्ञानतन्त्र, तथा प्राण-मात्राप्रधान कर्म्मतन्त्र की भाँति भूतमात्रावत् शिल्पत्त्वरूप से प्रज्ञामात्रा का, तथा विधरणधर्म्मत्त्वरूप से प्राणमात्रा का हमें साक्षात्कार होरहा है। अतएव तीनों तन्त्रों का त्र्यात्मकत्त्व सर्वात्मना अक्षुण्ण है। तभी तो श्रुति का–**'नह्यन्यतरतो रूपं किञ्चन सिद्ध्येत्'** यह कथन चरितार्थ होता है।

१३९–चेतन–अचेतन–द्रव्यपरिभाषा—

उक्त कथनानुसार अर्थतन्त्र में भी ज्ञान–कर्म्मवत् यद्यपि प्रज्ञा–प्राण–भूत, इन तीनों मात्राओं का समावेश है। तथापि एक विशेष हेतु से अर्थतन्त्र को ज्ञान-कर्म्म-तन्त्रापेक्षया विजातीयधर्म्मा ही माना जायगा।

अर्थतन्त्र में प्रज्ञा–प्राणमात्राएँ भूतमात्रा से उसी प्रकार आत्यन्तिकरूप से अभिभूत रहतीं हैं, जैसे मुखावरुद्ध–घटगर्भ में प्रतिष्ठित दीपप्रभा द्वाराभाव से अवरुद्ध रहती है। इन्द्र का बिकसितरूप ही प्रज्ञात्मक ज्ञानेन्द्रियवर्ग, तथा प्राणात्मक कर्म्मेन्द्रियवर्ग के विकास का कारण माना गया है। भौतिक अर्थतन्त्र में प्रज्ञात्मक इन्द्र रहता अवश्य है, परन्तु भूतभागवृद्धि से इसका रश्मिप्रसारलक्षण रूपविकास अवरुद्ध रहता है। अएव प्रतिबन्धक भूत के निग्रह से रहता हुआ भी प्राज्ञ इन्द्र घट–पटादि अर्थतन्त्रों में इन्द्रियभाव–विकास करने में असमर्थ रहता है। इसी आधार पर अर्थतन्त्र को 'अनिन्द्रिय' माना गया है। अतएव च चेतन, और अचेतन द्रव्य का–**'सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्'** यह लक्षण किया गया है। अचेतन–चेतन का व्यवस्थापक आत्माभाव–आत्मसत्ता नहीं है। **'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्'** के अनुसार आत्मा (प्रज्ञानात्मा) तो सब में है। एवं इस आत्मदृष्टि से भारतीय विज्ञानकाण्ड सब को 'चेतन' मानता है। इसी आत्मचैतन्य के आधार पर भारतीय दृष्टिकोण रात्रि में हरित वृक्षों को छूना तक पाप समझता है। इसी आत्म-दृष्टि के आधार पर उसके–**'शृणोतु ग्रावाणः'–'ओषधे ! त्रायस्व'** इत्यादि वचन अन्वर्थ बन रहे हैं। अतएव मानना पड़ता है कि, जड़–चेतन सबमें आत्मा अवश्य है। दोनों के भेद का व्यवस्थापक **है–**एकमात्र इन्द्रिय–अनिन्द्रिय भाव। जिन चेतन द्रव्यों में इन्द्रियों का विकास रहता है, वे चेतनद्रव्य मान लिए जाते हैं। एवं जिन चेतन जीवों में भूतमात्रा के द्वारा होने वाले इन्द्रप्राणाभिभव से इन्द्रियों का विकास नहीं होता, वे चेतन द्रव्य 'अचेतन' नाम से व्यवहृत कर दिए जाते है।

१४०–'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' का समन्वय—

निष्कर्ष यही निकला कि, प्रज्ञाप्रधान ज्ञानतन्त्र, एवं प्राणप्रधान कर्म्मतन्त्र, दोनों के साथ क्रमशः ज्ञान–कर्म्मेन्द्रियों का सम्बन्ध है, एवं दोनों क्रमशः मनोलक्षण प्रज्ञानात्मा के मनः-प्राणभागों से अनुगृहीत हैं। मनः-प्राणरूप से यह प्रज्ञानात्मा नित्य है। मनः–प्राण से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान–कर्म्मेन्द्रियवर्ग पृथक् है, एवं वाग्भाग से सम्बन्ध रखने वाला अर्थतन्त्र पृथक् है। इसप्रकार प्रज्ञानात्मविवर्त्त के मनस्तन्त्र, ज्ञानतन्त्र, कर्म्मतन्त्र, अर्थतन्त्र, ये चार विवर्त्त होजाते हैं। मनस्तन्त्र त्रिधातुलक्षण उक्थरूप स्वयं प्रज्ञानात्मा है। शेष तीनों तन्त्र अर्करूप महिमाभाव हैं। इन तीनों महिमाओं से ज्ञान–कर्म्म, नाम की दो महिमाओं का 'इन्द्रिय' रूप एक स्वतन्त्र विभाग है, अनिन्द्रिय अर्थतन्त्र का एक स्वतन्त्र विभाग है। इसप्रकार चार तन्त्रों के मनस्तन्त्र, इन्द्रियतन्त्र, अर्थतन्त्र, ये तीन विवर्त्त रह जाते हैं। जब तक अर्थतन्त्र बहिर्जगत् की वस्तु बना रहता है, तब तक मन–इन्द्रिय–अर्थ, यह क्रम है। इन्द्रियद्वारा भावनावासनासंस्काररूप से जब अर्थ (इन्द्रियार्थ) अन्तर्जगत् की वस्तु बनते हुए मनोधरातल पर प्रतिष्ठित होजाते हैं, तो 'मन-अर्थ–इन्द्रिय, यह क्रम होजाता है। अध्यात्मसंस्था में यही क्रम प्रधान है! भूपिण्ड के प्रवर्ग्यभाग से पाञ्चभौतिक चित्य शरीर का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। यहीं से अध्यात्मसंस्था का उपक्रम है, एवं पुरुषात्मा पर इस अध्यात्म–संस्था का उपसंहार है। क्योंकि चित्य भौतिक शरीर से आध्यात्मिक पर्वों का उपक्रम होता है, अतएव इसे पर्वक्रमव्यवस्थाप्रदर्शन में छोड़ दिया जाता है। शरीरानन्तर प्रथम स्थान ज्ञान–कर्म्मतन्त्रात्मक इन्द्रियवर्ग का पड़ता है। तदनन्तर दूसरा स्थान अर्थतन्त्रात्मक सांस्कारिक आध्यात्मिक अर्थों का पड़ता है, तदनन्तर स्वयं प्रज्ञानात्मलक्षण मन का स्थान पड़ता है। इसी स्वाभाविक क्रम को लक्ष्य बनाते हुए भगवान् ने कहा है–**'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः, अर्थेभ्यश्च परं मनः'**। भूतप्रज्ञोप्रेत–दशविध–प्राणमात्रा इन्द्रियवर्ग है। इनसे परे भूतमात्राप्रधान शब्दादि तन्मात्रारूप पञ्च सांस्कारिक इन्द्रियार्थ हैं। तत्पर प्रज्ञामात्राप्रधान प्रज्ञानमन है।

इन्द्रियाणि प्राणमात्रा हैं, अर्थाः भूतमात्रा हैं, मनः प्रज्ञामात्रा है, तीनों क्रमशः कर्म्म-अर्थ-ज्ञानतन्त्र हैं। तीनों अविनाभूत हैं। तीनों त्रिपुटी-भाव से युक्त हैं, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। तीनों का समुच्चितरूप ही 'प्रज्ञानात्मविवर्त्त' है। 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः०' इत्यादि वचन से दोनों तात्पर्य्यों का संग्रह हो रहा है। भूतमात्राप्रधान अर्थतन्त्र इन्द्रियों से भिन्न है, विजातीय है, यह एक तात्पर्य्य है। एवं प्रज्ञा-प्राण-भूत, तीनों की त्रिपुटी है, यह दूसरा तात्पर्य्य है।

बतलाया गया है कि, आध्यात्मिक इन्द्रियार्थ संस्काररूप से मन, और इन्द्रिय, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहते हैं। अतएव 'इन्द्रियाणि-अर्थाः-मनः' यही क्रम समीचीन बनता है। परन्तु कितने एक वैज्ञानिकों का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि, 'अर्थाः' का स्थान इन्द्रियों से पहिले ही मानना चाहिए। यह ठीक है कि, संस्कारदशा में इन्द्रियार्थ इन्द्रियों से परस्थान में, एवं मन से अवरस्थान में हीं प्रतिष्ठित हैं। तथापि इन अर्थों के मूलभूत (जिनके आधार पर सांस्कारिक अर्थों का अध्यात्मसंस्था में उदय होता है, वे बाह्यभूत) अर्थ बहिर्जगत् की वस्तु बनते हुए इन्द्रियों से प्रथमस्थानीय हीं मानें गए हैं। यदि इन्द्रियार्थों को इन भूतों से अनुगत माना जाता है, तो भौतिक शरीर, इन्द्रियार्थ, इन्द्रिय, मन, यह निष्कर्ष निकलता है।

१४१-त्रिपर्वा प्रज्ञानात्मा से त्रिपर्वा भूतात्मा का समतुलन—

स्मरण कीजिए,-पृथिवीविवर्त्त के चित्य, चितेनिधेय, नामक दो विवर्त्तों का पूर्व में विश्लेषण हुआ है। एवं वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि, चित्यपृथिवी भूपिण्ड है, इसके प्रवर्ग्यभाग से पाञ्चभौतिक चित्य (मर्त्य) शरीर का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। दूसरा चितेनिधेय प्राणभाग अग्नि, वायु, इन्द्र, भेद से तीन भागों में परिणत रहता है। अग्निप्रधानभाग वैश्वानरात्मा है, वायुप्रधानभाग तैजसात्मा है, इन्द्रप्रधान-भाग चिद्विशिष्ट प्रज्ञानात्मक सोम से संयुक्त होकर 'प्राज्ञात्मा' कहलाने लगता है। तीनों की समष्टि ही 'भूतात्मा' नामक, देवसत्यलक्षण कर्म्मात्मा है। इस पार्थिव कर्मात्मा के वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ, तीनों आत्मपर्व क्रमशः चान्द्र प्रज्ञानात्मा के प्रज्ञामात्रा-प्राणमात्रा-भूतमात्रा, इन तीन आत्मपर्वों से अनुगृहीत हैं। वैश्वानर, और भूतमात्रा, दोनों सजातीय हैं। तैजस, और प्राणमात्रा, दोनों सजातीय हैं। प्राज्ञ, और प्रज्ञामात्रा, दोनों सजातीय हैं। दूसरे शब्दों में इसी स्थिति का यों भी समन्वय किया जा सकता है कि, प्रज्ञामात्राप्रधान 'प्रज्ञानमन', और 'प्राज्ञात्मा', दोनों समतुलित हैं। प्राणमात्राप्रधान ज्ञानकर्म्मेन्द्रियाँ, और तैजसात्मा, दोनों समतुलित हैं। भूतमात्राप्रधान इन्द्रियार्थ, और वैश्वानरात्मा दोनों समतुलित हैं। यही प्राकृतिक स्थिति है--

प्रज्ञामात्रा—तत्प्रधानं प्रज्ञानमनः	—{ तत्समतुलितः प्राज्ञात्मा
प्राणमात्रा—तत्प्रधानानीन्द्रियाणि	—{ तत्समतुलितस्तैजसात्मा
भूतमात्रा—तत्प्रधाना इन्द्रियार्थाः	—{ तत्समतुलितो वैश्वानरात्मा
त्रिपर्वा प्रज्ञानात्मा चान्द्रः	त्रिपर्वा–भूतात्मा पार्थिवः

चित्यं पाञ्चभौतिकं शरीरम्

१४२–आत्मोपक्रमस्थान, एवं उपसंहारस्थान—

उक्त क्रमानुसार भूतमात्रा वैश्वानरात्मा से समतुलित रहती हुई इन्द्रियों से अवरस्थान में ही प्रतिष्ठित मानी जायगी। कारण वैश्वानर अर्थप्रधान है, तैजस क्रियाप्रधान है, प्राज्ञ ज्ञानप्रधान है। उधर इन्द्रियार्थ अर्थात्मक हैं, इन्द्रियाँ क्रियात्मिका हैं, मन ज्ञानात्मक हैं। चित्य भौतिक शरीर, और अर्थप्रधान वैश्वानरात्मा, दोनों भूतप्रधान हैं, तत्सजातीय प्रज्ञानानुगता इन्द्रियार्थमात्रा का इसमें हीं अन्तर्भाव मानना प्रकृतिसिद्ध होता है। तात्पर्य्य यही है कि, प्रकृति–दृष्टि से इन्द्रियार्थों का भौतिक शरीर में अन्तर्भाव मानना जहाँ ठीक है, वहाँ आध्यात्मिक स्थिति–दृष्टि से इन्द्रियार्थों को इन्द्रियों से परे मानना भी सुसङ्गत है। दृष्टिकोणभेद से दोनों सिद्धान्त सुसमन्वित हैं।

चित्य भौतिक **शरीर,** चितेनिधेय वैश्वानर–तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति पार्थिव **भूतात्मा,** भूतमात्राप्रधान **इन्द्रियार्थ,** तीनों भूतभाव में अन्तर्भूत हैं। तीनों की समष्टि उपक्रमस्थान है। अतएव इस पार्थिव भूतप्रपञ्च को श्रुति ने उपक्रमदृष्ट्या छोड़ते हुए यहाँ से खण्डात्माओं की परापरव्यवस्था आरम्भ करते हुए कहा है—इन्द्रियाँ पर हैं (शरीर, भूतात्मा, इन्द्रियार्थरूप भूतप्रपञ्च से पर स्थान में इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित हैं)। इन्द्रियों से पर स्थान में प्रज्ञानात्मा नामक 'मन' प्रतिष्ठित है। मन से परस्थान में विज्ञानात्मा नामक बुद्धितत्त्व प्रतिष्ठित है। विज्ञा–नात्मा से परस्थान में महानात्मा प्रतिष्ठित है। महानात्मा से परस्थान में शान्तात्मा नामक अव्यक्तात्मा प्रति–ष्ठित है। सर्वान्त में गूढोत्मा नामक पुरुषात्मा प्रतिष्ठित है, यही अध्यात्मसंस्था की पराकाष्ठा (अन्तिम पर्व) है। क्या पुरुषात्मा से परे अध्यात्मसंस्था में कुछ नहीं है ?। षोडशीलक्षण अव्ययपुरुष से परस्थान में मायीपरात्पर प्रतिष्ठित है। परात्पर से परस्थान में मायातीत निष्कलतत्त्व प्रतिष्ठित है। इस दृष्टि से तो माया–तीत निष्कल को पराकाष्ठा मानना चाहिए था। फिर श्रुति ने दो श्रेणियों से अवरकक्षा में प्रतिष्ठित रहने वाले पुरुषात्मा को ही पराकाष्ठा किस आधार पर मान लिया ?। तत्त्वदृष्ट्या यद्यपि मायातीत, अतएव विश्वातीत निष्कल ही पराकाष्ठा बनता है, परन्तु यह परागति नहीं बनता। गति सञ्चार है, सञ्चार क्रिया है,

क्रिया विश्व का स्वरूप है, विश्व मायोपाधिक है । मायोपाधिक–गतिधर्म्मावच्छिन्न विश्व का अवसान अव्ययात्मा (पुरुषात्मा) पर ही हो रहा है, जैसाकि–'परेऽव्यये सर्वं एकीभवन्ति' इत्यादि श्रुत्यन्तर से भी प्रमाणित है । गत्यात्मक आधिदैविक–आध्यात्मिक–विश्व की पराकाष्ठा पुरुष ही बनता है । एकमात्र गतिभावापन्न विश्वकाष्ठा की दृष्टि से ही श्रुति ने पुरुषात्मा को पराकाष्ठा मान लिया है । इसी गतिभाव को स्पष्ट करने के लिए श्रुति को 'सा काष्ठा' के साथ साथ–'सा परा गतिः' कहना पड़ा है । गति परिच्छिन्न धर्म्म है । उधर विश्वातीत निष्कलब्रह्म अपरिच्छिन्न बनता हुआ गतिशून्य है । अतः गत्यात्मक विश्व की दृष्टि से स्थित्यात्मक निष्कल कभी पराकाष्ठा नहीं माना जा सकता । निम्न लिखित वचनों के द्वारा इसी आत्मसोपानपरम्परा का विश्लेषण हो रहा है––

इन्द्रियेभ्यः परं मनः, मनसः *सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा, महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥१॥
अव्यक्तातु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ॥
यज् ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥२॥

—कठोपनिषत्६।६,७,। ।

पुरुषात्मा (षोडशी–गूढात्मा) ————————{ उपसंहारस्थानम् (अव्यक्तात्तु परः पुरुषः

अव्यक्तात्मा———————— अव्यक्तात्मा स्वायम्भुवः –महतोऽव्यक्तमुत्तमम्

महानात्मा————————महानात्मा पारमेष्ठ्यः –सत्त्वादधि महानात्मा

सत्त्वात्मा————————विज्ञानात्मा सौरः –मनसः सत्त्वमुत्तमम्

मनः——प्रज्ञात्मकम् .... –इन्द्रियेभ्यः परं मनः

इन्द्रियाणि-प्रज्ञाप्राणात्मकानि — प्रज्ञानात्मा चान्द्रः –(इन्द्रियाणि)

---

* महानात्मा का सत्त्वभाग ही सौर इन्द्र (मघवेन्द्र) से युक्त होकर विज्ञानात्मरूप में परिणत होता है । इस सत्त्व के आत्मानुगत, विषयानुगत, भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं । आत्मानुगत सत्त्व बुद्धि है, यही शुद्ध सत्त्व है । विषयानुगत सत्त्व मन है, यही मलिन सत्त्व है । प्रकृत में शुद्धसत्त्वाभिप्राय से **'मनसः सत्त्वमुत्तमम्'** कहा गया है, जिससे विज्ञानात्मलक्षणा बुद्धि ही अभिप्रेत है ।

प्राज्ञः
तैजसः
वैश्वानरः

चितिनिधेयाः

प्राणमयाः

भूतात्मा पार्थिवः

—उपक्रमस्थानम्

इन्द्रियार्थाः—चित्याग्निमयाः

शरीरं भौमम्

शरीरम्——चित्याग्निमयम्

❀ ❀ ❀

१४३—श्रौतीदृष्टि, और गीतादृष्टि का समन्वय—

यह तो हुई प्रकृतिदृष्ट्या आत्मपर्वसंस्थानमीमांसा। स्वयं गीताचार्य्य ने भी इसी का समर्थन किया है। उपनिषत्, और गीता के दृष्टिकोण में अन्तर केवल यही है कि, उपनिषत् ने जहाँ सत्त्वात्मलक्षण विज्ञानात्मा (बुद्धि) से पर प्रतिष्ठित आत्माओं का महान्—अव्यक्त—पुरुष, इस रूप से पृथक्—पृथक् विश्लेषण किया है, वहाँ गीता ने इन तीनों का केवल 'पर' नाम से ग्रहण कर लिया है। 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' कहते हुए गीताचार्य्य ने बुद्धियोग की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है। गीताचार्य्य नें क्यों नहीं महान्—अव्यक्त—पुरुष, तीनों का पृथक् पृथक् निर्देश किया ?, प्रश्न का यही उत्तर है। सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च 'आत्मा, और विश्व' इन दो भागों में विभक्त है। आत्मा अमृत है, विश्व मर्त्य है। इन दोनों अमृत—मृत्यु—भावों का विभाजक अधिदैवत में सूर्य्य है +, अध्यात्म में सूर्य्यांशभूता बुद्धि है। सूर्य्य से नीचे नीचे मर्त्य विश्व का प्राधान्य है ×, सूर्य्य से ऊपर ऊपर अमृतात्मा का प्राधान्य है। सूर्य्य में दोनों का समन्वय है। अमृतप्रधान सूर्य्य तदुपरिस्थ अमृतात्मा का उपकारक है, मृत्युप्रधान सूर्य्य तदधोवस्थित मर्त्य विश्व का उपकारक है। मर्त्य विश्व के भूपिण्ड, चितेनिधेय विराट्, हिरण्यगर्भ, सर्वज्ञ, चन्द्रमा, मर्त्यसूर्य्य, ये ६ पर्व हैं। अमृतात्मा के अमृतसूर्य्य, परमेष्ठी, स्वयम्भू, पुरुष, ये चार पर्व हैं। इन ७+३—१० पर्वों की समष्टि ही आधिदैविक ईशप्रजापति है। तदंशभूत आध्यात्मिक जीवप्रजापति में भी दसों पर्व ज्यों के त्यों व्यवस्थित हैं। भूपिण्डांश भौतिकशरीर १ है, विराडंश वैश्वानर २ है, हिरण्यगर्भांश तैजस ३ है, सर्वज्ञांश प्राज्ञ ४ है, चन्द्रांश प्रज्ञान—मन ५ है, मर्त्यसूर्य्यांश अविद्याबुद्धि ६ है। ६ ओं की समष्टि मर्त्यप्रपञ्च है। अमृतसूर्य्यांश विद्याबुद्धि है, पारमेष्ठ्यंश महानात्मा है, स्वयम्भू अंश अव्यक्तात्मा है, पुरुषांश पुरुषात्मा है, चारों की समष्टि अमृततत्त्व है। मर्त्यप्रपञ्च का अमृतत्त्व के साथ विद्याबुद्धि के द्वारा योग हो जाना ही बुद्धियोग है। बुद्धि से परे रहने वाले

+—"निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च" (यजुःसं० ३४।३१)।

×—"तद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्" (शत० १०।५।१।४)।

महानात्मा से ही बुद्धियोगसम्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है। एकमात्र इसी दृष्टिकोण से भगवान् ने बुद्धि से परे अवस्थित महान्–अव्यक्त–पुरुष, तीनों अमृतपर्वों का समष्टिरूप से संग्रह कर लिया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि, योग होता है–परम्परया क्रम–क्रमशः ही। सब से पहिले भौतिकशरीर, भूतात्मा, इन्द्रियार्थ, इन तीनों वाङ्मय भूतपर्वों का संयम करना चाहिए, इस वाक्संयमानन्तर प्रज्ञानमन का संयम करना चाहिए। प्रज्ञानमन का ज्ञानात्मा नामक बुद्धि में योग करना चाहिए। बुद्धि का महानात्मा में, महानात्मा का अव्यक्तात्मा में योग करना चाहिए। इस पारस्परिक योग से ही अन्त में पुरुषात्मयोगलक्षणा बुद्धियोगसम्पत् पाप्त होती है *। तात्पर्य्य पकृत में कहने का यही है कि, गीता ने महान्–अव्यक्त–पुरुष, तीनों का अमृतत्वेन एकरूप से ही संग्रह कर लिया है, जैसाकि आगे के वचन से प्रमाणित है—

अधिदैवतम्		अध्यात्मम्
१–पुरुषात्मा	(४)	पुरुषात्मा
२–स्वयम्भूः	(३)	अव्यक्तात्मा
३–परमेष्ठी	(२)	महानात्मा
४–अमृतसूर्य्यः	(१)	विद्याबुद्धिः
५–मर्त्यसूर्य्यः	(६)	अविद्याबुद्धिः
६–चन्द्रमाः	(५)	प्रज्ञानात्मा
*–..........	(*)	इन्द्रियाणि
७–सर्वज्ञः	(४)	प्राज्ञात्मा
८–हिरण्यगर्भः	(३)	तैजसात्मा
९–विराट्	(२)	वैश्वानरात्मा
....		इन्द्रियार्थाः
१०–भूपिण्डः	(१)	शरीरम्

–उपसंहारस्थानम्
–यो बुद्धेः परतस्तु सः
–मनसस्तु परा बुद्धिः
–इन्द्रियेभ्यः परं मनः
–इन्द्रियाणि पराण्याहुः
–उपक्रमस्थानम्

अमृतम्–आत्मा
निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च
मर्त्यं–विश्वम्

*–यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः, तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्, तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ (कठोपनिषत् १।३।१३।)॥

इन्द्रियाणि पराण्याहु, रिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धि, र्योबुद्धेः परतस्तु सः ॥१॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥२॥ (गीता४।४२,४३,।)।

जैसा कि, पूर्व में बतला जाचुका है, स्थितिदृष्टि से इन्द्रियार्थों का सन्निवेश इन्द्रियों से परस्थान में, एवं प्रज्ञानमन से अवरस्थान में मानना पड़ता है। और इस दृष्टिकोण से उपक्रमस्थान में इन्द्रियार्थों को छोड़ कर केवल भौतिक शरीर, तथा वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति भूतात्मा, दो विवर्त्त ही शेष रह जाते हैं। दोनों से परे इन्द्रियवर्ग, तदनन्तर इन्द्रियार्थ, तदनन्तर प्रज्ञानमन, इत्यादि क्रम व्यवस्थित है। स्वयं श्रुति ने भी इस स्थितिमूलक दूसरे व्यवस्थाक्रम का भी समर्थन किया है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से प्रमाणित है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था, अर्थेभ्यश्च परं मनः ॥
मनसस्तु परा बुद्धि, बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१॥
महतः परमव्यक्त, मव्यक्तात् पुरुषः परः ॥
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥२॥ कठोपनिषत् १।३।१०,११,।

स–एष स्थितिभावात्मको दृष्टिकोणः—

पुरुषः——अव्यक्तातत् पुरुषः परः-उपसंहारस्थानम्
|
अव्यक्तम्-महतः परमव्यक्तम्
|
महान्——बुद्धेरात्मा महान् परः
|
बुद्धिः——मनसस्तु परा बुद्धिः
|
मनः——अर्थेभ्यश्च परं मनः
|
इन्द्रियार्थाः-इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः
|
इन्द्रियाणि-(ततः–इन्द्रियाणि पराणि)
|
प्राज्ञः
तजसः
वैश्वानरः —उपक्रमस्थानम् (भूतात्मकम्)
शरीरम्

—*—

१४४–खण्डात्मानुगता अखण्डात्मस्वरूपविश्रान्ति—

आत्मप्रतिपत्ति से सम्बन्ध रखने वाले पुरुष–अव्यक्त–महान्–विज्ञान–प्रज्ञान–आदि सभी आध्यात्मिक आत्मविवर्त्तों का दिग्दर्शन पूर्व प्रकरण से गतार्थ होरहा है। रह जाता है केवल भूतात्मा। दो शब्दों में इस का भी इतिवृत्त सुन लीजिए। यह अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है कि, भूपिण्ड और भूमहिमा भेद से भौतिक पार्थिव विवर्त्त दो भागों में विभक्त हैं। इनमें भूपिण्डांशलक्षण भूतात्मा चित्यात्मा है, एवं भूमहिमांशलक्षण भूतात्मा चितेनिधेयात्मा है। महिमात्मक भूतात्मा 'कर्म्मात्मा' कहलाया है। यही देवसत्यलक्षण आध्यात्मिक जीवात्मा है। यही कर्म्मफलभोक्ता लोकान्तरगामी आत्मा है। प्रज्ञानात्मलक्षण मन, एवं इन्द्रियाँ कर्म्मफलभोग-साधनभूता हैं। इसी फलभोगसम्बन्ध से इन्द्रिय–मनोयुक्त इस भूतात्मा को–'**आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः**' इत्यादिरूप से 'भोक्तात्मा' कहा गया है।

उक्तलक्षण भूतात्मा वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ भेद से त्रिपर्वा है। वैश्वानर अग्निप्रधान अर्थात्मा है, तैजस वायुप्रधान क्रियात्मा है, प्राज्ञ इन्द्रप्रधान ज्ञानात्मा है। इन तीनों का आत्मत्त्व प्रज्ञानुगत सोमगर्भित चिद्-ब्रह्म पर ही अवलम्बित है, जैसा कि–'**ब्रह्मणो वा विजये महीयध्वम्**' (केनोपनिषत्) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। सम्पूर्ण तलवकारोपनिषत (केनोपनिषत्) में अग्नि–वायु–इन्द्रविभूतिद्वारा इसी व्यापक चिदात्म–विभूति का निरूपण हुआ है। शारीर अस्थि–माँस–रुधिरादि भूतधातुओं का निर्म्माण करना, निर्म्माण कर इन भौतिक अर्थों को यावदायुर्भोगपर्य्यन्त स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना अर्थशक्तियुत–अग्निप्रधान वैश्वानर–पर्व का कर्म्म है। अग्निप्रधान वैश्वानर ही भुक्तान्न को रसासृगादि धातुरूपों में परिणित करता है, एवं जब तक वैश्वानराग्नि शरीर में आलोमभ्यः–आनखाग्रेभ्यः–व्याप्त रहता है, तभी तक भौतिक शरीर की स्वरूप-रक्षा है। इसप्रकार त्रिपर्वा भूतात्मा का अर्थशक्तियुक्त वैश्वानर पर्व अध्यात्मसंस्था के अर्थतन्त्र का सर्वेसर्वा बन रहा है। शारीर रसासृगादि तरल धातुओं को रसवाहिनी 'शिरा' नामक नाड़ियों के द्वारा आपादमस्तक गति-शील बनारा रखना, प्राणापानव्यानसमानोदानादि वायुविवर्त्तों को वायुवाहिनी 'धमनी' नामक नाड़ियों के द्वारा प्रवाहित बनाए रखना, उत्पन्न–प्रादेशमित शिशु को इस रस–वायु–सञ्चार द्वारा आकारवृद्धि प्रदान करना आदि आदि गत्यात्मक यच्चयावत् क्रियाभाव क्रियाशक्तियुत–वायुप्रधान–तैजसपर्व का कर्म्म है। शारीर क्षर–परमाणुओं को (क्रियाकूट को) 'इदमध्यात्मम्' रूप एक (कूटस्थ) स्वरूप प्रधान करना, ज्ञाननाहिनी 'स्नायु' नामक नाड़ियों के द्वारा ज्ञानमात्रा का सर्वाङ्गशरीर में संचार करते रहना, प्रज्ञानमनो द्वारा ज्ञान–कर्मेन्द्रियों को भावना–भावसनासंस्कार से युक्त बनाए रखना, आगत संस्कारों को अपने धरातल पर प्रतिष्ठित रख तद्–द्वारा तदनुसार शुभाशुभ उदर्कों का भोग करते रहना, यह सब ज्ञानशक्तियुत-इन्द्रप्रधान-प्राज्ञ नामक- तृतीय पर्व के कर्म्म है। आध्यात्मिक यच्चयावत् कर्म्मप्रपञ्च इसप्रकार अर्थ–क्रिया–ज्ञान, भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। एवं चित्य शरीरायतन में प्रतिष्ठित अग्नि–वायु–इन्द्र–कृतमूर्ति, अर्थ–क्रिया–ज्ञान–शक्तियुत, वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ लक्षण कर्म्मात्मा के द्वारा इस आध्यात्मिक कर्म्मविवर्त्त का भलीभाँति निर्वाह हो जाता है। जब त्रिपर्वा शरीरविशिष्ट भूतात्मा से सब कुछ गतार्थ हो जाता है, तो एक चौथे व्यापक ब्रह्म (चिदात्मा) की सत्ता और क्यों मानी गई ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका समाधान पूर्व से गतार्थ है। इन तीनों की मूलप्रतिष्ठा चौथा चिद्ब्रह्म ही है। अधिदैवत में सर्वज्ञेन्द्र, हिरण्यगर्भवायु, विराडग्निरूप से, एवं अध्यात्म में प्राज्ञेन्द्र, तैजसवायु, वैश्वानराग्निरूप से यद्यपि अग्नि–वायु–इन्द्र का ही विजय प्रतीत हो रहा है। तथापि

वस्तुगत्या इस विजय का मूलश्रेय उस व्यापक चिदात्मा को ही है, जिससे न केवल देवसत्यलक्षण त्रिपर्वा-भूतात्मा ही, अपितु ब्रह्मसत्यलक्षण अव्यक्त-महान्-विज्ञान-प्रज्ञान-भी स्वरूपरक्षा में समर्थ बने हुए हैं। यही तो हमारा भेदसहिष्णु -अभेदवाद है। उपाधिदृष्टया आत्मा अनेक हैं। परन्तु 'तदेव-तदेव' रूप से चिदात्मापरपर्य्यायक अखण्डात्मा अवारपारीण है, एक है। प्रत्येक खण्डात्मा मनःप्राणवाग्रूप से त्रिपर्वा है। त्रिपर्वा प्रत्येक खण्डात्मा के साथ सर्वव्यापक तुरीय अखण्डात्मा आधाररूप से प्रतिष्ठित है। इसी के सम्बन्ध से प्रत्येक खण्डात्मा चतुष्पाद्ब्रह्म कहलाया है। उदाहरण के लिए प्रक्रान्त भूतात्मा को ही लीजिए। श्रुति कहती है—

"सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्। स्थूलभुग्वैश्वानरः-प्रथमः पादः। प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः। चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः। एष सर्वेश्वरः, एष सर्व्वज्ञः, एषोऽन्तर्य्यामी, एष योनिः सर्व्वस्य, प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्। नान्तःप्रज्ञं, न बहिःप्रज्ञं, नोभयतःप्रज्ञं, न प्रज्ञानघनं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञं, अदृष्ट-मव्यवहार्य्य-मग्राह्य-मलक्षण-मचिन्त्य-मव्यपदेश्य-मैकात्मप्रत्ययसारं, प्रपञ्चोपशमं, शान्तं, शिवं, अद्वैतं, चतुर्थं मन्यन्ते। स आत्मा, स विज्ञेयः"।

—माण्डूक्योपनिषत्।

१४५–त्रिविध जीवात्मसर्ग—

अधिदैवतप्रजापति ईश्वर है, अध्यात्मप्रजापति जीव है। इस जीवात्मा के ससंज्ञ, अन्तःसंज्ञ, असंज्ञ, भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। अण्डज-जरायुज-ऊष्मज-भेद भिन्न जीवजजीव ससंज्ञ हैं। इन में वैश्वानरा-तैजस-प्राज्ञ (अर्थ-क्रिया-ज्ञान) तीनों का विकास है। अतएव इन्हें 'त्र्यात्मक' जीव कहा जाता है। ओषधि-वनस्पत्यादि उद्भिज्ज जीव अन्तःसंज्ञ हैं, इनमें वैश्वानर-तैजस, इन दो भूतात्मपर्वों का विकास है। प्राज्ञपर्व इनमें अभिभूत है। तैजस सम्बन्ध से इन वृक्षादि अन्तःसंज्ञ जीवों में आयतनवृद्धि तो हो जाती है, किन्तु प्राज्ञानुगत इन्द्रियविकास नहीं होने पाता। अतएव इन्हें 'अन्तःसंज्ञ' कहना अन्वर्थ बनता है। सुवर्ण, माणिक्य, हरितालादि खनिजजीव असंज्ञ हैं। इनमें केवल अर्थप्रधान वैश्वानर का विकास है। अतएव इन्हें 'एकात्मकजीव' कहा जाता है। प्राज्ञाभिभव से न तो इनमें इन्द्रियविकास है। एवं तैजसाभिभव से न इनमें आयतनवृद्धि ही होती। 'जायते-अस्ति-विपरिणमते--वर्द्धते--अपक्षीयते नश्यति' जीवात्मानुगत ये षड्भावविकार तीनों जीवों में समान हैं। ससंज्ञजीव चेतनजीव हैं, अन्तःसंज्ञजीव अर्द्धचेतनजीव हैं, असंज्ञजीव अचेतनजीव हैं। तीनों में से अन्तःसंज्ञ, असंज्ञ, दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है, यही शिपि-विष्टात्मक आधिभौतिकप्रजापति है। प्रज्ञा के अभाव से न इनमें संस्कारप्रतिष्ठा होती, न लोकान्तरगमन होता। ससंज्ञजीव ही प्रज्ञाद्वारा संस्कारग्रहण की योग्यता रखता है। यही 'अध्यात्मम्' है। यही संस्कारद्वारा 'देही कर्म्मगतिं गतः' का पात्र बनता है *। इसप्रकार आध्यात्मिक भूतात्मा के वै० तै० प्रा० पर्वों के

---

* व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
यथा तृणजलौकेयं देही कर्म्मगतिं गतः॥
—भागवते

तारतम्य से अध्यात्मसंस्था के ही अध्यात्म, अधिभूत, ये दो विवर्त्त हो जाते हैं, जिन दोनों की मूलप्रतिष्ठा निरूपित अधिदैवतप्रजापति (ईश्वर) माना गया है—

१ [अण्डजजीवाः—{ पक्षिणः
जरायुजजीवाः—{ पशवो-मनुष्याश्च
ऊष्मजजीवाः—{ कृमि-मत्कुण-यूकादयः]—{ वैश्वानरतैजसप्राज्ञकृतात्मानः ससंज्ञाः-त्र्यात्मकाः चेतनाः

२ [उद्भिज्जजीवाः—{ ओषधिवनस्पतयः]—वैश्वानरतैजसकृतात्मानोऽन्तःसंज्ञाः-द्व्यात्मकाः अर्द्धचेतनाः

३ [खनिजजीवाः—{ सुवर्णादि धातवः]—वैश्वानरकृतात्मानोऽसंज्ञाः-एकात्मकाः-अचेतनाः

———**———

१-वैश्वानरतैजसगर्भिताः प्राज्ञजीवाः——ज्ञानप्रधानाः-ससंज्ञाः]—अध्यात्मम्

२-वैश्वानरप्राज्ञगर्भिताः—तैजसजीवाः——क्रियाप्रधानाः-अन्तःसंज्ञाः }
३-प्राज्ञतैजसगर्भिताः——वैश्वानरजीवाः-अर्थप्रधानाः-असंज्ञाः } —अधिभूतम

———**———

अनेक दृष्टि से आत्मस्वरूप की मीमांसा की गई। अब एक प्रासङ्गिक दृष्टि की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। पाठकों को यह स्मरण होगा कि पूर्व में हमनें आध्यात्मिक आत्मपर्वों के १६, ७, ये दो संस्थाविभाग बतलाए हैं—[देखिए पृष्ठ १४४]। आत्मसप्तक-संस्थाक्रम में महिमा[1] [अव्यक्त], महान्[2], विज्ञान[3] [बुद्धि], प्रज्ञान[4], वैश्वानर[5] [त्रिपर्वाभूतात्मा] वायु[6] [हंसात्मा], शरीर[7], ये सात पर्व मानें गए हैं। अब प्रकृत प्रासङ्गिक दृष्टि से इन सात को तीन हीं आत्मविवर्त्तों में अन्तभूत किया जाता है। भूपिण्डानुगत शरीर, भूवाय्वनुगत हंसात्मलक्षण वायु, वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, ये पाँच पर्व पार्थिव विवर्त्त हैं। पाँचों में शरीर बाह्यात्मा है, वायु अन्तरात्मा है, वै॰ तै॰ प्रा॰ की समष्टि कर्म्मात्मा है, तीनों की समष्टि भूतात्मा है। इस दृष्टि से शरीर-वायु-वैश्वानर, तीनों मिलकर एक वस्तुतत्त्व बन जाते हैं। बतलाया गया है कि, कर्म्मात्मा का प्राज्ञपर्व भोक्ता है, एवं इसे भोगसाधनभूत इन्द्रिययुक्त प्रज्ञानमन का आश्रय लेना पड़ता है। इसी आधार पर कर्म्मात्मा, प्रज्ञानमन, इन्द्रियवर्ग, तीनों की समष्टि को 'भोक्तात्मा' कहा गया है, जो तत्त्वतः भूतात्मा ही है। इसप्रकार चौथे प्रज्ञानलक्षण पर्व का भी भूतात्मस्वरूप में ही अन्तर्भाव हो जाता है। फलतः प्रज्ञान, वैश्वानर, वायु, शरीर, आत्मपर्वसप्तक में से इन चार पर्वों की समष्टि का एक 'भूतात्मा' नाम से ग्रहण किया जा सकता है। यही प्रथम भूतज्योति है। इस 'भूतज्योति' का आधार विज्ञानात्मा है, जिसे हम दूसरी 'प्राणज्योति' कह सकते हैं। इस विज्ञानात्मलक्षण प्राणज्योति का आधार महानात्मा है, जिसे हम तीसरी 'प्रज्ञाज्योति' कह सकते हैं। महल्लक्षण महान् प्रज्ञाज्योति है, यही ज्ञानज्योति है। विज्ञानलक्षण बुद्धि प्राणज्योति है, यही क्रियाज्योति है। भूतात्मलक्षण भोक्तात्मा भूतज्योति है, यही अर्थज्योति है। अर्थज्योतिर्लक्षण भूतात्मा नामभाव की प्रतिष्ठा है, यही प्रथम वाक्तन्त्र है। क्रियाज्योतिर्लक्षण विज्ञानात्मा कर्म्मभाव

की प्रतिष्ठा है, यही द्वितीय प्राणतन्त्र है। ज्ञानज्योतिर्लक्षण महानात्मा रूपभाव की प्रतिष्ठा है, यही तृतीय मनस्तन्त्र है। मनोमय महानात्मा, प्राणमय विज्ञानात्मा, वाङ्मय भूतात्मा, तीनों की समष्टि ही मनःप्राण वाङ्मय सृष्टिसाक्षी पुरुषात्मा के महिमारूप हैं, जिस महिमा को हमनें सातवाँ अव्यक्तात्मा कहा है। उन्मुग्ध दशा में वही अव्यक्त है, उद्‌बुद्धदशा में वही महिमा है। इसप्रकार आठवाँ षोडशीप्रजापति अपने सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाग्रूप के द्वारा क्रमशः महान्-विज्ञान-भूतात्मा-रूप से तीन ज्योतिस्त्रन्त्रों में परिणत हो रहा है। वही मनोऽवच्छेदेन महान् है, वही प्राणावच्छेदेन विज्ञान है, वही वागवच्छेदेन भूतात्मा है। वह स्वयं षोडशी-प्रजापति है, ये तीनों उस षोडशी के गर्भ में भुक्त प्रतिमाप्रजापति हैं। षोडशीप्रजापति इन्हीं तीनों प्रतिमा-प्रजापतिरूपों से रूप-कर्म्म-नाम-भावों का प्रवर्त्तक बनता हुआ सर्वत्र विराजते, जैसाकि— **त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी**' इत्यादि मन्त्रानुगम से प्रमाणित है। यही प्रतिज्ञात-अध्यात्मस्वरूप की संक्षिप्त मीमांसा है, जिसके यथानुरूप समन्वय के बिना गीतोक्त-बुद्धियोग की परीक्षा असम्भव बनी रहती है। १६, ७, ३, किसी भी दृष्टि से आत्मस्वरूपमीमासा कीजिए, तत्त्वतः सभी विवर्त्त परस्पर समन्वित मिलेंगे, जिसका एकमात्र कारण है-एक ही आत्मतत्त्व का नानाविस्तारभाव-**'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'**।

सर्वसंग्रहः–

* मायातीतो विश्वातीतो निष्कलः

(१४६)–१९–, ७–, ५–, ३–, विभक्त दृष्टिकोणों का समन्वय–

१९	७	५	३
१–मायी परात्परपुरुषः (१६)	गूढोत्मा षोडशी	गूढोत्मा षोडशी	गूढोत्मा-षोडशी
२–जीवाव्ययो गूढोत्मा (१८)			
३–जीवाक्षरोऽव्यक्तात्मा (१७)			
१–अन्तर्य्यामी स्वायम्भुवः (१६)	महिमा(७)	अव्यक्तात्मा स्वायम्भुवः (५)	महानात्मा-ज्ञानज्योतिर्म्मयः (३)
२–सूत्रात्मा स्वायम्भुवः (१५)			
३–वेदात्मा स्वायम्भुवः (१४)			
४–चिदात्मा स्वायम्भुवः (१३)			
१–अहङ्कृत्यात्मा पारमेष्ठ्यः (१२)	महान् (६)	महानात्मा पारमेष्ठ्यः (४)	
२–प्रकृत्यात्मा पारमेष्ठ्यः (११)			
३–आकृत्यात्मा पारमेष्ठ्यः (१०)			
४–यज्ञात्मा पारमेष्ठ्यः (९)			
१–विज्ञानात्मा सौरः (८)	बुद्धिः (५)	विज्ञानात्मा सौरः (३)	विज्ञानात्मा-क्रियाज्योतिर्म्मयः (२)
२–दैवात्मा सौरः (७)			
१–प्रज्ञानात्मा चान्द्रः (६)	मनः (४)	प्रज्ञानात्मा चान्द्रः (२)	भूतात्मा-अर्थज्योतिर्म्मयः (१)
१–प्राज्ञात्मा ऐन्द्रः (५)	वैश्वानरः (३)	भूतात्मा पार्थिवः (१)	
२–तैजसात्मा वायव्यः (४)			
३–वैश्वानरात्मा आग्नेयः (३)			
१–हंसात्मा वायव्यः (२)	वायुः (२)		
२–भूतात्मा भौमः (१)	शरीरम् (१)		

प्रकारान्तरेण—

पुरुषात्मा षोडशी———————स वा एष मनःप्राणवाङ्मयो गूढोत्मा षोडशी–सृष्टिसाक्षी

- अव्यक्तात्मा–महिमा]–महिमा (७)
- महानात्मा—महान्]–महान् (६)
  - –महान् (३) प्रज्ञाज्योतिः–ज्ञानज्योतिः (मनः)–रूपम्
- विज्ञानात्मा–बुद्धिः]–बुद्धिः (५)]–विज्ञानम् (२) प्राणज्योतिः–क्रियाज्योतिः (प्राणः)–कर्म्म
- प्रज्ञानात्मा—मनः]–मनः (४)
- प्राज्ञात्मा–इन्द्रः
- तैजसात्मा–वायुः
- वैश्वानरात्मा–अग्निः
  - –वैश्वानरः (३)
- हंसात्मा–वायुः]–वायुः (२)
- भूतात्मा–शरीरम्]–शरीरम् (१)
  - –भूतात्मा (१) भूतज्योतिः–अर्थज्योतिः (वाक्)–नाम

सप्तदं-रूपमात्मनः सृष्टिसाक्षिणः

———*———

इस सृष्टरूपत्रयी के आधार पर भगवान् मनु ने आध्यात्मिक यच्चयावत् आत्मविवर्त्तों का जीवसंज्ञक महानात्मा, विज्ञानात्मलक्षण क्षेत्रज्ञात्मा, भूतात्मा, इन तीन आत्मतन्त्रों में हीं अन्तर्भाव मान लिया है, जैसाकि निर्दिष्ट वचनों से स्पष्ट है।

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ॥———विज्ञानात्मा (२)
यः करोति तु कर्म्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१॥–भूतात्मा

जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ॥
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥२॥ } महानात्मा (१)

१४७-अधिभूतस्वरूप का सिंहावलोकन—

योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिज्ञात सात मीमांसाओं में से केवल अधिभूत-स्वरूपमीमांसा शेष रही है, जिसके सम्बन्ध में स्वतन्त्ररूप से इसलिए कुछ भी वक्तव्य शेष नहीं है कि, पूर्व की अधिदैवत-अध्यात्मस्वरूप-मीमांसाद्वयी से अधिभूतस्वरूपमीमांसा सर्वात्मना गतार्थ बन रही है। यहाँ केवल स्वतन्त्र प्रकरणानुरोध से इसके सम्बन्ध में सिंहावलोकन कर लिया जाता है।

१४८-त्रिवृद्भावापन्न षोडशीपुरुष—

'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' इस श्रौत सिद्धान्तानुसार एक ही षोडशीप्रजापति अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत, इन तीन विवर्त्तों में परिणत हो रहा है, यह अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। षोडशीप्रजापति मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ सृष्टिसाक्षी है, जैसा कि अध्यात्मस्वरूपमीमांसा का उपसंहार करते हुए स्पष्ट किया जा चुका है। मनोमय षोडशी प्रज्ञा-(ज्ञान)-प्रधान है, यह ज्ञानरूप अव्यय की विकासभूमि है, यही प्रथम ज्ञानतन्त्र है। प्राणमय षोडशी प्राण-(क्रिया)-प्रधान है, यह क्रियारूप अक्षर की विकासभूमि है, यही द्वितीय क्रियातन्त्र है। वाङ्मय षोडशी भूत-(अर्थ)-प्रधान है, यह अर्थरूप क्षर की विकासभूमि है, यही तृतीय अर्थतन्त्र है। तीनों तन्त्र त्रिवृद्भाव के सम्बन्ध से त्र्यात्मक बनते हुए क्रमशः अव्यय-अक्षर-क्षर-प्रधान हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है *।

---

* **'तासां त्रिवृतम्-एकैकां करवाणि'** (छान्दोग्य० उप०) इत्यादि त्रिवृत्करणसिद्धान्तानुसार **'तेज-अप्-अन्न'** इन तीन पार्थिव-भूतों के त्रिवृत्करण की भाँति अव्ययात्मक **मन**, अक्षरात्मक **प्राण**, तथा क्षरात्मिका **वाक्**-इन तीन सृष्टिसाक्षी आत्मभावों का भी त्रिवृत्करण हो जाता है। इसी त्रिवृत्करण से तीनों (प्रत्येक) त्रिवृद्भावापन्न बने हुए हैं। यही तीनों के त्र्यात्मकत्त्व का मौलिक रहस्य है, जिसके दृष्टिकोणभेद-भिन्न अनेक त्रिवृद्भावों का **'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य'** प्रथमखण्ड में विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

१	(१)*मनः (प्रज्ञा) (ज्ञानम्)-अव्ययः (२) प्राणः (प्राणः) (क्रिया)-अक्षरः (३) वाक् (भूतम्) (अर्थः)-क्षरः	वाक्प्राणगर्भितं मनः भूतप्राणगर्भिता प्रज्ञा अर्थक्रियागर्भितं ज्ञानम् क्षराक्षरगर्भितोऽव्ययः	-अव्ययप्रधानं ज्ञानतन्त्रम्
२	(१)*प्राणः (प्राणः) (क्रिया)-अक्षरः (२) मनः (प्रज्ञा) (ज्ञानम्)-अव्ययः (३) वाक् (भूतम्) (अर्थः)-क्षरः	मनोवाग्गर्भितः प्राणः प्रज्ञाभूतगर्भितः प्राणः ज्ञानार्थगर्भिता क्रिया अव्ययक्षरगर्भितोऽक्षरः	-अक्षरप्रधानं क्रियातन्त्रम
३	(१)*वाक् (भूतम्) (अर्थः)-क्षरः (२) प्राणः (प्राणः) (क्रिया)-अक्षरः (३) मनः (प्रज्ञा) (ज्ञानम्)-अव्ययः	प्राणमनोगर्भिता वाक् प्राणप्रज्ञागर्भितं भूतम् ज्ञानक्रियागर्भितोऽर्थः अक्षराव्ययगर्भितः क्षरः	-क्षरप्रधानं अर्थतन्त्रम्

१४६-शिरो-हृदय-पाद-मूला-सृष्टिविवर्त्तत्रयी—

अव्ययप्रधान ज्ञानतन्त्र ही अधिदैवतम् है, अक्षरप्रधान क्रियातन्त्र ही अध्यात्मम् है, एवं क्षरप्रधान अर्थतन्त्र ही अधिभूतम् है। इसप्रकार एक ही षोडशी तीन भावों में परिणत हो रहा है। अव्ययपुरुष पुरुष है, क्षरगर्भित अक्षर इस पुरुष की प्रकृति है। इस प्रकृति के द्वारा ही पञ्च अधियज्ञात्माओं का विकास हुआ है।

पाँच अधियज्ञात्माओं का अन्ततोगत्वा **महानात्मा, विज्ञानात्मा, भूतात्मा,** इन तीन आत्मतन्त्रों में अन्तर्भाव हो जाता है, जैसा कि–**'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'** इत्यादि रूप से पूर्वपरिच्छेदोपसंहार में स्पष्ट किया जा चुका है। अव्यक्त, महान् की समष्टि महानात्मा है। विज्ञानात्मा एकाकी है। प्रज्ञान, वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ–लक्षण कर्म्मात्मा, वायव्य हंसात्मा, भौतिक शरीर, इनकी समष्टि भूतात्मा है। भूतात्मा अर्थज्योति है, विज्ञानात्मा क्रियाज्योति है, महानात्मा ज्ञानज्योति है। त्रिवृद्भाव के कारण यद्यपि अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–तीनों हीं विवर्त्तों में स्वरूपभेद से तीनों ही ज्योतियों का समन्वय है, तथापि तीनों में क्रमशः प्रधानता ज्ञान–क्रिया–अर्थ–तन्त्रों की ही मानी गई है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, दोनों की समष्टि आधिदैविक महानात्मा है, सूर्य्य विज्ञानात्मा है, सचन्द्रा पृथिवी भूतात्मा है। तीनों में से ज्ञानतन्त्रानुगत स्वयम्भू–परमेष्ठी–लक्षण महानात्मा ही ईश्वरतन्त्र है, यही अधिदैवतम् है। स्वायम्भुव अव्यक्त, पारमेष्ठ्य महान्, दोनों की समष्टि आध्यात्मिक महानात्मा है, सौर बुद्धितत्त्व आध्यात्मिक विज्ञानात्मा है। चान्द्र प्रज्ञानात्मा, पार्थिव महिमांशभूत त्रिपर्वा कर्म्मात्मा, भौम शरीर, तीनों की समष्टि आध्यात्मिक भूतात्मा है। तीनों में से क्रियातन्त्रानुगत सौर विज्ञानात्मा ही जीवतन्त्र है, यही अध्यात्मम् है। स्वायम्भुव गुहाभाव, पारमेष्ठ्य–आपोभाव, दोनों की समष्टि आधिभौतिक महान् है। सौर ज्योतिर्भाव आधिभौतिक विज्ञान है। चान्द्र अमृतभाव, पार्थिव रसभाव, दोनों की समष्टि आधिभौतिक भूत है। तीनों में से अर्थतन्त्रानुगत पार्थिव भूत ही जगत्तन्त्र है, यही अधिभूतम् है। इस विवेचन से हमें इस निष्कर्ष पर भी पहुँचना पड़ा कि, ईश्वरतन्त्र शिरोमूल है, जीवतन्त्र हृन्मूल है, जगत्तन्त्र पादमूल है। ईश्वरतन्त्र का उपक्रमस्थान स्वायम्भुव ब्रह्मा है, जीवतन्त्र का उपक्रमस्थान सौर इन्द्र है, जगत्तन्त्र का उपक्रमस्थान पार्थिव विष्णु है। स्वयम्भू मस्तक है, सूर्य्य हृदय है, पृथिवी पादस्थान है। सृष्टि का उपक्रमस्थान शिरःस्थानीय स्वयम्भू है, स्थिति का उपक्रमस्थान हृदयस्थानीय सूर्य्य है, लय का उपक्रमस्थान पादस्थानीया पृथिवी है। इसी आधार पर वैदिक सृष्टिविज्ञान शिरः–हृदय–पाद–भेद से तीन प्रकार से प्रतिपादित हुआ है, जो प्रकार क्रमशः स्वयम्भूमूला सृष्टिविद्या, हिरण्यगर्भमूला (सूर्य्यमूला) सृष्टिविद्या, पृथिवीमूला सृष्टिविद्या, एवं शिरोमूला सृष्टिविद्या, हृन्मूला सृष्टिविद्या, पादमूला सृष्टिविद्या, तथा सृष्टिमूला सृष्टिविद्या, स्थितिमूला सृष्टिविद्या, लयमूला सृष्टिविद्या, इन नामों से व्यवहृत हुआ है।

१५०–ईश्वर-जीव, एवं शिपिविष्टात्मक देव-आत्म-भूत-विवर्त्त—

स्वयम्भूब्रह्मात्मक सृष्टिप्रपञ्च अव्ययप्रधान आधिदैविक महानात्मलक्षण ईश्वरतन्त्र है, इसी के लिए **'ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्'** कहा जाता है। ब्रह्मानुगत–अव्ययात्मक यही तन्त्रायी **'ईश्वरप्रजापति'** कहलाया है। सौरइन्द्रात्मक सृष्टिप्रपञ्च अक्षरप्रधान आध्यात्मिक विज्ञानात्मलक्षण जीवतन्त्र है, इसी के लिए **'इन्द्रो म आत्मा'** कहा जाता है। इन्द्रानुगत–अक्षरात्मक–यही तन्त्रायी **'जीवप्रजापति'** कहलाया है। पार्थिव विष्णुमय सृष्टिप्रपञ्च क्षरप्रधान आधिभौतिक भूतात्मलक्षण जगत् तन्त्र है, इसी के सम्बन्ध में **'इमे वै लोका विष्णोर्विक्रमणम्'** (शत० ५।४।२।६।) यह कहा जाता है।

तात्पर्य्य–अधिदैवत की मूलप्रतिष्ठा पुरुषत्रयी में से अव्ययपुरुष है, प्रकृतित्रयी में से 'ब्रह्मा' है। अध्यात्म की मूलप्रतिष्ठा पुरुषत्रयी में से अक्षरपुरुष है, प्रकृतित्रयी में से इन्द्र है। एवं अधिभूत की मूलप्रतिष्ठा पुरुषत्रयी में से क्षरपुरुष है, प्रकृतित्रयी में से विष्णु है। अव्ययानुगत ब्रह्मा, अक्षरानुगत इन्द्र, क्षरानुगत विष्णु, किंवा ब्रह्मानुगत अव्यय, इन्द्रानुगत अक्षर, विष्णवनुगत क्षर ही क्रमशः ईश्वर–जीव–

शिपिविष्टप्रजापति हैं। ईश्वर-जीव नाम सुपरिचित हैं। तीसरे अपरिचित शिपिविष्ट का प्रकृत में यही परिचय पर्य्याप्त होगा कि, पुष्टिप्रवर्त्तक पार्थिव धामच्छद प्राण ही 'पूषा' कहलाया है, यही 'पशुप्राण' नाम से व्यवहृत हुआ है। पार्थिव भूत पूषा-प्राणयुक्त बनता हुआ पशु है। अनात्म्य-मूर्च्छित-अभिभूतचेतनायुक्त-अनिन्द्रिय-मर्त्य-पार्थिव भूत ही पूषाप्राणात्मक पशु है। इसी को 'शिपि' कहा जाता है। इस भूतात्मक शिपि में व्याप्त रहने वाला यज्ञात्मक विष्णु ही 'शिपिविष्ट' कहलाया है, जैसाकि निम्न लिखित निगमवचनों से प्रमाणित है—

१-"यज्ञो वै विष्णुः, पशवः शिपिः। यज्ञ एव पशुषु प्रतितिष्ठति"

—तै० ब्रा० १।३।८।५।

२-"शिपिविष्टो वै देवानां पुष्टम्" —तै० ब्रा० १।४।५।४।

३-"यः पशोर्भूमा, या पुष्टिः, तद्विष्णुः शिपिविष्टः"

—तै० ब्रा० २।५।५।२।

४-"एषा वै प्रजापतेः पशुष्ठा तनूः,-यच्छिपिविष्टः"

— तां० म० ब्रा० १८।७।२६।

ईश्वर-जीव-शिपिविष्ट नामक प्रजापति षोडशीप्रजापति है। तीनों तीन तीन ज्योतियों से युक्त हैं। तीनों संस्थाओं में पाँच पाँच अधियज्ञात्मा हैं, जिन्हें वैकारिकात्मा भी कहा गया है। इसप्रकार तीनों संस्थाओं में ६-६ आत्मतन्त्र हो जाते हैं। जीवतन्त्र, और शिपिविष्टतन्त्र, इन दोनों में ईश्वरतन्त्र का समावेश और रहता है। फलतः इन दोनों में ७-७ आत्मतन्त्र हो जाते हैं, जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट हो रहा है—

१-अधिदैवतम्

(१)-मनः--प्रज्ञा--ज्ञानम्-अव्ययः
(२)-प्राणः-प्राणः--क्रिया--अक्षरः
(३)-वाक्--भूतम्--अर्थः--क्षरः
} —क्षराक्षरगर्भितो ब्रह्मानुगतोऽव्ययः षोडशी-
(१)
गूढोत्मा (ईश्वरः)

❀ ❀ ❀

(१)-गूढोत्मा षोडशी-ईश्वरप्रजापतिः—

अधियज्ञात्मानः—५

(२) १-स्वयम्भूः
(३) २-परमेष्ठी
—आधिदैविको महानात्मा (ज्ञानज्योतिः) (३)

(४) ३-सूर्य्यः —,, विज्ञानात्मा (क्रियाज्योतिः) (२)

(५) ४-चन्द्रमाः
(६) ५-पृथिवी
—,, भूतात्मा (अर्थज्योतिः) (१)

—'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'

२–अध्यात्मम्—

(१)–प्राणः––प्राणः––क्रिया––अक्षरः
(२)–मनः–––प्रज्ञा–––ज्ञानम्––अव्ययः
(३)–वाक्–––भूतम्–––अर्थः––क्षरः

—क्षराव्ययगर्भितः–इन्द्रानुगतोऽक्षरः षोडशी– (२) गूढोत्मा (जीवः)

❀ ❀ ❀

*–गूढोत्मा–ईश्वरप्रजापतिः—

(१)–गूढोत्मा–षोडशी (जीवप्रजापतिः)

अधियज्ञात्मानः–५

(२) १–शान्तात्मा
(३) २–महानात्मा
––आध्यात्मिको महानात्मा (प्रज्ञाज्योतिः) (३)

(४) ३–विज्ञानात्मा]–– ,, विज्ञानात्मा (प्राणज्योतिः) (२)

(५) ४–प्रज्ञानात्मा
(६) ५–भूतात्मा
–– ,, भूतात्मा (भूतज्योतिः) (१)

—'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'

——❀❀——

३–अधिभूतम्—

(१)–वाक्–भूतम्–अर्थः–क्षरः
(२)–प्राणः–प्राणः–क्रिया–अक्षरः
(३)–मनः–प्रज्ञा–ज्ञानम्–अव्ययः

–अव्ययाक्षरगर्भितो विष्णवनुगतः क्षरः षोडशी–गूढोत्मा (जगत्)

* * *

*–गूढोत्मा–ईश्वरप्रजापतिः

(१)–गूढोत्मा षोडशी शिपिविष्टप्रजापतिः

अधियज्ञात्मानः—५

(२)–१–गुहा (स्वायंभुवी)	–आधिभौतिकं महत् (रूपज्योतिः) (३)		
(३)–२–आपः (पारमेष्ठ्या)			
(४)–३–ज्योविः (सौरम्)]—	” विज्ञानम् (कर्म्मज्योतिः)(२)	–"त्रीणि ज्योतींषि सचते"	
(५)–४–अमृतम् (चान्द्रम्)	— ” भूतम् (नामज्योतिः) (१)		
(६)–५–रसः (पार्थिवः)			

(नात्रात्मव्यवहारः)

——*——

सर्वाधारमूर्तं—निराधारं—निष्कलं—निरञ्जनं—ब्रह्म

१ अधिदैवतम्	२ अध्यात्मम्	३ अधिभूतम्		
गूढोत्मा–ईश्वरः (६) —	गूढोत्मा–ईश्वरः (७)—	गूढोत्मा–ईश्वरः (७)	—षोडशीप्रजापतिः	
+ + +	गूढोत्मा–जीवः (६)—	गूढोत्मा-शिपिविष्टः (६)		
स्वयम्भूः (५)—	शान्तात्मा (५)—	गुहा (५)	-महानात्मा (३)	
परमेष्ठी (४)—	महानात्मा (४)—	आपः (४)		
सूर्य्यः (३) —	विज्ञानात्मा (३)—	ज्योतिः (३)]	-विज्ञानात्मा (२)	-त्रीणि ज्योतींषि सचते स-षोडशी'
चन्द्रमाः (२)—	प्रज्ञानात्मा (२)—	अमृतम् (२)	-भूतात्मा (१)	
पृथिवी (१)—	भूतात्मा (१)—	रसः (१))		
ब्रह्मतन्त्रम्	इन्द्रतन्त्रम्	विष्णुतन्त्रम्		
स्वयम्भूः-उपक्रमबिन्दुः	सूर्य्यः–उपक्रमबिन्दुः	पृथिवी-उपबिन्दु		
महत्–प्रतिष्ठा	विज्ञानं–प्रतिष्ठा	भूतं–प्रतिष्ठा		
ईश्वरोऽव्ययः	जीवोऽक्षरः	जगत् क्षरम्		
६	७	७		

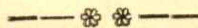
१५१–योगेश्वरस्वरूपोपसंहार—

योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप-परिचय की स्तम्भारम्भ में उत्थानिका हुई थी। तदनुसार उसी की प्रेरणा से उसके तीनों विवर्त्तों का अवान्तर परिच्छेदों के द्वारा स्पष्टीकरण किया गया। यद्यपि 'आत्मपरीक्षा' नामक स्वतन्त्र खण्ड में आत्मतत्त्व की दार्शनिक, तथा वैज्ञानिक, उभय-दृष्टियों से परीक्षा कर दी गई थी, तथापि प्रस्तुत 'बुद्धियोग-परीक्षा' खण्ड में भी आत्मस्वरूपमीमांसा करना इसलिए आवश्यक समझा गया कि, आत्मपरीक्षा-खण्ड में केवल व्यष्टिरूप से ही आत्मस्वरूपमीमांसा हुई है। एक ही आत्मतत्त्व के विविध विवर्त्तों की दृष्टिकोणभेद से मीमांसा करने के लिए यदि ११३१ उपनिषद्ग्रन्थों का समादर किया जाता है, तो कोई कारण नहीं, दृष्टिकोण-भेद से होने वाली प्रस्तुत आत्मपरीक्षा परीक्षकों की दृष्टि में अनुपयुक्त न मानी जाय। बुद्धियोग ही योगेश्वर की वास्तविक योगविभूति है। अतएव योगविभूति-स्वरूपप्रदर्शन से पहिले योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा आवश्यक समझी गई। फलस्वरूप योगेश्वर की अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति-भाव के प्रतिष्ठारूप निष्कल-षोडशी-प्रतिमा, अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत, इन ६ विवर्त्तों का स्पष्टीकरण किया गया। इन ६ ओं विवर्त्तों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले सातवें अभिव्यक्तिलक्षण व्यक्तित्त्व का ही नाम आत्मस्वरूपप्रपत्ति है, जिसे भगवान् नें 'ब्राह्मीस्थिति' नाम से व्यवहृत किया है। ब्रह्मलक्षण आत्मतत्त्व जिन विवर्त्त-भावों में परिणत होकर अभिव्यक्त हो रहा है, व्यक्तिलक्षण वही ब्रह्मस्थिति ब्राह्मीस्थिति है, यही योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप है। इस तात्त्विक-स्थिति के सम्यक्परिज्ञान से ज्ञाता के आत्मविषयक यच्चयावत् सन्देह निवृत्त होजाते हैं, जैसा कि भगवान् ने कहा है—

> एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।
> स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥
> गीता० २।७२।

इति 'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमप्रकरणे
'योगेश्वरस्य तात्त्विकस्वरूपनिरूपणम्' नामकः
द्वितीयस्तम्भः

(१)—२



श्रीः

'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथमप्रकरणान्तर्गत

'योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूपनिरूपण' नामक

द्वितीयस्तम्भ–उपरत

(१)–१



श्रीः

अथ-बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमे प्रकरणे
'योगेश्वरानुगत-योगस्वरूपनिरूपणम्' नामकः
तृतीयस्तम्भः

(१)-३



श्री:

योगेश्वरानुगत-योगस्वरूपनिरूपणम्

तृतीयस्तम्भः

——❀——

१-मीमांस्य योगस्वरूप—

'बुद्धियोग-परीक्षा' के आधारभूत योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप 'ब्राह्मीस्थिति' के तात्त्विक विश्लेषण पर निर्भर था। अतएव प्रस्तुत प्रकरण में ब्राह्मीस्थिति का स्वरूपदिग्दर्शन अनिवार्य्य माना गया। ब्राह्मीस्थिति के आधार पर जब हमें योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप का आभास हो जाता है, तो अनन्तर योगेश्वर से सम्बन्ध रखने वाले 'योग' के तात्त्विक स्वरूप की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। प्रकृत स्तम्भ में योगेश्वर के उन्हीं तात्त्विक योगों के स्वरूप-दिग्दर्शन का प्रयास किया जायगा, जिनका प्रकारान्तर से भक्तियोगपरीक्षा में प्राकृतिक योगत्रयी, तथा कृत्रिम-योगत्रयीरूप से मीमांसा हुई है। प्रकृत में योगचतुष्टयीरूप से ही योगस्वरूप की मीमांसा की जायगी।

२-योगानुगता प्रश्नावली—

भक्तियोगपरीक्षा-उत्तरखण्ड में आरम्भ में हीं (पृ० सं० ३० से पृ० सं० १०६ पर्य्यन्त) जिस योग-त्रयी की मीमांसा हुई है, पाठकों से अनुरोध किया जायगा कि, वे प्रकृत योग-स्वरूप अवलोकन से पहिले एक बार उस पर भी दृष्टि डाललें ÷। कारण, वहाँ योगसम्बन्ध में जिस दृष्टिकोण का विश्लेषण हुआ है, प्रकृत दृष्टिकोण का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। योग के तात्त्विक स्वरूप के सम्बन्ध में कतिपय प्रश्नों का समाधान सर्वप्रथम अपेक्षित है। 'जिस योगेश्वर के साथ हमें हमारे आत्मा का योग करना है, उस योगेश्वर का क्या स्वरूप है' ?, यह पहिला प्रश्न है। 'योगेश्वरात्मा के साथ योग करने वाला 'हम' पदार्थ क्या है' ?, दूसरे शब्दों में किस आत्मा का योगेश्वर के साथ योग अभीष्ट भी है ?, यह दूसरा प्रश्न है। योगेश्वर के साथ आत्मा को युक्त करने के साधन क्या क्या हैं ?, यह तीसरा प्रश्न है। योगेश्वर के साथ होने वाले योग का क्या स्वरूप है ?, यह चौथा प्रश्न है। चारों प्रश्नों में से आरम्भ के तीन प्रश्नों का, विशेषतः दो प्रश्नों का (१, २) समाधान पूर्व के 'योगेश्वर का तात्त्विकस्वरूप' नामक स्तम्भ से गतार्थ है।

३-योगानुगत विभक्त आत्मवाद, और प्राचीन व्याख्याता—

पूर्व स्तम्भ में यह स्पष्ट किया गया है कि, ब्राह्मीस्थिति से सम्बन्ध रखने वाला एक ही निर्विशेषब्रह्म सत्यस्यसत्यात्मा (विशुद्ध आत्मा), अमृतसत्यात्मा, ब्रह्मसत्यात्मा, देवसत्यात्मा, इन चार विवर्त्तभावों में

÷ खण्डद्वयात्मिका, अनुमानतः सहस्रपृष्ठात्मिका 'भक्तियोगपरीक्षा' (सर्वान्तरतम-परीक्षात्मक क-ख-नामक गीताभूमिकानुगत ६-७ खण्डरूपा) अभी अप्रकाशित है।

परिणत हो रहा है । विशुद्धरसमूर्ति, ऐकान्तिकसुख नामक निर्विशेषब्रह्म, एवं सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति, शाश्वतधर्म्मनामक परात्परब्रह्म, दोनों की समष्टि सत्यस्यसत्यात्मा है, यही प्रजापतिमर्य्यादा से एकान्ततः असंस्पृष्ट, अतएव विशुद्ध ब्रह्म है, जो योगेश्वर, योग, योगसाधन, आदि योगमर्य्यादाओं से सर्वथा अतीत, अतएव अविज्ञेय, अनुपास्य, अनिर्वचनीय है, अतएव जो उपनिषदों में 'नेति-नेति' शब्दों से निर्धीत हुआ है।* । निर्विशेष, और परात्पर, तत्त्वतः दोनों अभिन्न हैं । अतएव दोनों का एक 'परात्पर' नाम से भी संग्रह किया जा सकता है । निर्विशेष-परात्परोभयमूर्त्ति यही 'अखण्डब्रह्म' है, जो विश्वातीत नाम से भी व्यवहृत हुआ है । जगन्मिथ्यात्त्ववादी व्याख्याताओंनें इसी अखण्डब्रह्म को ज्ञानयोग का लक्ष्य बनाया है, जबकि तत्त्वतः इसका किसी भी कृत्रिमयोग से सम्बन्ध नहीं है । शब्दशास्त्र से इस परात्परब्रह्म का कोई सम्बन्ध नही है । उपनिषत्, व्याससूत्र, भगवद्गीता, तीनों की समष्टिरूपा प्रस्थानत्रयी का इस व्यापक विश्वातीत से वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है । प्रस्थानत्रयी, एवं तदनुगत इतर दर्शन मायोपाधिक योगेश्वर के विभिन्न अवयवों को ही अपना लक्ष्य बना रहे हैं । उदाहरण के लिए ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य-तैत्तिरीय-ऐतरेय-छान्दोग्य-बृहदारण्यक-आदि उपनिषदों के मुख्य प्रतिपाद्य आत्मा क्रमशः गूढोत्मा, प्रज्ञानात्मा, भोक्तात्मा, विज्ञानात्मा, देवसत्यात्मा, ब्रह्मसत्यात्मा, हिरण्मयात्मा, हिरण्यगर्भात्मा, विज्ञानात्मा, आदि खण्डात्मा हैं ×। अव्ययप्रतिच्छाया से युक्त अक्षरब्रह्म (अव्यक्तात्मा) व्याससूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । अव्ययात्मा गीताशास्त्र का प्रधान लक्ष्य है । भूतात्मा वैशेषिक तन्त्र का, प्राकृतात्मा सांख्यतन्त्र का लक्ष्य है, जैसाकि-'आत्मपरीक्षा' नामक भूमिकाखण्ड के 'दार्शनिक-आत्मपरीक्षा' नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है । भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य्य के मतानुसार गीतोक्त 'अव्यय' शब्द जहाँ विशेषण है, वहाँ विज्ञानदृष्टि के अनुसार यह अव्यय ही विशेष्य बनता हुआ गीता का मुख्य प्रतिपाद्य आत्मा है । भाष्यकार जहाँ गीता को अखण्डब्रह्म की प्रतिपादिका मान रहे हैं, वहाँ विज्ञानदृष्टि इसे अव्ययब्रह्मप्रतिपादिका मान रही है, जो अव्ययब्रह्म अखण्ड विश्वातीत परात्परब्रह्म से सर्वथा विभिन्न वस्तुतत्त्व है । यद्यपि 'इन्द्रं मित्रं वरुणम्०' ÷ इत्यादि श्रुतियाँ सर्वत्र सब में उस अखण्ड परात्पर की ही व्याप्ति बतला रहीं

---

* सं विदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

× इस विषय का विशद विवेचन उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्ड में देखना चाहिए ।

÷ १-इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति-अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
—ऋक् सं० १।१६४।४६।

२-तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ॥
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥२॥(श्वेता०उप०४।२।) ।

३-यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥(श्वेता०उप०३।९।)।

हैं । तत्त्वतः सर्वत्र वही है, सब कुछ वही है । अव्यक्त-विज्ञान-प्रज्ञान-सब वही है । उसके अतिरिक्त अन्य सत्ता को अवसर ही कैसे मिल सकता है । तथापि इन्द्र और मित्र का भेद मिथ्या है, किंवा अव्यय और परात्पर विभिन्न नहीं है, यह कथमपि नहीं माना जा सकता । कार्य्यब्रह्म का कारणब्रह्म के साथ अवश्य ही अभेद है, परन्तु कार्य्यब्रह्मों का परस्पर में कथमपि अभेद नहीं माना जा सकता । कटक-कुण्डल-रुचक-आदि यच्चयावत् सुवर्णभूषणों का कारणभूत सुवर्ण के साथ अवश्य ही तादात्म्यलक्षण अभेद सम्बन्ध है । परन्तु कटक-कुण्डलादि का परस्पर भेदसम्बन्धात्मक असम्बन्ध ही न्यायसिद्ध माना जायगा । आँख-नाक-कान-मुख-सब कुछ 'अहम्' हैं । परन्तु आँख नाक से, नाक आँख से, कान दोनों से विभिन्न है । अवयवों का अवयवी के साथ जहाँ अभेद है, वहाँ अवयवों का परस्पर आत्यन्तिक विभेद है । 'इन्द्रं मित्रं०' इत्यादि जिस श्रुति को अभेदपरक लगाया जा रहा है, उसी से अवयवभेद का भी समर्थन हो रहा है । तभी तो 'इन्द्रं-मित्रं-वरुणम्'-इत्यादि विभिन्न नामों का व्यवहार चरितार्थ हो रहा है । सब कुछ वही है, यह भी ठीक है । वही सब कुछ है, यह भी ठीक है । परन्तु सब परस्पर में सब नहीं है । तात्पर्य्य-सब कुछ परात्पर है, परात्पर सब कुछ है, परन्तु अव्यय, अक्षर, क्षर, अव्यक्त, महान्, प्रज्ञान, आदि पृथक् पृथक् रूप से सब कुछ न बनते हुए परस्पर विभिन्न हैं । एवं शास्त्रनिरूपणीय आत्मग्राम इस विभिन्न आत्मवाद से ही सम्बद्ध है, जिसका पूर्व में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है । रही बात प्राचीन व्याख्याताओं की, इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की ओर से 'वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्त्तताम्' समाधान ही पर्य्याप्त है ।

४—आत्मस्वरूपसिंहावलोकन—

विश्वातीत अखण्ड सत्यस्यसत्यात्मा नामक परात्परब्रह्म के अनन्तर अमृतसत्यात्मा की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है । मायोपाधिक निष्कल परात्पर, पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल-आत्मक्षर, इन चारों की समष्टिरूप षोडशकल आत्मन्वी (प्रजापति) तत्त्व ही गूढोत्मा है, वही पुरुषात्मा है, यही अमृतसत्यात्मा है । स्वायम्भुव चिदात्मा, पारमेष्ठ्य हिरण्यगर्भात्मा, सौर सर्वज्ञात्मा, चान्द्र महानात्मा, पार्थिव वराह-चित्यात्मा, इन पाँच वैकारिक आत्माओं की समष्टि 'ब्रह्मसत्यात्मा' है । सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्-समष्टिरूप पार्थिवात्मा देवसत्यात्मा है । यही आधिदैविक आत्मग्राम का सिंहावलोकन है । अधिदैवत-वत् ही अध्यात्म में भी आत्मग्राम सन्निविष्ट है । गूढोत्मा गूढोत्मा है, स्वायम्भुव चिदात्मांश शान्तात्मा है, पारमेष्ठ्य हिरण्यगर्भात्मांश महानात्मा है, सौर सर्वज्ञात्मांश विज्ञानात्मा है, चान्द्र महानात्मांश प्रज्ञानात्मा है, वराहचित्यात्मांश शरीर है, पाँचों की समष्टि ब्रह्मसत्यात्मा है । सर्वज्ञांशभूत प्राज्ञ, हिरण्यगर्भांशभूत तैजस, विराडंशभूत वैश्वानर, तीनों की समष्टि देवसत्यात्मा है, यही शारीरक है, यही देही है, यही कर्म्म-भोक्ता जीवात्मा है ।

रसैकमूर्त्तिर्निर्विशेषः——निर्विशेषः	}	—अखण्डः परात्परः (सत्यस्यसत्यात्मा)
बलविशिष्टः परात्परः———परात्परः		

मायामयः परात्परः——————परात्परः
पञ्चकलोऽव्ययः——————अव्ययः
" अक्षरः——————अक्षरः
" आत्मक्षरः——————आत्मक्षरः

}—मायी गूढोत्मा योगेश्वरः (अमृतसत्यात्मा)

स्वायम्भुवश्चिदात्मा——————शान्तात्मा
पारमेष्ठ्यो हिरण्यगर्भात्मा——महानात्मा
सौरः सर्वज्ञात्मा——————विज्ञानात्मा
चान्द्रो महानात्मा——————प्रज्ञानात्मा

}——पञ्चपर्वा ब्रह्मसत्यात्मा

एकविंशः सर्वज्ञात्मा——प्राज्ञः
पञ्चदशो हिरण्यगर्भात्मा–तैजसः
त्रिवृतो विराडात्मा——वैश्वानरः

}——त्रिपर्वा भोक्तात्मा देवसत्यात्मा

पार्थिवश्चित्यात्मा——————शरीरम्

अधिदैवतम् —— अध्यात्मम्

५–योगातीत, योगेश्वर, योगकर्त्ता, योगसाधन, और तदाधारभूत आत्मविवर्त्त–

उक्त आत्मपर्वों में से निर्विशेष, परात्पररूप अखण्ड परात्पर को छोड़ दीजिए । क्योंकि पूर्व कथनानुसार इसके साथ योगस्वरूप का कोई सम्बन्ध नहीं है । परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर–समष्टिरूप गूढोत्मा योगेश्वर है, योग का लक्ष्य है, योगद्वारा प्राप्तव्य है । वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञमूर्ति शारीरकात्मा योगमार्गारूढ जीव है, योगानुष्ठानकर्त्ता है । शेष रह जाते हैं–शान्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा (शरीर), ये पाँच वैकारिक आत्मा । ये पाँचों विभिन्न योगमार्गों के साधक हैं, योगसाधन हैं । इसप्रकार आध्यात्मिक आत्मग्राम में हीं योगातीत, योगेश्वर, योगद्वारा प्राप्तव्य, योगकर्त्ता, योगसाधन, इन सब प्रश्नों का समाधान सन्निविष्ट है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है––

निर्विशेषः (२) परात्परः (१)	—अखण्डः परात्पर –योगातीतः (सत्यस्यसत्यात्मा)
परात्परः (१) अव्ययः (५) अक्षरः (५) आत्मक्षरः (५)	—षोडशीगूढोत्मा—योगेश्वरो लक्ष्यः (अमृतसत्यात्मा)
प्राज्ञः (३) तैजसः (२) वैश्वानरः (१)	—त्रिपर्वा जीवः—योगानुष्ठाता (देवसत्यात्मा)
शान्तात्मा (५)—अव्यक्तम् महानात्मा (४)—महत् विज्ञानात्मा (३)—बुद्धिः प्रज्ञानात्मा (२)—मनः भूतात्मा (१)—शरीरम्	—पञ्चपर्वा ब्रह्मसत्यात्मा–योगसाधनानि (ब्रह्मसत्यात्मा)

६–अधिदैवत, तथा अध्यात्म–अनुगत आत्मग्रामस्वरूपव्यवस्थिति–

योगातीत अखण्डब्रह्म का रहना न रहना समान है। अतएव आत्मग्रामगणना में वह अनपेक्षित है। ऐसी अवस्था में गूढोत्मा, जीवात्मा, पञ्चपर्वा ब्रह्मसत्यात्मा, ये तीन आत्मविवर्त शेष रह जाते हैं, जिनके सम्बन्ध में योगतत्त्व का समन्वय किया जा सकता है। भक्तियोगपरीक्षा–उत्तरखण्ड में आत्मपर्वगणना करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, अधिदैवत (ईश्वरी) संस्था में जहाँ ७ आत्म पर्व है, वहाँ अध्यात्मसंस्था में आठ आत्मपर्व हैं। अधिदैवतसंस्था के सर्वव्यापक (विश्वव्यापक) गूढोत्मा का नाम ईश्वर (परमात्मा) है, उसका भी अध्यात्मसंस्था में भोग रहता है। इसके अतिरिक्त अध्यात्मसंस्था में प्रातिस्विक गूढोत्मा की सत्ता और है। वही 'प्रत्यागात्मा' कहलाया है, यही आध्यात्मिक 'अहं' पदार्थ है। इसप्रकार अध्यात्म में ईश्वरीय गूढोत्मा (परमात्मा), अध्यात्मसंस्थालम्बनभूत गूढोत्मा (प्रत्यगात्मा), शान्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, शारीरकात्मा, अग्न्यात्मा, इन ८ आत्मपर्वों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। पूर्वतालिका में

जिस गूढोत्मा को 'योगेश्वर' कहा गया है, वह ईश्वरीय गूढोत्मा है। प्रत्यगात्मरूप आध्यात्मिक गूढोत्मा भी यद्यपि स्वस्वरूप से योगेश्वर ही है। तथापि अविद्याचतुष्टयी के सम्बन्ध से इसकी स्वाभाविक योगविभूति मेघाच्छन्न सूर्य्यवत् आवृत रह जाती है। अविद्यावरण से प्रत्यागात्मा के स्वाभाविक अनुग्रह से वञ्चित शारीरक जीवात्मा वञ्चित रहता हुआ दुःख पाया करता है। परमात्मा (ईश्वरीय गूढोत्मा) नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। तदभिन्न प्रत्यगात्मा के आगे अविद्यावरण है। अतएव तदंशभूत शारीरक आत्मा का इस प्रत्यगात्मा के साथ योग नहीं होने पाता। योग है, और अवश्य है। परन्तु प्रतिकूल योग है। प्रतिकूलयोगात्मक योग तत्त्वतः अयोग है। यह अयोगात्मक योग ही इन्द्रियों के द्वारा विषयासक्ति का कारण बनता हुआ दुःखानुभूति का प्रवर्त्तक बनता है। ठीक इसके विपरीत इन्द्रियासक्ति से पृथग्भूत शारीरक आत्मा आवरणनिराकरण का कारण बनता हुआ जब प्रत्यगात्मविभूति के साथ अनुकूल योग कर लेता है, तो ऐसा अनुकूल योग दुःखात्यन्त-निवृत्ति का कारण बन जाता है, जिस अनुकूल योग के सम्बन्ध में **'योगो भवति दुःखहः'** सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्रत्यगात्मा के साथ योग करते ही शारीरक आत्मा परमात्मसम्पत्ति से युक्त हो जाता है, जो अमृत-सम्पत्ति इसे समत्वलक्षण बुद्धियोगसम्पत् प्रदान कर देती है। तात्पर्य्य इससे हमनें यह निकाला कि, अध्यात्मसंस्था में परमात्मा, प्रत्यगात्मा, दोनों की समष्टि योगेश्वर है, लक्ष्य है। यही वह 'तत्' लक्षण अखण्डब्रह्म नामक 'सत्यस्यसत्यात्मा' है, 'अमृतसत्यम्' है। त्रिपर्वा शारीरक आत्मा योगानुष्ठानकर्त्ता है, यही 'देवसत्यम्' है। एवं पञ्चपर्वा वैकारिक आत्मा योगसाधन भी है, योगविघातक भी है। यही 'ब्रह्मसत्यम् है'। यद्यपि प्रकृति-दृष्ट्या (सृष्टिक्रमदृष्ट्या) इन आठों आत्मपर्वों का क्रम क्रमशः परमात्मा, प्रत्यगात्मा, शान्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, शारीरकात्मा, अन्यात्मा, यही है। परन्तु स्थितिक्रम में शारीरक आत्मा विज्ञानात्मा से पूर्व, तथा महानात्मा से उत्तर, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित माना गया है, जैसाकि—**'आत्मेन्द्रिय-मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्म्मनीषिणः'** इत्यादि औपनिषद वचन से प्रमाणित है। प्रज्ञानात्मलक्षण मन, तथा विज्ञानात्मलक्षणा बुद्धि, दोनों को अग्रणी बना कर ही शारीरकात्मा योगचतुष्टयी में प्रवृत्त होता है।

७-योगात्मानुगता योगचतुष्टयी-

चारों योग क्रमशः बुद्धियोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्म्मयोग, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। एक ही योग के चार विवर्त्त क्यों हो गए ?, प्रश्न का उत्तर 'शंब्रह्मविज्ञान' पर अवलम्बित है। प्रजापति को 'ब्रह्म' कहा जाता है। आध्यात्मिक आठों आत्मपर्व पृथग् पृथक् प्रजापति हैं। प्रत्येक प्रजापति स्वरूप से 'खं रं कं' भावों में परिणत होता हुआ 'शंब्रह्म' है। व्यष्टिरूप रं कं है, समष्टिरूप 'शं' है। इसप्रकार प्रजापति के व्यष्टि समष्टिरूप से चार पर्व हो जाते हैं, इसी आधार पर—**'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** इस अनुगम का समन्वय हुआ है। प्रजापति का 'खं' रूप **'आत्मा'** कहलाया है। 'रं' रूप **'प्राण'** कहलाया है, 'कं' रूप **'पशु'** कहलाया है, एवं 'शं' रूप 'अभयब्रह्म' कहलाया है। अभयरूप परात्परपुरुष है, यही शंलक्षणा परा शान्ति है, नित्यतृप्ति है, शान्तानन्द है। आत्मरूप अक्षरानुगत अव्यय है, प्राणरूप क्षरानुगत अक्षर है, पशुरूप विकार-क्षरानुगत क्षर है। परात्परपुरुष (विशुद्ध अव्यय) ही अभयब्रह्म है, जो विश्वातीत निःसीम परात्पर से समतुलित है। शंब्रह्मात्मक यही विशुद्ध अव्ययब्रह्म बुद्धियोग का अनुगामी है। अक्षरानुगत आत्मरूप अव्यय खंब्रह्म है, यही ज्ञानयोग का अनुगामी है। क्षरानुगत प्राणरूप अक्षर 'रं' ब्रह्म है, यही भक्तियोग का अनुगामी है। इसप्रकार प्रजापति के पर्व भेद से एक ही योग के चार विवर्त्त हो जाते हैं। आठ आत्मपर्व हैं, अध्यात्म में आठ प्रजापतिसंस्थाएँ हैं। फलतः आठ ही योगचतुष्टयी हो जातीं हैं।

८-भूतं-भवत्-भविष्यत्-इति सर्वमोङ्कार एव—

'आत्म-प्राण-पशुत्त्वं प्रजापतितत्त्वम्' ही प्रजापति का तात्त्विक लक्षण है। हृदयस्थ उक्थभाव आत्मा है, हृदयस्थ उक्थभाव से समन्ततः विनिर्गत अर्क (आत्मरश्मियाँ) 'प्राणाः' हैं। प्राणरूप अर्कमण्डल में भुक्त परिग्रह पशु है। हृदयावच्छिन्न सखण्ड आत्मा, मण्डलभुक्त सखण्ड प्राण, तत्रभुक्त सखण्ड परिग्रह, तीनों प्रजापतिसम्पत्तियां खण्डभाव के कारण मृत्युमात्रा हैं। तीनों मृत्युमात्राओं का आधारभूत अखण्ड-अभयब्रह्म विशुद्धा अमृतमात्रा है, यही तुरीयब्रह्म है। यही चतुष्पाद्ब्रह्म का प्रणवत्त्व है। तुरीय, अमात्र-लक्षण अखण्डब्रह्म अर्द्धमात्रा है, आत्मा अकार है, प्राण उकार है, पशु मकार है, समष्टि ओङ्कार है, यही स्फोट है, जिसे सङ्गीतज्ञ नादब्रह्म नाम से व्यवहृत किया करते हैं। निम्न लिखित श्रुतियाँ आत्मप्रजापति की इस पर्वसम्पत्ति का ही स्पष्टीकरण कर रहीं हैं—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योऽन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥१॥
ऋग्भिरेतं, यजुर्भिरन्तरिक्षं, स सामभिर्यत् तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्—
यत्तत्-शान्तमजरममृतमभयं परं (अव्ययं) चेति ॥२॥

—प्रश्नोपनिषत्५।६,७,।

"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्व्वम्। तस्योपव्याख्यानं-भूतं, भवद्, भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव। सर्व्वं ह्येतद्ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्"॥३॥

—माण्डूक्योपनिषत्१,२,।

९-आवपन-अन्नाद, और अन्नब्रह्म—

भोक्ता ही प्रजापति है। भोक्ता प्रजापति को स्वभोगसिद्धि के लिए भोगायतन, भोक्ता, भोग्य, इन तीन भावों में परिणत होना पड़ता है, जो तीनों भाव क्रमशः आवपन, अन्नाद, अन्न, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। जिस पर प्रतिष्ठित होकर भोक्ता भोग करता है, वह आलम्बनरूप आवपन ही भोगायतन है। यही आकाशात्मा 'खं' ब्रह्म है, यही प्रजापति का उक्थलक्षण पहिला आत्मपर्व है। खंब्रह्मात्मक आवपन में प्रतिष्ठित होकर अन्न के साथ रमण करने वाला अन्नाद ही प्राण है। यही अन्नरूप सुखसाधन से रमण करने वाला 'रंब्रह्म' है, यही प्रजापति का अर्कलक्षण दूसरा प्राणपर्व है। रंब्रह्मात्मक अन्नादब्रह्म की सीमा में प्रविष्ट अन्न ही पशु है। अन्नादब्रह्म के सुख का साधन बना हुआ यही पशु 'कंब्रह्म' है, यही प्रजापति का अशीतिलक्षण तीसरा पशुपर्व है। खं-रं-कं, इन तीनों पर्वों को अपने व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित रखने वाला अभयब्रह्म नामक चौथा परात्परब्रह्म ही प्राजापत्यसंस्था का चौथा पर्व है। इसप्रकार प्रजापतितत्त्व चार पर्वों से नित्य युक्त रहता है। आध्यात्मिक आठ पर्व स्वतन्त्र आठ प्रजापति हैं। प्रत्येक में अभय, आत्मा, प्राण, पशु, इन चारों पर्वों का उपभोग है। प्रत्येक प्रजापति के ये चारों पर्व क्रमशः बुद्धि-ज्ञान-भक्ति-कर्म-

योग के आधारस्तम्भ हैं । फलतः अधिदैवत गूढोत्मा के गर्भ में प्रतिष्ठित आध्यात्मिक गूढोत्मा के अवान्तर-प्राजापत्यसंस्थाओं के भेद से योगचतुष्टयी के भी आठ ही विवर्त्त हो जाते हैं । प्रकृत परिच्छेद में इन्हीं आठों योगविवर्त्तों का दिग्दर्शन कराना है * ।

१०–षट्परिग्रहावच्छिन्न आत्मप्रजापति—

पूर्वस्तम्भ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, मायादि षट्परिग्रहों के सम्बन्ध से ही 'तत्'नामक अखण्ड-विश्वातीत–परात्परब्रह्म को आत्मन्वी (प्रजापति) बनना पड़ता है । मायापरिग्रहयुक्त वही तत् मायी परात्पर है, कलापरिग्रहयुक्त वही मायी परात्पर षोडशी है, गुणपरिग्रहयुक्त वही षोडशी अव्यक्तगर्भित महानात्मा है, विकारपरिग्रहयुक्त वही महानात्मा विज्ञानात्मगर्भित प्रज्ञानात्मा है, अञ्जनपरिग्रहयुक्त वही प्रज्ञानात्मा शारीर-कात्मा है, एवं आवरणपरिग्रहयुक्त वही शारीरकात्मा भूतात्मा (शरीर) है । मायापरिग्रहावच्छिन्न वही तत्त्व ईश्वरीय गूढोत्मा है, कलापरिग्रहावच्छिन्न वही तत्त्व जीवानुगत प्रत्यगात्मा है । गुणपरिग्रहावच्छिन्न वही तत्त्व अव्यक्तगर्भित महानात्मा है । विकारपरिग्रहावच्छिन्न वही तत्त्व विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मा है । अञ्जनपरिग्रहा-वच्छिन्न वही तत्त्व शारीरकात्मा है । एवं आवरणपरिग्रहावच्छिन्न वही तत्त्व भूतात्मा है । सावरण भूतात्मा विश्वप्रजापति है, साञ्जन शारीरकात्मा विराट्प्रजापति है, सविकार विज्ञानगर्भित–प्रज्ञानात्मा यज्ञप्रजापति है, सगुण अव्यक्तगर्भित महानात्मा सत्यप्रजापति है, सकल प्रत्यगात्मा अमृत प्रजापति है, एवं मायी परात्पर सत्यस्यसत्यात्मा है । यही आध्यात्मिक पर्वसमन्वय का दूसरा दृष्टिकोण है, जिसका भक्तियोगपरीक्षा में भी विस्तार से विश्लेषण हुआ है

११–ब्रह्म, और कर्म्म–परिभाषा—

भक्तियोग-परीक्षा से सम्बन्ध रखने वाले दृष्टिकोण के अनुसार अध्यात्मसंस्था में जिन आठ आत्मपर्वों का संग्रह हुआ है, उनका प्रकृत दृष्टिकोण के अनुसार चार ही पर्वों में समन्वय किया जा सकता है । एवं यही आत्मपर्वचतुष्टयी योगेश्वर की तात्त्विक योगचतुष्टयी की मूलप्रतिष्ठा है । विषय-स्पष्टीकरण से पहिले हमें प्रक्रान्त योग-तत्त्व की मौलिक परिभाषा का समन्वय कर लेना चाहिए । 'ब्रह्म का कर्म्म के साथ होने वाला (रहने वाला) समन्वय ही योग है', एवं यही प्राकृतिक योग की मौलिक परिभाषा है, जिसे आधार मान कर ही हमें प्रकृत स्तम्भ का समन्वय करना है । **'कर्म्मगर्भित ज्ञानतत्त्व'** ब्रह्म शब्द का पारिभाषिक अर्थ है, एवं **'ज्ञानगर्भित क्रियातत्त्व'** कर्म्मशब्द का परिभाषार्थ है । पूर्व के जिन आत्मपर्वों का स्वरूपविश्लेषण हुआ है, उन सब के साथ ब्रह्म-परिभाषा घटित है, अतएव इन सभी आत्मपर्वों को 'ब्रह्म' कहा जा सकता है । 'ब्रह्म' नामक इन आत्मपर्वों की जो स्वाभाविक क्रिया है, वही इनका कर्म्म है । इन कर्म्मों के साथ ब्रह्मों (आत्मपर्वों) का जो स्वाभाविक सम्बन्ध (योग) है, वही 'आत्मयोग' (आत्मा के साथ–ब्रह्म के साथ–क्रिया का योग) योग है, जिसके ब्रह्मस्वरूप–तारतम्य से चार विवर्त्त हो जाते हैं ।

---

* भक्तियोगपरीक्षा में ईश्वरीय गूढोत्मा का प्रत्यगात्मा में, अव्यक्त का महानात्मा में, विज्ञान का प्रज्ञानात्मा में अन्तर्भाव करते हुए अध्यात्मसंस्था में ५ ही योगों का विश्लेषण हुआ है । प्रकृत में सब की पृथक् पृथक् विवक्षा हुई है, जिसके द्वारा आठ विवर्त्त हो जाते हैं ।

१२--सहजसिद्ध कर्म्मयोग, और कर्म्मयोगपरिभाषा—

यद्यपि आध्यात्मिक कर्म्म-कलाप की दृष्टि से सभी आत्मपर्व ज्ञानप्रधान हैं, अतएव उन सभी को 'ब्रह्म' कहना अन्वर्थ बनता है। तथापि इन आत्मपर्वों के आपेक्षिक समतुलन की दृष्टि से इनमें ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-बुद्धि-भावों का तारतम्य उपपन्न बन जाता है। एकमात्र इसी आधार पर आत्मपर्वचतुष्टयी के आधार पर योगचतुष्टयी का आविर्भाव सुसमन्वित बन जाता है। विज्ञानात्मा से नित्य संश्लिष्ट प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रिय-मन) नामक **'प्रज्ञानब्रह्म'** का विकासक्षेत्र इन्द्रियग्रामानुगत भूतग्राम (बाह्य विषय) है। भूतग्राम (सांसारिक विषय) द्रव्य हैं। गुणसमष्टि द्रव्य है (गुणकूटो द्रव्यम्)। क्रियासन्तान ही गुण हैं ×। फलतः भूतग्राम का कर्म्ममयत्त्व भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, प्रज्ञानब्रह्म के आधारभूत भौतिक विषयों में ज्ञानमात्रा (चिदंश) आत्यन्तिकरूप से अभिभूत है। यहाँ केवल कर्म्म का ही साम्राज्य है। अतएव भूतानुगत प्रज्ञानब्रह्म साध्य, एवं साधनतः उभयथा भूतानुगत ही बना रहता है। प्रज्ञानगत चिदंश से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान भी भूत के प्रभाव से प्रभावित होता हुआ आधिभौतिक है, एवं प्रज्ञानगत क्रियाभाग भी भूतप्रभाव से सर्वथा आक्रान्त है। प्रज्ञान का ज्ञान (मानस ज्ञान), और प्रज्ञान का कर्म्म (ऐन्द्रियक कर्म्म) दोनों भूतानुगत बनते हुए आधिभौतिक हैं। साधन भी आधिभौतिक हैं, साधनद्वारा प्राप्तव्य, एवं प्राप्त फल भी आधिभौतिक ही है। यही कर्म्मयोग की सुपरिचित परिभाषा है, जिसका **'कर्म्मयोग-परीक्षा'** में अनेकधा विश्लेषण किया जा चुका है। इसी आधार पर विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानब्रह्म के साथ युक्त कर्म्म को हम **'कर्म्मयोग'** कह सकते हैं। यही पहिला प्राकृतिक योग है, जिसे साध्य-साधनोभयथा भूतप्रधान होने से वैज्ञानिक लोग 'कर्म्मयोग' नाम से व्यवहृत किया करते हैं। आहार-निद्रा-भय-मैथुनादि प्राकृतिक ऐन्द्रियक कर्म्म हीं प्राकृतिक कर्म्मयोग है, जो सर्वसाधारण में समानरूप से प्रवाहित हैं। इस दृष्टि से प्राणिमात्र कर्म्मयोगी हैं, कर्म्मठ हैं। ये सब कर्म्म अत्याज्यकर्म्म हैं। इनका परित्याग सर्वथा अशक्य है। क्योंकि आहारादि ऐन्द्रियक कर्म्मों के बिना कोई भी प्राणी अपना जीवन सुरक्षित नहीं रख सकता। इन्हीं अत्याज्य कर्म्मों को लक्ष्य में रखते हुए भगवान् ने कहा है—**'कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः'**। कर्म्मयोग की यही सहज परिभाषा है, जिसके आधार पर कृत्रिम (शास्त्रीय) कर्म्मयोग का प्रादुर्भाव हुआ है।

१३-भक्तियोग की तात्त्विक परिभाषा—

दूसरा भक्तियोग-क्षेत्र है, जिसका अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मा से सम्बध बतलाया गया है। स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला पारमेष्ठ्य महानात्मा जीवानुगत-षोडशकल गूढोत्मा की अपेक्षा यद्यपि भूताभिमुख बनता हुआ आधिभौतिक परिग्रह से वेष्टित माना जायगा। तथापि विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मापेक्षया चिदंश से अधिक मात्रा से विकसित रहने के कारण इसे आधिदैविक सम्पत्ति से भी पृथक् न किया जा सकेगा। और इस दृष्टि से महानात्मपर्व में आधिदैविक (ज्ञान), आधिभौतिक (कर्म्म), दोनों सम्पत्तियों का समन्वव माना जायगा। ईश्वरीय गूढोत्मा, तथा जीवानुगत गूढोत्मा, दोनों भी इसी महद्ब्रह्म

× गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्धया प्रकल्पिताऽभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते। (वाक्यपदी)

में गर्भीभूत हैं। इसीलिए इसमें ईश्वरानुगत आधिदैविक भाव का विकास स्वाभाविक है। इस विकास की मूलप्रतिष्ठा बनता है मध्यस्थ सौर विज्ञानात्मा, जो प्राकृतिक विश्व के आधिभौतिक प्रपञ्च, तथा आधिदैविक विवर्त्त का विभाजक माना गया है। पार्थिव भौतिक विवर्त्त, चान्द्रविवर्त्त, दोनों की समष्टि आधिभौतिक है। पारमेष्ठ्य, और स्वायम्भुव विवर्त्त आधिदैविक हैं। सौर विवर्त्त दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। अध्यात्म में स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, दोनों आधिदैविक हैं। चान्द्र प्रज्ञानात्मा, पार्थिव शरीर, और भूतात्मा, आधिभौतिक हैं। सौर विज्ञानात्मा दैविक-भौतिक, दोनों विवर्त्तों के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ उभयधर्म्माक्रान्त है। प्राणिसृष्टि में से केवल मानवसमाज में हीं इस उभयधर्म्माक्रान्त विज्ञानब्रह्म (बुद्धि) का विकास रहता है। मनुष्येतर प्राणियों में भी विज्ञानात्मा रहता अवश्य है। परन्तु उनका विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा के वशवर्त्ती बना रहता है। अतएव उनमें प्रज्ञानात्मानुगत आहार निद्रा भय मैथुन लक्षण सहज कर्म्मयोग का ही विकास रहता है। उनकी बुद्धि प्रज्ञानमन में ही आहुत रहती है। प्रज्ञानप्राधान्य से उनकी बुद्धि का ऊर्ध्वमुख आधिदैविक भाव अभिभूत रहता है। इधर मनुष्य-प्राणी में विज्ञानात्मा का प्रज्ञानात्मा पर शासन रहता है। इस शासन से इसका कर्म्मात्मा ईश्वरीय गूढोत्मानुगत महानात्मा का भी अनुगामी बना रहता है। फलतः प्रज्ञानानुगत भौतिक विवर्त्त के साथ मानवीय जीवात्मा महानात्मानुगत आधिदैविक विवर्त्त का भी भोक्ता बना रहता है। जिन मनुष्यों का विज्ञानात्मा प्रज्ञानप्राबल्य से केवल भौतिक विषयों का अनुगामी बना रहता है, दूसरे शब्दों में जिनकी बुद्धि प्रज्ञान के प्राबल्य से केवल भौतिक-ऐन्द्रियक-विषयों में हीं आत्मसमर्पण किए रहती है, उन लौकिक-यथाजात मनुष्यों में पशु-पक्षी आदि अन्य प्राणियों की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं रहती। ऐसे यथाजात मनुष्य **'आहारनिद्राभयमैथुनञ्च, सामान्यमेतत्-पशुभिर्नराणाम्'** के अनुसार पशुओं से समतुलित रहते हुए केवल आधिभौतिक कर्म्मयोग के ही अधिकारी बने रह जाते हैं। ऐसे लौकिक मनुष्यों में आधिदैविक ईश्वरीय ज्योति का विकास नही होने पाता। आत्मा, परमात्मा, सत्य, अहिंसा, ईश्वरप्रवणता आदि दिव्यविभूतियों से ऐसे पशुसमानधर्म्मा लौकिक मनुष्य वञ्चित रहते हैं। महानात्मा के गर्भ में प्रतिष्ठित ईश्वरीय भाव आधिदैविक है। भौतिक साधनों के द्वारा जीवात्मा का इस ईश्वरीय भाव के साथ रहने वाला स्वाभाविक योग ही भक्तियोग है। इस योग का विकास बुद्धिविकास पर ही अवलम्बित है। बुद्धिविकास बुद्धि के ऊर्ध्वभाग में प्रतिष्ठित आधिदैविक महद्ब्रह्म के समाश्रय पर ही निर्भर है। इसी आधार पर भक्तियोग में साधन आधिभौतिक, तथा साध्य आधिदैविक मानें गए हैं। विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानब्रह्म जहाँ कर्म्मयोग का अनुयायी है, वहाँ अव्यक्तगर्भित महद्ब्रह्म विज्ञान-विकास-द्वारा उभय भावानुगत बनता हुआ भक्तियोग का अनुगामी है, यही निष्कर्ष है।

१४-ज्ञानयोगपरिभाषा—

तीसरा ज्ञानयोग क्षेत्र है, जिसका आध्यात्मिक जीवाव्यय से सम्बन्ध बतलाया गया है। षोडशकल-आध्यात्मिक षोडशी अव्ययप्रधान है। अव्ययतत्त्व विशुद्ध आधिदैविक है। क्योंकि यहाँ कर्म्म आत्यन्तिकरूप से अभिभूत है। जिस समय विज्ञानब्रह्म का इस अव्ययब्रह्म के साथ योग हो जाता है, उस समय विज्ञानब्रह्म का आधिभौतिकानुगतत्त्व एकान्ततः अभिभूत हो जाता है। विशुद्ध आधिदैविक [ज्ञान] सम्पत्ति शेष रह जाती है। ऐसे विज्ञानब्रह्म के सहयोग-द्वारा अव्ययब्रह्म के साथ होने वाला कर्म्मात्माका स्वाभाविक योग ही 'ज्ञानयोग' माना गया है, जिसमें साध्य, और साधन, दोनों हीं आधिदैविक मानें गए हैं। यही शास्त्रीय परिभाषा में

निवृत्तिमार्ग कहलाया है। गीता के शब्दों में यही सुप्रसिद्धा सांख्यनिष्ठा है। सांख्यनिष्ठा(ज्ञानयोग)विशुद्ध निवृत्तिपथ है, योगनिष्ठा (कर्म्मयोग) विशुद्ध प्रवृत्तिपथ हैं, भक्तिनिष्ठा (भक्तियोग) उभयपथ है।

१५–सर्वज्येष्ठ–श्रेष्ठ–बुद्धियोग की परिभाषा—

मीमांसा करने पर पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि, उक्त तीनों हीं योगों में अंशतः जीवव्यापार समाविष्ट है, जो 'वानरशिशु' से समतुलित है। अपने प्रयास से ईश्वरभाव का अनुगमन करना, एक पक्ष है। अपने आपको सर्वथा निर्व्यापार बना कर ईश्वरभाव के आधार पर निरवलम्ब बने रह जाना, एक पक्ष है। पहिले दृष्टिकोण का 'वानरशिशु' से सम्बन्ध है। वानरी का बच्चा उसकी छाती से प्रयासपूर्वक संलग्न रहता है। वानरी इतस्ततः अनुधावन करती रहती है, बच्चा प्रयासपूर्वक इसे पकड़े रहता है। थोड़ी भी असावधानी करने पर बचा अपने सर्वनाश को निमन्त्रण दे सकता है। उक्त तीनों योगों का इसी दृष्टान्त से सम्बन्ध है। कर्म्म–भक्ति–ज्ञान, तीनों हीं योगों में जीवात्मा को स्वयं सावधानी रखनी पड़ती है। थोड़ी भी असावधानी से जीवात्मा का पतन अवश्यंभावी बन जाता है। दूसरा दृष्टिकोण 'मार्जारशिशु' से सम्बन्ध रखता है। बिल्ली का बचा अपनी ओर से सर्वथा निर्व्यापार है। बिल्ली अपने मुख में लेकर उसे जहाँ ले जाती है, वहीं वह चला जाता है। उसे अपनी ओर से कोई व्यापार नहीं करना पड़ता। ठीक इसीप्रकार अपने आपको ईश्वरभाव के आधार पर निरवलम्ब छोड़ देना दूसरा दृष्टिकोण है। "ज्ञान–भक्ति–कर्म्म, किसी का भी अभिनिवेश नहीं। जैसा वह करता है, हो रहा है। जो वह करा रहा है, वह कर रहे हैं"–इस बुद्धि से अपने समस्त कार्य्यकलाप को उस पर छोड़ देना ही दूसरा दृष्टिकोण है। न यहाँ प्रवृत्ति है, न निवृत्ति। न इस पथ को ज्ञानयोग कहा जा सकता, न कर्म्मयोग माना जा सकता, एवं नाहीं भक्तियोग ही कहा जा सकता। यदि कहा जा सकता है, तो सभी कुछ। क्योंकि ईश्वरभाव के प्रति अनन्यनिष्ठा से आत्मसमर्पण करने वाले ऐसे योगी को ज्ञान–भक्ति–कर्म्म, सभी सम्पत्तियाँ स्वतः प्राप्त हो जातीं हैं। मायी परात्परलक्षण ईश्वराव्यय ही इस सर्वज्येष्ठ–श्रेष्ठ–योग की आधारभूमि है। ईश्वराव्यय 'समब्रह्म' है। प्रवृत्ति-निवृत्ति-पथों से सम्बन्ध रखने वाली विषमता का इस क्षेत्र में आत्यन्तिक अभाव है। अपनी बुद्धि को इस समब्रह्म के प्रति समर्पित कर देना हीं समत्त्वयोग है। यही समत्त्वयोग गीताशास्त्र का सर्वमूर्द्धन्य, 'बुद्धियोग' है। यही चौथा बुद्धियोगक्षेत्र है, जिसमें कोई साधन नहीं, कोई साध्य नहीं। यदि हैं,तो सभी साधन, और सभी साध्य–**'तस्माद्योगी भवार्जुन'**। यही कर्म्मकौशल है, यही भक्तिकौशल है, यही ज्ञानकौशल है। कौशल ही बुद्धियोग है। बिना इसके विशुद्ध प्रवृत्तिपथ (कर्म्मयोग) बन्धन का कारण है, उभयपथ (भक्तियोग) अस्मिताजनक है, निवृत्तिपथ (ज्ञानयोग) कायक्लेशात्मक है, साथ ही लोकसंग्रहशून्य, अतएव योगाचार्य्य की दृष्टि से सर्वथा त्याज्य।

१६–योगानुगत अवधेय दृष्टिकोण—

निष्कर्ष यही हुआ कि मायीपरात्पर (ईश्वराव्यय), योगमायी जीवाव्यय, अव्यक्तगर्भित महानात्मा, विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा, इन चार आध्यात्मिक ब्रह्मों के आधार पर क्रमशः बुद्धि–ज्ञान–भक्ति–कर्म्म, ये चार योग प्रतिष्ठित हैं। ब्रह्मचतुष्टयी के आधार पर प्रतिष्ठित योगचतुष्टयी का यही प्राकृतिक इतिहास है, जिसके सहज, और कृत्रिम, दो दृष्टिकोणों का प्रकृत में हमें विश्लेषण करना है। विश्लेषण से पहिले पाठकों को इस दृष्टिकोण पर भी विशेषरूप से आरूढ हो जाना चाहिए,कि बुद्धियोग का प्रधानतः महामायी परात्पर से,ज्ञानयोग का योगमायी जीवाव्यय से, भक्तियोग का अक्षर से, एवं कर्म्मयोग का आत्मक्षर से सम्बन्ध है। विज्ञानसम्परिष्वक्त

प्रज्ञानब्रह्म आत्मक्षरप्रधान है, यही विकारपरिग्रह के द्वारा 'यज्ञप्रजापति' बनता हुआ सविकारप्रजापति है, यही कर्म्मयोगप्रतिष्ठा है। अव्यक्तगर्भित महद्ब्रह्म अक्षरप्रधान है, यही गुणपरिग्रह के द्वारा 'सत्यप्रजापति' बनता हुआ सगुणप्रजापति है, यही भक्तियोगप्रतिष्ठा है। योगमायावच्छिन्न अव्ययब्रह्म अव्ययप्रधान है, यही कलापरिग्रह के द्वारा 'अमृतप्रजापति' है, यही ज्ञानयोगप्रतिष्ठा है। महामायावच्छिन्न परात्परब्रह्म परात्पर (विश्वातीत परात्पर) प्रधान है, यही मायापरिग्रह के द्वारा 'सत्यस्य सत्यात्मा' (केवल आत्मा, नतु आत्मन्वी) है, यही बुद्धियोगप्रतिष्ठा है। आत्मा, और आत्मन्वी के स्वरूप में क्या अन्तर है?, प्रश्न का समाधान पूर्व में किया जा चुका है। भक्तिपरीक्षानुगत दृष्टिकोण के अनुसार जहाँ आध्यात्मिक आत्मपर्व ८ भागों में विभक्त हैं, वहाँ प्रकृत बुद्धि-योगपरीक्षानुगत दृष्टिकोण के अनुसार आध्यात्मिक पर्वों को ४ भागों में विभक्त कर इनके आधार पर चार योग प्रतिष्ठित मानें जा सकते हैं। प्रत्येक ब्रह्म में परात्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर, चारों का उपभोग है। अतएव प्रत्येक प्रधान योग के गर्भ में चारों योगों का अन्तर्भाव होजाता है। फलतः चार के सोलह योग हो जाते हैं। योगेश्वर षोडशकल है, तो उसके योग भी १६ ही हैं, जिनका भक्तियोगपरीक्षा में रूपान्तर से विश्लेषण हुआ है। सोलह योगों के आगे जाकर सहज, कृत्रिम, भेद से दो दो विवर्त्त हो जाते हैं। दोनों में से सहजयोग उपादेय हैं, एवं कृत्रिमयोग त्याज्य हैं। दोनों विवर्त्तों के स्पष्टीकरण से पहिले परिलेख-द्वारा प्रतिपादित दृष्टिकोणों को हृदयङ्गम कर लेना चाहिये। क्योंकि इन्हीं के आधार पर योग का तात्त्विक स्वरूप अवलम्बित है।

भक्तियोगपरीक्षानुगतो दृष्टिकोणः—

"तत्"—

१-ईश्वरीयो गूढोत्मा (परात्परः)—मायापरिग्रहावच्छिन्नः-सत्यस्यसत्यात्मा —योगातीतः (परात्परप्रधानः)

२-जीवानुगतो गूढोत्मा (पुरुषः) -कलापरिग्रहावच्छिन्नः-अमृतप्रजापतिः —योगलक्ष्यः (अव्ययप्रधानः)

३-अव्यक्तात्मा (अव्यक्तम्)
४-महानात्मा (महत्)
—गुणपरिग्रहावच्छिन्नः-सत्यप्रजापतिः (अक्षरप्रधानः)

५-विज्ञानात्मा (बुद्धिः)
६-प्रज्ञानात्मा (मनः)
—विकारपरिग्रहावच्छिन्नः-यज्ञप्रजापतिः (आत्मक्षरप्रधानः)

(३-६) —योगसाधनानि

७-शारीरकात्मा (शरीरी)	—अन्नपरिग्रहावच्छिन्नः-विराट्प्रजापतिः (विकारक्षरप्रधानः)	योगानुष्ठाता
८-भूतात्मा (शरीरम्)	—आवरणपरिग्रहावच्छिन्नो विश्वप्रजापतिः (वैकारिकक्षरप्रधानः)	योगायतनम्



"तत्"

१-परात्परः
२-पुरुषः
—अमृतात्मा "तदेवामृतमुच्यते"

१-अव्यक्तम्
२-महत्
३-बुद्धिः
४-मनः
—ब्रह्मात्मा-"तद्ब्रह्म"

१-शरीरी
२-शरीरम्
—शुक्रात्मा-"तदेव शुक्रम्"



प्रकारान्तरेण प्रकृतदृष्टिकोणानुगतः परिलेखः—

१ परात्परः	परमात्मा		परात्परप्रधानः	+ + + +	(परात्परानुगतः)–बुद्धियोगाध्यक्षः (४)	–ईश्वरीयगूढात्मा-परात्परलक्षणः पुरुषः —बुद्धियोगाध्यक्षः (४)
२ अव्ययः	,,		,,	+ + + +	(अव्ययानुगतः)–ज्ञानयोगप्रवर्त्तकः (३)	
३ अक्षरः	,,		,,	+ + + +	(अक्षरानुगतः)–भक्तियोगप्रवर्त्तकः (२)	
४ आत्मक्षरः	,,		,,	+ + + +	(आत्मक्षरानुगतः)–कर्म्मयोगप्रवर्त्तकः (१)	
१ परात्परः	जीवात्मा		अव्ययप्रधानः	+ + + +	(परात्परानुगतः)–बुद्धियोगप्रवर्त्तकः (४)	–जीवानुगतो गूढात्मा पुरुषलक्षणः पुरुषः —ज्ञानयोगाध्यक्षः (३)
२ अव्ययः	,,		,,	+ + + +	(अव्ययानुगतः)–ज्ञानयोगाध्यक्षः (३)	
३ अक्षरः	,,		,,	+ + + +	(अक्षरानुगतः)–भक्तियोगप्रवर्त्तकः (२)	
४ आत्मक्षरः	,,		,,	+ + + +	(आमक्षरानुगतः)–कर्म्मयोगप्रवर्त्तकः (१)	
१ परोरजाः	अव्यक्तात्मा	+ सत्त्वम्	अक्षरप्रधानः		(परात्परानुगतः)–बुद्धियोगप्रवर्त्तकः (४)	–अव्यक्तात्मगर्भितो महानात्मा —भक्तियोगाध्यक्षः (२)
२ अन्तर्य्यामी	,,	+ महान्	,,		(अव्ययानुगतः)–ज्ञानयोगप्रवर्त्तकः (३)	
३ ऋतसत्यसूत्रे	,,	+ सौम्यप्राणः	,,		(अक्षरानुगतः)–भक्तियोगाध्यक्षः (२)	
४ शरीरगुहा	,,	+ इङ्क्-भोगाः	,,		(आत्मक्षरानुगतः)–कर्म्मयोगप्रवर्त्तकः (१)	
१ चाक्षुषपुरुषः	विज्ञानात्मा	+ साम्बसदाशिवः	आत्मक्षरप्रधानः		(परात्परानुगतः)–बुद्धियोगप्रवर्त्तकः (४)	–विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा —कर्म्मयोगाध्यक्षः (१)
२ विज्ञानम्	,,	+ प्रज्ञानम्	,,		(अव्ययानुगतः)–ज्ञानयोगप्रवर्त्तकः (३)	
३ आयुः प्राणः	,,	+ यशः प्राणः	,,		(अक्षरानुगतः)–भक्तियोगप्रवर्त्तकः (२)	
४ ज्योतिर्गौः	,,	+ रेतः, श्रद्धा	,,		(आत्मक्षरानुगतः)–कर्म्मयोगाध्यक्षः (१)	

(❀ कर्म्मात्मिकाकर्म्मयोगचतुष्टयी प्रथमा)

१७–वाङ्मय अर्थयोगानुगत लौकिक कर्म्मयोग–(श्रमकर्म्म)–(१)—

भक्तियोग-परीक्षा पूर्वखण्ड के–'**प्राकृतिक योगत्रयी के आधार पर व्यावहारिकी योगत्रयी का विकास**' नामक परिच्छेद में ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोगों का विस्तार से विश्लेषण किया जाचुका है। इसके अतिरिक्त भक्तिपरीक्षा–उत्तरखण्ड के–'**उपासनास्वरूपनिर्वचन**' ('१–१४९') नामक प्रकरण में उदाहरणों के द्वारा योगत्रयी के सहज, तथा कृत्रिम भावों का स्पष्टीकरण किया जाचुका है। पाठकों से अनुरोध है कि, प्रकृत प्रकरण-समन्वय के लिए वे एक बार भक्तिपरीक्षा के उक्त दोनों स्थलों पर अवश्य दृष्टि डाललें।

बतलाया गया है कि, विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा के आधार पर कर्म्मयोग प्रतिष्ठित है। विज्ञानात्मा के आत्मक्षरानुगत ज्योतिर्भाग से समतुलित रेतस्, और गौभाग से समतुलित श्रद्धाभाग को मूल बना कर मनुष्य जो कर्म्म करता है, वही विज्ञानभाषा में '**श्रम**' कहलाया है। शास्त्रशिक्षा से वञ्चित, यथाजात लौकिक मनुष्य अपनी जीवनमात्रा के निर्वाह के लिए 'श्रम' संज्ञक इसी लौकिक कर्म्म के अनुगामी बने रहते हैं। अहोरात्र के २४ घन्टों में ८–१० घण्टा शारीरिक श्रमद्वारा अर्थोपार्जन करना, तद्द्वारा आहारादि की चिन्ता से त्राण पाना, शेष समय में निद्रा, गृहस्थकर्म्मसंलग्नता, आदि का अनुगमन करना हीं ऐसे लौकिक पुरुषों का परम पुरुषार्थ है। सहजभाषानुसार इन श्रमजीवियों को हम 'श्रमिक' (मजदूर) कह सकते हैं। इनके साधन भी विशुद्ध आधिभौतिक होते हैं, एवं साध्य–फल–भी विशुद्ध आधिभौतिक ही रहता है। 'अपना, और अपने परिवार का पेट पालना' हीं इनके जीवन का मुख्य उद्देश्य है। व्यक्तिगत स्वार्थ से सम्बद्ध श्रमलक्षण ऐसा कर्म्म विशुद्ध पशुधर्म्म माना गया है। क्योंकि इस कर्म्म में पशुधर्म्म की अपेक्षा कोई वैशिष्ट्य नहीं है। जो महानुभाव अपने आप को शिक्षित समझते हुए श्रमलक्षण कर्म्म के अनुगामी बनते हुए आत्मा, समाज, राष्ट्राभ्युदय की भावनाओं से वञ्चित रहते हैं, जिनके कर्म्म का मुख्य लक्ष्य आहार-विहारमात्र रहता है, वैसे शिक्षित भाग्यशाली ! भी इसी कोटि में अन्तर्भुक्त हैं। मूर्खसमाज की भाँति इनका कर्म्मकलाप भी पशुधर्म्म से ही समतुलित है। हाँ, दोनों में यह अन्तर अवश्य है कि, मूर्ख श्रमजीवी सहज आत्मानुग्रह से जहाँ सत्य–अहिंसादि पुण्यभावों का प्रेमी, तथा असत्य–हिंसादि पाप्माभावों का विद्वेषी बनता हुआ अंशतः समुन्नत रहता है, वहाँ हमारे ये शिक्षित–सभ्य श्रमजीवी स्वार्थलिप्सा की चरमसीमा पर पहुँचाने के लिए सत्यादि दिव्य भावों की अणुमात्र भी अपेक्षा नहीं रखते। इनके लिए वही सत्य है, जिसके द्वारा ये परवञ्चना-द्वारा स्वार्थसाधन में सफलता प्राप्त कर सकते हों। इस दृष्टि से इन शिक्षित कर्म्मयोगियों ! (श्रमजीवियों) का स्थान अशिक्षित श्रमजीवियों की अपेक्षा निम्न धरातल पर ही ठहरता है। विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा के आत्मक्षरभाग से सम्बद्ध ज्योतिर्गौगर्भित रेतस्–श्रद्धा के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्मात्मक कर्म्मयोग, तथा कर्म्मयोगियों का यही संक्षिप्त विश्लेषण है। इसी को आत्मकला की दृष्टि से भक्तियोगपरीक्षा में '**वाङ्मय-अर्थयोग**' माना गया है।

१८–प्राणमय क्रियायोगानुगत लौकिक भक्तियोग (सेवाधर्म्म) (२)—

अक्षर का भक्तियोग से सम्बन्ध बतलाया गया है। विज्ञानात्मा का आयुर्लक्षण प्राण, तथा प्रज्ञानात्मा का यशोलक्षण प्राण, दोनों अक्षरानुगत हैं। आयुःप्राणगर्भित यशःप्राण को मूल बनाकर मनुष्य जो कर्म्म करता है, वही विज्ञानभाषा में '**तप**' कहलाया है। शास्त्रज्ञान से वञ्चित, किन्तु शास्त्रनिष्ठों

के सहवास से अंशतः ज्ञानमात्रा से युक्त लौकिक मनुष्यों का वह कर्म,-जिसमें शारीरिक श्रम के साथ-साथ प्राणात्मिका अवधानता (सावधानी) का भी समावेश रहता है—'तप' कहलाया है। विशुद्ध श्रमजीवी जहाँ मजदूर हैं, वहाँ तपःकर्म्मानुयायी विभाग को 'सेवक' कहा जायगा। सेवाधर्म्मपरायण व्यक्ति को आधिदैविक ज्ञान का भी उपयोग करना पड़ता है। आधिभौतिक श्रम, और आधिदैविक तप, दोनों के समन्वय से ही इसे हम 'भक्तियोग' कह सकते हैं। तत्त्वतः इसयोग में भी साधन-साध्य, दोनों भौतिक हीं हैं। अतः इसे कर्म्मात्मक भक्तियोग ही माना जायगा। सुसम्पन्न-शिक्षित-सम्भ्रान्त महानुभावों की सेवा करने वाला मानववर्ग एवंविध कर्मयोग का ही अनुयायी माना जायगा। पुरुषार्थ यहाँ भी वैय्यक्तिक स्वार्थ ही रहेगा। वर्त्तमान युग में अशिक्षितों के अतिरिक्त वर्त्तमानशिक्षा से शिक्षित महानुभावों का पुरुषार्थ भी यही सेवाधर्म्म रह गया है। यदि एक पत्थर ढोहने वाला मजदूर दिनभर के परिश्रमका फल अपना पारिश्रमिक मानता है, तो सेवा-धर्म्मपरायण का मुख्य लक्ष्य भी मासिक वेतन ही बना रहता है। जिस सेवा का यह अनुगामी बना रहता है, उस सेवातन्त्र का सञ्चालक ही इस सेवक का उपास्य है, इस लिए कि उसके अनुग्रह से इसके आहार-विहार सञ्चालित हैं। जो अन्तर अशिक्षित शिक्षित श्रमजीवी में बतलाया गया है, वही अन्तर अशिक्षित-शिक्षित सेवक वर्ग में समझना चाहिए। शिक्षित सेवक की अपेक्षा अशिक्षित सेवक का ही विशेष महत्त्व है। क्योंकि, वह आत्मसमर्पण-प्रक्रिया में शिक्षित सेवक की अपेक्षा विशेषरूप से सफल हो जाता है। विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा के अक्षरभाग से सम्बद्ध आयुःप्राणगर्भित यशःप्राण के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्मात्मक भक्तियोग, एवं भक्तियोगियों का यही संक्षिप्त विश्लेषण है। इसी को आत्मकलादृष्टि से भक्तिपरीक्षा में **'प्राणमय-क्रियायोग'** माना गया है।

१६-मनोमय ज्ञानयोगानुगत लौकिक ज्ञानयोग (निरीक्षण)-(३)—

अव्यय का ज्ञानयोग से सम्बन्ध माना गया है। विज्ञानात्मा का उक्थलक्षण चिदंशरूप विज्ञानभाग एवं प्रज्ञानात्मा का उक्थलक्षण चिदंशरूप प्रज्ञानभाग, दोनों चिद्घन अव्यय से अनुगृहीत हैं। विज्ञानगर्भित प्रज्ञान को मूल बना कर पुरुष जो पुरुषार्थ करता है, वही विज्ञानभाषा में **'काम'** कहलाया है। कर्त्तव्यभूत कला-शिल्पादि लौकिक कर्म्मों का वह परिज्ञाता, जो द्रष्टारूप से कर्म्मठों (मजदूरों) का निरीक्षण करता है, तत्तद्विषयक तत्तल्लौकिक ज्ञानों से युक्त रहता हुआ जो स्वयं कर्म्म नहीं करता, अपितु कर्म्मकर्त्ताओं का सञ्चालक बनता है, वही इस 'काम' नामक कर्म्म का अनुष्ठाता कहलाया है। इसका साधन भी ज्ञानसापेक्ष है, साध्य भी ज्ञानसापेक्ष है। ज्ञान आधिदैविक तत्त्व है। अतएव कामात्मक इस कर्म्मयोग को 'ज्ञानयोग' कहा जासकता है। आधिभौतिक आविष्कार करने वाले, लौकिक कला-शिल्पादि का स्वज्ञान से सञ्चालन करने वाले, लौकिक न्यायालयों का सञ्चालन करने वाले, इत्यादि लौकिकवर्ग इसी कामलक्षण कर्म्मयोग के अनुगामी मानें जायँगें। यद्यपि इनके निरीक्षण से अनेकों का स्वार्थसाधन होता है, तथापि इनका निरीक्षण-कर्म्म भी तत्त्वतः क्योंकि व्यक्तिगत अर्थलिप्सा से ही सम्बन्ध रखता है, अतएव पुरुषार्थदृष्ट्या ये ज्ञानयोगी भी श्रमजीवी, तथा सेवकवर्ग से ही समतुलित हैं। वर्त्तमान 'नेता' पद का भी इसी योग में अन्तर्भाव है। आदेशमात्रों के सञ्चालक, लौकिकज्ञान (चातुर्य्य) से विभूषित नेतृवर्ग विशेषतः एवंविध ज्ञानयोग का ही उपासक है। विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा के अव्ययभाग से सम्बद्ध विज्ञानगर्भित प्रज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्मात्मक ज्ञानयोग का, तथा ज्ञानयोगियों का यही संक्षिप्त विश्लेषण है। इसी को आत्मकलादृष्टि से भक्तिपरीक्षा में 'मनोमय-ज्ञानयोग' कहा गया है।

२०-आर्षदृष्टि, और मानव का वर्गीकरण—

पूर्वप्रदर्शित योगत्रयी का विशुद्ध प्रत्यक्षदृष्टि, एवं तदनुगत बहिर्जगत् से सम्बन्ध है। वैकारिक-प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक पदार्थों के आधार पर उन्हें हीं लक्ष्य बना कर श्रम-तपो-काम-लक्षण कर्म्मात्मक कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-नामक लौकिक तीनों योग प्रतिष्ठित हुए हैं। मानवदृष्टि जहाँ तक दौड़ लगा सकती है, वहाँ तक सिवाय इन तीन मार्गों के किसी अन्य मार्ग का मानवमार्ग के सामने उपस्थित हो जाना असम्भव है। विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञान से सम्बद्ध इन्द्रियों के द्वारा जीवकामना केवल बहिर्मुख ही बन सकती है। क्योंकि इन्द्रियों का आभिमुख्य बहिर्मुख बनता हुआ बाह्यजगत् का ही अनुगामी है। जीवकामना का विनिर्गम हुआ प्रज्ञानसहकृत इन्द्रियों के द्वारा। इन्द्रियाँ बहिर्मुख थीं। उनके द्वारा जीवकामना को प्राप्त हुए बाह्य भौतिक विषय। इनके द्वारा इसकी जीवनयात्रा का पशुओं की भाँति भलीभाँति सञ्चालन होता रहा। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक-परोक्ष-अन्तर्जगत् की ओर इसका ध्यान न गया, तो इसमें कौनसा आश्चर्य है। मानवसृष्टि के आरम्भकाल से आज तक अधिक संख्या ऐसे ही मनुष्यों की है, जो बाह्यदृष्टि के ही अनुगामी बने हुए हैं। **'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः'** सिद्धान्तानुसार 'देव' नामक प्राकृत प्राण प्रकृत्या परोक्षप्रिय हैं। प्राकृत-अन्तर्जगत्-जो वैकारिक बहिर्जगत् का मूलाधार है-सर्वथा परोक्ष है, अन्तर्मुख है। बहिर्मुख इन्द्रियों के बाह्य विषयजाल में आबद्ध लौकिक मनुष्य अपनी लौकिक दृष्टि-ज्ञान-अनुभव से उसे कैसे देख सकता है ?। देख सकते हैं वे विरले पुरुषधौरेय ही, जिन्होंनें अपने ऐन्द्रियक जीवन के संयम से इन्द्रियों को अन्तर्मुख बना लिया है। ऐसे ही दिव्यद्रष्टा पुरुष 'ऋषि' कहलाये हैं, उन्हीं की दृष्टि 'आर्षदृष्टि' कहलाई है। यही आर्षदृष्टि 'परोक्षदृष्टि' मानी गई है। परोक्षदृष्टि के अनुग्रह से ही ऋषियों की बुद्धि पर अन्तर्मुख प्रत्यगात्मा के परोक्षज्ञान का अनुग्रह हुआ है। प्रत्यगात्मा के साथ होने वाले बुद्धि के अन्तर्योग-लक्षण बुद्धियोग के प्रभाव से ही उन महामहर्षियोंनें प्राणियों के अन्तर्मुख परोक्षभाव का साक्षात्कार किया है। उसी साक्षात्कार के आधार पर उन्होंनें सत्त्व-रज-स्तमोगुण-तारतम्य के द्वारा उस वर्णतत्त्व का परिचय प्राप्त किया है, जो प्रकृतिभेद से व्यवस्थित है। वही वर्णभेद वास्तविक भेद है, जिसके आधार पर मानवसमाज का वर्गीकरण अपेक्षित है।

२१-धर्म्मानुगत सर्वमय लौकिक बुद्धियोग (प्रवृत्तिप्रधान कर्म्म)—(४)

उक्त परोक्षदृष्टि के प्रभाव से तपःपूत महर्षियोंनें आधिभौतिक-प्रत्यक्ष-प्रपञ्च के मूलभूत आध्यात्मिक, एवं आध्यात्मिक प्रपञ्च के मूलभूत आधिदैविक-परोक्ष-प्रपञ्च का साक्षात्कार किया। उसी के आधार पर उन्होंनें मानवसमाज की परोक्ष प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले वर्ण-अवर्ण-तत्त्व के आधार पर वर्ण-अवर्ण-व्यवस्था स्थापित की। एवं तदनुरूप ही मानवसमाज के लिए बुद्धिसहकृत विभिन्न कर्त्तव्य-कर्म्मों की व्यवस्था की। ऋषिदृष्टि के द्वारा सुव्यवस्थित वही प्राकृतिक नियमसंघातात्मक-कर्त्तव्यकर्म्म-'सनातन-मानवधर्म्म' नाम से व्यवहृत हुआ, जो नित्या प्रकृति के नित्य नियमों पर व्यवस्थित रहता हुआ सदाभव है, सनातन है, शाश्वत है, अपरिवर्त्तनीय है। प्रकृति का ही नाम अन्तर्य्यामी है, अन्तर्य्यामी हृच प्रजापति है, प्रजापति

अपने हृ-द-य-भाव से 'सत्य' है । इस सत्य का सत्यनियम ही धर्म्म है । अतएव सत्य और धर्म्म अभिन्न हैं, जैसाकि-**'यो वै धर्म्मः सत्यं वै'** इत्यादि शातपथी श्रुति से प्रमाणित है * ।

परात्पर का बुद्धियोग से सम्बन्ध बतलाया गया है । विज्ञानात्मा का सर्वायतनरूप चाक्षुषपुरुष भाग, एवं प्रज्ञानात्मा का सर्वायतनरूप साम्बसदाशिव भाग, दोनों परात्परानुगत हैं । चाक्षुषपुरुषगर्भित साम्ब-सदाशिव को मूल बना कर आत्मयोगलक्षण बुद्धियोग के द्वारा स्वप्रकृति के अनुरूप मनुष्य जो कर्म्म करता है, वही विज्ञानभाषा में **'स्वधर्म्म'** कहलाया है । यही स्वधर्म्म शास्त्रीय वर्णाश्रमानुगत प्राकृतिक कर्म्म है । यही वेदोक्त विद्यासापेक्ष यज्ञ-तपो-दान-लक्षण सत्कर्म्म, एवं विद्यानिरपेक्ष इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-लक्षण सत्कर्म्म है । बुद्धिसापेक्ष होने से यह बुद्धियोग है । स्वर्गादि भौतिक फल, पुरोडाशादि भौतिक साधन-दृष्टया यह भी पूर्वप्रतिपादित कर्म्मयोगात्मक कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-योगों की भाँति उभयथा आधिभौतिक बनता हुआ निष्कर्षतः कर्म्मयोग ही है ।

२२-लौकिक कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-योगत्रयी का कर्म्मयोगत्त्व—

तात्पर्य्य यही है कि, मानवीय दृष्टि को वैदिकी, लौकिकी, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है । लौकिक दृष्टिसापेक्ष लौकिक कर्म्म (जिनमें केवल बाह्यदृष्टि का सम्बन्ध है, अतएव जिनका चरम फल आहार-विहारादि लक्षणा इन्द्रियारामता-मात्र है) योग्यता भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त है । मनःप्राणवाङ्मय आत्मा के मनःप्राणगर्भित वाग्भाग का कर्म्म अशिक्षित-सामान्य मानववर्ग से सम्बन्ध रखता है, जो वर्ग-वाङ्मय श्रमकर्म्म का अनुगामी बनता हुआ 'श्रमजीवी' कहलाया है । इसी वर्ग को आत्मक्षरप्राधान्य से कर्म्मयोगी, तथा इसके श्रमात्मक वाङ्मय-शारीरिक कर्म्म को कर्म्मात्मक कर्म्मयोग कहा जा सकता है। क्योंकि यहाँ ज्ञानलक्षण आधिदैविक तत्त्व एकान्ततः अभिभूत रहता है । मनोवाग्गर्भित प्राणभाग का कर्म्म सामान्य-विशेष शिक्षित मानववर्ग से सम्बन्ध रखता है, जो वर्ग प्राणमय तपः-कर्म्म का अनुगामी बनता हुआ 'सेवक' (नौकर) कहलाया है । इसी वर्ग को अक्षरप्राधान्य से भक्तियोगी, तथा इसके तपोरूप प्राणमय कर्म्म को कर्म्मात्मक भक्तियोग कहा जा सकता है । प्राणवाग्गर्भित मनोभाग का कर्म्म लौकिक विज्ञानादि (भौतिक विज्ञानादि) उच्चशिक्षा-विभूषित मानववर्ग से सम्बन्ध रखता है, जो वर्ग मनोमय काम्य-कर्म्म का अनुगामी बनता हुआ 'आविष्कारक-लोकशिक्षाशिक्षित-न्यायाधीश' आदि विभिन्न उपाधियों से विभूषित हुआ है । इसी वर्ग को अव्ययप्रधानता से ज्ञानयोगी, एवं इसके बाह्य कर्म्मशून्य कामरूप मनोमय कर्म्म को कर्म्मात्मक ज्ञानयोग कहा जा सकता है । कर्म्म-भक्ति-ज्ञानात्मक, विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा के क्षर-अक्षर-अव्यय भाग से समतुलित, कर्म्मात्मा की वाक्-प्राण-मनः-कलाओं से क्रमशः सञ्चालित-कर्म्म-

---

*-यहाँ हमनें प्रकृतिसिद्ध सनातनधर्म्म (आर्षधर्म्म) को 'शाश्वतधर्म्म' केवल 'ताच्छब्द्न्याय' से ही कह दिया है । वस्तुतः आचारलक्षण विधिरूप धर्म्म प्रतीकधर्म्म है, यही प्राकृतिक धर्म्म है, जो शाश्वत धर्म्मलक्षण आत्मब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित है । एवं इस दृष्टि से धर्म्म तत्त्वतः अप्राकृत, प्रकृतिसञ्चालक ही है । **'शाश्वतस्य च धर्म्मस्य'** (गीता) लक्षण सनातन आत्मधर्म्म को आलम्बन बनाने वाला प्रतीकधर्म्मात्मक विधि-निषेधात्मक धर्म्म ही 'मानवधर्म्म' माना गया है । खण्डचतुष्टयात्मक **'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'** निबन्ध के द्वितीय-तृतीय-खण्डों में इस धर्म्मतत्त्व की विशद मीमांसा हुई है ।

योगत्रितय का विशुद्ध बाह्यदृष्टि से सम्बन्ध है । वर्त्तमान युग के सामाजिक–जातीय–राष्ट्रीय–आदि इतर लौकिक कर्म्मों का भी इन्हीं तीनों में से किसी न किसी में अन्तर्भाव किया जा सकता है । तीनों लौकिक कर्म्म बाह्येन्द्रिय–व्यापार–सापेक्ष है । इन्द्रियसञ्चालक प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रिय मन) है, जो विज्ञानात्मा से नित्य संश्लिष्ट है । विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा आत्मक्षरप्रधान है, आत्मक्षर का कर्म्मयोग से सम्बन्ध है । अतएव इस त्रयी को कर्म्मयोग कहना ही अन्वर्थ बनता है ।

२३–काम्य–लौकिक–बुद्धियोग का आधिभौतिकत्त्व—

दूसरी है वैदिकदृष्टि, जिसे हमनें ऋषिदृष्टि कहा है । वैदिक यज्ञादि कर्म्मकलापों के अतिशय का परोक्ष प्राणदेवताओं से सम्बन्ध है । यज्ञजनित कर्म्मातिशय से कर्म्मकर्त्ता को ऐहलौकिक सुखातिरिक्त पारलौकिक अभ्युदय नामक स्वर्गसुख भी प्राप्त होता है । स्वर्गलोक महिमा–पृथिवी के १७ वें अहर्गण पर प्रतिष्ठित है । स्थूलशरीर के अवसानानन्तर यज्ञकर्त्ता का मानुषात्मा यज्ञातिशयरूप दैवात्मा के आकर्षण से आकर्षित होता हुआ इसी स्वर्गस्थान में यावत्-अतिशयसमाप्ति-पर्य्यन्त प्रतिष्ठित रहता है । अतिशय-समाप्त्यनन्तर पुनः इसे इसी भवचक्र (प्राणिजन्म) का अनुगामी बनना पड़ता है । आधिभौतिक भूपिण्डापेक्षया यद्यपि अर्हगणात्मिका पृथिवी आधिदैविकी है, तथापि तत्त्वतः सम्पूर्ण पार्थिव विवर्त्त आधिभौतिक ही माना गया है । अतएव स्वर्गफलरूप साध्य को भी आधिभौतिक ही कहा जायगा । और इस दृष्टि से इसे भी लौकिक फल ही कहा जायगा । अतएव भगवान् ने व्यक्तिस्वार्थ से सम्बन्ध रखने वाले, अतएव त्रिगुणभावमय इस वेदोक्त कामनामय कर्म्म के प्रति **'वेदवादरताः पार्थ'–'कामात्मनः स्वर्गपराः'–'त्रैगुण्यविषया वेदाः' 'भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानाम्'** इत्यादि शब्दों में अरुचि ही प्रकट की है । विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त–प्रज्ञानात्मानुगता कर्म्म–भक्ति–ज्ञान–बुद्धियोगात्मिका प्रथमा योगचतुष्टयी का यही संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसका आगे के परिलेखों से स्पष्टीकरण हो रहा है ।

२४–परम्परया उद्बुद्ध योगानुगत आत्मा—

स्पष्टीकरण से पहिले प्रसङ्गोपात्त यह भी स्पष्ट कर लेना आवश्यक होगा कि, योगानुष्ठाता जो कर्म्मात्मा उक्त योगचतुष्टयी में से किसी योग में योग्यतानुसार प्रवृत्त होता है, उस कर्म्मात्मा में भी वही पर्वविभाग हैं, जो प्रज्ञानात्मादि आत्माओं में बतलाए गए हैं । प्रत्येक आत्मा प्रणवमूर्त्ति है । जिसका तात्पर्य्य यही है कि, प्रत्येक आत्मा अर्द्धमात्रा–लक्षण परात्पर, अकारलक्षण अव्यय, उकारलक्षण अक्षर, मकारलक्षण आत्मक्षर, चारों पर्वों से युक्त है । साथ ही चारों पर्व आनन्दविज्ञानअन्तर्मनोरूप अखण्ड पर्वों तथा मनः प्राण, वाग्-रूप इन तीन खण्ड पर्वों से युक्त रहते हैं । यह चतुष्पर्वत्त्व ही आत्मा का आत्मत्त्वलक्षण सामान्य धर्म्म है । कर्म्मात्मा में भूतात्मा प्राज्ञ, तैजस, वैश्वानर, ये चार पर्व हैं । चारों पर्व क्रमशः अर्द्धमात्रालक्षण परात्पर, अकारलक्षण अव्यय, उकारलक्षण अक्षर, मकारलक्षण आत्मक्षर से, एवं आनन्दविज्ञानमनोलक्षण अखण्ड पर्व, मनः, प्राण, वाक्, इन चारों पर्वों से अनुगृहीत है । कर्म्मात्मक लौकिक कर्म्मयोग (श्रम) के अनुगमन में कर्म्मात्मा का आत्मक्षर–वागनुगृहीत अर्थप्रधान वैश्वानरभाग उद्बुद्ध रहता है । कर्म्मात्मक लौकिक भक्तियोग (तप) के अनुगमन में कर्म्मात्मा का अक्षर–प्राणानुगृहीत, क्रियाप्रधान तैजसभाग उद्बुद्ध रहता है । कर्म्मात्मक लौकिक-ज्ञानयोग (काम) के अनुगमन में कर्म्मात्मा का अव्यय–मनोऽनुगृहीत, ज्ञानप्रधान प्राज्ञभाग उद्बुद्ध रहता

है। कर्म्मात्मक वैदिक बुद्धियोग (यज्ञकर्म्म) के अनुगमन में कर्म्मात्मा का परात्परआनन्दविज्ञानअन्तर्मनोऽनुग्रहीत भूतात्मभाग उद्बुद्ध रहता है।

२५–योगानुगत प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानर–आत्मा—

तात्पर्य्य यह हुआ कि, मकारलक्षण आत्मक्षर, अर्थप्रधाना वाक्, अर्थप्रधान वैश्वानर, उकारलक्षण अक्षर, क्रियाप्रधान प्राण, क्रियाप्रधान तैजस, अकारलक्षण अव्यय, ज्ञानप्रधान मन, ज्ञानप्रधान प्रज्ञान, इन सबको अपने गर्भ में भुक्त रखने वाला अर्द्धमात्रालक्षण परात्पर, आनन्दविज्ञानअन्तर्मनोरूप सामान्य अखण्ड आत्मपर्व से अनुगृहीत **भूतात्मा** वैदिक कर्म्मयोगानुष्ठान में प्रधान बना रहता है, जिसे प्रकृत में हमनें बुद्धियोग कहा है।

आत्मक्षर, वाक्, वैश्वानर, अव्यय, मन, प्राज्ञ, परात्पर, आनन्दविज्ञानमन, भूतात्मा, इन सबको अपने गर्भ में भुक्त रखने वाला, उकारलक्षण अक्षर, क्रियाप्रधान प्राण से अनुग्रहीत **तैजसात्मा** लौकिक–कर्म्मात्मक भक्तियोग (तप) के अनुष्ठान में प्रधान बना रहता है।

आत्मक्षर, वाक्, वैश्वानर, अक्षर, प्राण, तैजस, परात्पर, आनन्दविज्ञानअन्तर्मनोरूप अखण्ड आत्मपर्व, भूतात्मा, इन सबको अपने गर्भ में भुक्त रखने वाला अकारलक्षण अव्यय, ज्ञानप्रधान मनः पर्व से अनुगृहीत **प्राज्ञात्मा** लौकिक–कर्म्मात्मक–ज्ञानयोग (काम) के अनुष्ठान में प्रधान बना रहता है।

परात्पर, आनन्दविज्ञानमन, भूतात्मा, अव्यय, मन, प्राज्ञ, अक्षर, प्राण, तैजस, इन सबको अपने गर्भ में भुक्त रखने वाला, मकारलक्षण आत्मक्षर, अर्थप्रधाना वाक् से अनुगृहीत **वैश्वानरात्मा** लौकिक-कर्म्मात्मक कर्म्मयोग (श्रम) के अनुष्ठान में प्रधान बना रहता है।

२६–भूत–देव–ब्रह्म–आत्म–भेदभिन्ना अग्निचतुष्टयी, एवं तदनुगता योगचतुष्टयी—

कर्म्मयोगचतुष्टयी में साधन अग्नितत्त्व बनता है, साध्य विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा बनता है, साधक भूतात्मा बनता है। सत्यलक्षण साधनभूत अग्नितत्त्व के **भूतसत्याग्नि, देवसत्याग्नि, ब्रह्मसत्याग्नि, आत्मसत्याग्नि,** ये चार विवर्त्त मानें गए हैं, जैसाकि **'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास'** इत्यादि अनुगम वचन से प्रमाणित है। अग्नि के ये चारों पर्व क्रमशः भूतात्मा के आत्मलक्षण भूतात्मा, कारण-शरीरलक्षण प्रज्ञानात्मा, सूक्ष्मशरीरलक्षण तैजसात्मा, स्थूलशरीरलक्षण वैश्वानरात्मा, इन चार पर्वों से सम्बद्ध हैं। कर्म्मयोगात्मिका योगचतुष्टयी में यह अग्निचतुष्टयी ही साधन बनती है। अन्य आत्मपर्वों की भाँति यह साधनपर्वचतुष्टयी भी परात्परादि चारों पर्वों से क्रमशः अनुगृहीत है। ईश्वरीय गूढोत्मा, जीवानुगत गूढोत्मा, अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा, अग्न्यात्मा, इन आठ आत्मपर्वों का भक्तियोग–

परीक्षा में भलीभाँति विश्लेषण किया जाचुका है। आठों में से ईश्वरीय गूढोत्मा परात्पर से, जीवानुगत गूढोत्मा अव्यय से, अव्यक्त-महान् अक्षर से, विज्ञान प्रज्ञान आत्मक्षर से, भूतात्मा विकारक्षर से, एवं अग्न्यात्मा वैकारिक क्षर से अनुगृहीत है। इस विश्लेषण को लक्ष्य में रखते हुए ही प्रस्तुत योगचतुष्टयी का समन्वय करना चाहिए। तात्पर्य्य इस विश्लेषण का यही हुआ कि—

२७–कर्म्मात्मक कर्म्मयोग का अधिष्ठाता वैश्वानरात्मा (१)-

(१)–कर्म्मात्मक **कर्म्मयोग** में साधनभूत अग्न्यात्मा के परात्पर-अव्यय-अक्षर-भाग से सम्बद्ध आत्मसत्याग्नि, ब्रह्मसत्याग्नि, देवसत्याग्नि, ये तीनों पर्व, साध्यभूत विज्ञानात्मा के चाक्षुषपुरुष, विज्ञान, आयुः-प्राण, ये तीन पर्व, प्रज्ञानात्मा के साम्बसदाशिव, प्रज्ञान, यशः प्राण, ये तीन पर्व, एवं साधकभूत भूतात्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा, मनोमय प्रज्ञात्मा, प्राणमय तैजसात्मा, ये तीन पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत अग्न्यात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साधनभूत अग्न्यात्मा के चौथे उद्बुद्ध भूतसत्याग्नि नामक पर्व में, साध्यभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध ज्योतिर्गौ नामक पर्व में, साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध रेतः-श्रद्धा नामक पर्व में, एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधकभूत भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध वाङ्मय **'वैश्वानरात्मा'** नामक पर्व में अन्तर्भुक्त रहते हैं।

२८–कर्म्मात्मक भक्तियोग का अधिष्ठाता तैजसात्मा (२)--

(२)–कर्म्मात्मक **भक्तियोग** में साधनभूत अग्न्यात्मा के परात्पर-अव्यय-आत्मक्षर-भाग से सम्बद्ध आत्मसत्याग्नि, ब्रह्मसत्याग्नि, भूतसत्याग्नि, ये तीन पर्व, साध्यभूत विज्ञानात्मा के चाक्षुषपुरुष, विज्ञान, ज्योतिर्गौ, ये तीन पर्व, प्रज्ञानात्मा के साम्बसदाशिव, प्रज्ञान, रेतः-श्रद्धा, ये तीन पर्व. एवं साधकभूत भूतात्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा, मनोमय प्राज्ञात्मा, वाङ्मय वैश्वानरात्मा, ये तीन पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत अग्न्यात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत अग्न्यात्मा के चौथे उद्बुद्ध देवसत्याग्नि-नामक पर्व में, साध्यभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्नुग्ध पर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध आयुःप्राण नामक पर्व में, साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध यशःप्राण नामक पर्व में , एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधकभूत भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध प्राणमय **'तैजासात्मा'** नामक पर्व में अन्तर्भुक्त रहते हैं।

२९–कर्म्मात्मक ज्ञानयोग का अधिष्ठाता प्राज्ञात्मा (३)–

(३–)कर्म्मात्मक **ज्ञानयोग** में साधनभूत अग्न्यात्मा के परात्पर-अक्षर-आत्मक्षर-भाग से सम्बद्ध आत्मसत्याग्नि, देवसत्याग्नि, भूतसत्याग्नि, ये तीनों पर्व, साध्यभूत विज्ञानात्मा के चाक्षुषपुरुष, आयुः प्राण, ज्योतिर्गौ, ये तीनों पर्व, प्रज्ञानात्मा के साम्बसदाशिव, यशःप्राण, रेतः-श्रद्धा, ये तीनों पर्व, एवं साधकभूत भूतात्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा, प्राणमय तैजसात्मा, वाङ्मय वैश्वरात्मा, ये तीनों पर्व उन्मुग्धा-वस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत अग्न्यात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत अग्न्यात्मा के चौथे उद्-बुद्ध ब्रह्मसत्याग्नि नामक पर्व में, साध्यभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के चौथे

उद्बुद्ध विज्ञान नामक पर्व में, साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध प्रज्ञान नामक पर्व में, एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधकभूत भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध मनोमय **'प्राज्ञात्मा'** नामक पर्व में अन्तर्भुक्त रहते हैं।

३०-कर्म्मात्मक बुद्धियोग का अधिष्ठाता समष्ट्यात्मा (४)-

(४)-कर्म्मात्मक बुद्धियोग में साधनभूत अग्न्यात्मा के अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर भाग से सम्बद्ध ब्रह्मसत्याग्नि, देवसत्याग्नि, भूतसत्याग्नि, ये तीनों पर्व, साध्यभूत विज्ञानात्मा के विज्ञान, आयुः प्राण, ज्योतिर्गौः, ये तीनों पर्व, प्रज्ञानात्मा के प्रज्ञान, यशःप्राण, रेतः-श्रद्धा, ये तीनों पर्व, एवं साधकभूत भूतात्मा के मनोमय प्राज्ञात्मा, प्राणमय तैजसात्मा, वाङ्मय वैश्वानरात्मा, ये तीनों पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत अग्न्यात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साधनभूत अग्न्यात्मा के चौथे उद्बुद्ध आत्मसत्याग्नि नामक पर्व में, साध्यभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध चाक्षुषपुरुष नामक पर्व में, साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध साम्बसदाशिव नामक पर्व में, एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व, साधकभूत भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध आनन्द-विज्ञानमनोमय **'भूतात्मा'** नामक पर्व में अन्तर्भुक्त रहते हैं, जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट है।

कर्म्मयोगात्मिका प्रस्तुत योगचतुष्टयी में जिन विज्ञान-प्रज्ञान-पर्वों को साध्य बतलाया गया है, वे ही भक्तियोगात्मिका योगचतुष्टयी में साधन बन जाते हैं, जैसाकि तन्निरूपण में स्पष्ट किया जाने वाला है। एवमेव भक्तियोगात्मिका योगचतुष्टयी के साध्यभूत अव्यक्त-महान् ज्ञानयोगात्मिका योगचतुष्टयी में साधन बन जाते हैं। एवं ज्ञानयोगात्मिका योगचतुष्टयी का साध्यभूत जीवानुगत गूढोत्मा बुद्धियोगात्मिका योगचतुष्टयी में साधन बन जाता है। इसप्रकार पूर्व पूर्व योग के साध्य उत्तर उत्तर योग में साधन बन जाते हैं। साधन बने हुए उन उन आत्मपर्वों के गर्भ में पूर्व पूर्व योगों के साधन भी अन्तर्भुक्त रहते हैं। उदाहरण के लिए भक्तियोगात्मिका योगचतुष्टयी को ही लीजिए। विज्ञान-प्रज्ञानात्मपर्व कर्म्मयोगात्मिका योगचतुष्टयी में साध्य हैं, एवं अग्न्यात्म-पर्व साधन हैं। भक्तियोगात्मिका योगचतुष्टयी में विज्ञान प्रज्ञान साधन बन जायँगे, जो विज्ञान प्रज्ञान कर्म्मयोग-चतुष्टयी में साध्य बने हुए थे। साथ ही कर्म्मयोगचतुष्टयी में साधन बने हुए अग्न्यात्मपर्व भी भक्तियोग-चतुष्टयी में साधन बनने वाले विज्ञान प्रज्ञानपर्वों में अन्तर्भुक्त रहेंगे। यही व्यवस्था आगे के योगों में समझनी चाहिए, जिसका तत्तत्प्रकरणों में भी स्पष्टीकरण कर दिया जायगा।

१–कर्म्मात्मकयोगपरिलेखाः–

(१)-तेष्वेषः-कर्म्मात्मककर्म्म-

योगपरिलेखः प्रथमः

१

		१ अग्न्यात्मा साधनम्	२ विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा–साध्यम्		३ देही भूतात्मा–साधकः
अन्तर्मुक्‌पर्वाणि		अग्न्यात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्ध–साध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्ध–साध्यानि	भूतात्म–पर्वाणि उन्मुग्ध–साधकाः
अर्द्धमात्रानुगतः	परात्परः	१–आत्मसत्याग्निः	चाक्षुषपुरुषः	साम्बसदाशिवः,	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा
अकारानुगतः	अव्ययः	२–ब्रह्मसत्याग्निः	विज्ञानम्	प्रज्ञानम्	मनोमयः–प्राज्ञात्मा
उकारानुगतः	अक्षरः	३–देवसत्याग्निः ३	आयुः प्राणः ३	यशः प्राणः ३	प्राणमयः–तैजसात्मा ३
बाह्यपर्वाणि		अग्न्यात्मपर्व उद्बुद्धसाधनम्	विज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	भूतात्मपर्व उद्बुद्धसाधकः
मकारानुगतः	आत्मक्षरः	४–भूतसत्याग्निः १	ज्योतिर्गौः १	रेतः–श्रद्धा १	वाङ्मयो–वैश्वानरात्मा १

स एषः–उन्मुग्धाग्न्यात्म–विज्ञानात्म–प्रज्ञानात्म–भूतात्म–पर्वगर्भितः–उद्बुद्ध–अग्न्यात्म–विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्म-कृतरूपो वैश्वानरप्रधानो भूतात्मा–कर्म्मात्मके कर्म्मयोगानुष्ठाने प्रधानम्

–कर्म्मात्मककर्म्मयोगानुष्ठाता–

वाङ्मयो भूतात्मा वैश्वानरः(१)

	१	२		३
अन्तर्मुक्तपर्वाणि	अग्न्यात्मा साधनम्	विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा साध्यम्		देही भूतात्मा-साधकः
	अग्न्यात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	भूतात्म-पर्वाणि उन्मुग्ध-साधकाः
अर्द्धमात्रानुगतः परात्परः	१-आत्मसत्याग्निः	चाक्षुषपुरुषः	साम्बसदाशिवः	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा
अकारानुगतः अव्ययः	२--ब्रह्मसत्याग्निः	विज्ञानम्	प्रज्ञानम्	मनोमयः-प्राज्ञात्मा
मकारानुगत आत्मक्षरः	३-भूतसत्याग्निः ३	ज्योतिर्गौः ३	रेतः-श्रद्धा ३	वाङ्मयो-वैश्वानरात्मा ३
बाह्यपर्वाणि	अग्न्यात्मपर्व उद्बुद्धसाधनम्	विज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	भूतात्मपर्व उद्बुद्धसाधकः
उकारानुगतः अक्षरः	४-देवसत्याग्निः १	आयुः प्राणः १	यशः-प्राणः १	प्राणमयः-तैजसात्मा १

स एषः-उन्मुग्ध-अग्न्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्म-भूतात्मपर्वगर्भितः-उद्बुद्ध-अग्न्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्म-कृतरूपस्तैजसप्रधानो-भूतात्मा-कर्म्मात्मिके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्

(२)-स एषः-कर्म्मात्मकभक्ति-योगपरिलेखो द्वितीयः—

२

—कर्म्मात्मकभक्तियोगानुष्ठाता प्राणमयो भूतात्मा तैजसः (२)

३-स एषः-कर्म्मात्मकज्ञानयोग-परिलेखस्तृतीयः

३

कर्म्मात्मकज्ञानयोगानुष्ठाता मनोमयो भूतात्मा प्राज्ञः (३)

	१ अग्न्यात्मा साधनम्	२ विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा साध्यः		३ देही भूतात्मा-साधकः
अन्तर्भुक्पर्वाणि	अग्न्यात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	भूतात्म-पर्वाणि उन्मुग्ध-साधकाः
अर्द्धमात्रानुगतः परात्परः	१-आत्मसत्याग्निः	चाक्षुषपुरुषः	साम्बसदाशिवः	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा
उकारानुगतः अक्षरः	२-देवसत्याग्निः	आयुः प्राणः	यशः प्राणः	प्राणमयः-तैजसात्मा
मकारानुगतः आत्मक्षरः	३-भूतसत्याग्निः ३	ज्योतिर्गौः ३	रेतः-श्रद्धा ३	वाङ्मयो-वैश्वानरात्मा ३
बाह्यपर्वाणि	अग्न्यात्मपर्व उद्बुद्धसाधनम्	विज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	भूतात्मपर्व उद्बुद्धसाधकः
अकारानुगतः अव्ययः	४-ब्रह्मसत्याग्निः १	विज्ञानम् १	प्रज्ञानम् १	मनोमयः-प्राज्ञात्मा १

स एषः-उन्मुग्ध-अग्न्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्म-भूतात्म-पर्वगर्भितः-उद्बुद्ध-अग्न्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्मकृतरूपः प्राज्ञप्रधानो-भूतात्मा-कर्म्मात्मके ज्ञानयोगानुष्ठाने प्रधानम्

	१	२		३
अन्तर्मुखपर्वाणि	अग्न्यात्मा साधनम्	विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा साध्यम्		देही भूतात्मा-साधकः
	अग्न्यात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	भूतात्म-पर्वाणि उन्मुग्ध-साधकाः
अकारानुगतः अव्ययः	१-ब्रह्मसत्याग्निः	विज्ञानम्	प्रज्ञानम्	मनोमयः-प्राज्ञात्मा
उकारानुगतः अक्षरः	२-देवसत्याग्निः	आयुः प्राणः	यशः प्राणः	प्राणमयः-तैजसात्मा
मकारानुगतः आत्मक्षरः	३-भूतसत्याग्निः ३	ज्योतिर्गौः ३	रेतः-श्रद्धा ३	वाङ्मयो-वैश्वानरात्मा ३
बाह्यपर्वाणि	अग्न्यात्मपर्व उद्बुद्धसाधनम्	विज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	भूतात्मपर्व उद्बुद्धसाधकः
अर्द्ध मात्रानुगतः परात्परः	४-आत्मसत्याग्निः १	चाक्षुषपुरुषः १	साम्बसदाशिवः १	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा १

स एषः-उन्मुग्ध-अग्न्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्म-भूतात्मपर्वगर्भितः-उद्बुद्ध-अग्न्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्मकृतरूपो भूतात्मप्रधानो भूतात्मा-कर्म्मयोगात्मके बुद्धियोगानुष्ठाने प्रधानम्

(४)-स एषः-कर्म्मात्मकबुद्धियोग-परिलेखश्चतुर्थः

४

-कर्म्मात्मकबुद्धियोगानुष्ठाता-आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा-भूतात्मा (४)

प्रकारान्तरेण—

१

	१	२	३
(१)	मकारः	उकारः	अकारः
(२)	आत्मक्षरः	अक्षरः	अव्ययः
(३)	वाक्	प्राणः	मनः
(४)	वैश्वानरः	तैजसः	प्राज्ञः

—इत्येतान् गर्भे भुक्त्वा-अर्द्धमात्र-परात्पर-आनन्द-विज्ञान-मनोऽनुगृहीतो भूतात्मा भूतात्मा विज्ञान-सम्परिष्वक्तः-कर्म्मात्मके **बुद्धियोगानुष्ठाने** प्रधानम्

२

	१	२	३
(१)	मकारः	उकारः	अर्द्धमात्रा
(२)	आत्मक्षरः	अक्षरः	परात्परः
(३)	वाक्	प्राणः	आ०वि० मनांसि
(४)	वैश्वानरः	तैजसः	भूतात्मा

—इत्येतान् गर्भे भुक्त्वा-अकार-अव्यय-मनोऽनुगृहीतः प्राज्ञो भूतात्मा विज्ञानसम्परिष्वक्तः-कर्म्मात्मके **ज्ञानयोगानुष्ठाने** प्रधानम्

३

	१	२	३
(१)	मकारः	अकारः	अर्द्धमात्रा
(२)	आत्मक्षरः	अव्ययः	परात्परः
(३)	वाक्	मनः	आ०वि० मनांसि
(४)	वैश्वानरः	प्राज्ञः	भूतात्मा

—इत्येतान् गर्भे भुक्त्वा-उकार-अक्षर-प्राणानुगृहीत-स्तैजसो भूतात्मा विज्ञानसम्परिष्वक्तः कर्म्मात्मके **भक्तियोगानुष्ठाने** प्रधानम्

४

	१	२	३
(१)	अकारः	उकारः	अर्द्धमात्रा
(२)	अव्ययः	अक्षरः	परात्परः
(३)	मनः	प्राणः	आ०वि० मनांसि
(४)	प्राज्ञः	तैजसः	भूतात्मा

—इत्येतान् गर्भे भुक्त्वा-मकार-आत्मक्षर-वागनुगृहीतो वैश्वानरो-भूतात्मा विज्ञानसम्परिष्वक्तः कर्म्मात्मके **कर्म्मयोगानुष्ठाने** प्रधानम्

१	अर्द्धमात्रा	अकारः	उकारः	इत्येतान् गर्भे मकृत्वा–भूतसत्याग्नि-ज्योतिर्गौरेतःश्रद्धाभावानुगतः-वाङ्मयो वैश्वानरात्मा कर्म्मयोगात्मके कर्म्मयोगानुष्ठाने प्रधानम्	१ भूतात्मा-वैश्वानरः कर्म्मयोगात्मकः:- कर्म्मयोगः (१)
२	परात्परः	अव्ययः	अक्षरः		
३	आत्मसत्याग्निः	ब्रह्मसत्याग्निः	देवसत्याग्निः		
४	चाक्षुषपुरुषः	विज्ञानम्	आयुःप्राणः		
५	साम्बसदाशिवः	प्रज्ञानम्	यशः प्राणः		
६	भूतात्मा	मनोमयः प्रज्ञात्मा	प्राणमयस्तैजसात्मा		
७	आनन्दविज्ञानमनांसि	मनः	प्राणः		
१	अर्द्धमात्रा	अकारः	मकारः	इत्येतान् गर्भेमकृत्वा–देवसत्याग्नि-आयुःप्राण-यशःप्राणः भावानुगतः-प्राणमयस्तैजसात्मा–कर्म्मयोगात्मके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्	२ भूतात्मा–तैजसः कर्म्मयोगात्मकः:- भक्तियोगः(२)
२	परात्परः	अव्ययः	आत्मक्षरः		
३	आत्मसत्याग्निः	ब्रह्मसत्याग्निः	भूतसत्याग्निः		
४	चक्षुषपुरुषः	विज्ञानम्	ज्योतिर्गौः		
५	साम्बसदाशिवः	प्रज्ञानम्	रेतः–श्रद्धा		
६	भूतात्मा	मनोमयः प्रज्ञात्मा	वाङ्मयो वैश्वानरात्मा		
७	आनन्दविज्ञानमनांसि	मनः	वाक्		
१	अर्द्धमात्रा	उकारः	मकारः	इत्येतान् गर्भे मकृत्वा-ब्रह्मसत्याग्नि-विज्ञान-प्रज्ञान-भावानुगतः-मनोमयः प्रज्ञात्मा कर्म्मयोगात्मके ज्ञानयोगानुष्ठाने प्रधानम्	३ भूतात्मा–प्राज्ञः कर्म्मयोगात्मकः:- ज्ञानयोगः (३)
२	परात्परः	अक्षरः	आत्मक्षरः		
३	आत्मसत्याग्निः	देवसत्याग्निः	भूतसत्याग्निः		
४	चाक्षुषपुरुषः	आयुः प्राणः	ज्योतिर्गौः		
५	साम्बसदाशिवः	यशः प्राण	रेतः–श्रद्धा		
६	भूतात्मा	प्राणमयस्तैजसात्मा	वाङ्मयोवैश्वानरात्मा		
७	आनन्दविज्ञानमनांसि	प्राणः	वाक्		
१	अकारः	उकारः	मकारः	इत्येतान् गर्भे मकृत्वा-आत्मसत्याग्नि-चाक्षुषपुरुष - साम्बसदाशिवभावानु - गतः-आनन्दविज्ञान-मनोमयो भूतात्मा कर्म्मयोगात्मके बुद्धियोगानुष्ठानेप्रधानम्	४ भूतात्मा-भूतात्मा कर्म्मयोगात्मकः:- बुद्धियोगः (४)
२	अव्ययः	अक्षरः	आत्मक्षरः		
३	ब्रह्मसत्याग्निः	देवसत्याग्निः	भूतसत्याग्निः		
४	विज्ञानम्	आयुः प्राणः	ज्योतिर्गौः		
५	प्रज्ञानम्	यशः प्राणः	रेतः–श्रद्धा		
६	मनोमयः प्रज्ञात्मा	प्राणमयस्तैजसात्मा	वाङ्मयो वैश्वानरात्मा		
७	मनः	प्राणः	वाक्		

प्रकारान्तरेण—

(१) प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर-गर्भितः-भूतात्मा——बुद्धियोगात्मा-बुद्धियोगानुष्ठाता

(२) तैजस-प्राज्ञ-भूतात्म-गर्भितः-प्राज्ञात्मा———ज्ञानयोगात्मा-ज्ञानयोगानुष्ठाता

(३) प्राज्ञ--भूतात्म--वैश्वानरगर्भितः-तैजसात्मा--भक्तियोगात्मा-भक्तियोगानुष्ठाता

(४) तैजस-प्राज्ञ-भूतात्मगर्भितः-वैश्वानरात्मा——कर्म्मयोगात्मा-कर्म्मयोगानुष्ठाता

——*——

विज्ञानसम्परिष्वक्तप्रज्ञानात्मानुगता योगचतुष्टयी—

विज्ञानात्मपर्वाणि[१] प्रज्ञानात्मपर्वाणि[२] भूतात्मपर्वाणि[३]

(१) चाक्षुषपुरुषः—साम्बसदाशिवः—भूतात्मा——बुद्धियोगी (परात्परानुगतः)

(२) विज्ञानम्——प्रज्ञानम्————प्राज्ञात्मा——ज्ञानयोगी (अव्ययानुगतः)

(३) आयुःप्राणः——यशः प्राणः———तैजसात्मा——भक्तियोगी (अक्षरानुगतः)

(४) ज्योतिर्गौः——रेतः श्रद्धा————वैश्वानरात्मा-कर्म्मयोगी (आत्मक्षरानुगतः)

----*----

(१) चाक्षुषपुरुषगर्भितः साम्बसदाशिवः—तदनुगतो भूतात्मा--आत्मा (बुद्धियोगप्रतिष्ठाभूमिः)

(२) विज्ञानगर्भितं प्रज्ञानम्--------तदनुगतः प्रज्ञात्मा--कारणशरीरम् (ज्ञानयोगप्रतिष्ठाभूमिः)

(३) आयुःप्राणगर्भितो यशः प्राणः—-तदनुगतस्तैजसात्मा—सूक्ष्मशरीरम्(भक्तियोगप्रतिष्ठाभूमिः)

(४) ज्योतिर्गौर्गर्भितं रेतः, श्रद्धा च----तदनुगतो वैश्वानरात्मा-स्थूलशरीरम्(कर्म्मयोगप्रतिष्ठाभूमिः)

----*----

(१)-वैदिकयज्ञकर्म्मानुष्ठानम्-तदनुगताः-साम्बसदाशिवोपजीविनो वैदिकाः (बुद्धियोगिनः)

(२)-लौकिकज्ञानानुष्ठानम्—तदनुगताः-प्रज्ञोपजीविनो ज्ञानिनः (ज्ञानयोगिनः)

(३)-लौकिकसेवानुष्ठानम्—तदनुगता—यशः प्राणोपजीविनः सेवकाः (भक्तियोगिनः)

(४)-लौकिकश्रमानुष्ठानम्--तदनुगताः-रेतः श्रद्धोपजीविनः श्रमजीविनः (कर्म्मयोगिनः)

----*----

सैषा विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मानुगता भूतात्मनो योगचतुष्टयी प्रथमा—

१-बहिर्मुखाः श्रमजीविनः------कर्म्मयोगिनो लौकिकाः

२--बहिर्मुखाः सेवाधर्म्मपरायणाः—भक्तियोगिनो ,,

३-बहिर्मुखाः--भूतविज्ञातनिष्ठाः---ज्ञानयोगिनो ,,

४-अन्तर्मुखाः-वैदिककर्म्मण्यासक्ताः-बुद्धियोगिनो वैदिकाः

——*——

❀–भक्त्यात्मिका भक्तियोग चतुष्टयी द्वितीया

३१–'परिचर्य्या' भावानुगत वाङ्मय भक्तियोग (१)—

(१)—अब क्रमप्राप्त दूसरी भक्तियोगचतुष्टयी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। स्पष्ट किया जा चुका है कि, अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मा के आधार पर भक्तियोग प्रतिष्ठित है। योगानुष्ठाता वही भूतात्मा है। केवल साधन दृष्टि में अन्तर है। कर्म्मयोगानुष्ठान में भूतात्मा जहाँ विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा का अनुगामी बना रहता है, वहाँ भक्तियोगानुष्ठान में वही भूतात्मा विज्ञानात्मयुक्त प्रज्ञानरूप (बुद्धियुक्त मन) को साथ लेता हुआ अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मा की ओर प्रधान रूप से अनुगत रहता है। भूतात्मा की इस महद्ब्रह्मानुगति का ही नाम भक्तियोग है, जिसके महानात्मपर्व–भेद से कर्म्मयोगवत् चार विवर्त्त हो जाते हैं। उन्हीं का क्रमशः सोदाहरण स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

अव्यक्तात्मा के आत्मक्षरानुगत शरीरगुहाभाग से समतुलित महानात्मा के आत्मक्षरानुगत इट्–ऊर्क्–भोगों को मूल बना कर विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञान के ज्योतिर्गौरनुगत रेतःश्रद्धा साधन–द्वारा भूतात्मा अपने आत्मक्षरप्रधान वैश्वानरभाग से जो कर्म्म करता है, उसे ही विज्ञानभाषा में **'परिचर्य्या'** कहा गया है। उपासनातत्त्वज्ञान से वञ्चित, यथाजात, लौकिक मनुष्य ही इस परिचर्य्यात्मिका भक्ति के अनुयायी बनें रहते हैं। स्पष्टीकरण के लिए यों समझिए कि, उपास्य तत्त्व महानात्मा के चातुर्विध्य से चार भागों में विभक्त है। महानात्मा का सत्त्वभाग अव्यक्तात्मा के परोरजा भाग से समतुलित होता हुआ परात्परप्रधान है, इसकी उपासना **'आत्मोपासना'** है। महानात्मा का महद्भाग अव्यक्तात्मा के अन्तर्य्यामी भाग से समतुलित होता हुआ अव्ययप्रधान है, इसकी उपासना **'सगुणेश्वरोपासना'** है। महानात्मा का सौम्यप्राण अव्यक्तात्मा के ऋत–सत्यसूत्र से समतुलित होता हुआ अक्षरप्रधान है, इसकी उपासना **'देवोपासना'** है। महानात्मा के इट्–ऊर्क्–गौ–भाग अव्यक्तात्मा की शरीरगुहा से समतुलित होते हुए आत्मक्षरप्रधान हैं, इसकी उपासना **'भूतो-पासना'** है। अश्वत्थ–वट–तुलसी आदि वृक्षों का पूजन, राम–कृष्णादि अवतारपुरुषों की प्रतिमाओं का पूजन, आदि आदि–बहिर्दृष्टिसापेक्ष जितनें भी भक्तिप्रकार हैं, जिन्हें हम 'साम्प्रदायिकभक्ति' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं, उन सबका आत्मक्षरानुगता भूतोपासना में हीं अन्तर्भाव है। यक्ष–राक्षस–भूत–प्रेतादि की उपासना का भी इसी में अन्तर्भाव माना जायगा। सम्प्रदायप्रवर्त्तकों की उपासना, श्रद्धेय गुरुप्रतिमाओं की उपासना, आदि प्रकार भी इसी पथ के अनुगामी मानें जाँयेंगे। भारतातिरिक्त इतर देशों के विभिन्न भक्ति-मार्ग, जिनका तत्तन्मतविशेषप्रवर्त्तक तत्तत् महापुरुषों से (ईसामसीह–मुहम्मद–जरथुस्त्र–आदि आदि सम्प्रदायप्रवर्त्तक मान्य आचार्य्यों से) सम्बन्ध है–का इसी भूतोपासना में अन्तर्भाव माना जायगा। इस मार्ग में साधन प्रत्यक्षदृष्ट आधिभौतिक हैं, तो उपास्य प्रत्यक्षदृष्ट प्रतिमादि द्वारा परोक्ष आधिदैविक है, इसलिए तो इसे 'भक्तियोग' कहा जायगा। साथ ही तत्त्वतः साध्य–रूप फल के भूतात्मक होने से भक्त्यात्मक कर्म्मयोग माना जायगा। इट् (अन्नसम्पत्ति), ऊर्क् (मनोबल), भोग (अन्नातिरिक्त भौतिक सम्पत्ति), इन तीन कामनाओं में समस्त कामनाएँ अन्तर्भूत हैं। भूतोपासक इन्हीं कामनाओं को लक्ष्य में रखकर ही एवंविध भक्तिमार्ग में प्रवृत्त होता है। वृक्षादि पूजन से स्वास्थ्य कामना की जाती है, भगवद्विग्रहों से पुत्र-कलत्रादि-सम्पत्-परिग्रह की याचना की जाती है। भूत–प्रेतादि की उपासना के द्वारा भी ऐहलौकिक कामनाओं का ही स्पष्टीकरण किया जाता है। इन्हीं सब कारण से इस भक्तियोग को भक्तियोगात्मक कर्म्मयोग ही कहना

अन्वर्थ बनता है। अव्यक्तात्मसम्परिष्वक्त महानात्मा के आत्मक्षर भाग से सम्बद्ध, शिरोगुहागर्भित इन्द्रर्क भोग-भागों पर प्रतिष्ठित, ज्योतिर्गौर्गर्भित रेतस्-श्रद्धा द्वारा संसाधित भक्त्यात्मक कर्म्मयोग, तथा कर्म्मयोगियों का यही संक्षिप्त विश्लेषण है। इसी को आत्मकला दृष्टि से **'वाङ्मय अर्थयोग'** कहा जा सकता है, जो लौकिक, कर्म्मात्मक-कर्म्मयोग से अंशतः समतुलित है।

३२--'भक्ति'-भावानुगत प्राणमय भक्तियोग (२)—

(२)—अक्षर भक्तियोग की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अव्यक्तात्मा के अक्षरानुगत ऋतसत्यसूत्र से समतुलित महानात्मा अक्षरानुगत सौम्यप्राण को मूल बना कर, विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा के आयुःप्राण-गर्भित यशःप्राणरूप साधन द्वारा भूतात्मा अपने अक्षरप्रधान तैजस भाग से जो कर्म्म करता है, उसे ही विज्ञानभाषा में **'भक्ति'** कहा गया है। प्राकृतिक प्राणदेवता ही इस भक्तिमार्ग की मूलप्रतिष्ठा है। अपनी आध्यात्मिक संस्था में भुक्त प्राणात्मक (शक्त्यात्मक) अग्नि-वायु-आदित्य-वरुण-इन्द्र-अर्य्यमा-त्वष्टा-आदि आदि देवताओं का उपासनात्मक एक विशेष प्रणाली के द्वारा प्राकृतिक प्राणदेवताओं के आकर्षण से स्वप्राण को सुव्यवस्थित बनाते हुए अपने आपको निरापद बनाए रखना ही इस उपासना का फल है। देवप्राण के सम्बन्ध से इस उपासना को 'देवोपासना' कहा जा सकता है, जिस उपासना का **'आदित्यमुद्गीथमुपासीत'**-**'उद्गीथाक्षराण्युपासीत'**-**'चन्द्रमसमुद्गीथमुपासीत'** इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है। अव्यक्तात्मा-नुगत ऋत-सत्यसूत्र द्वारा आधिदैविक प्राणदेवताओं का आकर्षण होता है, एवं महानात्मानुगत सौम्य प्राण अध्यात्म में आगत प्राण देवताओं की प्रतिष्ठा बनता है। यह उपासनामार्ग केवल भारतीय मानववर्ग में हीं अतीत में पुष्पित पल्लवित हुआ है। यहाँ साधनरूप से अधिभूत, साध्यरूप से अधिदैवत (प्राणदेवता), दोनों का समान रूप से समतुलन है। अतः इसे भक्तिलक्षणानुसार भक्त्यात्मक भक्तियोग कहा जा सकता है। अव्यक्तात्मसम्परिष्वक्त महानात्मा के अक्षरभाग से सम्बद्ध, ऋतसत्यसूत्रगर्भित सौम्य प्राण पर प्रतिष्ठित, आयुःप्राणगर्भित यशःप्राण के द्वारा संसाधित भक्त्यात्मक भक्तियोग, तथा भक्तियोगियों का यही संक्षिप्त विश्लेषण है। इसी को आत्मकलादृष्टि से **'प्राणमय क्रियायोग'** कहा जा सकता है, जो लौकिक-कर्म्मात्मक-भक्तियोग से अंशतः समतुलित है।

३३-'प्रपत्ति'-भावानुगत मनोमय भक्तियोग (३)—

(३)—अव्यय ज्ञानयोग की मूलप्रतिष्ठा बतलाया गया है। अव्यक्तात्मा के अव्ययानुगत अन्तर्य्यामी से समतुलित महानात्मा के अव्ययानुगत महद्ब्रह्म को मूल बना कर, विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा के विज्ञानगर्भित प्रज्ञानरूप साधन द्वारा भूतात्मा अपने अव्ययप्रधान प्राज्ञभाग के द्वारा जो कर्म्म करता है, उसे ही विज्ञानभाषा में **'प्रपत्ति'** कहा गया है। भूत-देव-तन्त्र-सञ्चालक, विज्ञानभाषा में **'साक्षीसुपर्ण'** नाम से प्रसिद्ध देवसत्यात्मक ईश्वरतत्त्व ही इस भक्तिमार्ग की मूलप्रतिष्ठा बनता है। अपने आपको इस सगुणब्रह्म के प्रति समर्पित कर देना ही 'ईशप्रपत्ति' है, जिसका अधिकारी 'प्रपन्नभक्त' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस मार्ग में आधिभौतिक विवर्त्त का आधिदैविक सगुणब्रह्म के प्रति समर्पण है। अतएव आधिदैविकत्वेन इसे अवश्य ही भक्त्यात्मक ज्ञानयोग कहा जा सकता है। अपने आत्मा को सगुणब्रह्म से भिन्न समझ कर उपास्य-उपासक रूप से उसके प्रति आत्मसमर्पण करना ही इस प्रपत्तिलक्षण भक्ति का मुख्य दृष्टिकोण है।

सालोक्य-सामीप्य ही इस भक्ति के मुख्य फल हैं। देवभक्ति अनेकत्त्वानुगामिनी थी, यह ईश्वरभक्ति एकत्त्वानुगामिनी है। अव्यक्तात्मसम्परिष्वक्त महानात्मा के अव्ययभाग से सम्बद्ध, अन्तर्य्यामिगर्भित महद्ब्रह्म पर प्रतिष्ठित, विज्ञानगर्भित-प्रज्ञानद्वारा संसाधित भक्त्यात्मक ज्ञानयोग, तथा ज्ञानयोगियों का यही संक्षिप्त विश्लेषण है। इसी को आत्मकलादृष्टि से **'मनोमय ज्ञानयोग'** कहा जा सकता है, जो लौकिक कर्म्मात्मक ज्ञानयोग से अंशतः समतुलित है।

३४-'उपासना'-भावानुगत सर्वमय भक्तियोग (४)—

(४)-परात्पर बुद्धियोग की आधारभूमि माना गया है। अव्यक्तात्मा के परात्परानुगत परोरजाभाग से समतुलित महानात्मा के परात्परानुगत सत्त्व (विशुद्धसत्त्व) को मूल बना कर, विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा के चाक्षुषपुरुषगर्भित साम्बसदाशिवरूप साधन द्वारा भूतात्मा अपने परात्परप्रधान तुरीय भूतात्मा द्वारा जो कर्म्म करता है, उसे ही विज्ञानभाषा में **'उपासना'** कहा गया है। विशुद्ध सत्त्वानुगत, अतएव निरुपाधिक, अतएव निष्कल, आत्मतत्त्व ही इस उपासना का मूलाधार है, जिसके सम्बन्ध में **'ततस्तु तं निष्कलं ध्यायमानः'** सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। **'विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः'** के अनुसार इस आत्मदर्शन में विशुद्ध महत्-सत्त्वानुगत विशुद्ध विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही प्रधान कारण बनता है। अतएव इस उपासनात्मक भक्तिमार्ग को अवश्य ही भक्त्यात्मक 'बुद्धियोग' (विज्ञानात्मयोग) कहा जा सकता है। प्रपन्नभक्ति में द्वैतबुद्धिपूर्वक आत्मसमर्पण था। इस उपासनात्मिका-समानप्रत्ययप्रवाहरूपा-भक्ति में **'आत्मैवेदं सर्वम्'** भावनालक्षणा अद्वैतभावना है। सारूप्यभाव के द्वारा सायुज्य ही इस ज्ञानात्मिका बुद्धियोगलक्षणा भक्ति (उपासना) का चरमफल है। अतएव इसे अद्वैतनिष्ठा (अव्ययानुगत ज्ञानयोग) से समतुलित माना गया है। अव्यक्तात्मसम्परिष्वक्त महानात्मा के परात्परभाग से सम्बद्ध, परोरजागर्भित सत्त्वभाग पर प्रतिष्ठित, चाक्षुषपुरुषगर्भित साम्बसदाशिव के द्वारा संसाधित भक्त्यात्मक बुद्धियोग, तथा बुद्धियोगियों का यही संक्षिप्त विश्लेषण है। इसी को आत्मकलादृष्टि से **'आनन्द विज्ञानमनोमय अधिदैवतयोग'** कहा जा सकता है, जो कर्म्मात्मक बुद्धियोग से अंशतः समतुलित है।

भक्त्यात्मक जिन चार योगों का पूर्व में क्रमिक विश्लेषण हुआ है, वे कर्म्मात्मिका योगचतुष्टयी की भाँति विशुद्ध स्वार्थ के पोषक बन रहे हैं। परिचर्य्यात्मिका भक्ति, भक्त्यात्मिका भक्ति, प्रपत्तिलक्षणा भक्ति, एवं उपासना-लक्षणा भक्ति, चारों से केवल योगानुष्ठानकर्त्ता की व्यक्तिसंस्था का ही उपकार है। इन चारों हीं भक्तिपथों में कामभाव अन्तर्निगूढ है। लोकसंग्रह का इस चतुष्टयी में भी अत्यन्ताभाव है। अतएव इस चतुष्टयी की उपयोगिता के सम्बन्ध में स्पष्टतः कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा से सम्बन्ध रखने वाली योगचतुष्टयी का चौथा बुद्धियोगात्मक वैदिककर्म्मयोग जहाँ मुख्यरूप से शास्त्रीय कर्म्मयोग माना जायगा, वहाँ अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मा से सम्बद्ध योगचतुष्टयी का चौथा बुद्धियोगात्मक उपासनायोग मुख्यरूप से शास्त्रीय भक्तियोग कहा जायगा। कर्म्मयोग 'योगनिष्ठा' कहलाएगी, उपासनायोग 'उभयनिष्ठा' मानी जायगी। महानात्मानुगता उक्त योगचतुष्टयी का आगे के परिलेखों से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि, भक्त्यात्मक कर्म्मयोग में मकारलक्षण आत्मक्षर से अनुगृहीत ज्योतिः, गौः, रेतः, श्रद्धा, ये विज्ञान-प्रज्ञानभाव साधन बनते हैं। शरीरगुहानुगत इट्-ऊर्क्-भोग साध्य बनते हैं, आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा, प्राज्ञात्मा, तैजसात्मा, इन तीनों स्वपर्वों को अपने गर्भ में भुक्त

रखने वाला वैश्वानरप्रधान वाङ्मय भूतात्मा साधक बनता है । भक्त्यात्मक भक्तियोग में उकारलक्षण, अक्षर से अनुगृहीत आयुः प्राण, और यशः प्राण, ये विज्ञान-प्रज्ञानभाव साधक बनते हैं । एवं ऋतसत्य-सूत्रानुगत सौम्यप्राण साध्य बनता है । आनन्दविज्ञानमनोमय तुरीय भूतात्मा, प्राज्ञात्मा, वैश्वानरात्मा, इन तीनों स्वपर्वों को अपने गर्भ में भुक्त रखने वाला तैजसप्रधान प्राणमय भूतात्मा साधक बनता है । भक्त्यात्मक ज्ञानयोग में अकारलक्षण अव्यय से अनुगृहीत विज्ञान, और प्रज्ञान, ये विज्ञान-प्रज्ञानभाव साधन बनते हैं । अन्तर्य्याम्यनुगत महद्ब्रह्म साध्य बनता है । आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा, तैजसात्मा, वैश्वानरात्मा, इन तीनों स्वपर्वों को स्वगर्भ में भुक्त रखने वाला प्राज्ञप्रधान मनोमय भूतात्मा साधक बनता है । भक्त्यात्मक बुद्धियोग में अर्द्धमात्रालक्षण परात्पर से अनुगृहीत चाक्षुषपुरुष, और साम्बसदाशिव, ये विज्ञान प्रज्ञानभाव साधन बनते हैं । प्राज्ञात्मा, तैजसात्मा, वैश्वानरात्मा, इन तीनों स्वपर्वों को स्वगर्भ में भुक्त रखने वाला आनन्दविज्ञानमनोमय तुरीय भूतात्मा साधक बनता है । तात्पर्य्य इस विश्लेषण का यही है कि—

(१) भक्त्यात्मक **कर्म्मयोग** में साधनभूत विज्ञानात्मा के परात्पर-अव्यय-अक्षरभाग से सम्बद्ध चाक्षुषपुरुष, विज्ञान, आयुः प्राण, ये तीनों पर्व, प्रज्ञानात्मा के साम्बसदाशिव, प्रज्ञान, यशःप्राण, ये तीनों पर्व, साध्यभूत अव्यक्तात्मा के परोरजा, अन्तर्य्यामी, ऋतसत्यसूत्र, ये तीनों पर्व, महानात्मा के सत्त्व, महान्, सौम्यप्राण, ये तीनों पर्व, एवं साधकभूत भूतात्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा, मनोमय प्राज्ञात्मा, प्राणमय तैजसात्मा, ये तीनों पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं । साधनभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत विज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध ज्योतिर्गौलक्षण पर्व में, साधनभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साधनभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध रेतःश्रद्धालक्षण पर्व में, साध्यभूत अव्यक्तात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साध्यभूत अव्यक्तात्मा के चौथे उद्बुद्ध शरीरगुहा पर्व में, साध्यभूत महानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साध्यभूत महानात्मा के चौथे उद्बुद्ध इडूक्-भोगपर्व में, एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साधकभूत भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध वैश्वानरपर्व में अन्तर्भुक्त रहते हैं ।

(२) भक्त्यात्मक **भक्तियोग** में साधनभूत विज्ञानात्मा के परात्पर-अव्यय-आत्मक्षर से सम्बद्ध चाक्षुषपुरुष, विज्ञान, ज्योतिर्गौः, ये तीनों पर्व, प्रज्ञानात्मा के साम्बसदाशिव, प्रज्ञान, रेतःश्रद्धा, ये तीनों पर्व, साध्यभूत अव्यक्तात्मा के परोरजा, अन्तर्य्यामी, शरीरगुहा, ये तीनों पर्व, महानात्मा के सत्त्व, महान्, इडूक्भोग, ये तीनों पर्व, एवं साधकभूत भूतात्मा के आनन्द विज्ञानमनोमय भूतात्मा, मनोमय प्राज्ञात्मा, वाङ्मय वैश्वानरात्मा, ये तीनों पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं । साधनभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत विज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध आयुःप्राण नामक पर्व में, साधनभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध यशःप्राण नामक पर्व में, साध्यभूत अव्यक्तात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत अव्यक्तात्मा के चौथे उद्बुद्ध ऋतसत्यसूत्र पर्व में, साध्यभूत महानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत महानात्मा के चौथे उद्बुद्ध सौम्यप्राण पर्व में, एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधकभूत भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध तैजसात्मपर्व में अन्तर्भुक्त रहते हैं ।

(३)-भक्त्यात्मक **ज्ञानयोग** में साधनभूत विज्ञानात्मा के परात्पर-अक्षर-आत्मक्षर से सम्बद्ध चाक्षुषपुरुष, आयुः प्राण, ज्योतिर्गौः, ये तीनों पर्व, प्रज्ञानात्मा के साम्बसदाशिव, यशः प्राण, रेतः श्रद्धा, ये तीनों पर्व, साध्यभूत अव्यक्तात्मा के परोरजा, ऋतसत्यसूत्र, शरीरगुहा, ये तीनों पर्व, महानात्मा के सत्त्व, सौम्यप्राण, इड्रूक् भोग, ये तीनों पर्व, एवं साधकभूत भूतात्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा, प्राणमय तैजसात्मा, वाङ्मय वैश्वानरात्मा, ये तीनों पर्व, उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साधनभूत विज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध विज्ञान नामक पर्व में, साधनभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साधनभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध प्रज्ञान नामक पर्व में, साध्यरूप अव्यक्तात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साध्यरूप अव्यक्तात्मा के चौथे उद्बुद्ध अन्तर्य्यामी नामक पर्व में, साध्यभूत महानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साध्यभूत महानात्मा के चौथे उद्बुद्ध महान् नामक पर्व में, एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधकरूप भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध प्राणमय तैजसात्मा नामक पर्व में अन्तर्भुक्त रहते हैं।

(४)-भक्त्यात्मक **बुद्धियोग** में साधनभूत विज्ञानात्मा के अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर से सम्बद्ध विज्ञान, आयुः प्राण, ज्योतिर्गौः, ये तीनों पर्व, प्रज्ञानात्मा के प्रज्ञान, यशः प्राण, रेतः श्रद्धा, ये तीनों पर्व, साध्यभूत अव्यक्तात्मा के अन्तर्य्यामी, ऋतसत्यसूत्र, शरीरगुहा, ये तीनों पर्व, महानात्मा के महान्, सौम्यप्राण, इड्रूक् भोग, ये तीनों पर्व, एवं साधकभूत भूतात्मा के मनोमय प्राज्ञात्मा, प्राणमय तैजसात्मा, वाङ्मय वैश्वानरात्मा, वे तीनों पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते है। साधनभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत विज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध चाक्षुषपुरुष नामक पर्व में, साधनभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध साम्बसदाशिव नामक पर्व में, साध्यभूत अव्यक्तात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत अव्यक्तात्मा के चौथे उद्बुद्ध परोरजा नामक पर्व में, साध्यभूत महानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साध्यभूत महानात्मा के चौथे उद्बुद्ध साम्बसदाशिव नामक पर्व में, एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधकभूत भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा नामक पर्व में अन्तर्भुक्त रहते है।

निष्कर्ष यही निकला कि, चारों हीं योगों में सभी साधन-साध्य-साधक आत्मपर्व विद्यमान हैं। केवल उन्मुग्ध-उद्बुद्धावस्था में अन्तर है। जो अन्तर्भावव्यवस्था कर्म्मात्मिका कर्म्मयोगचतुष्टयी में है, वही व्यवस्था यहाँ है। अन्तर यही है कि, उत्तर-उत्तर-के योग में पूर्व-पूर्व योगानुबन्धी आत्मपर्व भी साधनरूप से समाविष्ट रहते हैं। यही पूर्व-पूर्व योगापेक्षया उत्तर-उत्तर योगों के ज्येष्ठ-श्रेष्ठत्त्व, तथा पूर्णत्त्व का मौलिक रहस्य है। जैसा कि प्रथमयोगचतुष्टयी में स्पष्ट किया गया है, कर्म्मयोगात्मिका योगचतुष्टयी में साधन बने हुए विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्मपर्व इस दूसरी भक्त्यात्मिका योगचतुष्टयी में साधन बन जाते हैं। साथ ही ये विज्ञान-प्रज्ञानात्मक साधन कर्म्मात्मिका कर्म्मयोगचतुष्टयी में साधन बने हुए अग्न्यात्मा के चारों पर्वों को भी स्वगर्भ में भुक्त रखते हैं, जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट है।

अन्तर्भुक्तपर्वाणि		१ अग्न्यात्मा साधनम्	२ विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा–साध्यम्		३ देही भूतात्मा–साधकः
		अग्न्यात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्ध–साध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्ध–साध्यानि	भूतात्म–पर्वाणि उन्मुग्ध–साधकाः
अर्द्धमात्रानुगतः	परात्परः	१–आत्मसत्याग्निः	चाक्षुषपुरुषः	साम्बसदाशिवः,	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा
अकारानुगतः	अव्ययः	२–ब्रह्मसत्याग्निः	विज्ञानम्	प्रज्ञानम्	मनोमयः–प्राज्ञात्मा
उकारानुगतः	अक्षरः	३–देवसत्याग्निः ३	आयुः प्राणः ३	यशः प्राणः ३	प्राणमयः–तैजसात्मा ३
बाह्यपर्वाणि		अग्न्यात्मपर्व उद्बुद्धसाधनम्	विज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	भूतात्मपर्व उद्बुद्धसाधकः
मकारानुगतः	आत्मक्षरः	४–भूतसत्याग्निः १	ज्योतिर्गौः १	रेतः–श्रद्धा १	वाङ्मयो–वैश्वानरात्मा १

स एषः–उन्मुग्धाग्न्यात्म–विज्ञानात्म–प्रज्ञानात्म–भूतात्म–पर्वगर्भितः–उद्बुद्ध–अग्न्यात्म–विज्ञानात्म–प्रज्ञानात्म–कृतरूपो वैश्वानरप्रधानो भूतात्मा–कर्म्मात्मके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्

१–कर्म्मात्मकभक्तियोगपरिलेखाः

(१)–तेष्वेषः–कर्म्मात्मककर्म्म–योगपरिलेखः प्रथमः

१

–कर्म्मात्मकभक्तियोगानुष्ठाता–वाङ्मयो भूतात्मा वैश्वानरः(१)

(२)—स एषः—भक्त्यात्मकभक्ति-
योगपरिलेखो द्वितीयः—

२

	१	२		३
	अग्न्यात्मा साधनम्	विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा साध्यम्		देही भूतात्मा–साधकः
अन्तर्मुखपर्वाणि	अग्न्यात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	भूतात्म–पर्वाणि उन्मुग्ध–साधकाः
अर्द्धमात्रानुगतः परात्परः	१-आत्मसत्याग्निः	चाक्षुषपुरुषः	साम्बसदाशिवः	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा
अकारानुगतः अव्ययः	२—ब्रह्मसत्याग्निः	विज्ञानम्	प्रज्ञानम्	मनोमयः–प्राज्ञात्मा
मकारानुगत आत्मक्षरः	३–भूतसत्याग्निः ३	ज्योतिर्गौः ३	रेतः–श्रद्धा ३	वाङ्मयो–वैश्वानरात्मा ३
बाह्यपर्वाणि	अग्न्यात्मपर्व उद्बुद्धसाधनम्	विज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	भूतात्मपर्व उद्बुद्धसाधकः
उकारानुगतः अक्षरः	४–देवसत्याग्निः १	आयुः प्राणः १	यशः–प्राणः १	प्राणमयः–तैजसात्मा १

स एषः–उन्मुग्ध–अग्न्यात्म–विज्ञानात्म–प्रज्ञानात्म–भूतात्मपर्वगर्भितः–उद्बुद्ध–अग्न्यात्म–विज्ञानात्म–प्रज्ञानात्म–कृतरूपस्तैजसप्रधानो–भूतात्मा–भक्त्यात्मक–भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्

—भक्त्यात्मकभक्तियोगानुष्ठाता प्राणमयो भूतात्मा तैजसः (२)

	१ अग्न्यात्मा साधनम्	२ विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा साध्यम्		३ देही भूतात्मा-साधकः
अन्तर्मुखपर्वाणि	अग्न्यात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	भूतात्म-पर्वाणि उन्मुग्ध-साधकाः
अर्द्धमात्रानुगतः परात्परः	१-आत्मसत्याग्निः	चाक्षुषपुरुषः	साम्बसदाशिवः	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा
उकारानुगतः अक्षरः	२-देवसत्याग्निः	आयुः प्राणः	यशः प्राणः	प्राणमयः-तैजसात्मा
मकारानुगतः आत्मक्षरः	३-भूतसत्याग्निः ३	ज्योतिर्गौः ३	रेतः-श्रद्धा ३	वाङ्मयो-वैश्वानरात्मा ३
बाह्यपर्वाणि	अग्न्यात्मपर्व उद्बुद्धसाधनम्	विज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	भूतात्मपर्व उद्बुद्धसाधकः
अकारानुगतः अव्ययः	४-ब्रह्मसत्याग्निः १	विज्ञानम् १	प्रज्ञानम् १	मनोमयः-प्राज्ञात्मा १

स एषः-उन्मुग्ध-अग्न्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्म-भूतात्म-पर्वगर्भितः-उद्बुद्ध-अग्न्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्मकृतरूपः प्राज्ञप्रधानो-भूतात्मा-ज्ञानयोगात्मके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्

३-स एषः-ज्ञानयोगात्मक-भक्तियोग-परिलेखस्तृतीयः

३

-ज्ञानयोगात्मकभक्तियोगानुष्ठाता मनोमयो भूतात्मा प्राज्ञः (३)

	१	२		३
अन्तर्भु क्तपर्वाणि	अग्न्यात्मा साधनम्	विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा साध्यम्		देही भूतात्मा-साधकः
	अग्न्यात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	भूतात्म-पर्वाणि उन्मुग्ध-साधकाः
अकारानुगतः अव्ययः	१-ब्रह्मसत्याग्निः	विज्ञानम्	प्रज्ञानम्	मनोमयः-प्राज्ञात्मा
उकारानुगतः अक्षरः	२-देवसत्याग्निः	आयुः प्राणः	यशः प्राणः	प्राणमयः-तैजसात्मा
मकारानुगतः आत्मक्षरः	३-भूतसत्याग्निः ३	ज्योतिर्गौः ३	रेतः-श्रद्धा ३	वाङ्मयो-वैश्वानरात्मा ३
बाह्यपर्वाणि	अग्न्यात्मपर्व उद्बुद्धसाधनम्	विज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	भूतात्मपर्व उद्बुद्धसाधकः
अर्द्ध मात्रानुगतः परात्परः	४-आत्मसत्याग्निः १	चाक्षुषपुरुषः १	साम्बसदाशिवः १	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा १

स एषः-उन्मुग्ध-अग्न्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्म-भूतात्मपर्वगर्भितः-उद्बुद्ध-अग्न्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्मकृतरूपो भूतात्मप्रधानो भूतात्मा-बुद्धियोगात्मके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्

(४)-स एषः-बुद्धियोगात्मकभक्ति-

योग-परिलेखश्चतुर्थः

४

-बुद्धियोगात्मकभक्तियोगानुष्ठाता-

आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा-

भूतात्मा (४)

१	अर्द्धमात्रा	अकारः	उकारः
२	परात्परः	अव्ययः	अक्षरः
३	आत्मसत्याग्निः	ब्रह्मसत्याग्निः	देवसत्याग्निः
४	चाक्षुषपुरुषः	विज्ञानम्	आयुःप्राणः
५	साम्बसदाशिवः	प्रज्ञानम्	यशः प्राणः
६	भूतात्मा	मनोमयः प्राज्ञात्मा	प्राणमयस्तैजसात्मा
७	आनन्दविज्ञानमनांसि	मनः	प्राणः

इत्येतान् गर्भे भूकृत्वा–भूतसत्याग्नि-ज्योतिर्गर्भितःश्रद्धाभावानुगतः–वाङ्मयो वैश्वानरात्मा कर्म्मयोगात्मके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्

१

भूतात्मा-वैश्वानरः

भक्तियोगात्मकः

कर्म्मयोगः (१)

१	अर्द्धमात्रा	अकारः	मकारः
२	परात्परः	अव्ययः	आत्मक्षरः
३	आत्मसत्याग्निः	ब्रह्मसत्याग्निः	भूतसत्याग्निः
४	चाक्षुषपुरुषः	विज्ञानम्	ज्योतिर्गौः
५	साम्बसदाशिवः	प्रज्ञानम्	रेतः–श्रद्धा
६	भूतात्मा	मनोमयः प्राज्ञात्मा	वाङ्मयो वैश्वानरात्मा
७	आनन्दविज्ञानमनांसि	मनः	वाक्

इत्येतान् गर्भे भूकृत्वा–देवसत्याग्नि–आयुःप्राण–यशःप्राणभावानुगतः–प्राणमयस्तैजसात्मा–भक्तियोगात्मके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्

२

भूतात्मा–तैजसः

भक्तियोगात्मकः–

भक्तियोगः(२)

१	अर्द्धमात्रा	उकारः	मकारः
२	परात्परः	अक्षरः	आत्मक्षरः
३	आत्मसत्याग्निः	देवसत्याग्निः	भूतसत्याग्निः
४	चाक्षुषपुरुषः	आयुः प्राणः	ज्योतिर्गौः
५	साम्बसदाशिवः	यशः प्राणः	रेतः–श्रद्धा
६	भूतात्मा	प्राणमयस्तैजसात्मा	वाङ्मयोवैश्वानरात्मा
७	आनन्दविज्ञानमनांसि	प्राणः	वाक्

इत्येतान् गर्भे भूकृत्वा-ब्रह्मसत्याग्नि-विज्ञान-प्रज्ञान-भावानुगतः-मनोमयः प्राज्ञात्मा ज्ञानयोगात्मके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्

३

भतात्मा–प्राज्ञः

भक्तियोगात्मक.–

ज्ञानयोगः (३)

१	अकारः	उकारः	मकारः
२	अव्ययः	अक्षरः	आत्मक्षरः
३	ब्रह्मसत्याग्निः	देवसत्याग्निः	भूतसत्याग्निः
४	विज्ञानम्	आयुः प्राणः	ज्योतिर्गौः
५	प्रज्ञानम्	यशः प्राणः	रेतः–श्रद्धा
६	मनोमयः प्राज्ञात्मा	प्राणमयस्तैजसात्मा	वाङ्मयो वैश्वानरात्मा
७	मनः	प्राणः	वाक्

इत्येतान् गर्भे भूकृत्वा-आत्मसत्याग्नि-चक्षुषपुरुष - साम्बसदाशिवभावानुगतः-आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा बुद्धियोगात्मके भक्तियोगानुष्ठानेप्रधानम्

४

भूतात्मा-भूतात्मा

भक्तियोगात्मकः–

बुद्धियोगः (४)

प्रकारान्तरेण—

————————*

(१)–ब्रह्म-देव-भूत-सत्याग्नि-विज्ञानायुःप्राणज्योतिर्गौ--प्रज्ञानयशःप्राण--रेतःश्रद्धा---अन्तर्य्यामिऋतसत्यशरीरगुहा–महत्सौम्यप्राण-इड्वर्क भोग-प्राज्ञतैजस–वैश्वानरगर्भितः–आत्मसत्याग्नि–चाक्षुषपुरुष–साम्बसदाशिव–परोरजा-सत्त्वभावानुगतः–

(४)–आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा—**बुद्धियोगात्मक-भक्तियोगानुष्ठाता १**

————————*

(२)–आत्मदेवभूतसत्याग्नि–चाक्षुषपुरुषायुःप्राणज्योतिर्गौ-साम्बसदाशिवयशःप्राणरेतःश्रद्धा–-परोरजा–ऋतसत्य–शरीरगुहा–सत्त्वसौम्यप्राण–इड्वर्क भोग–भूततैजसवैश्वानरगर्भितः–ब्रह्मसत्याग्नि–विज्ञान–प्रज्ञान–अन्तर्य्यामि-महद्भावानुगतः–

(३)–मनोमयः प्राज्ञात्मा–**ज्ञानयोगात्मक–भक्तियोगानुष्ठाता २**

————————*

(३)–आत्मब्रह्मभूतसत्याग्नि—चाक्षुषपुरुषविज्ञानज्योतिर्गौ—साम्बसदाशिवप्रज्ञानरेतःश्रद्धा—परोरजा—अन्तर्य्यामि–शरीरगुहा–सत्त्वमहदिड्वर्क भोग–भूतप्राज्ञतैजसगर्भितः–देवसत्याग्नि–आयुःप्राण–यशःप्राण-ऋतसत्य–सौम्य-प्राणभावानुगतः-

(२,–प्राणमयस्तैजसात्मा–**भक्तियोगात्मक--भक्तियोगानुष्ठाता ३**

————————*

(४)–आत्मब्रह्मदेवसत्याग्नि–चाक्षुषपुरुषविज्ञानायुःप्राण–साम्बसदाशिवप्रज्ञानयशःप्राण–परोरजा–अन्तर्य्यामि–ऋतसत्यसत्त्वमहत्सौम्यप्राण–भूतप्राज्ञतैजसगर्भितः–भूतसत्याग्नि–ज्योतिर्गौ–रेतःश्रद्धा–शरीरगुहा–इड्वर्क–भोगभावानुगतः–

(१)–वाङ्मयो वैश्वानरात्मा–**कर्म्मयोगात्मक–भक्तियोगानुष्ठाता ४**

————————*

——*——

(१)–आत्मब्रह्मणि अभिन्नभावेनात्मसमर्पणम्–-तदनुगता सत्त्वोपजीविनः– आत्मवादिनः (परिचारकाः)
(२)–सगुणब्रह्मणि -अध्यात्मसमर्पणम्———तदनुगता महदुपजीविनः– सगुणब्रह्मवादिनः (भक्ताः)
(३)–आधिदैविकप्राणदेवानुगमनम् ———तदनुगताः सौम्यप्राणोपजीविनः– देववादिनः (प्रपन्नाः)
(४)–आधिभौतिकवृक्ष-प्रतिमाभावानामुपासनम्-तदनुगता इड्वर्क भोगजीविनः——भूतवादिनः (उपासकाः)

——*——

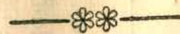
सैषा अव्यक्तात्मगर्भितमहानात्मानुगता भूतात्मनो भक्तियोगचतुष्टयी–द्वितीया—

(१) अन्तमुर्खाः——विशुद्धसात्त्विकाः—आत्मनिष्ठाः—-बुद्धियोगिनो उपासकाः (उपासना)
(२) अन्तमुर्खाः——सत्त्वरजोऽनुरक्ताः–-सगुणब्रह्मनिष्ठाः–ज्ञानयोगिनः प्रपन्नाः (प्रपत्तिः)
(३) अन्तर्बहिर्मुखाः–-रजस्तमोऽनुरक्ताः–देवनिष्ठाः——भक्तियोगिनो भक्ताः (भक्तिः)
(४) बहिर्मुखाः——तमोऽनुरक्ताः——भूतनिष्ठाः——कर्म्मयोगिनोऽर्चकाः (परिचर्य्या)

——*——

अव्यक्तात्मगर्भितमहानात्मानुगता योगचतुष्टयी--

१	२	३	४	५	६	
अग्न्यात्मपर्वाणि	विज्ञानात्मपर्वाणि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि	अव्यक्तात्मपर्वाणि	महानात्मपर्वाणि	भूतात्मपर्वाणि	
(१) आत्मसत्याग्निः—	चाक्षुषपुरुषः—	साम्बसदाशिवः—	परोरजाः—	सत्त्वम्—	भूतात्मा—	उपासकः (परात्परानुगतः)
(२) ब्रह्मसत्याग्निः—	विज्ञानम्—	प्रज्ञानम्—	अन्तर्य्यामी—	महान्—	प्राज्ञात्मा—	प्रपन्नः (अव्ययानुगतः)
(३) देवसत्याग्निः—	आयुःप्राणः—	यशःप्राणः—	ऋतसत्ये—	सौम्यप्राणः—	तैजसात्मा—	भक्तः (अक्षरानुगत.)
(४) भूतसत्याग्निः—	ज्योतिर्गौः—	रेतःश्रद्धा—	शरीरगुहा—	इद्दूर्के भोगाः—	वैश्वानरात्मा—	परिचारकः (आत्मक्षरानुगतः)



[१]-चाक्षुषपुरुषसम्परिष्वक्तः-साम्बसदाशिवानुगतः--परोरजागर्भितसत्त्वप्रधानो भूतात्मा-भूतात्मा--आत्मा [बुद्धियोगात्मकभक्तियोगप्रतिष्ठाभूमिः]

[२]-विज्ञानसम्परिष्वक्तः-प्रज्ञानानुगत--अन्तर्य्यामिगर्भितमहत्प्रधानो भूतात्मा-प्राज्ञात्मा--कारणशरीरम् [ज्ञानयोगात्मकभक्तियोगप्रतिष्ठाभूमिः]

[३]-आयुःप्राणसम्परिष्वक्तः-यशः-प्राणानुगतः-ऋतसत्यगर्भितसौम्यप्राणप्रधानो भूतात्मा-तैजसात्मा-सूक्ष्मशरीरम् [भक्तियोगात्मकभक्तियोगप्रतिष्ठाभूमिः

[४]-ज्योतिर्गौःसम्परिष्वक्तः-रेतः-शरीरगुहागर्भित-इद्दूर्के भोगप्रधानो भूतात्मा-वैश्वानरात्मा--स्थूलशरीरम् [कर्म्मयोगात्मकभक्तियोगप्रतिष्ठाभूमिः]

---*---

❀-ज्ञानयोगात्मिका ज्ञानयोगचतुष्टयी तृतीया

३५-जीवानुगत षोडशीपुरुष, और ज्ञानयोगचतुष्टयी—

अब क्रमप्राप्त तीसरी ज्ञानयोगचतुष्टयी का स्वरूपविश्लेषण पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जाता है। बतलाया गया है कि, जीवात्मानुगत गूढोत्मा (जीवानुगत षोडशीपुरुष) के आधार पर ज्ञानयोग प्रतिष्ठित है। योगानुष्ठाता वही पाठकों का सुपरिचित 'भूतात्मा' है, जिसके परात्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-भावों से अनुगत भूतात्मा-प्राज्ञात्मा-तैजसात्मा-वैश्वानरात्मा-ये चार पर्व बतलाए गए हैं। भक्तियोगानुष्ठान में भूतात्मा जहाँ विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा को स्वगर्भ में भुक्त रखने वाले अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मा का अनुगामी बना रहता है, वहाँ प्रस्तुत ज्ञानयोगानुष्ठान में यह भूतात्मा विज्ञान-प्रज्ञान-अव्यक्त-महान्-इन चारों आत्माओं को स्वयोगमाया के गर्भ में भुक्त रखने वाले योगमायी जीवानुगत-षोडशीपुरुष का अनुगामी बना रहता है। भूतात्मा की इस जीवषोडशीपुरुषानुगति का ही नाम 'ज्ञानयोग' है, जिसके षोडशी-पर्व भेद से भक्तियोगवत् चार विवर्त्त हो जाते हैं। उन्हीं का क्रमशः उदाहरणपूर्वक स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

३६-ज्ञानयोगाधिष्ठात्री आत्मचतुष्टयी—

जैवगूढोत्मा के आत्मक्षरानुगत आत्मक्षर पर्व को मूल (साध्य) बना कर अग्न्यात्मा के आत्मक्षरानुगत भूतसत्याग्नि, विज्ञानात्मा के आत्मक्षरानुगत ज्योतिर्गौः, प्रज्ञानात्मा के आत्मक्षरानुगत रेतः श्रद्धा, अव्यक्तात्मा के आत्मक्षरानुगत शरीरगुहा, महानात्मा के आत्मक्षरानुगत इडूर्क् भोग, इन साधनों के द्वारा भूतात्मा अपने आत्मक्षरप्रधान वाङ्मय वैश्वानर भाग से जो कर्म्म करता है, वही विज्ञानभाषा में 'वित्ति' नाम से व्यवहृत हुआ है। इन्द्रियातीत अलौकिक परोक्ष ज्ञान से वञ्चित सामान्य लौकिक प्रत्यक्ष-ऐन्द्रियकज्ञान के अनुगामी मनुष्यों का ज्ञानात्मक कर्म्म ही 'वित्ति' कहलाया है। लोकज्ञानकुशल, ऐन्द्रियक प्रत्यक्षज्ञानपरायण लौकिक पुरुष ही इस वित्तिलक्षण ज्ञानयोग के अधिकारी मानें गए हैं। स्थिति का यों स्पष्टीकरण किया जा सकता है कि, ज्ञेयतत्त्व गूढोत्मा के चातुर्विध्य से चार भागों में विभक्त है। गूढोत्मा का आत्मक्षरभाग प्रथम ज्ञेय है। इस ज्ञेय से आत्मक्षरात्मक वाङ्मय क्षर-भौतिकप्रपञ्च अनुगृहीत रहता है। क्षरात्मक समस्त भौतिक ज्ञान का मूलकोष यही आत्मक्षरलक्षण ज्ञान है। इसे आत्मसात् कर लेना हीं 'वित्ति' लक्षण ज्ञानयोग है, जिसे भूतप्रधानता से हम ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग कह सकते हैं। गूढोत्मा का अक्षरभाग द्वितीय ज्ञेय है। इस ज्ञेय से अक्षरात्मक प्राणप्रपञ्च अनुगृहीत रहता है। अक्षरात्मक समस्त प्राणविवर्त्त का मूलकोष यही अक्षरलक्षण ज्ञान है। इसे ही विज्ञानभाषा में 'नियति' कहा गया है। इसे आत्मसात् कर लेना हीं 'नियति' लक्षण ज्ञानयोग है, जिसे आधिदैविक प्राण के समन्वय से हम ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग कह सकते हैं। गूढोत्मा का अव्ययभाग तृतीय ज्ञेय है। इस ज्ञेय से अव्ययात्मक मनःप्रपञ्च अनुगृहीत रहता है। अव्ययात्मक समस्त मनोविवर्त्त का मूलकोष यही अव्ययलक्षण ज्ञान है। इसे ही विज्ञानभाषा में 'अनुभूति' कहा गया है। इसे आत्मसात् कर लेना हीं 'अनुभूति' लक्षण ज्ञानयोग है, जिसे विशुद्ध ज्ञानप्रधानता से ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग कहा जा सकता है। गूढोत्मा का परात्परभाग (योगमायावच्छिन्न सीमित परात्परभाग) अज्ञेयात्मक चतुर्थ ज्ञेय है। इस ज्ञेय से परात्परात्मक आनन्दविज्ञानअन्तर्मनोमय अन्तर्जगत् अनुगृहीत रहता है। समस्त अन्तर्ज्ञानों का मूलकोष यही परात्परलक्षण ज्ञान है, जो सर्वत्र समरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ 'समब्रह्म' नाम से व्यवहृत हुआ

है। इसे ही विज्ञानभाषा में 'विभूति' नाम से व्यवहृत किया गया है। इसे आत्मसात् कर लेना हीं विभूति-लक्षण ज्ञानयोग है, जिसे सर्वसमन्वयदृष्टि से ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग कहा जा सकता है।

३७–'वित्ति'–भावानुगत वाङ्मय ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग—

(१) इसप्रकार गूढोत्मा के परात्पर–अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर–पर्वों से सम्बद्ध 'विभूति, अनुभूति, नियति, वित्ति' भेद से तदनुगत ज्ञानयोग क्रमशः 'बुद्धि–ज्ञान–भक्ति–कर्म्म', इन चार योगों में विभक्त हो जाता है। बाह्यदृष्टि से सम्बद्ध ज्ञान–विज्ञानात्मक जितनें भी लौकिक ज्ञान हैं, उनमें आसक्त रहना हीं ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोगानुष्ठान है। विश्व के उस मानव वर्ग को, जो शिल्प–कला–वाणिज्य–प्रत्यक्षदृष्ट ग्रह–नक्षत्र–पञ्चमहाभूत आदि आदि भौतिक अन्वेषण कर्म्मों में रत रहता है, अन्वेषण के द्वारा तदात्मक 'वित्ति' लक्षण भौतिक ज्ञान सम्पादन करता रहता है, हम ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग का अनुगामी कहेंगे। इस ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग का आधार भक्तियोगात्मक कर्म्मयोग की भाँति लौकिक कामनाएँ हीं बनीं रहतीं हैं। गूढोत्मा के वित्ति–लक्षण आत्मक्षरपर्व पर प्रतिष्ठित, भूतसत्याग्नि–ज्योतिर्गौः–रेतः–श्रद्धा–पर्वगर्भित शरीरगुहा–इड्र्क्भोगपर्वों के द्वारा संसाधित, ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग, तथा तथाविध कर्म्मयोगियों का यही संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है। इसी को आत्मकलादृष्टि से **'वाङ्मय अर्थयोग'** कहा जा सकता है, जो भक्तियोगात्मक कर्म्मयोग से अंशतः समतुलित हैं।

३८–'नियति'–भावानुगत प्राणमय ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग—

(२) अक्षरात्मा भक्तियोग की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अतएव तदनुगत ज्ञानयोग को अवश्य ही ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग कहा जा सकता है। गूढोत्मा के अक्षरानुगत अक्षर पर्व को मूल बना कर अग्न्यात्मा के अक्षरानुगत देवसत्याग्नि, विज्ञानात्मा के अक्षरानुगत आयुःप्राण, प्रज्ञानात्मा के अक्षरानुगत यशःप्राण, अव्यक्तात्मा के अक्षरानुगत ऋतसत्यसूत्र, महानात्मा के अक्षरानुगत सौम्यप्राण, इन साधनों के द्वारा भूतात्मा अपने अक्षरप्रधान प्राणमय तैजसभाग से जो कर्म्म करता है, वही विज्ञानभाषा में **'नियति'** कहलाया है। उपनिषदों नें अक्षरज्ञान को 'शास्ता' बतलाते हुए यह स्पष्ट किया है कि, सम्पूर्ण चराचर प्रपञ्च अक्षर के शासनदण्ड से ही स्व–स्व नियत कर्म्म में आरूढ है। तत्तत्पदार्थों का नियत धर्म्माचरण ही तत्तत्पदार्थों की 'नियति' है। प्राकृतिक–परोक्ष–अव्याहतगतिलक्षण–सनातन नियम ही नियति है। यच्चयावत् पदार्थ अक्षर के इस नियति-ज्ञान से ही सञ्चालित हैं। इसी के लिए-**'भीषास्माद्वातःपवते भीषोदेति सूर्य्यः'**(तैत्ति० २।७।) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुए हैं। इसी नियतिर्विज्ञान को 'प्राणविज्ञान' 'देवताविज्ञान' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है, जिसका एकमात्र भारतीय वैदिकविज्ञान से ही सम्बन्ध है। परोक्षदृष्टिसापेक्ष इस प्राणविज्ञान (तत्त्वविज्ञान) में रत रहने वाला मानवसमाज ही ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग का अनुगामी कहलाया है। जो विद्वान् ब्रह्मचर्य्य–तपः–सत्य–वेदानुपालन–श्रद्धा–एवं उपनिषदादि वेदोक्त साधनों के द्वारा मनोवाक्कायशुद्धि-पूर्वक तत्त्वविज्ञानान्वेषण में प्रवृत्त रहते हैं, वे ही इस ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग के अनुयायी मानें गए हैं। गूढोत्मा के 'नियति' लक्षण अक्षरपर्व पर प्रतिष्ठित, देवसत्याग्नि, आयुःप्राण, यशःप्राण, ऋतसत्य, सौम्य–प्राणपर्वों के द्वारा संसाधित, ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग, तथा तथाविध भक्तियोगियों का यही संक्षिप्त स्वरूप-विश्लेषण है। इसी को आत्मकलादृष्टि से **'प्राणमय क्रियायोग'** कहा जा सकता है, जो भक्तियोगात्मक भक्तियोग से अंशतः समतुलित है।

३९-'अनुभूति'-भावानुगत मनोमय ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग—

(३)-अव्ययात्मा को ज्ञानयोग का मूलस्तम्भ माना गया है। अतएव तदनुगत ज्ञानयोग को 'ज्ञानयोग' कहने में कोई आपत्ति नहीं की जासकती। गूढोत्मा के अव्ययानुगत अव्यय पर्व को मूल बना कर, अग्न्यात्मा के अव्ययानुगत ब्रह्मसत्याग्नि, विज्ञानात्मा के अव्ययानुगत विज्ञान, प्रज्ञानात्मा के अव्ययानुगत प्रज्ञान, अव्यक्तात्मा के अव्ययानुगत अन्तर्य्यामी, महानात्मा के अव्ययानुगत महान्, इन साधनों के द्वारा भूतात्मा अपने अव्ययप्रधान मनोमय प्राज्ञ भाग से जो कर्म्म करता है, वही विज्ञानभाषा में **'अनुभूति'** कहलाया है। जिस प्रकार शब्दावच्छिन्न ज्ञान 'वेद' नाम से, विषयावच्छिन्न ज्ञान 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, एवमेव संस्कारावच्छिन्न ज्ञान 'विद्या' नाम से व्यवहृत हुआ है। एक ही ज्ञान के सोपाधिक विवर्त्त वेद-ब्रह्म-विद्या कहलाए हैं। विषयावच्छिन्न 'ब्रह्म' नापक ज्ञान का आत्मक्षर से सम्बन्ध है, शब्दावच्छिन्न 'वेद' नामक ज्ञान का अक्षर से सम्बन्ध है, एवं संस्कारावच्छिन्न 'विद्या' नामक ज्ञान का 'अव्यय' से सम्बन्ध है। अतएव अव्ययपुरुष विद्याप्रधान माना गया है। संस्कारग्रहणयोग्यता अव्ययमन में हीं मानी गई है। संस्कार का ही नाम अनुभूति, किंवा अनुभव है। इसी को दार्शनिक भाषा में **'अनुभवाहितसंस्कार'** कहा गया है। विषयात्मक 'ब्रह्म' लक्षण ज्ञान का जहाँ आत्मक्षरानुगत कर्म्मयोगात्मक ज्ञानयोग से सम्बन्ध है, 'वेद' लक्षण ज्ञान का अक्षरानुगत-भक्तियोगात्मक ज्ञानयोग से सम्बन्ध है, वहाँ 'विद्या' लक्षण, संस्कारात्मक-अनुभूतिरूप-ज्ञान का अव्ययानुगत ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग से सम्बन्ध माना गया है। ब्रह्मात्मक ज्ञान, वेदात्मक ज्ञान, दोनों नानाभावापन्न हैं, विद्यात्मक ज्ञान अद्वैतप्रतिच्छाया से विभूषित है, क्योंकि अव्ययपुरुष अद्वैतमूर्त्ति परात्पर के सन्निकट रहता है। आध्यात्मिक ज्ञानानुभूति में रत रहने वाले, सर्वत्र आत्मानुभव करने वाले दिव्यज्ञानानुगामी ज्ञानियों की अनुभवाहितज्ञानचर्वणा ही ज्ञानात्मक ज्ञानयोग है। गूढोत्मा के 'अनुभूति' लक्षण अव्ययपर्व पर प्रतिष्ठित,-ब्रह्मसत्याग्नि, विज्ञान, प्रज्ञान, अन्तर्य्यामी, महान्-इन पर्वों के द्वारा संसाधित, ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग का, एवं तथाविध ज्ञानयोगियों का यही संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है। इसी को आत्मकलादृष्टि से **'मनोमय-ज्ञानयोग'** कहा जासकता है, जो भक्तियोगात्मक ज्ञानयोग से अंशतः समतुलित है।

४०-'विभूति'-भावानुगत सर्वमय ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग—

(४)-परात्परतत्त्व बुद्धियोग की प्रतिष्ठा माना गया है। अतएव तदनुगत ज्ञानयोग को अवश्य ही 'बुद्धियोग' नाम से व्यवहृत किया जासकता है। गूढोत्मा के परात्परतत्त्वानुगत परात्पर पर्व को आधार बना कर, अग्न्यात्मा के परात्परानुगत आत्मसत्याग्नि, विज्ञानात्मा के परात्परानुगत परोरजा, महानात्मा के परात्परानुगत सत्त्व, इन साधनों के द्वारा भूतात्मा अपने परात्परप्रधान आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मभाग से जो कर्म्म करता है, वही विज्ञानभाषा में-**'विभूति'** नाम से व्यवहृत हुआ है। **'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'** इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार सम्पूर्ण चराचर प्रपञ्च सञ्चरप्रक्रिया के द्वारा उस एक तत्त्व का ही वैभव है। वह एक तत्त्व वही परात्पर ब्रह्म है, जो माया-कला-गुण-विकार-अञ्जन-आवरणादि परिग्रहों के द्वारा सोपाधिक बनता हुआ परात्पर-षोडशी-सगुण-सत्व-यज्ञ-विराट्-विश्वादि विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। एक ही तत्त्व स्वविभूति के द्वारा अनेक रूपों में परिणत हो रहा है। तत्त्वतः-सब कुछ वही है, वही सब कुछ बना है। सृष्टिदशा में वही नानाभावापन्न है, प्रतिसृष्टिदशा में वही अपने स्वाभाविक विभूतिभाव में परिणत है। **'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'** ही उसकी प्रातिस्विक विभूति है। परिच्छेदरूपा भूतिदृष्टि से जहाँ वह नानाभावापन्न है, वहाँ अपरिच्छि-

ऋरूपा विभूतिदृष्टि से वह एकभावापन्न है, और यही परात्परतत्त्व के विभूतिलक्षण ज्ञान का स्वरूपविश्ले-
षण है। ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग के अभ्यासी क्रमिक अभ्यासद्वारा जब इस व्यापक विभूतिज्ञान के अनुयायी
बनते हुए-'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'-भावना को चरितार्थ बना लेते हैं, तो उस दशा में उनका अव्ययानुगत ज्ञान-
योगात्मक ज्ञानयोग परात्परानुगत ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोगस्वरूप में परिणत हो जाता है। साध्यावस्थापन्न
ज्ञानयोगियों का सिद्धावस्था में पहुँच जाना ही इनका ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोगानुष्ठान है। गूढोत्मा के 'विभूति'-
लक्षण परात्पर पर्व पर प्रतिष्ठित, आत्मसत्याग्नि, चाक्षुषपुरुष, साम्बसदाशिव, परोरजा, सत्त्व, इन पर्वों के द्वारा
संसाधित ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग का, एवं तथाविध बुद्धियोगियों का यही संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है। इसी
को आत्मकलादृष्टि से **'आनन्दविज्ञानमनोमय अध्यात्मयोग'** कहा जासकता है, जो भक्त्यात्मक बुद्धियोग से
अंशतः समतुलित है।

ज्ञानयोगात्मक जिन चारों योगों का अब तक क्रमिक विश्लेषण हुआ है, उनमें यद्यपि कर्म्मयोगवत्
न तो संकुचित स्वार्थ है, नाहीं भक्तियोगवत् सामान्य स्वार्थ है, तथापि इन्हें भी स्वार्थ-मर्य्यादा से एकान्ततः
पृथक् नहीं किया जासकता, फिर वह स्वार्थ परमार्थभावापन्न ही क्यों न हों। कारण स्पष्ट है। भूतासक्ति-
भूतप्रलोभन न सही, आत्मोद्धारकामना इस ज्ञानयोगचतुष्टयी में भी सुरक्षित है। कामभावसमावेश के अति-
रिक्त ज्ञानयोगात्मक इन चारों हीं योगों में कर्म्म-भक्तियोग-चतुष्टयी की भाँति लोकसंग्रह का अभाव भी
सुरक्षित है। वित्तिलक्षण ज्ञान, नियतिलक्षण ज्ञान, अनुभूतिलक्षण ज्ञान, एवं विभूतिलक्षण ज्ञान, चारों से
प्रधानतः योगानुष्ठानकर्त्ता की वैय्यक्तिक अध्यात्मसंस्था का ही उपकार होता है, जिसके मूल में कामभाव
निहित है। फलतः भक्तियोगचतुष्टयी की भाँति इस ज्ञानयोगचतुष्टयी की उपयोगिता के सम्बन्ध में भी मौन-
भाव ही श्रेयःपन्था प्रतीत होरहा है। भक्तियोगचतुष्टयी-निरूपण में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, पूर्व पूर्व
योगचतुष्टयी के साध्य उत्तर--उत्तर योगचतुष्टयी में साधन बन जाते हैं। इस दृष्टि से प्रकृत की ज्ञानयोगचतुष्टयी
में इससे पहिले की भक्तियोगचतुष्टयी में साध्य बने हुए अव्यक्तात्म-महानात्मपर्व साधन बन जाते हैं, जैसा
कि निम्नलिखित विश्लेषण से स्पष्ट है।

४१--ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग के साधन--साधक--साध्य--भाव —

(१)-ज्ञानात्मक कर्म्मयोग में साधनभूत अग्न्यात्मा के परात्पर-अव्यय-आत्मक्षरभाग से सम्बद्ध
आत्मसत्याग्नि, ब्रह्मसत्याग्नि, देवसत्याग्नि-ये तीनों पर्व, विज्ञानात्मा के चाक्षुषपुरुष, विज्ञान, आयुःप्राण-ये
तीनों पर्व, प्रज्ञानात्मा के साम्बसदाशिव, प्रज्ञान, यशःप्राण-ये तीनों पर्व, अव्यक्तात्मा के परोरजा, अन्तर्य्यामी,
ऋतसत्य-ये तीनों पर्व, एवं साधकभूत भूतात्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा, मनोमय प्राज्ञात्मा,
प्राणमय तैजसात्मा, ये तीनों पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत अग्न्यात्मा के तीनों उन्मुग्ध-
पर्व साधनभूत अग्न्यात्मा के चौथे उद्बुद्ध भूतसत्याग्नि नामक पर्व में, विज्ञानात्मा के तीनों पर्व चौथे उद्बुद्ध
ज्योतिर्गौ नामक पर्व में, प्रज्ञानात्मा के तीनों पर्व चौथे उद्बुद्ध रेतःश्रद्धा नामक पर्व में, अव्यक्तात्मा के तीनों
पर्व चौथे उद्बुद्ध शरीरगुहापर्व में, महानात्मा के तीनों पर्व चौथे उद्बुद्ध इड्रूर्क्भोग नामक पर्व में, साध्यभूत
गूढोत्मा के तीनों पर्व चौथे उद्बुद्ध आत्मक्षर नामक पर्व में, एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों पर्व चौथे
उद्बुद्ध वाङ्मय वैश्वानरात्मा नामक पर्व में अन्तर्भुक्त रहते हैं।

४२-ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग के साधन-साधक-साध्य-भाव—

(२)-ज्ञानात्मक भक्तियोग में साधनभूत अग्न्यात्मा के परात्पर-अव्यय-आत्मक्षर भाग से सम्बद्ध आत्मसत्याग्नि, ब्रह्मसत्याग्नि, भूतसत्याग्निपर्व, विज्ञानात्मा के चाक्षुषपुरुष, विज्ञान, ज्योतिर्गौःपर्व, प्रज्ञानात्मा के साम्बसदाशिव, प्रज्ञान, रेतः-श्रद्धापर्व, अव्यक्तात्मा के परोरजा, अन्तर्य्यामी, शरीरगुहापर्व, महानात्मा के सत्त्व, महान्, इडूर्क् भोग पर्व, साध्यभूत गूढोत्मा के परात्पर अव्यय, आत्मक्षरपर्व, एवं साधकभूत भूतात्मा के भूतात्मा, प्राज्ञ, वैश्वानरपर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत अग्न्यात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, अव्यक्तात्मा, महानात्मा के, साध्यभूत गूढोत्मा के, साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व क्रमशः साधनभूत अग्न्यात्मा के देवसत्याग्नि, विज्ञान के आयुःप्राण, प्रज्ञान के यशःप्राणं, अव्यक्त के ऋतसत्य, महान् के सौम्यप्राण नामक चौथे उद्बुद्ध पर्वों में, साध्यभूत गूढोत्मा के तीनों पर्व साध्यभूत गूढोत्मा के चौथे उद्-बुद्ध अक्षर नामक पर्व में, एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों पर्व भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध प्राणमय तैजसात्म-पर्व में अन्तर्भुक्त रहते हैं।

४३-ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग के साधन-साधक-साध्य-भाव—

(३)-ज्ञानात्मक ज्ञानोग में साधनभूत अग्न्यात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा-अव्यक्तात्मा-महानात्मा, साध्यभूत गूढोत्मा, साधकभूत भूतात्मा के क्रमशः परात्पर-अक्षर-आत्मक्षरभाग से सम्बद्ध आत्मसत्याग्नि-देवसत्याग्नि-भूतसत्याग्नि, चाक्षुषपुरुष-आयुःप्राण-ज्योतिर्गौः, साम्बसदाशिव-यशःप्राण-रेतःश्रद्धा, परोरजा-ऋतसत्य-शरीरगुहा, सत्त्वसौम्यप्राण-इडूर्क् भोग, परात्पर-अक्षर-आत्मक्षर, भूतात्मा-तैजसात्मा-वैश्वानरात्मा ये तीन तीन पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधन-साध्य-साधक-भूत इन आत्माओं के उन्मुग्ध त्रिक इन सबके चौथे उद्बुद्ध-ब्रह्मसत्याग्नि, विज्ञान, प्रज्ञान, अन्तर्य्यामी, महान्, अव्यय, मनोमय प्राज्ञात्मा, इन पर्वों में अन्तर्भुक्त रहते हैं।

४४-ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग के साधन-साधक-साध्य-भाव—

(४)-ज्ञानात्मक बुद्धियोग में उक्त आत्माओं के क्रमशः ब्रह्मसत्याग्नि-देवसत्याग्नि-भूतसत्याग्नि,-विज्ञान-आयुःप्राण-ज्योतिर्गौः,-प्रज्ञान-यशःप्राण-रेतःश्रद्धा,-अन्तर्य्यामी-ऋतसत्य-शरीरगुहा,-महान्-सौम्य-प्राण-इडूर्क् भोग, अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर, एवं प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर, ये त्रिक उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। ये सब त्रिक शेष चौथे उद्बुद्ध आत्मसत्याग्नि, चाक्षुषपुरुष, साम्बसदाशिव, परोरजा, सत्त्व, परात्पर, आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा, इन पर्वों में अन्तर्भुक्त रहते हैं। आगे के परिलेखों से यह उन्मुग्ध-उद्बुद्ध आत्मपर्वपरम्परा भलीभाँति व्यक्त हो रही है।

प्रकारान्तरेण—

———— *

(१)–ब्रह्म-देव-भूत-सत्याग्नि, -विज्ञानायुःप्राणज्योतिर्गौ, -प्रज्ञानयशःप्राणरेतःश्रद्धा,—अन्तर्य्यामिऋतसत्यशरीरगुहा,–महत्सौम्यप्राण-इडूर्क भोग–अव्ययाक्षरात्मक्षर-प्राज्ञतैजसवैश्वानरगर्भितः-आत्मसत्याग्नि, चाक्षुषपुरुष, साम्बसदाशिव–परोरजा, सत्त्व, परात्पर–भावानुगतः–

(४)–आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा—**बुद्धियोगात्मक–ज्ञानयोगानुष्ठाता १**

———— *

(२)–आत्मदेवभूतसत्याग्नि,–चाक्षुषपुरुषायुःप्राणज्योतिर्गौ,–साम्बसदाशिवयशःप्राणरेतःश्रद्धा,–परोरजाऋतसत्य–शरीरगुहा,-सत्त्वसौम्यप्राण-इडूर्क भोग-परात्पराक्षरात्मक्षर-भूतात्मतैजसवैश्वानरगर्भितः–ब्रह्मसत्याग्नि, विज्ञान, *प्रज्ञान, अन्तर्य्यामि, महत्, अव्यय-भावानुगतः–*

(३)–मनोमयः प्राज्ञात्मा–**ज्ञानयोगात्मक–ज्ञानयोगानुष्ठाता २**

———— *

(३)–आत्मब्रह्मभूतसत्याग्नि,–चाक्षुषपुरुषविज्ञानज्योतिर्गौ,–साम्बसदाशिवप्रज्ञानरेतःश्रद्धा,–परोरजा–अन्तर्य्यामि–शरीरगुहा,–सत्त्वमहदिडूर्क भोग–परात्पराव्ययात्मक्षर–भूतप्राज्ञवैश्वानरगर्भितः–देवसत्याग्नि, आयुःप्राण, यशःप्राण, ऋतसत्व, सौम्यप्राण, अक्षरभावानुगतः–

(२)–प्राणमयस्तैजसात्मा–**भक्तियोगात्मक–ज्ञानयोगाधिष्ठाता ३**

———— *

(४)–आत्मब्रह्मदेवसत्याग्नि,–चाक्षुषपुरुषविज्ञानायुःप्राण,–साम्बसदाशिवप्रज्ञानयशःप्राण,–परोरजा–अन्तर्य्यामि–ऋतसत्य,–सत्त्वमहत्सौम्यप्राण–परात्पराव्ययाक्षर–भूतप्राज्ञतैजसगर्भितः–भूतसत्याग्नि, ज्योतिर्गौ, रेतःश्रद्धा, शरीरगुहा, इडूर्क भोग, आत्मक्षरभावानुगतः–

(१)–वाङ्मयो वैश्वानरात्मा–**कर्म्मयोगात्मक–ज्ञानयोगाधिष्ठाता ४**

———— *

——*——

(१)–परात्परानुगते–विभूतिज्ञाने—आत्मसमर्पणम्—तदनुगताः-परात्परोपजीविनो—ब्रह्मवादिनः (बुद्धियोगिनः)

(२)–अव्ययानुगते–अनुभूतिज्ञाने–आत्मसमर्पणम्—तदनुगताः-अव्ययोपजीविनः—आत्मवादिनः (ज्ञानयोगिनः)

(३)–अक्षरानुगते–नियतिज्ञाने—आत्मसमर्पणम्–तदनुगताः-अक्षरोपजीविनः-नित्यविज्ञानवादिनः-(भक्तियोगिनः)

(४)–आत्मक्षरानुगते-वित्तिज्ञाने–आत्मसमर्पणम्–तदनुगताः–क्षरोपजीविनः-क्षणिकविज्ञानवादिनः- (कर्म्मयोगिनः)

——*——

सैषा–जीवानुगतगूढोत्मानुगता भूतात्मनो ज्ञानयोगचतुष्टयी तृतीया—

(१) अन्तर्मुखाः——विशुद्धसात्त्विकाः—ब्रह्मनिष्ठाः———बुद्धियोगिनः–विभूतिपरायणाः (विभूतिः)

(२) अन्तर्मुखाः——सत्त्वरजोऽनुरक्ताः—आत्मनिष्ठाः———ज्ञानयोगिनोऽनुभूतिपरायणाः (अनुभूतिः)

(३) अन्तर्बहिर्मुखाः–रजस्तमोऽनुरक्ताः–नित्यविज्ञाननिष्ठाः—भक्तियोगिनः-नियतिपरायणाः (नियतिः)

(४) बहिर्मुखाः——तमोऽनुरक्ताः——क्षणिकविज्ञाननिष्ठाः-कर्म्मयोगिनः–वित्तिपरायणाः (वित्तिः)

——*——

जीवानुगतगूढोत्मानुगता योगचतुष्टयी--

१	२	३	४	५	६	७
अग्न्यात्मपर्वाणि	विज्ञानात्मपर्वाणि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि	अव्यक्तात्मपर्वाणि	महानात्मपर्वाणि	गूढोत्मपर्वाणि	भूतात्मपर्वाणि
(१) आत्मसत्याग्निः—	चाक्षुषपुरुषः—	साम्बसदाशिवः—	परोरजाः—	सत्त्वम्—	परात्परः—	भूतात्मा—विभूतिमान् (परात्परानुगतः)
(२) ब्रह्मसत्याग्निः—	विज्ञानम्—	प्रज्ञानम्—	अन्तर्य्यामी—	महान्—	अव्ययः—	प्राज्ञात्मा—सत्त्वान्वेषकः (अव्ययानुगतः)
(३) देवसत्याग्निः—	आयुःप्राणः—	यशःप्राणः—	ऋतसत्ये—	सौम्यप्राणः—	अक्षरः—	तैजसात्मा—तत्त्वान्वेषकः (अक्षरानुगतः)
(४) भूतसत्याग्निः—	ज्योतिर्गौः—	रेतःश्रद्धा—	शरीरगुहा—	इङ्कर्क्भोगाः—	आत्मक्षरः—	वैश्वानरात्मा-एवंवित् (आत्मक्षरानुगतः)



[१]–चाक्षुषपुरुषसम्परिष्वक्तः-साम्बसदाशिवानुगतः--परोरजागर्भितसत्त्वयुक्तः परात्परप्रधानो भूतात्मा–भूतात्मा—आत्मा [बुद्धियोगात्मकज्ञानयोगप्रतिष्ठाभूमिः]

[२]–विज्ञानसम्परिष्वक्तः-प्रज्ञानानुगतः-—अन्तर्य्यामिगर्भितमहद्युक्तः अव्ययप्रधानो भूतात्मा–प्राज्ञात्मा—कारणशरीरम् [ज्ञानयोगात्मकज्ञानयोगप्रतिष्ठाभूमिः]

[३]–आयुःप्राणसम्परिष्वक्तः-यशः-प्राणानुगतः-ऋतसत्यगर्भितसौम्यप्राणयुक्तः अक्षरप्रधानो भूतात्मा तैजसात्मा-सूक्ष्मशरीरम् [भक्तियोगात्मकज्ञानयोगप्रतिष्ठाभूमिः]

[४]–ज्योतिर्गौःसम्परिष्वक्तः-रेतःश्रद्धानुगतः–शरीरगुहागर्भित-इङ्कर्क्भोगयुक्तः आत्मक्षरप्रधानो भूतात्मा–वैश्वानरात्मा—स्थूलशरीरम् [कर्म्मयोगात्मकज्ञानयोग-प्रतिष्ठाभूमिः]

❀-बुद्धियोगात्मिका बुद्धियोगचतुष्टयी चतुर्थी

४५-लोकप्रचलिता योगत्रयी का गीताद्वारा संशोधन—

अब क्रमप्राप्त अन्तिम (चौथी) उस योगचतुष्टयी की ओर गीताप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है, जिसका तात्त्विक स्वरूप आज सर्वथा विलुप्त है। अतएव मानवसमाज संत्रस्त, एवं क्षुब्ध बना हुआ है। यही योगचतुष्टयी गीता-परिभाषा में **'बुद्धियोगचतुष्टयी'** नाम से व्यवहृत हुई है, जिसका अगले परिच्छेदों में, एवं प्रकरणों में विस्तार से निरूपण होने वाला है। प्रस्तुत बुद्धियोगचतुष्टयी के निरूपण से पहिले इस से पूर्व क्रमशः निरूपित कर्म्म-भक्ति-ज्ञानयोग-चतुष्टयी का स्वरूप भलीभाँति हृदयङ्गम कर लेना चाहिए। तभी इसकी तदपेक्षया पूर्णता-अपूर्वता, एवं विलक्षणता का भलीभाँति परिचय प्राप्त हो सकेगा। कर्म्मयोगचतुष्टयी का चौथा कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग **'वैदिक काम्य कर्म्मयोग'** है। भक्तियोगचतुष्टयी का चौथा भक्तियोगात्मक बुद्धियोग **'शास्त्रीय उपासनायोग'** है। एवं ज्ञानयोगचतुष्टयी का चौथा ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग **'शास्त्रीय ज्ञानयोग'** है। तात्पर्य्य इस विश्लेषण का यही है कि, वर्त्तमान युग में पुरुष के शास्त्रीय पुरुषार्थ क्रमशः कर्म्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, ये तीन योग मानें जा रहे हैं। साथ ही कर्म्मयोग को प्रवृत्तिमार्ग, भक्तियोग को उभयमार्ग, एवं ज्ञानयोग को निवृत्तिमार्ग बतलाया जा रहा है। परिभाषा तीनों योगों की यह की जा रही है कि, वेद के ब्राह्मणभाग में निरूपित वैदिक यज्ञ-तपो-दान-लक्षण विद्यासापेक्ष प्रवृत्ति-कर्म्मों में यावज्जीवन रत रहते हुए स्वर्गादिफल प्राप्त करना हीं 'कर्म्मयोग' है, जिसे गीता ने **'योगनिष्ठा'** नाम से व्यवहृत किया गया है। इस निष्ठा में कर्म्मकलाप का कामनापूर्वक आत्यन्तिकरूप से संग्रह हुआ है। वेद के आरण्यकभाग में निरूपित वैदिक उपासनामार्ग में यावज्जीवन प्रवृत्त रहते हुए सगुणब्रह्म के साथ सायुज्यभाव प्राप्त कर लेना हीं 'भक्तियोग' है, जिसे गीता ने **'काम्यभक्तिनिष्ठा'** नाम से व्यवहृत किया है। वेद के उपनिषत्भाग में निरूपित वैदिक ज्ञानमार्ग में तल्लीन रहते हुए निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाना हीं 'ज्ञानयोग' है। कर्म्मयोग में जहाँ कामनापूर्वक सर्वकर्म्म का संग्रह है, वहाँ इस ज्ञानयोग में सर्वकर्म्मों का आत्यन्तिक परित्याग अभीप्सित है। कर्म्मत्यागलक्षण यही ज्ञानयोग गीतापरिभाषा में **'सांख्यनिष्ठा'** नाम से व्यवहृत हुआ है। तीनों की उपादेयता-अनुपादेयता के सम्बन्ध में क्रमशः कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-परीक्षाखण्डों में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। प्रकृत में हमें बतलाना केवल यही है कि-कर्म्म-भक्ति-ज्ञान, तीनों योगचतुष्टयी में से तीनों के बुद्धियोगात्मक चतुर्थ-चतुर्थ योग ही शास्त्रीय कर्म्म-भक्ति-ज्ञानयोग कहलाए हैं। तीनों हीं योग आत्यन्तिक पुरुषार्थसाधन में असमर्थ हैं। योगनिष्ठा नामक वैदिक कर्म्मयोग कामना के सम्बन्ध से आसक्ति का जनक बनता हुआ आवरक बन रहा है। वैदिक उपासनायोग भी कामभावसम्पर्क से द्वैतभाव का समर्थक बन रहा है। एवं वैदिक ज्ञानयोग कर्म्मपरित्यागाशक्यत्वेन अव्यवहार्य्य बन रहा है। अतएव कहा जा सकता है कि, गीता की दृष्टि से तीनों हीं शास्त्रीय योग अनुपादेय हैं। शास्त्रभक्ति का प्रबल समर्थक गीता-शास्त्र क्या इन शास्त्रीय योगों की ऐसी उपेक्षा कर सकता है ?। नहीं, गीता शास्त्रीय योगत्रयी का विरोध नहीं करती, अपितु शास्त्रीय योगनिष्ठाओं में जो अंश जीवधर्म्म का प्रविष्ट है, उसे निकालना अनिवार्य्य मानती है। गीता तीनों हीं योगों के सम्बन्ध में बुद्धियोगसम्पत्-प्रवेश द्वारा यही संशोधन चाहती है।

४६-योगों के अबन्धन, एवं सम्बन्धन-भाव—

पाठकों को स्मरण होगा कि, अध्यात्मसंस्था में भुक्त आत्मपर्वों की गणना करते हुए हमनें आठ आत्मपर्वों का विश्लेषण किया है। वे आठों आत्मपर्व क्रमशः ईश्वरीय गूढोत्मा, जैव गूढोत्मा, अव्यक्तात्मा,

महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा, अग्न्यात्मा, इन नामों से व्यवहृत हुए है *। इन आठों में ईश्वरीय गूढोत्मा का एक स्वतन्त्र तन्त्र है, एवं यह चर–अचर सर्वत्र समरूपेणावस्थित है । अतएव यह गीता में '**समब्रह्म**' नाम से व्यवहृत हुआ है ÷ । शेष सातों आत्मपर्वों की समष्टि एक स्वतन्त्र तन्त्र है, यही जीवतन्त्र है । ईश्वरतन्त्र से सम्बन्ध रखने वाली कामना 'उत्थिताकाङ्क्षा' है । यही निष्कामभावात्मिका प्राकृतिक कामना है । अपने स्वाभाविक 'सम' धर्म्म के कारण ईश्वरतत्त्व स्वोत्थिताकाङ्क्षा के द्वारा सब कुछ करता हुआ भी, सब में प्रविष्ट रहता हुआ भी अकर्त्ता है, अप्रविष्ट है, पुष्करपलाशवन्निर्लेप है । जीवतन्त्र स्वभावतः अनृतसंहित है । अतएव इस से सम्बन्ध रखने वाली कामना भी अनृतभावापन्ना है, जो जीवकामना 'उत्थाप्याकाङ्क्षा' नाम से व्यवहृत हुई है । यह कामना मनोऽनुगता है । मन चान्द्ररस से निष्पन्न होने के कारण स्नेहगुणक है । अतएव तत्प्रधाना–तत्संश्लिष्टा जीवकामना में स्नेहधर्म्म का उदय हो जाता है । इसी स्नेहधर्म्म का नाम गीतापरिभाषा में 'आसक्ति' है । इसी आसक्ति से जीवतन्त्रानुगत कर्म्म इसके बन्धन का कारण बन जाता है । सातों पर्वों का क्रमशः जैवगूढोत्मा, अव्यक्तगर्भित महानात्मा, विज्ञान-सम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा, अग्न्यात्मसम्परिष्वक्त भूतात्मा, इसप्रकार विभाजन हुआ है । इनमें अग्न्यात्मा सामान्य साधन है । भूतात्मा योगानुष्ठाता साधक है । शेष जैवगूढोत्मा, अव्यक्तगर्भित महानात्मा, विज्ञान-सम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा, ये तीनों पर्व क्रमशः ज्ञानयोग–भक्तियोग–कर्म्मयोग, इन तीनों योगों की मूलप्रतिष्ठा बनते हुए साध्यकोटि में प्रविष्ट हैं । अग्न्यात्मसम्परिष्वक्त भूतात्मा विज्ञानसम्परिष्वक्त–प्रज्ञानात्मानुगत कर्म्मयोग का, अव्यक्तगर्भित महानात्मानुगत भूतात्मा भक्तियोग का, एवं जैवगूढोत्मानुगत भूतात्मा ज्ञानयोग का अनुष्ठाता बन रहा है । निष्कर्षतः इस योगत्रयी में भुक्त सातों आत्मपर्व जीवतन्त्र से तन्त्रायित हैं । अतएव जीव-कामानुगत तीनों हीं योग सबन्धन बने हुए हैं । इस स्थिति के आधार पर ही भगवान् का हमें आदेश होता है कि—

४७–गीतासिद्धान्त, और बुद्धियोगचतुष्टयी—

यदि तुम योगत्रयी में प्रवृत्त रहते हुए भी ईश्वरतन्त्रवत् बन्धनविमुक्त रहना चाहते हो, तो अपनी जीवकामना को असङ्ग बनाओ । इसके लिए तुम्हें जीव को मन के आकर्षण से विमुक्त करना पड़ेगा । इसके लिए किसी असङ्गभाव का आश्रय लेना पड़ेगा । वैसे असङ्गभाव का, जो समब्रह्मलक्षण ईश्वरतन्त्र से समतुलित रहता हुआ समत्व से भी युक्त हो, साथ ही असङ्ग भी हो । अन्वेषण कीजिए, आपकी अध्यात्मसंस्था में भुक्त खण्डात्मपर्वों में ऐसा कौनसा आत्मा है ?, जो समभाव से भी युक्त है, एवं असङ्ग-धर्म्म से ही युक्त है । जैवगूढात्मरूप अखण्ड आत्मपर्व के आधार पर क्रमशः स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, पारमेष्ठय महानात्मा, सौर विज्ञानात्मा, चान्द्र प्रज्ञानात्मा, भौम अग्न्यात्मा, ये पाँच खण्डात्मपर्व प्रतिष्ठित

---

*–देखिए पृ० सं० १६५

÷ इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ॥
निर्दोषं हि 'समं ब्रह्म' तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
—गीता ५।१६।

हैं। वैज्ञानिक जानते हैं कि, प्रत्येक वस्तु उसके केन्द्र पर समतुलित रहती है। कारण केन्द्रस्थान उस वस्तुभार के लिए सम बना रहता है। पाँचों खण्डात्मपर्वों का केन्द्र विज्ञानात्मा (बुद्धि) है। अतः पाँचों में से इसे ही समभावापन्न माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त चान्द्र मन स्नेहधर्म्म के कारण जहाँ ससङ्ग था, वहाँ सूर्य्यतत्त्व से सम्बद्ध यह विज्ञानात्मा सौर अग्नि के स्वाभाविक असङ्गधर्म्म से असङ्गधर्म्मा भी है। इसी समत्व, और असङ्गत्त्व के कारण अध्यात्मसंस्था के खण्डात्मपर्वों में से हृदयस्थानीय यह विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही सम–असङ्ग–धर्म्मावच्छिन्न ईश्वरतन्त्र के साथ सम्बन्ध करने में समर्थ बनता है। इसी आधार पर श्रुति के **'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः'–'यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा'** इत्यादि सिद्धान्त व्यवस्थित हुए हैं। यदि भूतात्मा अपनी मानस कामना का इस विज्ञानात्मा में समर्पण कर देता है, तो विज्ञानात्मद्वारा तत्समतुलित ईश्वरीय गूढोत्मा की निष्कामभावात्मिका 'उत्थिताकाङ्क्षा'–रूपा असङ्गकामना का जीवकामना में प्रवेश हो जाता है। दूसरे शब्दों में बुद्धि के साथ युक्त भूतात्मा ईशकामना से युक्त हो जाता है। इस बुद्धियोग के द्वारा प्राप्त ईशकामना का परिणाम यह होता है कि, जीवतन्त्रानुगता मनःसम्परिष्वक्ता ससङ्गभावप्रधाना कामना का तो आत्यन्तिकरूप से उन्मूलन हो जाता है। एवं इसकी अध्यात्मसंस्था में भुक्त ईशतन्त्र का ही प्राधान्य रह जाता है। ईशतन्त्रानुगता–बुद्धिसम्परिष्वक्ता–असङ्गभावप्रधाना–निष्काम-भावात्मिका इस कामना के आधार पर जीवात्मा जो भी कर्म्म करता है, जिसकी भी भक्ति करता है, जैसी भी अव्यक्तनिष्ठा (ज्ञानयोग) का अनुगमन करता है, कोई भी बन्धन का कारण नहीं बनते। सहजभाषा में इस वक्तव्य का यों स्पष्टीकरण किया जा सकता है कि, अध्यात्म में ईश्वर, जीव, दो तन्त्रायी हैं। जीवतन्त्र मनःप्रधान है, ईश्वरतन्त्र बुद्धिप्रधान है। बुद्धितन्त्रानुगत ईश्वर समभावापन्न, एवं असङ्ग है। मनस्तन्त्रानुगत जीव विषमभावापन्न, एवं ससंग है। असङ्ग ईश्वरकामना से सम्बद्धा योगत्रयी अबन्धना है, ससङ्ग जीवकामना से सम्बद्धा योगत्रयी सबन्धना है, एवं इसी का भगवान् ने विरोध किया है।

जीवकामनानुगता योगत्रयी में दो प्रधान दोष हैं। आवरणनिवृत्ति न होना पहिला दोष है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि, जीव ने शास्त्रीय मार्ग का अनुगमन भी किया, परन्तु कषाय की निवृत्ति न हुई। दूसरा व्यक्तिस्वार्थ दोष है। जिस कर्म्मठ–भक्त–एवं ज्ञानी से लोकोपकार न हुआ हो, उसका रहना न रहने के समान है। लोकसंग्राहक भगवान् की दृष्टि में यह सबसे बड़ा दोष है। कर्म्मठ को स्वकर्म्म से स्वर्ग मिल गया, भक्त को वैकुण्ठ मिल गया, ज्ञानी मुक्त हो गया। आस्तां तावत्। त्रिगुणभावापन्न तमःप्रधान विश्व के सभी प्राणी व्यक्तिगत ऐसे स्वार्थों में लिप्त हैं। पशुधर्म्म से समतुलित ऐसे मानवधर्म्म का मूल्य ही क्या है ?। पुरुषार्थ तो वही वास्तविक पुरुषार्थ है, जिससे अपने अभ्युदय-निःश्रेयस के साथ साथ सर्वसाधारण का भी अभ्युदय सिद्ध होता हो। जीव के अन्तर्जगत् में जब तक अनन्त–अ०नि० करी विभूतियाँ प्रतिष्ठित न हों, तब तक यह अनन्तों का अ०नि० कैसे कर सकता है। इसका यदि उपाय है–तो एकमात्र यही कि, यह बुद्धियोगद्वारा (युक्तबुद्धिद्वारा) अपने आपको अध्यात्मस्थ अनन्तविभूतियुक्त ईश्वर के प्रति समर्पित करदे। इससे उसके आनन्त्य का इसमें समावेश हो जायगा। इसप्रकार समब्रह्म को आधार बना कर तदिच्छा–प्रेरणा से योगत्रयी में प्रवृत्त होने वाला जीवात्मा परमपुरुषार्थ–साधन में भी समर्थ हो जायगा, एवं ईश्वरवत् बन्धन से भी विमुक्त रहेगा, जैसाकि निम्न लिखित वचनों में प्रमाणित है—

१–ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
—गी० ५।१०।

२–बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत–दुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥
--गी० २।५०।

३–योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ! ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते ॥
—गी० २।४८।

४–दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ! ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥
—गी० २।४६ ।

५–तस्मादसक्तः सततं कार्य्यं कर्म्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषम् ॥
—गी० ३।१६।

६–यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्म्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
—गी० ४।१६।

७–योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
—गी० ५।७।

८–इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये मनः स्थितः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
—गी० ५।१६।

६–सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
—गी० ६। २६।

——*——

उक्त विवेचन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, ईश्वरीय गूढोत्मा को साध्य बनाने वाला योग ही गीताराद्धान्तित बुद्धियोग है। ईश्वरीय गूढोत्मा (ईश्वरानुगत षोडशी) के आधार पर ही बुद्धियोग प्रतिष्ठित है। योगानुष्ठाता भूतात्मा है। ज्ञानयोगानुष्ठान में जहाँ भूतात्मा विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मानुगत-अव्यक्त-गर्भित महानात्मा को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले जैवगूढोत्मा का अनुगामी बना रहता है, वहाँ इस बुद्धि-योगानुष्ठान में यही भूतात्मा जैवगूढोत्मा, अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, इन सब आध्यात्मिक खण्डात्मपर्वों को स्वगर्भ में भुक्त रखने वाले महामायी ईश्वरीय गूढोत्मा का अनुगामी बन जाता है। भूतात्मा की इस ईश्वरीय षोडशीपुरुषानुगति का ही नाम बुद्धियोग है, जिसके ज्ञानयोगवत् षोडशीपर्वभेद से चार विवर्त्त हो जाते हैं। इन्हीं का क्रमिक स्पष्टीकरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

४८–'धर्म्म'-भावानुगत वाङ्मय कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग—

(१) ईश्वरीय गूढोत्मा के आत्मक्षरानुगत आत्मक्षर पर्व को मूल बना कर, अग्न्यात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा–अव्यक्तात्मा–महानात्मा–जैवगूढोत्मा–इन आत्माओं के आत्मक्षरानुगत भूतसत्याग्नि, ज्योतिर्गौः, रेतःश्रद्धा, शरीरगुहा, इड्डूर्क् भोगाः, आत्मक्षर, इन साधनों के द्वारा भूतात्मा अपने आत्मक्षरप्रधान वाङ्मय वैश्वानरभाग से जिस वैज्ञानिक–प्रकृतिसिद्ध–कर्म्म का अनुष्ठान करता है, वही विज्ञानभाषा में **'धर्म्म'** नाम से व्यवहृत हुआ है। बुद्धि से युक्त योगात्मा स्वयं भी पर्वचतुष्टय में विभक्त है, एवं योगसम्पत्तिसंग्राहिका स्वयं बुद्धि भी पर्वचतुष्टय से सम्बद्ध है। योगात्मा के चारों पर्व सुपरिचित **'परात्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर'** हैं। बुद्धि के चारों पर्व **'धर्म्म-ऐश्वर्य्य-ज्ञान-वैराग्य'** हैं, जिनका अगले परिच्छेदों में विस्तार से विश्लेषण किया जाने वाला है। अभी प्रकरणसङ्गति के लिए इस सम्बन्ध मे यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, विद्याबुद्धि के धर्म्म–ऐश्वर्य्य–ज्ञान–वैराग्य, नामक चारों पर्व योगात्मा (ईश्वरीय गूढोत्मा) के आत्मक्षर-अक्षर-अव्यय-परात्पर, इन चारों पर्वों से सम्बद्ध हैं। वैश्वानरप्रधान भूतात्मा आत्मक्षरानुगत धर्म्मपर्व से उद्बुद्ध रहता है। यही बुद्धियोगात्मक कर्म्मयोग की मूलप्रतिष्ठा बनता है। निष्कामभाव से लोकाभ्युदयार्थ होने वाला वैदिक कर्म्म-कलाप ही ऋषिदिष्ट धर्म्ममार्ग है। इसी का नाम धर्म्मात्मक बुद्धियोग, किंवा **धर्म्मबुद्धियोग** है, जिसे आत्म-क्षरप्राधान्य से हम 'कर्म्मयोग' कहेंगे। वर्णाश्रममर्य्यादानुसार पुरुष का यावज्जीवन निष्कामभाव से वेदोक्त कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहना हीं बुद्धिगोगात्मक कर्म्मयोग है, जो विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा से सम्बद्धा कर्म्मयोगचतुष्टयी के चौथे कर्म्मयोगात्मक–काम्य–वैदिक बुद्धियोग का संशोधित रूप है। ईश्वरीय गूढोत्मा से धर्म्मलक्षण आत्मक्षर पर्व पर प्रतिष्ठित, भूतसत्याग्नि–ज्योतिर्गौः–रेतःश्रद्धा-शरीरगुहा–इड्डूर्क् भोगपर्वगर्भित-जैवगूढोत्मा के आत्मक्षरभाग से संसाधित, बुद्धियोगात्मक कर्म्मयोग, एवं तथाविध कर्म्मयोगियों का यही संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है, जिसे आत्मकलादृष्टि से **'वाङ्मय अर्थयोग'** कहा जा सकता है, जो। कर्म्मयोगात्मिका कर्म्मयोगचतुष्टयी के कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग से अंशतः समतुलित है।

४९–'ऐश्वर्य्य'-भावानुगत प्राणमय भक्तियोगात्मक बुद्धियोग—

(२)—अक्षरात्मा भक्तियोग की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अतएव तदनुगत बुद्धियोग को भी अवश्य ही बुद्धियोगात्मक भक्तियोग कहा जायगा। ईश्वरीय गूढोत्मा के अक्षरानुगत अक्षरपर्व को मूल बना कर, अग्न्यात्मा–विज्ञानात्मा–प्रज्ञानात्मा–अव्यक्तात्मा–महानात्मा–जैवगूढोत्मा–इन आत्माओं के अक्षरानुगत

देवसत्याग्नि–आयुःप्राण–यशःप्राण–ऋतसत्य–सौम्य–प्राण–अक्षर, इन साधनों के द्वारा भूतात्मा अपने अक्षरप्रधान प्राणमय तैजस भाग से जिस कर्म्म का अनुगमन करता है, वही विज्ञानभाषा में 'ऐश्वर्य्य' कहलाया है। वर्णाश्रमधर्म्मानुगमनपूर्वक पुरुष का यावज्जीवन आत्मविकास–लक्षण ऐश्वर्य्य पथ में आरूढ रहना हीं बुद्धियोगात्मक भक्तियोग है, जो अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मा से सम्बद्ध भक्तियोगचतुष्टयी के चौथे भक्तियोगात्मक–काम्य–शास्त्रीय बुद्धियोग का (भक्तिनिष्ठा का) ही संशोधित रूप है। इसे ही गीता परिभाषा में–'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत किया गया है। ईश्वरीय गूढोत्मा के ऐश्वर्य्यलक्षण अक्षरपर्व पर प्रतिष्ठित, देवसत्याग्नि, आयुःप्राण, यशःप्राण, ऋतसत्य, सौम्यप्राण, अक्षरपर्वों के द्वारा संसाधित, बुद्धियोगात्मक भक्तियोग, एवं तथाविध भक्तियोगियों का यही संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है, जिसे आत्मकलादृष्टि से 'प्राणमय क्रियायोग' कहा जा सकता है, जो कि भक्तियोगात्मिका योगचतुष्टयी के भक्तियोगात्मक–बुद्धियोग से अंशतः समतुलित है।

५०–'ज्ञान'–भावानुगत मनोमय ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग–

(३)–अव्ययात्मा का ज्ञानयोग से सम्बन्ध है। अतएव तदनुगत बुद्धियोग ज्ञानयोग नाम से व्यवहृत किया जायगा। ईश्वरीय गूढोत्मा के अव्ययानुगत अव्ययपर्व को मूल बना कर, अग्न्यात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा-अव्यक्तात्मा-महानात्मा-जैवगूढोत्मा-इन आत्माओं के अव्ययानुगत ब्रह्मसत्याग्नि-विज्ञान-प्रज्ञान-अन्तर्य्यामी-महान्-अव्यय-इन साधनों के द्वारा भूतात्मा अपने अव्ययप्रधान मनोमय प्रज्ञाभाग से जिस कर्म्म में प्रवृत्त होता है, वही विज्ञानभाषा में 'ज्ञान' कहलाया है। वर्णाश्रमधर्म्मानुगमनपूर्वक पुरुष का यावज्जीवन लोकसंग्रह का यथाशक्य अनुगमन करते हुए ज्ञानलक्षण आध्यात्मिक कर्म्मों में प्रवृत्त रहना हीं बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग है, जो जैवगूढोत्मा से सम्बद्ध ज्ञानयोगचतुष्टयी के चौथे कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग का ही संशोधितरूप है। यही गीता में—'ज्ञानबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है। ईश्वरीय गूढोत्मा के ज्ञानलक्षण अव्यय पर्व पर प्रतिष्ठित–ब्रह्मसत्याग्नि-विज्ञान-प्रज्ञान–अन्तर्य्यामी-महान्-अव्यक्त पर्वों के द्वारा संसाधित बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग, एवं तथाविध ज्ञानयोगियों का यही संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है। इसे आत्मकलादृष्टि से 'मनोमय ज्ञानयोग' कहा जा सकता है, जो कि ज्ञानयोगात्मिका योगचतुष्टयी के ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग से अंशतः समतुलित है।

५१–'वैराग्य'–भावानुगत सर्वमय बुद्धियोगात्मक बुद्धियोग–

(४)–परात्परतत्त्व बुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। अतएव तदनुगत बुद्धियोग अवश्य ही 'बुद्धियोग' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। ईश्वरीय गूढोत्मा के परात्परानुगत परात्पर पर्व को आधार बना कर अग्न्यात्मा-विज्ञानात्मा–प्रज्ञानात्मा–अव्यक्तात्मा–महानात्मा–जैवगूढोत्मा–इन आत्माओं के परात्परानुगत आत्मसत्याग्नि-चाक्षुषपुरुष-साम्बसदाशिव-परोरजा-सत्त्व-परात्पर-इन साधनों के द्वारा भूतात्मा अपने परात्परप्रधान आनन्द–विज्ञानमनोमय भूतात्मभाग से जिस वैज्ञानिक जीवनपथ में प्रवृत्त होता है, वही विज्ञानभाषा में 'वैराग्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। वर्णाश्रमधर्म्मानुगमनपूर्वक पुरुष का यावज्जीवन उत्थिताकाङ्क्षामूलक सहज भावों में प्रवृत्त रहना हीं बुद्धियोगात्मक बुद्धियोग है। यही गीता में 'वैराग्यबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है। ईश्वरीय गूढोत्मा के वैराग्यलक्षण परात्पर पर्व पर प्रतिष्ठित, आत्मसत्याग्नि-चाक्षुषपुरुष-साम्बसदाशिव-परोरजा–

सत्त्व-जैवपरात्पर-इन पर्वों के द्वारा संसाधित बुद्धियोग का, तथा एवंविध बुद्धियोगियों का यही संक्षिप्त स्वरूप-विश्लेषण है । इसी को आत्मकलादृष्टि से **'आनन्दविज्ञानमनोमयसर्वयोग'** कहा जा सकता है, जो किसी से समतुलित न होता हुआ सर्वविधयोगापेक्षया अपूर्व-विलक्षण-एवं पूर्ण योग है, जिसके विस्तार का एकमात्र श्रेय गीताशास्त्र को ही प्राप्त हुआ है । पूर्वप्रतिपादित कर्म्म-भक्ति-ज्ञान, तीनों योगचतुष्टयी में साधन-साधक, एवं साध्य-भावों का निम्न लिखित स्पष्टीकरण है ।

५२–बुद्धियोगात्मक कर्म्मयोग के साधन-साधक-साध्य–भाव–

(१)-बुद्धियोगात्मक–'धर्म्मबुद्धियोग' नामक कर्म्मयोग में परात्पर-अव्यय-अक्षर-नामक ईश्वरीय गूढोत्मा के तीनों पर्वों से अनुगृहीत साधनभूत–अग्न्यात्मा–विज्ञानात्मा–प्रज्ञानात्मा–अव्यक्तात्मा–महानात्मा–जैवगूढोत्मा-इन आत्माओं के आत्मसत्याग्नि–ब्रह्मसत्याग्नि–देवसत्याग्नि-पर्वत्रयी, चाक्षुषपुरुष–विज्ञान–आयुः–प्राणपर्वत्रयी, साम्बसदाशिव–प्रज्ञान–यशःप्राणपर्वत्रयी, परोरजा–अन्तर्य्यामी–ऋतसत्यसूत्रपर्वत्रयी, सत्त्वमहान्–सौम्यप्राणपर्वत्रयी,–परात्पर–अव्यय -अक्षरपर्वत्रयी, साध्यभूत–ईश्वरीय गूढोत्मा के परात्पर–अव्यय–अक्षर, ये तीनों पर्व, एवं साधकभूत भूतात्मा के भूतात्मा–प्राज्ञात्मा–तैजसात्मा, ये तीनों पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं । ये सब उन्मुग्ध त्रिक शेष चौथे उद्‌बुद्ध भूतसत्याग्नि, ज्योतिर्गौः, रेतःश्रद्धा, शरीरगुहा, इड्कर्मभोग, आत्मक्षर, विकारक्षर, वैश्वानर, इन पर्वों में अन्तर्भुक्त रहते हैं ।

५३–बुद्धियोगात्मक भक्तियोग के साधन-साधक-साध्य–भाव–

(२)-बुद्धियोगात्मक–'ऐश्ववर्य्यबुद्धियोग' नामक भक्तियोग में उक्त आत्माओं के क्रमशः–आत्म–ब्रह्म-भूतसत्याग्नि,–चाक्षुषपुरुष विज्ञानज्योतिर्गौः, साम्बसदाशिव–प्रज्ञान–रेतःश्रद्धा, परोरजा–अन्तर्य्यामी–शरीरगुहा, सत्त्व-महान्–इड्कर्मभोग, परात्पर–अव्यय-आत्मक्षर, भूत-प्राज्ञ-वैश्वानर, ये त्रिक उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। ये सब त्रिक चौथे उद्‌बुद्ध देवसत्याग्नि–आयुःप्राण-यशःप्राण-ऋतसत्य–सौम्यप्राण–अक्षर–आत्मक्षर–तैजसपर्वों में अन्तर्भुक्त रहते हैं ।

५४–बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग के साधन-साधक-साध्य–भाव–

(३)-बुद्धियोगात्मक—'ज्ञानबुद्धियोग' नामक ज्ञानयोग में उक्त आत्माओं के आत्म–देवभूतसत्याग्नि, चाक्षुषपुरुष-आयुःप्राण-ज्योतिर्गौः, साम्बसदाशिव-यशःप्राण-रेतःश्रद्धा, परोरजा-ऋतसत्य-शरीरगुहा, सत्त्व-सौम्य–प्राण-इड्कर्मभोग, परात्पर-अक्षर-आत्मक्षर, भूतात्मा-तैजस-वैश्वानर, ये त्रिक उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं । ये सब त्रिक चौथे उद्‌बुद्ध-ब्रह्मसत्याग्नि, विज्ञान, प्रज्ञान, अन्तर्य्यामी, महान्, अव्यय, अक्षर, प्राज्ञात्मा, इन पर्वों में अन्तर्भुक्त रहते हैं ।

५५–बुद्धियोगात्मक बुद्धियोग के साधन-साधक-साध्य–भाव—

(४)-बुद्धियोगात्मक बुद्धियोग में उक्त आत्माओं के क्रमशः ब्रह्म-देव-भूतसत्याग्नि, विज्ञानायुःप्राण-ज्योतिर्गौः, प्रज्ञान-यशःप्राण-रेतःश्रद्धा, अन्तर्य्यामी-ऋतसत्य-शरीरगुहा, महान्-सौम्यप्राण-इड्कर्मभोग, अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर, एवं प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर, ये त्रिक अन्तर्भुक्त रहते हैं । ये सब त्रिक चौथे उद्‌बुद्ध-आत्मसत्याग्नि-चाक्षुषपुरुष-साम्बसदाशिव-परोरजा-सत्त्व-परात्पर-भूतात्मा, इन पर्वों में अन्तर्भुक्त रहते हैं, जैसाकि यह उन्मुग्ध-उद्‌बुद्धभाव आगे के परिलेखों से स्पष्ट हो रहा है ।

प्राकारान्तरेण—

———————— *

(१)-ब्रह्मदेवभूतसत्याग्नि,-विज्ञानायुःप्राणज्योतिर्गौः,-प्रज्ञानयशःप्राणरेतःश्रद्धा,-अन्तर्य्यामिऋतसत्यशरीरगुहा,-महत्सौम्यप्राण-इडूर्क्भोग-जीवानुगताव्ययाक्षरात्मक्षर-ईश्वरानुगताव्ययाक्षरात्मक्षर-प्राज्ञतैजसवैश्वानरगर्भितः,=आत्मसत्याग्नि-चाक्षुषपुरुष-साम्बसदाशिव-परोरजा-सत्त्व-जैवपरात्पर-ईश्वरपरात्पर भावानुगतः-
(४)-आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा—**बुद्धियोगात्मक-बुद्धियोगानुष्ठाता १**

———————— *

(२)-आत्मदेवभूतसत्याग्नि,-चाक्षुषपुरुषायुःप्राणज्योतिर्गौ,-साम्बसदाशिवयशःप्राणरेतःश्रद्धा,-परोरजाऋतसत्य-शरीरगुहा,-सत्त्वसौम्यप्राणेडूर्क्भोग,--जीवानुगतपरात्पराक्षरात्मक्षर,--ईश्वरानुगतपरात्पराक्षरात्मक्षर-भूततैजसवैश्वानरगर्भितः,=ब्रह्मसत्याग्नि, विज्ञान, प्रज्ञान, अन्तर्य्यामि, महत्, जैवाव्यय, ईशाव्ययभावानुगतः-
(३)-मनोमयः प्राज्ञात्मा—**ज्ञानयोगात्मक-बुद्धियोगानुष्ठाता २**

———————— *

(३)-आत्मब्रह्मभूतसत्याग्नि,-चाक्षुषपुरुषविज्ञानज्योतिर्गौ,-साम्बसदाशिवप्रज्ञानरेतःश्रद्धा,-परोरजा--अन्तर्य्यामि-शरीरगुहा,-सत्त्वमहदिडूर्कभोग-जीवानुगतपरात्पराव्ययात्मक्षर,-ईश्वरानुगतपरात्पराव्ययात्मक्षर-भूतप्राज्ञवैश्वानरगर्भितः,=देवसत्याग्नि, आयुःप्राण, यशःप्राण, ऋतसत्य, सौम्यप्राण, जैवाक्षर, ईशाक्षरभावानुगतः-
(२)-प्राणमयस्तैजसात्मा—**भक्तियोगात्मक-बुद्धियोगाधिष्ठाता ३**

———————— *

(४)-आत्मब्रह्मदेवसत्याग्नि,-चाक्षुषपुरुषविज्ञानायुःप्राण,-साम्बसदाशिवप्रज्ञानयशःप्राण,-परोरजा-अन्तर्य्यामि-ऋतसत्य,-सत्त्वमहत्सौम्यप्राण,-जीवानुगतपरात्पराव्ययाक्षर,--ईश्वरानुगतपरात्पराव्ययाक्षर-भूतप्राज्ञतैजस-गर्भितः,=भूतसत्याग्नि, ज्योतिर्गौ, रेतःश्रद्धा, शरीरगुहा, इडूर्क्भोग, जैवात्मक्षर, ईशात्मक्षर-भावानुगतः-
(१)-वाङ्मयो वैश्वानरात्मा—**कर्म्मयोगात्मक-बुद्धियोगाधिष्ठाता ४**

———————— *

(१)-ईशात्मकपरात्परानुगते-वैराग्ये आत्मसमर्पणम्--तदनुगताः-परात्परोपजीविनो वैराग्यवादिनः (बुद्धियोगिनः)
(२)-ईशात्मकाव्ययानुगते ज्ञाने आत्मसमर्पणम्—तदनुगताः-अव्ययोपजीविनो ज्ञानवादिनः (ज्ञानयोगिनः)
(३)-ईशात्मकाक्षरानुगते ऐश्वर्य्ये आत्मसमर्पणम्—तदनुगताः-अक्षरोपजीविनः-ऐश्वर्य्यवादिनः (भक्तियोगिनः)
(४)-ईशात्मकात्मक्षरानुयते धर्म्मे आत्मसमर्पणम्—तदनुगताः-आत्मक्षरोपजीविनः-धर्म्मवादिनः (कर्म्मयोगिनः)

सैषा-ईश्वरानुगतगूढोत्मानुगता भूतात्मनो बुद्धियोगचतुष्टयी चतुर्थी—

(१)-सर्वमुखाः——अमुखाः--प्राकृतिकाः-सर्वनिष्ठाः————बुद्धियोगिनः--वैराग्यपरायणाः (वैराग्यम्)
(२)-अन्तर्मुखाः--अमुखाः--प्राकृतिकाः-अव्यक्तनिष्ठाः---ज्ञानयोगिनः--ज्ञानपरायणाः (ज्ञानम्)
(३)-अन्तर्मुखाः---अमुखाः-प्राकृतिकाः-व्यक्ताव्यक्तनिष्ठाः-भक्तियोगिनः--ऐश्वर्य्यपरायणाः (ऐश्वर्य्यम्)
(४)-अन्तर्बहिर्मुखाः-अमुखाः-प्राकृतिकाः-व्यक्तनिष्ठाः———कर्म्मयोगिनः--धर्म्मपरायणाः (धर्म्मः)

——❀——

ईश्वरानुगत-गूढोत्मानुगता योगचतुष्टयी—

अग्न्यात्मपर्वाणि[1] विज्ञानात्मपर्वाणि[2] प्रज्ञानात्मपर्वाणि[3] अव्यक्तात्मपर्वाणि[4] महदात्मपर्वाणि[5] जीवानुगतगूढोत्मपर्वाणि[6] ईश्वरानुगत गू० प०[7] भू० प०[8]

(१)-आत्मसत्याग्निः—चाक्षुषपुरुषः—साम्बसदाशिवः—परोरजाः—सत्त्वम्——परात्परोऽव्ययानुगतः——परात्परः परात्परा०-भूतात्मा——योगनिष्ठः——(परात्परानुगतः)

(२)-ब्रह्मसत्याग्निः——विज्ञानम्——प्रज्ञानम्———अन्तर्य्यामी-महान्——अव्ययोऽव्ययानुगतः——अव्ययः परात्परा०-प्रज्ञात्मा——ज्ञाननिष्ठः——(अव्ययानुगतः)

(३)-देवसत्याग्निः——आयुःप्राणः——यशःप्राणः——ऋतसत्ये—सौम्यप्राणः—अक्षरोऽव्ययानुगतः-——अक्षरः परात्परा०-तैजसात्मा——ऐश्वर्य्यशाली-(अक्षरानुगतः)

(४)-भूतसत्याग्निः——ज्योतिर्गौः——रेतःश्रद्धा———शरीरगुहा—इङ्क् भोगाः-आत्मक्षरोऽव्ययानुगतः——आत्मक्षरः परा०-वैश्वानरात्मा-धर्म्मिष्ठः——(आत्मक्षरानुगतः)

———❀❀———

(१)-चाक्षुषपुरुषसम्परिष्वक्तसाम्बसदाशिवः-परोरजागर्भितसत्त्वयुक्तः———जैवपरात्परगर्भितेशपरात्परप्रधानो भूतात्मा-भूतात्मा——आत्मा———(बुद्धियोगात्मकबुद्धियोग-प्रतिष्ठाभूमिः)

(२)-विज्ञानसम्परिष्वक्तप्रज्ञानानुगतः-——अन्तर्य्यामिगर्भितमहद्युक्तः——जैवाव्ययगर्भितेशाव्ययप्रधानो भूतात्मा-प्राज्ञात्मा——कारणशरीरम्-(ज्ञानयोगात्मकबुद्धियोग-प्रतिष्ठाभूमिः)

(३)-आयुःप्राणसम्परिष्वक्तयशःप्राणानुगतः-ऋतसत्यगर्भितसौम्यप्राणयुक्त—जैवाक्षरगर्भितेशाक्षरप्रधानो भूतात्मा-तैजसात्मा——सूक्ष्मशरीरम्-(भक्तियोगात्मकबुद्धियोग-प्रतिष्ठाभूमिः)

(४)-ज्योतिर्गौःसम्परिष्वक्तरेतःश्रद्धानुगतः——शरीरगुहागर्भितेङ्क् भोगयुक्तः-जैवात्मक्षरगर्भितेशात्मक्षरप्रधानो भूतात्मा-वैश्वनरात्मा-स्थूलशरीरम्-(कर्म्मयोगात्मकबुद्धियोग-प्रतिष्ठाभूमिः)

———❀❀———

५६-षोडशकलप्रजापति के षोडश (१६) योगविवर्त्त—

'योगेश्वर' नाम है-'ईश्वरानुगत षोडशीपुरुष' का। इस योगेश्वर के अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत, भेद से तीन विवर्त्त मुख्य मानें गए हैं। अधिदैवत विवर्त्त 'ईश्वर' नाम से, अध्यात्म विवर्त्त 'जीव' नाम से, एवं अधिभूत विवर्त्त 'जगत्' नाम से व्यवहृत हुआ है। तीनों विवर्त्तों का वैज्ञानिक विश्लेषण पूर्व के-**'योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप'** नामक स्तम्भ में विस्तार से किया जाचुका है। दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न था योगेश्वर के तात्त्विक योगों से सम्बन्ध रखने वाला। प्रस्तुत स्तम्भ में इसी प्रश्न के समाधान की चेष्टा की गई हैं, जिसका निष्कर्ष यही है कि, योगेश्वर के आध्यात्मिक 'जीव' नामक विवर्त्त में क्रमशः ईश्वरानुगत-गूढोत्मा, जीवानुगत गूढोत्मा, अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा, अग्न्यात्मा, इन ८ आत्मविवर्त्तों का समन्वय हो रहा है। आठों में से भौम अग्न्यात्मा सर्वत्र योगसाधन है। पार्थिव भूतात्मा सर्वत्र योगसाधक है। चान्द्र प्रज्ञानात्मा, सौर विज्ञानात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, जीवानुगत गूढोत्मा, ये आत्मविवर्त्त योगतारतम्य से साधन भी हैं, और साध्य भी हैं। सर्वान्त में प्रतिष्ठित, सर्वाधार-निराधारभूत-ईश्वरानुगत गूढोत्मा केवल साध्य ही है। आठों आत्मविवर्त्तों के प्रधानतः ६ विवर्त्त बन जाते हैं। ईश्वरानुगत गूढोत्मा स्वतन्त्र विवर्त्त है, जीवानुगत गूढोत्मा स्वतन्त्र विवर्त्त है, अव्यक्तात्मगर्भित महानात्म-रूप से दो आत्माओं का स्वतन्त्र विवर्त्त है, विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मरूप से दो आत्माओं का स्वतन्त्र विवर्त्त है, भूतात्मा का स्वतन्त्र विवर्त्त है, एवं अग्न्यात्मा का स्वतन्त्र विवर्त्त है। इन ६ ओं में पूर्व के चार स्वतन्त्र विवर्त्त क्रमशः परात्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-प्रधान बनते हुए क्रमशः बुद्धि-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योग, इन चार योगों के साध्य बन रहे हैं। सर्वान्त का अग्न्यात्मविवर्त्त साधन है, ५ वाँ भूतात्मविवर्त्त साधक है। अग्न्यात्मयुक्त भूतात्मा विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानानुगत आत्मक्षर का अनुगामी बनता हुआ कर्म्मयोग का साधक कहलाया है। अग्न्यात्मक भूतात्मा अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मानुगत अक्षर का अनुगामी बनता हुआ भक्तियोगसाधक माना गया है। अव्यक्तात्मक भूतात्मा जीवानुगत गूढोत्मालक्षण अव्यय का अनुगामी बनता हुआ ज्ञानयोगसाधक माना गया है। एवं वही अग्न्यात्मक भूतात्मा ईश्वरानुगत गूढोत्मा-लक्षण परात्पर का अनुगामी बनता हुआ बुद्धियोगसाधक कहलाया है। इसप्रकार आध्यात्मिक योगेश्वर (ईश्वर) तन्त्र से सम्बद्ध आध्यात्मिक ईश्वर-जीव-अव्यक्तगर्भित महान्-विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञान-इन चार स्वतन्त्र तन्त्रों के आधार पर अग्न्यात्मतन्त्र से युक्त भूतात्मतन्त्र के बुद्धि-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म, ये चार योग व्यवस्थित हैं। यही योगेश्वरानुगता आध्यात्मिकी योगचतुष्टयी है। प्रत्येक योगसाध्य आत्मा चतुष्पर्वा है। अतएव प्रत्येक योग के आगे जाकर चार चार विवर्त्त हो जाते हैं, जिनका सपरिलेख पूर्व में क्रमशः स्पष्टीकरण किया जाचुका है। इसप्रकार योगेश्वरानुगत चार योगों के १६ योग हो जाते हैं। इनमें से ईश्वरानुगत गूढोत्मा से सम्बद्धा, बुद्धियोगात्मिका, परात्परानुगता योगचतुष्टयी ही उपादेया है, यही गीताशास्त्र का 'बुद्धियोग' तत्त्व है। 'बुद्धियोग'-प्रतिष्ठारूपा बुद्धि का क्या स्वरूप है ?, अगला स्तम्भ इसी प्रश्न-समाधि के लिए प्रवृत्त हो रहा है।

१-ईश्वरानुगतो गूढात्मा-साध्य एव-बुद्धियोगस्य

२-जीवानुगतो गूढोत्मा—बुद्धियोगस्य साधनं, ज्ञानयोगस्य च साध्यम्

३-स्वायम्भुवोऽव्यक्तात्मा-ज्ञानयोगस्य साधनं, भक्तियोगस्य च साध्यम्

४-पारमेष्ठ्यो महानात्मा- " "

५-सौरो विज्ञानात्मा——भक्तियोगस्य साधनं, कर्म्मयोगस्य च साध्यम्

६-चान्द्रः प्रज्ञानात्मा—- " "

७-पार्थिवो भूतात्मा——सर्वेषां योगानां साधक एव

८-भौमोऽग्न्यात्मा———सर्वेषां योगानां साधनमेव

——❀——

१-ई० गूढोत्मा]-(१)-ई० गूढोत्मा (परात्परप्रधानः-बुद्धियोगसाध्यम्)

२-जी० गूढोत्मा]-(२)-जी० गूढोत्मा (अव्ययप्रधानः-ज्ञानयोगसाध्यम्)

३-अव्यक्तात्मा
४-महानात्मा } -(३)-अव्यक्तात्मगर्भितो महानात्मा (अक्षरप्रधानः-भक्तियोगसाध्यम्)

५-विज्ञानात्मा
६-प्रज्ञानात्मा } -(४)-विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा (आत्मक्षरप्रधानः-कर्म्मयोगसाध्यम्)

७-भूतात्मा]-(५)-वैश्वानरतैजसप्राज्ञ-भूतात्ममूर्त्तिर्भूतात्मा (विकारक्षरप्रधानः-योगसाधकः)

८-अग्न्यात्मा]-(६)-ब्रह्म-देव-भूत-आत्मसत्याग्निमूर्त्तिरग्न्यात्मा (वैकारिकक्षरप्रधानः-योगसाधनम्)

——❀——

१-परात्परप्रधानेशगूढोत्मानुगतो योगः-भूतात्मप्रधानस्य भूतात्मनः——————बुद्धियोगः

२-अव्ययप्रधानजीवगूढोत्मानुगतो योगः-प्राज्ञात्मप्रधानस्य भूतात्मनः——————ज्ञानयोगः

३-अक्षरप्रधानाव्यक्तगर्भित-महानात्मानुगतो योगः-तैजसात्मप्रधानस्य भूतात्मनः-भक्तियोगः

४ आत्मक्षरप्र०-विज्ञानसम्परिष्वक्तः-प्रज्ञानात्मानुगतो योगः-वैश्वानरात्मप्रधानस्य भूतात्मनः-कर्म्मयोगः

——❀——

१	परात्परप्रधाना बुद्धि-योगचतुष्टयी	(१) ईशगूढोत्मा-परात्परप्रधानः परात्परः-परात्परयोगः (बुद्धियोगः) (२) ईशगूढोत्मा-परात्परप्रधानोऽव्ययः-अव्ययYोगः (ज्ञानयोगः) (३) ईशगूढोत्मा-परात्परप्रधानोऽक्षरः-अक्षरयोगः (भक्तियोगः) (४) ईशगूढोत्मा-परात्परप्रधानः-आत्मक्षरः-आत्मक्षरयोगः (कर्म्मयोगः)	४ —बुद्धियोगश्चतुर्विधः
२	अव्ययप्रधाना ज्ञान-योगचतुष्टयी	(१)-जीवगूढोत्मा-अव्ययप्रधानःपरात्परः-परात्परयोगः (बुद्धियोगः) (२)-जीवगूढोत्मा-अव्ययप्रधानोऽव्ययः-अव्यययोगः (ज्ञानयोगः) (३)-जीवगूढोत्मा-अव्ययप्रधानोऽक्षरः-अक्षरयोगः (भक्तियोगः) (४)-जीवगूढोत्मा-अव्ययप्रधानः-आत्मक्षरः-आत्मक्षरयोगः (कर्म्मयोगः)	३ —ज्ञानयोगश्चतुर्विधः
३	अक्षरप्रधाना भक्ति-योगचतुष्टयी	(१)-अव्यक्तगर्भितहानात्मा-अक्षरप्रधानः परात्परः-परात्परयोगः (बुद्धियोगः) (२)-अव्यक्तगर्भितमहानात्मा-अक्षरप्रधानोऽव्यय-अव्यययोगः (ज्ञानयोगः) (३)-अव्यक्तगर्भितमहानात्मा-अक्षरप्रधानोऽक्षरः-अक्षरयोगः (भक्तियोगः) (४)-अव्यक्तगर्भितमहानात्मा-अक्षरप्रधानः-आत्मक्षरः-आत्मक्षरयोगः (कर्म्मयोगः)	२ —भक्तियोगश्चतुर्विधः
४	आत्मक्षरप्रधाना कर्म्म-योगचतुष्टयी	(१)-विज्ञानसम्परिष्वक्तप्रज्ञानात्मा-आत्मक्षरप्रधानः परात्परः-परात्परयोगः (बुद्धियोगः) (१)-विज्ञानसम्परिष्वक्तप्रज्ञानात्मा-आत्मक्षरप्रधानोऽव्ययः-अव्यययोग; (ज्ञानयोगः) (३)-विज्ञानसम्परिष्वक्तप्रज्ञानात्मा—आत्मक्षरप्रधानोऽक्षरः-अक्षरयोगः (भक्तियोगः) (४)-विज्ञानसम्परिष्वक्तप्रज्ञानात्मा-आत्मक्षरप्रधानः-आत्मक्षरः-आत्मक्षरयोगः(कर्म्मयोगः)	१ -कर्म्मयोगश्चतुर्विधः

षोडशकलं वा इदं सर्वमित्याहुराचार्य्याः—

✻

१ बुद्धियोगः ४

१–ईशपरात्परानुगतो बुद्धियोगः–**वैराग्ये** प्रतिष्ठितः (वैराग्यबुद्धियोगः) (१)

२–ईशाव्ययानुगतो ज्ञानयोगः–**ज्ञाने** प्रतिष्ठितः (ज्ञानबुद्धियोगः) (२)

३–ईशाक्षरानुगतो भक्तियोगः–**ऐश्वर्य्ये** प्रतिष्ठितः (ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः) (३)

४–ईशात्मक्षरानुगतः कर्म्मयोगः–**धर्म्मे** प्रतिष्ठितः (धर्म्मबुद्धियोगः) (४)

✻

२ ज्ञानयोगः ४

१–जीवपरात्परानुगतो बुद्धियोगः—विभूतौ प्रतिष्ठितः (विभूतिज्ञानयोगः) (५)

२–जीवाव्ययानुगतो ज्ञानयोगः—अनुभूतौ प्रतिष्ठितः (अनुभूतिज्ञानयोगः) (६)

३–जीवाक्षरानुगतो भक्तियोगः—नियतौ प्रतिष्ठितः (नियतिज्ञानयोगः) (७)

४–जीवात्मक्षरानुगतः कर्म्मयोगः—वित्तौ प्रतिष्ठितः (वित्तिज्ञानयोगः) (८)

✻

३ भक्तियोगः ४

१–परोरजागर्भितसत्त्वानुगतो बुद्धियोगः—**उपासनायां** प्रतिष्ठितः (उपासनभक्तियोगः) (९)

२–अन्तर्य्यामिगर्भितमहदनुगतो ज्ञानयोगः—**प्रपत्तौ**-प्रतिष्ठितः (प्रपत्तिभक्तियोगः) (१०)

३–ऋतसत्यगर्भितसौम्यप्राणानुगतो भक्तियोगः—**भक्तौ**-प्रतिष्ठितः (भक्ति-भक्तियोगः) (११)

४–शरीरगुहागर्भितेद्रूर्क् भोगानुगतः कर्म्मयोगः—**परिचर्य्यायां** प्रतिष्ठितः (परिचर्य्याभक्तियोगः)(१२)

✻

४ कर्म्मयोगः ४

१–चाक्षुषपुरुषसम्परिष्वक्त—साम्बसदाशिवानुगतः-बुद्धियोगः–**'स्वधर्म्मे'** प्रतिष्ठितः (स्वधर्म्मकर्म्मयोगः) (१३)

२–विज्ञानसम्परिष्वक्त——प्रज्ञानानुगतः———ज्ञानयोगः—'कामे–प्रतिष्ठितः (कामकर्म्मयोगः) (१४)

३–आयुःप्राणसम्परिष्वक्त—यशःप्राणानुगतः—–भक्तियोगः–'तपसि' प्रतिष्ठितः (तपःकर्म्मयोगः) (१५)

४–ज्योतिर्गौःसम्परिष्वक्त——रेतःश्रद्धानुगतः——कर्म्मयोगः–'श्रमे' प्रतिष्ठितः (श्रमकर्म्मयोगः) (१६)

✻

इति बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमप्रकरणे

'योगेश्वरानुगत-योगस्वरूपनिरूपणम्' नामकः

तृतीयस्तम्भः

(१)–३

✻

श्रीः

'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथमप्रकरणान्तर्गत

'योगेश्वरानुगत-'योग' का स्वरूप' नामक

तृतीयस्तम्भ—उपरत

(१)—३

श्रीः

अथ-बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमे प्रकरणे

'बुद्धि'-तत्त्वस्वरूपदिग्दर्शनम्' नामकः

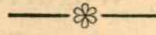
चतुर्थस्तम्भः

(१)-४

श्री :

'बुद्धि'–तत्त्वस्वरूपादिग्दर्शनम्

चतुर्थस्तम्भः



५७–सर्वविध योगों का इन्द्रियव्यापारसापेक्षत्त्व—

'बुद्धियोग' एक ऐसा अपूर्व–अश्रुतपूर्व–योग है, जिसका तत्त्वतः अति प्रत्नदृष्टि से, किन्तु वर्त्तमान में अति नूतन दृष्टि से सम्बन्ध है। कर्म्म हो, ज्ञान हो, अथवा तो भक्ति हो, लोकप्रचलित तीनों हीं सुप्रसिद्ध योगों में बुद्धि का सहयोग आवश्यकरूप से अपेक्षित रहता है। कारण स्पष्ट है। कर्म्मात्मक कर्म्म, ज्ञानात्मक कर्म्म, भक्त्यात्मक कर्म्म, ये तीनों शास्त्रीय कर्म्म, एवं शिल्प–कला–वाणिज्य–भौतिक आविष्कार, तथा अन्यान्य लौकिक उन्नतिसाधक कृष्यादि कर्म्म, सभी सर्वप्रथम 'भूतात्मा' नाम से प्रसिद्ध उस कर्म्मात्मा की अपेक्षा रखते हैं, जो कर्म्मात्मा 'अन्यात्मा' नामक पाञ्चभौतिक देह (शरीर) रूप आयतन में प्रतिष्ठित रहता हुआ 'देही-शरीरी' आदि नामों से प्रसिद्ध है। शरीरप्रतिष्ठ कर्म्मात्मा हीं लौकिक-वैदिक सर्वविध योगों का साधक है, अनुष्ठाता है, जैसा कि पूर्व स्तम्भ में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। कर्म्मात्मा का लौकिक कर्म्म हो, अथवा शास्त्रीय, तीनों योगों में कोई सा योग हो, सर्वप्रथम साधनरूप से उसमें इन्द्रियव्यापार की आवश्यकता रहती है। लौकिक–प्रत्यक्ष फलप्रदाता–शिल्पकलादि बाह्य कर्म्मों में तो इन्द्रियव्यापार का सहयोग प्रत्यक्ष ही दृष्ट है। वाक्, प्राण, चक्षुः, श्रोत्र, इन्द्रियमन, हस्त, पादादि के व्यापार से ही तो इन बाह्य कर्म्मों का स्वरूपनिर्म्माण होता है, जिस व्यापार को हम अवश्य ही ऐन्द्रिकव्यापार कह सकते हैं। शास्त्रीय कर्म्मयोगात्मक वैदिक कर्म्मों की प्रवृत्ति भी प्रथमतः इन्द्रियव्यापार की ही अपेक्षा रखती है। अध्वर्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा, चारों दक्षिणा-क्रीत ऋत्विजों के क्रमशः यजुर्वेदानुबन्धी ग्रहकर्म्म, ऋग्वेदानुबन्धी शस्त्रकर्म्म, सामवेदानुबन्धी स्तोत्रकर्म्म, एवं त्रयीवेदानुबन्धी ब्राह्मकर्म्म चारों यज्ञकर्म्म साधक कर्म्म चारों ऋत्विजों के चारों वेद के मन्त्रों के प्रयोग से सम्बन्ध रखते हुए अवश्य ही इन्द्रियसापेक्ष हैं। आहुतिकर्म्म, पुरोडाशसम्पादनकर्म्म, वेदिनिर्म्माण, कुण्ड-निर्म्माण, अग्निसमिन्धन, अनुवाक्या, पुरोऽनुवाक्या, याज्या, वषट्कार, आदि आदि सभी तो क्रत्वर्थ कर्म्म इन्द्रियसापेक्ष हैं। यजमान, यजमानपत्नी, इन दोनों के कर्म्म भी इन्द्रियव्यापारसापेक्ष ही हैं। इसप्रकार यह शास्त्रीय कर्म्मयोग भी लौकिक कर्म्मों की भाँति सर्वथा इन्द्रियव्यापारसापेक्ष बना रहता है, जिसका फल परोक्ष माना गया है। दूसरा शास्त्रीय योग है–'भक्तियोग'। यह ठीक है कि, वैदिककर्म्मयोग की भाँति इस भक्तियोग में अन्य व्यक्तियों के व्यापार की अपेक्षा नहीं रहती। स्वयं यजमान (उपासक) ही एकान्त में इस योग के अनुष्ठान में समर्थ है, तथापि इसे भी माना जायगा इन्द्रियव्यापारसापेक्ष ही। प्रतिमोपासनादि साम्प्रदायिक बाह्य भक्तियोगों में तो स्नान-धूप-दीप-नैवेद्य–वन्दनादि रूप से इन्द्रियव्यापार स्पष्ट ही है। तत्त्वोपासनात्मिका प्राणदेवोपासना में भी (योगात्मिका उपासना में भी) इन्द्रियव्यापार का सहयोग रहता है। इसप्रकार शास्त्रीय भक्तियोग भी इन्द्रियव्यापार की अपेक्षा रख रहा है। जिसे ज्ञानयोग कहा जाता है, जिसमें

कल्पनारसिक सर्व कर्म्मों का आत्यन्तिक विमोक अनिवार्य्य समझते हैं, उस निवृत्तियोग में भी साधनदशा में अवश्य ही इन्द्रियव्यापार प्रक्रान्त रहता है। इन्द्रियों को विषयसम्पर्क से छुड़ाना भी तो इन्द्रियव्यापारसापेक्ष ही है। इसके अतिरिक्त इस ऐकान्तिक ध्यानयोगात्मक ज्ञानयोग में भी तो इन्द्रियवर्ग अन्तर्मुख बना हुआ स्वव्यापार करता रहता है। '**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्**' इत्यादि रूप से स्वयं उपनिषत् ने भी अन्तर्मुख ज्ञानयोग में भी इन्द्रियव्यापार का निवृत्त्यात्मक सहयोग स्वीकार किया है। इसप्रकार शास्त्रीय ज्ञानयोग भी इतर योगों की भाँति इन्द्रियव्यापारसापेक्ष ही बन रहा है।

५८–सर्वविध योगों का प्रज्ञान (मन) व्यापारसापेक्षत्व—

'इन्द्रियव्यापार' का अर्थ है-इन्द्रियों का स्व स्व क्रियाभावों के प्रति अनुगमन। आखों का देखना, कानों का सुनना, वाक् का बोलना, नाक का सूँघना, रसना का स्वाद लेना, हाथों का इतस्ततः चलना, आदि तत्तत्–ज्ञान–कर्म्मेन्द्रिय का तत्तत् क्रियाओं में परिणत रहना ही 'इन्द्रियव्यापार' है। प्रश्न होता है कि, ज्ञानकर्म्मेन्द्रियाँ क्या अपनी हीं शक्ति से इन स्व–स्व क्रियाभावों का सञ्चालन करने में समर्थ हैं?, अथवा स्वव्यापार–प्रवृत्ति के लिए इन्हें किसी अन्य शक्तिघन के सहयोग की अपेक्षा रहती है?। शास्त्रीय दृष्टि, और अनुभव दृष्टि, दोनों दृष्टियों से यह प्रमाणित है कि, इन्द्रियों को स्वव्यापारप्रवृत्ति के लिए किसी दूसरे ही शक्तिघन तत्त्व का आश्रय लेना पड़ता है। वही शक्तिघन तत्त्व शास्त्रीय भाषा में '**प्रज्ञानात्मा**' कहलाया है, एवं वही लोकभाषा में 'मन' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यदि कोई व्यक्ति किसी सुन्दर आकर्षक दृश्यदर्शन में तल्लीन रहता है, तो समीप ही होने वाला घण्टानाद तक उसे सुनाई नहीं पड़ता। परस्पर विचारविनिमय, किंवा वार्त्तालाप करने वाले दो व्यक्तियों में से कोई सा व्यक्ति यदि सहसा अपनी दृष्टि किसी सुन्दर दृश्यावेक्षण में संलग्न कर देता है, तो उस दशा में वह उस अन्य व्यक्ति के शब्दों का तात्पर्य्य समझने में असमर्थ हो जाता है। उसे उस वक्ता से कहना पड़ता है कि, 'क्षमा कीजिए! मेरा मन दूसरी ओर चला गया था, मैं नहीं सुन सका, आपने क्या कहा था। कृपाकर पुनः कहने का कष्ट करें' *। मानना पड़ेगा कि, इन्द्रियव्यापार के साथ 'मन' (प्रज्ञान) नाम का सहयोगी भी आवश्यकरूप से अपेक्षित रहता है, जिसका सहयोग प्राप्त करके ही इन्द्रियवर्ग स्वव्यापार–सञ्चालन में समर्थ हो सकता है। बिना प्रज्ञान–सहयोग के कोई भी इन्द्रिय अपना कर्म्म नहीं कर सकती। क्योंकि प्रत्येक इन्द्रियव्यापार में प्रज्ञानमन का व्यापार संश्लिष्ट रहता है, अतएव इसे '**सर्वेन्द्रियमन**' (सब इन्द्रियों में रहने वाला मन) नाम से व्यवहृत किया गया है। '**नियतविषयत्त्वमिन्द्रियत्त्वम्**' ही इन्द्रिय का इन्द्रियत्त्व (इन्द्रियलक्षण) है। '**तेषामिष्टानि विहितानि धामशः**' (ऋक्सं०१।१६४।१५।) के अनुसार इन्द्रियों के इष्ट (विषय) स्थानशः नियत हैं। आँख का काम है-केवल देखना, नाँक का काम है केवल सूँघना, कान का काम है केवल सुनना–इत्यादि। '**गुणानां च परार्थत्त्वादसम्बन्धः समत्त्वात्**' इस सुप्रसिद्ध न्याय के अनुसार गुणस्थानीय सभी इन्द्रियों के व्यापार परार्थ (गुणीभूतात्मा के लिए) हैं। अतएव इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं हैं। संकल्प (विषयग्रहण)–विकल्प (विषयपरित्याग) लक्षण इन्द्रियमन भी संकल्प–विकल्परूप नियत धर्म्म से आक्रान्त रहता हुआ इन्द्रिय-

---

*–"न हि प्रज्ञापेता वाङ्-नाम किञ्चन प्रज्ञापयेत्–'अन्यत्र मे मनोऽभूत्' इत्याह"।
—कौ० उप० ३।८।७।

कोटि में प्रविष्ट है। अतएव-"इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि"(अथर्वसं०१९।९।५।) इत्यादि अथर्वसिद्धान्तानुसार इस संकल्पविकल्पात्मक मन को 'इन्द्रिय' ही माना गया है। वैदिकविज्ञानानुसार वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मन, इन विभिन्न-नियतकर्म्मा पाँचों इन्द्रियों में, एवं दर्शनानुसार ५-ज्ञानेद्रियाँ, ५-कर्म्मेन्द्रियाँ, १ मन, इन ११ इन्द्रियों में यह सर्वेन्द्रिय नामक प्रज्ञानमन अपनी प्रज्ञामात्रा से अनुस्यूत रहता है। सब इन्द्रियों में अनुस्यूत रहने से जैसे यह 'सर्वेन्द्रिय' कहलाया है, एवमेव इन्द्रियलक्षणरूप नियतविषयग्राहित्त्वमर्य्यादा से पृथक् रहने के कारण **'अनिन्द्रिय'** नाम से भी व्यवहृत हुआ है। इसप्रकार **'अतीन्द्रिय-सर्वेन्द्रिय-अनिन्द्रिय'** नामों से प्रसिद्ध 'प्रज्ञानमन' की प्रज्ञानमात्रा का आश्रय लेकर ही इन्द्रियवर्ग स्वव्यापार करने में समर्थ है, यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है। (देखिए पृ॰सं० १७३)।

शास्त्र नें भी विस्पष्ट शब्दों में कर्म्ममात्र में प्रज्ञान का सहयोग अनिवार्य्य बतलाया है। जिस प्रकार एक सधा हुआ सारथी प्रग्रह (लगाम) द्वारा रथाश्वों का सञ्चालन किया करता है, एवमेव सारथी-भूत प्रज्ञानमन प्रग्रहभूत स्व ज्ञान-कर्म्म-रश्मियों से शरीररथ में जुते हुए इन्द्रियाश्वों का सञ्चालन किया करता है। सहज-भाषानुसार मन जिस ओर कामना करता है, इन्द्रियों को उसी ओर झुकना पड़ता है। निम्न लिखित यजुर्म्मन्त्र प्रज्ञानमन की इसी ऐन्द्रियक यथयावत् कर्म्मसहयोगिता, एवं इन्द्रियसञ्चालकत्त्व का समर्थन कर रहे हैं—

१-येन कर्म्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥
२-यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥
३-सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

—यजुः सं० ३४।२, ३, ६,। (मनःसूक्त)

३-नाभि, अर, नेमि, और रथचक्र—

इन्द्रियाँ अनेक, और उनके व्यापार भी अनेक, साथ ही विभिन्न भी। उधर प्रज्ञानमन एकाकी। कैसे एकाकी मन इन सब विभिन्न इन्द्रियों के विभिन्न व्यापारों का सञ्चालन करने में समर्थ होता है?, प्रश्न उपस्थित होता है। 'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठम्' वाक्य इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। हृदयस्थान में प्रज्ञानमन उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। उक्थ अर्कसापेक्ष है। जिस प्रकार उक्थ (बिम्ब) रूप एकाकी सूर्य्य अर्क (रश्मि) रूप से सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों में व्याप्त रहता है, एवमेव उक्थप्रज्ञान अर्करूप से सम्पूर्ण इन्द्रियों के सञ्चालन में समर्थ हो जाता है। इसके अर्कभाव हृदयस्थ प्राणात्मक देवतत्त्व से अनुगृहीत रहते हुए अजर-धर्म्म-भावापन्न बने हुए हैं। इन्द्रियवर्ग शिथिल हो जाता है, वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ उपरत हो जातीं हैं। किन्तु मन के कामभाव अक्षुण्ण बने रहते हैं। कारण इन्द्रियवर्ग जहाँ क्षरसहयोग से मरणधर्म्मा है, वहाँ मन

अक्षरप्राण के सहयोग से जरारहित है, यही इसका अजिरत्व है, जीर्णता-राहित्य है। अपनी स्वाभाविक सौम्यविद्युत् के कारण यह तीव्रगामी है। अतएव अर्करूप से यह तीव्रवेग से इन्द्रियों के प्रति अनुधावन करता हुआ उनके अनेकों व्यापार-सञ्चालन में समर्थ बन जाता है। यही इसका 'जविष्ठत्व' है।

कुछ एक इन्द्रियाँ ज्ञानप्रधान हैं, कुछ एक कर्म्मप्रधान। प्रज्ञानमन समानरूप से दोनों का सञ्चालन करने मे समर्थ है। इसके साथ ही ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न भावनात्मक ज्ञानीय संस्कार, एवं कर्म्मेन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न वासनात्मक भौतिक संस्कार, इन उभयविध संस्कारों का भी इस प्रज्ञानमन पर सञ्चय होता रहता है। फलतः ज्ञानकर्म्मेन्द्रियव्यापार सञ्चालित करना, एवं भावना-वासना-संस्कारपुञ्ज को स्वधरातल पर प्रतिष्ठित रखना प्रज्ञान मन के ये दो धर्म्म हो जाते हैं। ज्ञानेन्द्रियसञ्चालनयोग्यता, तथा ज्ञानीय-भावना-संस्कारग्रहणयोग्यता, इन दो भावों से यह प्रमाणित है कि, प्रज्ञानमन में 'ज्ञानतत्त्व' का समावेश है। कर्म्मेन्द्रियसञ्चालनयोग्यता प्रज्ञानमन में क्रियातत्त्व प्रमाणित कर रही है, एवं भौतिक वासनासंस्कारग्रहण-योग्यता प्रज्ञानमन में अर्थतत्व की सत्ता प्रमाणित कर रही है। अवश्य ही प्रज्ञानमन ज्ञान, क्रिया, अर्थ, तीनों मात्राओं से युक्त है। ज्ञानमात्रा प्रज्ञामात्रा है, क्रियामात्रा प्राणमात्रा है, अर्थमात्रा भूतमात्रा है। प्रज्ञा-प्राण-भूत, तीनों तत्त्वों से संश्लिष्ट समष्टिरूप तत्त्व ही प्रज्ञानमन है। इन्द्रियभेद से इसकी तीनों कलाओं के उतने हीं विवर्त्त हो जाते हैं। रथ के दृष्टान्त से श्रुति ने तीन कलाओं का समन्वय बतलाया है। रथ पें रथ, नेमि, आरे, नाभी, ये ४ विभाग मानें जा सकते हैं। 'रथ' समष्टिरूप विभाग है, अवयवी है। नेमि, आरे, नाभि, ये तीन विभाग व्यष्ट्यात्मक हैं, अवयव हैं। 'नाह' नाम से प्रसिद्ध अण्डाकार वह अन्तःकाष्ठ, जिसके मध्यवर्त्ती बिल में अक्ष (धुरा) प्रोत रहता है, जिसके बहिर्मुख समतुलित छिद्रों में लम्बकाष्ठ (आरे) प्रोत रहते हैं, **'नाभि'** कहलाया है। इस ओर नाभिछिद्रों में प्रोत, उस ओर रथबाह्यचक्र के छिद्रों में प्रोत लम्बकाष्ठ **'आरा'** कहलाते हैं। एवं आरों में प्रोत बहिर्देशवर्त्ती वर्त्तुलकाष्ठ (रथचक्र) **'नेमि'** कहलाया है। नेमि चारों में ठुका रहता है, आरा नाभि में बद्ध रहते हैं। रथनिर्म्माणप्रक्रिया में आप देखेंगे कि, पहिले नाभि में आरे ठोंके जाते हैं। अनन्तर आरों के व्यवच्छेद (दूरी-अन्तर) से बनाए गए छिद्रात्मक (लोकभाषा में 'पूठी' नाम से प्रसिद्ध) अर्द्धवर्त्तुल काष्ठखण्ड आरों में ठोके जाते हैं। इन खण्डों से ही वर्त्तुल बहिश्चक्र का स्वरूप निष्पन्न होता है।

प्रज्ञानात्मा चिद्विशिष्ट (ज्ञानविशिष्ट) सौम्यप्राणमूर्त्ति है। चिदंश 'प्रज्ञा' है, सौम्यप्राण 'प्राण' है। प्रज्ञागर्भित सौम्यप्राण (ज्ञानगर्भिता क्रिया) ही प्रज्ञानात्मा का, किंवा प्रज्ञात्मा का प्रातिस्विक स्वरूप है। भूत-मात्रा इसकी आगन्तुक सम्पत्ति है, अतएव इसे प्रज्ञानात्मस्वरूप में अन्तर्भूत नहीं माना जा सकता। प्रज्ञात्मक प्राण (प्रज्ञा से अभिन्नप्राण, एवं प्राण से अभिन्ना प्रज्ञा) ही इसका प्रातिस्विक स्वरूप माना गया है, जैसा कि निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है—

"अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मा-इदं शरीरं परिगृह्य-उत्थापयति। तस्मादेतदेवोक्थ-मुपासीत। यो वै प्राणः-सा प्रज्ञा, या प्रज्ञा-स प्राणः। स ह्येतावस्मिन्-शरीरे वसतः, सहोत्क्रामतः। तस्यैषैव दृष्टिः, एतद्विज्ञानम्॥

—कौ० उप० ३।३।३।

'तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत' वाक्यानुसार हृतप्रतिष्ठ प्रज्ञागर्भित प्राणमूर्त्ति प्रज्ञानात्मा उक्थरूप से शरीररूप रथ के हृदय में प्रतिष्ठित है। उधर रथदृष्टान्त में 'नाभि' उक्थरूप से रथरूप शरीर के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। अतएव उक्थरूप प्रज्ञा–प्राण–मूर्त्ति प्रज्ञान को हम 'नाभि' कह सकते हैं। प्रज्ञागर्भित प्राणमूर्त्ति उक्थ-प्रज्ञान से चारों ओर प्राणगर्भित प्रज्ञामात्राएँ निकलतीं हैं। ये ही अर्क (रश्मियाँ) हैं। ये अर्करूप प्रज्ञामात्राएँ प्रज्ञान में उसी प्रकार अर्पित हैं, जैसे आरे नाभि में अर्पित रहते हैं। अतएव इन अर्कात्मिका प्रज्ञामात्राओं को 'अर' स्थानीय माना जा सकता है। ज्ञानकर्म्मेन्द्रियाँ इस प्राणात्मिका प्रज्ञामात्रा–से अभिन्न हैं। अतः प्रज्ञा-मात्रा से ज्ञानकर्म्मेन्द्रियों का संग्रह किया जा सकता है। ज्ञान–कर्म्मेन्द्रियों के अन्त में अर्थप्रधान भौतिक विषय रहते हैं। जो स्थान रथ में बहिश्चक्रात्मक नेमि का है, वही स्थान यहाँ भौतिक विषयों का है। अतएव भूत-मात्रा को नेमिस्थानीय माना जा सकता है, जो नेमिस्थानीया भूतमात्रा अरस्थानीया प्रज्ञामात्रा (इन्द्रियवर्ग) में अर्पित है।

प्रकारान्तर से यों समन्वय कीजिए कि, प्रज्ञानात्मा एक प्रजापतिसंस्था है। एवं प्रजापति के वैज्ञानिकों नें–**'आत्म-प्राण-पशुत्त्वं, उक्थो-र्का-शीतित्त्वं प्रजापतित्त्वम्'** इत्यादि लक्षण मानें हैं। हृदयस्थ-भाव आत्मा है, यही उक्थ है। परिधिस्थ भाव पशु है, यही अर्क है। हृदय, और परिधि, दोनों के मध्याकाश में व्याप्त, परिधिस्थ भाव को हृदयस्थ भाव में आहुत करने वाला भाव प्राण है, यही अर्क है। प्रज्ञानविवर्त्त में प्रज्ञान, इन्द्रियवर्ग, विषय, भेद से तीनों पर्वों का समन्वय हो रहा है। प्रज्ञानमन हृदयस्थ आत्मरूप उक्थ है। इन्द्रियवर्ग मध्याकाशस्थ प्राणरूप अर्क है। विषयजात परिधिस्थ पशुरूप अशीति (अन्न) है। ये तीनों क्रमशः प्राण, प्रज्ञा, भूत–मात्राप्रधान हैं। ये ही तीनों क्रमशः नाभि, अर, नेमि, हैं। भूतमात्रारूप नेमि प्रज्ञामात्रारूप आरा में अर्पित हैं। प्रज्ञामात्रारूप अर प्राणमात्रारूप नाभि में अर्पित हैं। प्रज्ञान, इन्द्रियवर्ग, विषय, तीनों हीं ज्ञान–क्रिया–अर्थरूपा प्रज्ञाप्राणभूत–मात्राओं से युक्त हैं। परन्तु त्रिमूर्त्ति प्रज्ञानमन सौम्यप्राणप्रधान बनता हुआ केवल 'प्राण' कहलाया है। त्रिमूर्ति इन्द्रियवर्ग प्रज्ञाप्रधान बनता हुआ 'प्रज्ञामात्रा' नाम से व्यवहृत हुआ है। एवं त्रिमूर्त्ति विषय भूतप्रधान बनता हुआ भूतमात्रा कहलाया है। भूत–प्रज्ञागर्भित प्राण 'प्रज्ञान' है, भूतप्राणगर्भिता प्रज्ञा इन्द्रियवर्ग है, एवं प्रज्ञा-प्राण-गर्भित भूत विषय हैं। विषयेन्द्रियप्रज्ञानकृतरूप प्रज्ञान-प्रजापति का यही संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

"तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पितः, नाभावरा अर्पिताः, एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः, प्रज्ञामात्रा प्राणेऽर्पिताः। स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा (प्रज्ञानात्मप्रजापति) आनन्दोऽजरोऽमृतः। न साधुना कर्म्मणा भूयान्, नो एवसाधुना कनीयान्"।

—कौ० ३।८।८।

प्रज्ञानविवर्त्तपरिलेखः—

१	१–प्राणः (क्रिया)–प्राणमात्रा २–प्रज्ञा–(ज्ञानम्)–प्रज्ञामात्रा ३–भूतम् (अर्थः)–भूतमात्रा	–भूत-प्रज्ञा-गर्भितः-प्राणस्त्रिमूर्त्तिः-प्रज्ञानं मनः (उक्थम्) नाभिः
२	१–प्रज्ञा–(ज्ञानम्)–प्रज्ञामात्रा २–प्राणः–(क्रिया)–प्राणमात्रा ३–भूतम्–(अर्थः)–भूतमात्रा	–प्राण-भूत-गर्भिता प्रज्ञा-त्रिलक्षणा-इन्द्रियवर्गः (अर्कः)–अराः
३	१–भूतम्–(अर्थः)–भूतमात्रा २–प्राणः–(क्रिया)–प्राणमात्रा ३–प्रज्ञा–(ज्ञानम्)–प्रज्ञामात्रा	–प्राण-प्रज्ञा-गर्भितं भूतं त्रिलक्षणं-विषयाः (अशीतिः)–नेमिः

——**——

४–प्रज्ञानस्वरूपाविर्भाव—

इन्द्रियव्यापार के सञ्चालक प्रज्ञानमन में प्रज्ञा–प्राण–भूतात्मक ज्ञान–क्रिया–अर्थ-भावों का उदय कैसे हुआ ?, प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित होता है । प्रसङ्गोपात्त दो शब्दों में इस उपस्थिति का भी निराकरण कर लीजिए । **'अन्नमयं हि सोम्य ! मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्'** (छान्दोग्य–उपनिषत्) इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार मन का उपादानकारण 'अन्न' माना गया है । इसी आधार पर लोक में **'जैसा अन्न, वैसा मन'** यह किंवदन्ती प्रचलित है । अन्न के निर्म्माण में बीज, मिट्टी, जल, वायु, ये चार तो प्रत्यक्ष निमित्त सर्वसाधारण के लिए परिज्ञात हैं । यव, गोधूम, आदि बीजों को हल से भूगर्भ बना कर उसमें न्युप्त कर दिए जाते हैं । ऊपर से प्राकृतिक (वर्षा) पानी, और कृत्रिम (कूपादि) पानी का सेक किया जाता है । पानी से बीजप्रदेशावच्छिन्न भूप्रदेश आर्द्र हो जाता है । इसप्रकार बीज, मिट्टी, पानी, तीनों एकाकार से बन जाते हैं । बीज के मूल में प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्मा प्रतिष्ठित रहते हैं । **'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'**

(शत० ६।१।१।८।) के अनुसार सृष्टिमात्र का मूलाधार 'यम्' लक्षण स्थितिभावात्मक यही वाङ्मय ब्रह्म मानें गए हैं, जिसे विज्ञानपरिभाषा में हम 'स्वायम्भुवतत्त्व' कह सकते हैं। इस प्रतिष्ठा के आधार पर प्रतिष्ठित बीजमध्यस्थानीय आपोमय विष्णु, तथा बीजऊर्ध्वस्थानीय इन्द्रात्मक रुद्र, दोनों प्राणदेवताओं का व्यापार आरम्भ होता है। विष्णु आगतिरूपा गति के, एवं इन्द्र गतिरूपा गति के प्रवर्त्तक बनते हैं। आगतिरूपा गति-आदान की अधिष्ठात्री बनती है, गतिरूपा गति विसर्ग (उत्क्षेपण) की अधिष्ठात्री बनती है। आहरणधर्म्मा, अतएव 'हृ' (हरति) नामक विष्णु मिट्टी मिले हुए पानी का आदान करते जाते हैं। विसर्गधर्म्मा, अतएव 'द' (द्यति) नामक इन्द्र मिट्टी मिले हुए पानी को बाहिर ऊपर की ओर ले जाते हैं। अप्तत्त्व पर होने वाली इस स्पर्द्धा से, इन्द्राविष्णू की आदान-विसर्गात्मिका प्रतिस्पर्द्धा से जलार्द्रा मृत् का ऊर्ध्व प्ररोहण हो जाता है, और यही बीज की अङ्कुरावस्था में परिणति है। इसप्रकार बीज केन्द्रस्थ हृ-द-यम्-के स्थिति, आगति-गति-लक्षणा व्यापारत्रयी से मिट्टी-पानी-बीज, तीनों परस्पर संश्लिष्ट होकर अङ्कुररूप में परिणत हो जाते हैं।

बीजस्थ विष्णु पारमेष्ठ्य तत्त्व है, बीजस्थ इन्द्र सौर तत्त्व है। खगोल में चन्द्रमा पारमेष्ठ्य सोमानुगत बनता हुआ विष्णुसधर्म्मा है। सूर्य्य अग्न्यनुगत बनता हुआ इन्द्रसधर्म्मा है। तात्पर्य्य-सौर अग्नि का इन्द्र से, चान्द्र सोम का विष्णु से सम्बन्ध है। बीजस्थित विष्णु के द्वारा अङ्कुरावस्थापन्न बीज में चान्द्र सोम का आगमन होता है, बीजस्थित इन्द्र के द्वारा सौर अग्नि का आगमन होता है। दिन में सौर अग्नि का, रात्रि में चान्द्र सोम का आगमन होता है। इस आगमन के द्वार बनते हैं-'सुषुम्णा' नाम की चान्द्रनाड़ी, और तद्गर्भीभूत वायु। सौर अग्नि भी वायु के द्वारा इसी नाड़ी से बीज में भुक्त होता है, एवं चान्द्र सोम का इस नाड़ी से भुक्त होना स्वाभाविक ही है। बीज ओषधि, वनस्पति, भेद से दो भागों में विभक्त मानें गए हैं। वनस्पतियों के बीज में आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति-भावात्मक योनिभूत महान् के वैशिष्ट्य से सौर अग्न्यनुगत इन्द्रतत्त्व प्रधान रहता है, एवं चान्द्र सोमानुगत विष्णुतत्त्व गौण रहता है। अतएव वनस्पतियों में चान्द्रनाड़ी के द्वारा वायु के सहयोग से भुक्त होने वाले सौर-चान्द्र-रसों में से सौर अग्नि प्रधान रहता है, चान्द्र सोम गौण रहता है। दूसरे शब्दों में चान्द्र सोमगर्भित सौर अग्नि ही वनस्पति-स्वरूप का सम्पादन करता है। ठीक इसके विपरीत ओषधियों के बीजों में योनिभूत उसी महानात्मा के विभेदलक्षण वैशिष्ट्य से चान्द्र सोमानुगत विष्णुतत्त्व प्रधान रहता है, एवं सौर अग्न्यनुगत इन्द्रतत्त्व गौण रहता है। अतएव ओषधियों में चान्द्रनाड़ी के द्वारा वायुसहयोग से भुक्त होने वाले सौर-चान्द्र रसों में से चान्द्र सोमरस प्रधान रहता है, एवं सौर अग्निरस गौण रहता है। दूसरे शब्दों में सौर-अग्निगर्भित चान्द्र सोम ही ओषधियों का स्वरूप-निर्म्मापक बनता है। आम्र-नारङ्गी-आदि वनस्पतियों के गर्भ में सोम है, बहिर्भाग में अग्नि है। यव, गोधूमादि फलपाकान्ता ओषधियों के गर्भ में अग्नि है, बहिःसंस्था में सोम है। अतएव 'ओषं (ऊष्मां-अग्निं स्वगर्भे) धत्ते' निर्वचनानुसार इन्हें 'ओषधि' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है। तात्पर्य्य-ओषधिरूप अन्न ही **'अन्नमयं हि सौम्य ! मनः'** इत्यादि पूर्वश्रुतिपठित 'अन्न' शब्द से परिगृहीत है। क्योंकि सौम्य मन का निर्म्माण ओषधिरूप-सोमरस-प्रधान अन्न से ही होता है।

उक्त ओषधि-स्वरूपपरिचय का निष्कर्ष यह निकला कि, पार्थिव मृद्भाग, जल, बीज, सौराग्निगर्भित चान्द्र रस, आन्तरिक्ष्य वायु, इन तत्त्वों के सम्मिश्रण से ओषधि का स्वरूप निष्पन्न होता है, जिसे हम 'अन्न'

कहा करते हैं । इन निमित्तों में पार्थिव मृद्भाग, जल, बीज, ये तीन तो भौतिक हैं । सौर प्राणाग्नि, चान्द्र सौम्यप्राण, आन्तरिक्ष्य वायु, ये तीन तत्त्व प्राणप्रधान हैं । प्राण बिना भूत के अनुपपन्न है । अतएव तीनों प्राणविवर्त्तों के आधारभूत सौर-भूताग्नि, चान्द्र भूतसोम, आन्तरिक्ष्य भूतवायु, इनका संग्रह स्वतः सिद्ध है । सौर भूताग्नि का तापरूप से, चान्द्र भूतसोम का शैत्य (ओसकण) रूप से, आन्तरिक्ष्य वायुभूत का स्पर्शरूप से हमें प्रत्यक्ष हो रहा है । दिन की गर्मी, रात की ओस, स्पर्शधर्म्मा वायु, तीनों भूत भी मिट्टी-जल की भाँति प्रत्यक्ष हैं । तीनों के आधारभूत प्राणतत्त्व गन्ध-रूप-रस-स्पर्श-शब्द-तन्मात्रातीत, अतएव अधामच्छद बनते हुए प्रत्यक्ष से परे की वस्तु हैं । इन्हें हम स्थूलदृष्टि से देखने में असमर्थ हैं ।

ओषधिस्वरूप-निर्म्मापक सोमतत्त्व 'वीध्र' (प्रतिबिम्बग्रहणयोग्यतानुगत) पदार्थ है । अतएव इसके साथ सौर ज्योतिर्भाग का प्रवर्ग्यरूप से सम्बन्ध हो जाता है । चन्द्रमा की चन्द्रिका (प्रकाश) उसका अपना प्रकाश नहीं है । अपितु **'अत्राह गोरमन्वत'-'ज्योतिरिन्दुः'** इत्यादि ऋग्वर्णनानुसार सौररश्मियों के प्रतिफलन से ही चान्द्र सोम चमक पड़ता है । सोमभूतानुगत सौम्यप्राण ज्योतिर्म्मय बन जाता है, जो कि ज्योतिर्भाग विशुद्ध सूर्य्य की धरोहर है । यह चन्द्रिका भी प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक पदार्थ है, जिसका मूलाधार ज्ञानज्योति बनी हुई है । सौरज्योति भूतज्योति है, इसके गर्भ में विज्ञानज्योतिर्लक्षण ज्ञानज्योति (आत्मज्योति) प्रतिष्ठित है, जैसा कि अनुपद में ही बतलाए जाने वाले विज्ञानस्वरूप से स्पष्ट होने वाला है । सौर भूतज्योति के द्वारा तद्गर्भीभूत विज्ञानज्योति भी चन्द्रमा में भुक्त हो जाती है । फलतः चान्द्र सोमभूतात्मक सौम्यप्राण भी चिज्ज्योतिर्म्मय बन जाता है । चान्द्र सोम भूत (सूक्ष्मभूत) है, सौम्यप्राण प्राण है, चिद्भाग ज्ञान है । तीनों की समष्टि चान्द्र तत्त्व है । इसका ओषधिस्वरूप-निर्म्माण में भोग होता है । इसप्रकार भूत-प्राण-प्रज्ञात्मक चान्द्रतत्त्व, भूत-वायव्यप्राणात्मक वायुतत्त्व, पार्थिवमृद्भाग-पार्थिव जल-बीजरूप पार्थिवतत्त्व, तीनों के समन्वय से ओषधि का निर्म्माण हुआ है । एवंविध अन्न हम खाते हैं । मलभाग का निर्गमन हो जाता है । शेष रसरूप पार्थिवभाग से रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र, इन पार्थिव सप्त-धातुओं का विकास होता है । वायुतत्त्व से 'ओज' का विकास होता है । एवं सोमभूत-सौम्यप्राण-तद्गत सौम्य चिदंशसमष्टिरूप शेष बचे हुए चान्द्रतत्त्व से 'प्रज्ञानमन' का स्वरूपनिर्म्माण होता है । इसप्रकार ओषधिरूप अन्नसीमा में प्रविष्ट त्रिमूर्त्ति चान्द्रतत्त्व, वायुतत्त्व, पार्थिवतत्त्व, तीनों दिव्य-आन्तरिक्ष्य-पार्थिव तत्त्वों से क्रमशः वाङ्मय भूतप्रधान अर्थरूप सप्तधातुवर्ग, प्राणमय प्राणप्रधान क्रियारूप ओजस्तत्त्व, मनोमय प्रज्ञाप्रधान ज्ञानरूप प्रज्ञानमन, तीन विवर्त्तों का विकास हो जाता है । प्रज्ञानमन में ज्ञान-क्रिया-अर्थ-भावों का उदय कैसे हुआ ?, प्रश्नोपस्थिति का यही संक्षिप्त वैज्ञानिक निराकरण है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है ।

ओषधिरूप–अन्नानुगत–प्रज्ञानविवर्त्तपरिलेखः—

*

१ — १–१–चान्द्रवीध्रसोमगर्भिता-चिज्ज्योतिर्भूतज्योतिर्म्मयी—प्रज्ञा
२–२–चान्द्रसोमप्राणः—प्राणः
३–३–चान्द्रसोमः (सौराग्निगर्भितः)—भूतम्
} –दिव्यश्चान्द्ररसः (मनोमयः)

*

२ — १–४–वायव्यप्राणः—प्राणः
२–५–वायुभूतम्—भूतम्
} –आन्तरिक्ष्यो वायव्यरसः (प्राणमयः)

*

३ — १–६–पार्थिवं जलम्—भूतम्
२–७–पार्थिवी–मृत्—भूतम्
३–८–पार्थिवं–बीजम्—भूतम्
} –पार्थिवो भौतिकरसः (वाङ्मयः)

समष्ट्या–ओषधिस्वरूपनिर्म्माणम्

*

१–अन्नगतो मनोमयः प्रज्ञा–प्राण–भूतात्मकश्चान्द्ररसो दिव्यः—ततः प्रज्ञानमनःस्वरूपनिष्पत्तिः ।
२–अन्नगतः प्राणमयो वायव्यरसः–आन्तरिक्ष्यः—ततः–ओजः–स्वरूपनिष्पत्तिः ।
३–अन्नगतो वाङ्मयः पार्थिवरसः–भौमः—ततः–सप्तधातुस्वरूपनिष्पत्तिः ।

***

५–'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' का वैज्ञानिक समन्वय—

प्रसङ्गोपात्त–ज्ञानकर्म्मेन्द्रिय–सञ्चालक 'प्रज्ञानमन' का वैज्ञानिक स्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। प्रकृत में इस चर्चा से तात्पर्य्य हमारा यही था कि, भूतात्मा के जितनें भी योग हैं, सब में इन्द्रियवर्ग की भाँति इन्द्रियवर्गाध्यक्ष प्रज्ञानमन की अपेक्षा भी आवश्यकरूप से अनिवार्य्य है । इसप्रकार योगमात्र में इन्द्रियवर्गवत् प्रज्ञानमन का सहयोग भी सर्वात्मना सिद्ध हो जाता है, जिसका सुप्रसिद्ध 'तलवकारोपनिषत्' (केनोपनिषत्) में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है । निम्न लिखित तलवकारवचन प्रज्ञानब्रह्म के इसी सर्वेन्द्रियव्यापारप्रवर्त्तकत्त्व–धर्म्म का समर्थन कर रहे हैं—

१–केनेषितं पतति प्रेषितं मनः, केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥

२–श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

—केनोपनिषत्–१।१,२,।

केनोपनिषत् के उक्त दोनों मन्त्रों में से **'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः॰'** इत्यादि प्रथम मन्त्र ने प्रश्नगर्भिता उत्तरप्रणाली के द्वारा प्रज्ञा–प्राण–भूतात्मक प्रज्ञानमन के सर्वेन्द्रियप्रेरकत्त्व धर्म्म का निरूपण किया है, एवं **'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्॰'** इत्यादि द्वितीय मन्त्रद्वारा प्रज्ञानमनोभुक्त उस चिदात्मा की ओर भूतात्मा का ध्यान आकर्षित कराया गया है, जिसका विज्ञान (बुद्धि) द्वारा प्रज्ञान में आगमन हुआ है । प्रजापतितत्त्व विज्ञानपरिभाषानुसार **सर्व, उद्गीथ, अनिरुक्त**, भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त माना गया है । हृद्य प्रजापति अनिरुक्त है, महिमाप्रजापति सर्व है, दोनों का मध्यस्थ प्रजापति उद्गीथ है । हृदय, पिण्ड, पिण्डमहिमा भेद से प्रत्येक वस्तु में तीन विभाग रहते हैं । वस्तुपिण्ड का केन्द्र हृदय है, यही हृत्पृष्ठ है, यही अन्तःपृष्ठ है । यहाँ इन्द्रियगति अवरुद्ध है । अतएव इसका शब्दद्वारा निर्वचन नहीं होसकता । अतएव यह अनिर्वचनीया हृ–द्–य–रूपा–हृद्या शक्ति 'अनिरुक्ता' कहलाई है । **'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानः॰'** इत्यादि यजुर्म्मन्त्रद्वारा इसी अनिरुक्त–हृद्य–प्रजापति का स्वरूपविश्लेषण हुआ है । वस्तुपिण्ड, एवं वस्तुपिण्ड से संलग्न वस्तुमहिमा, दोनों इसी हृद्य प्रजापत्ति से उत्पन्न हैं, एवं इसी के आधार पर प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि– **'बहुधा विजायते, तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा'** इत्यादि मन्त्रभाग से स्पष्ट है । वस्तुकेन्द्र से उत्पन्न, तदाधारेण प्रतिष्ठित भूतप्रधान, स्पृश्यधर्म्मा पिण्ड ही वस्तुपिण्ड है । यही अन्तःपृष्ठ नामक स्पृश्यपृष्ठ है । स्पृश्यपृष्ठ के केन्द्र से संलग्न, ३३ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त प्राणप्रधान महिमामण्डल ही वस्तुमहिमा हैं, जिसके गर्भ में तीन अग्निपृष्ठ, एवं दो सोमपृष्ठ प्रतिष्ठित हैं । ९–१५–२१, तीन अग्निपृष्ठ हैं । २७–३३, दो सोमपृष्ठ हैं । अग्निपृष्ठत्रयी में व्याप्त अग्नि प्राणाग्नि है, सोमपृष्ठद्वयी में व्याप्त सोम प्राणसोम है । इसप्रकार वस्तुमहिमामण्डल प्राणलक्षण सोमाग्निप्रधान है । इसमें २१ पर्य्यन्त व्याप्त प्राणाग्निमय महिमामण्डल ही दृश्य बनता है । इसी आधार पर–**'यच्च किञ्चिदार्ष्टिविषयकं–अग्निकर्म्मैव तत्सर्वम्'** यह नैगमिक सिद्धान्त स्थापित हुआ है । स्पृश्यलक्षण वस्तुपिण्ड भी है तो अग्नि–सोम–प्रधान ही । परन्तु यहाँ भूताग्निसोम का प्राधान्य है । यह विज्ञान की सामान्य परिभाषा है कि, प्राणाग्निसोमगर्भिता भूताग्निसोमद्वयी सदा वस्तुपिण्ड की स्वरूपसमर्पिका बनती है, एवं यही पिण्ड स्पृश्य बनता है । भूताग्निसोमगर्भिता प्राणाग्निसोमद्वयी वस्तुमहिमा की स्वरूप–समर्पिका बनती है, एवं इसमें से प्राणाग्निमण्डल ही दृश्य बनता है । इसप्रकार वस्तुपिण्ड, तथा वस्तुमहिमा, स्पृश्य–दृश्य–लक्षण दोनों अन्तः–बाह्यपृष्ठ अग्निसोम–प्रधान बने रहते हैं । भूताग्निसोमद्वयी क्षरात्मिका है, प्राणाग्निसोमद्वयी अक्षरात्मिका है । वस्तुकेन्द्र में प्रतिष्ठित अनिरुक्त प्रजापति हृ-द्–यम्–लक्षणा विष्णु–इन्द्र–ब्रह्मा-अक्षरत्रयी की समष्टि है । इसी त्रयी के आधार पर अग्नि–सोमात्मक पिण्डमहिमा प्रतिष्ठित हैं । ३३ अहर्गणात्मक वस्तुमहिमामण्डल का केन्द्र १७ वाँ अहर्गण है । यहाँ प्रतिष्ठित महिमामण्डल का केन्द्रशक्तिरूप प्रजापति 'सप्तदशप्रजापति' कहलाया है । यही 'उद्गीथप्रजापति' नाम से व्यवहृत हुआ है, जो वस्तुकेन्द्रापेक्षया अनिरुक्त, तथा वस्तुमहिमापेक्षया निरुक्त बनता हुआ 'निरुक्तानिरुक्तोभयमूर्त्ति है । ९/१-१५/२-१७/३-२१/४-२७/५-३३/६, इन ६ पृष्ठों के कारण ही वस्तुकेन्द्र से ३३ पर्य्यन्त वितत महिमामण्डल 'वाक्षट्कार' कहलाया है, जो परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'वषट्कार' नाम से व्यवहृत हुआ है । इस वषट्कार-

मण्डल की परिधि से संलग्न ३४ वें अहर्गणपर्य्यन्त व्याप्त महिमारूप वही ह्य प्रजापति वस्तुकेन्द्र-वस्तुपिण्ड-वस्तुमहिमा, इत्यादि सम्पूर्ण विवर्त्तों को अपने गर्भ में भुक्त रखता हुआ 'सर्वप्रजापति' कहलाया है। यही निरुक्त-प्रजापति नाम से प्रसिद्ध है, जिसका 'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो०' इत्यादि मन्त्रद्वारा स्पष्टीकरण हुआ है। तात्पर्य्य यही हुआ कि वस्तुकेन्द्र, महिमाकेन्द्र, महिमापरिधि–लक्षण ०--१७--३४--इन सङ्केतित स्थानों में उक्थरूप से प्रतिष्ठित ह्य तत्त्व ही क्रमशः अनिरुक्त--उद्गीथ--सर्वप्रजापति नामों से व्यवहृत हुआ है। वर्णमातृका में 'क' कार अनिरुक्त (अज्ञात) भाव का वाचक है। अतएव तत्सम वस्तुकेन्द्रानुगत अनिरुक्त प्रजापति 'क' कार व्याहृति (नाम) से सम्बोधित हुआ है। 'स' कार निरुक्त (ज्ञात) भाव का वाचक है। अतएव तत्सम वस्तुपरिध्यनुगत सर्वप्रजापति 'स' कार व्याहृति से सम्बोधित हुआ है।

स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर, इन्द्रियवर्ग, निरुक्त हैं, सर्वलक्षण हैं। इनका सञ्चालन जिस प्रज्ञानमन से होता है, वह हृदय में प्रतिष्ठित होने के कारण (उक्थरूपापेक्षया) अनिरुक्त है। अतएव हृत्प्रतिष्ठ–अजिर-जविष्ठ प्रज्ञानमन को अवश्य ही 'क' कारव्याहृति से युक्त माना जा सकता है। इसी रहस्य को लक्ष्य बना कर मन्त्रार्थ का समन्वय कीजिए। श्रुति प्रश्न करती है—वाक्, प्राण, चक्षुः, श्रोत्र, मन, [संकल्प–विकल्पात्मक इन्द्रियमन], किसकी प्रेरणा से प्रेरित होकर स्वव्यापारों में प्रवृत्त होते हैं ?'। इस 'केन' प्रश्न का उत्तर भी 'केन' ही माना जायगा। प्रश्नात्मक 'केन' का अर्थ होगा—'किससे'। उत्तरात्मक 'केन' का अर्थ होगा 'ककारेण', जिसका तात्पर्य्य होगा 'क' काररूप अनिरुक्तव्याहृति नाम से व्यवहृत प्रज्ञानमन से। इसप्रकार 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' का उत्तर भी 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' ही होगा। फलतः मन्त्र प्रश्नगर्भित उत्तर के द्वारा प्रज्ञानमन के इसी सर्वेन्द्रियप्रेरक 'धर्म्म' का विश्लेषक सिद्ध होगा।

जब तक प्रज्ञान मन पर मनस्त्वेन दृष्टि है, तब तक इन्द्रियारामता है, एवं तब तक अमृत–प्राप्ति [बन्धनविमोक-आसक्तिराहित्य] असम्भव है। विज्ञानात्मसहयोग से जब प्रज्ञानमन में विज्ञान के द्वारा आगत चिदंश को छाँट कर उसके प्रति भूतात्मा अपना आत्मसमर्पण कर देता है, तभी अमृतपद प्राप्त होता है। विशुद्ध चिदंश उसी गूढोत्मा का परम्परया अवतीर्ण अंश है। इसी दृष्टि से प्रज्ञानब्रह्म की उपासना अपेक्षित है ! द्वितीय मन्त्र से इसी उपास्य चिद्ब्रह्म की ओर उपासक का ध्यान आकर्षित किया गया है।

६–प्रज्ञान-विज्ञान के प्रभव, प्रतिष्ठा, योनि, आशय, विवर्त्त—

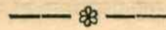
इन्द्रियव्यापाराधारभूत प्रज्ञानमन के कर्म्मसहयोग का इतिवृत्त बतलाया गया। अब क्रमप्राप्त विज्ञानात्मा के अनिवार्य्य सहयोग की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। आध्यात्मिक विज्ञानात्मा जैसे 'बुद्धि' नाम से प्रसिद्ध है, प्रज्ञानात्मा 'मन' नाम से प्रसिद्ध है, तथैव आधिदैविक विज्ञान, प्रज्ञानात्मा 'सूर्य्य-चन्द्रमा' नाम से प्रसिद्ध हैं। यह सिद्ध विषय है कि, चन्द्रमा की प्रतिष्ठा सूर्य्य ही है। चन्द्र का चन्द्रत्त्व उसकी चन्द्रिका पर अवलम्बित है, एवं पूर्वकथनानुसार चन्द्र की चन्द्रिका सौरज्योति पर अवलम्बित है। बिना सूर्य्यज्योति के सहयोग के चन्द्रमा निधनावस्थापन्न है, चन्द्रिकाशून्य है, अमावास्यातिथि से युक्त है। अतएव शुक्लपक्ष की प्रतिपत् चन्द्रमा का जन्मकाल माना गया है, शुक्लाष्टमी बाल्यकाल, पूर्णिमा युवावस्था, कृष्णाष्टमी वृद्धावस्था, एवं अमावस्या निधनावस्था मानी गई है। तात्पर्य्य-चन्द्रमा का जीवन, स्वरूपस्थिति, स्वरूपरक्षा, एकमात्र सौरज्योति के सहयोग पर ही निर्भर है। इसी परिस्थिति का अध्यात्मविवर्त्त के साथ

समन्वय कीजिए। आधिदैविक सूर्य्य से आध्यात्मिक विज्ञानात्मा [बुद्धि] का, तथा आधिदैविक चन्द्रमा से [पूर्वप्रदर्शित ओषधिरूप अन्न में भुक्त चान्द्रतत्त्वद्वारा] आध्यात्मिक प्रज्ञानात्मा (मन) का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। जैसे सूर्य्य, चन्द्रमा आधिदैविक बुद्धि, मन, हैं, तथैव बुद्धि–मन आध्यात्मिक सूर्य्य, चन्द्रमा हैं। जैसे अधिदैवत में सूर्य्यज्योति के आधार पर चन्द्रमा प्रतिष्ठित है, एवमेव अध्यात्म में बुद्धि के आधार पर मन प्रतिष्ठित है।

प्रभव, प्रतिष्ठा, योनि, आशय, भेद से प्रत्येक आध्यात्मिक तत्त्व का चार प्रकार से समन्वय होता है। प्रज्ञानात्मा (मन) का प्रभव [मूल उपादान] चन्द्रमा है, प्रतिष्ठा हृदय है, योनि [आगमनद्वार] ओषधिरूप अन्न, तथा प्रपदस्थान है, आशय [व्याप्तिस्थान] सर्वाङ्गशरीर है। एवं विज्ञानात्मा (बुद्धि) का प्रभवस्थान सूर्य्य है, प्रतिष्ठास्थान हृदयावच्छिन्न प्रज्ञानात्मा है, योनिस्थान 'नान्दनद्वा:' (द्वार) नाम से प्रसिद्ध [केशान्तलक्षण शिखास्थानीय] ब्रह्मरन्ध्र, और वनस्पतिरूप अन्न है, आशय (व्याप्तिस्थान) सर्वाङ्गशरीर है। प्रसङ्गोपात्त एक विषय का स्पष्टीकरण और कर लीजिए। जिन आधिदैविक-आध्यात्मिक आठ पर्वों का 'योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप' नामक स्तम्भ में स्पष्टीकरण हुआ है, वे आठों ही आत्मपर्व 'प्रजापति' नाम से सम्बोधित हुए हैं। जैसाकि प्रज्ञानात्मस्वरूपनिरूपण करते समय कहा गया है, 'आत्मा–प्राण–पशु' समष्टि-लक्षणा, उक्थ–अर्क–अशीति–भावत्रयी की समष्टि ही 'प्रजापति' का प्रजापतित्त्व है। आत्मलक्षण उक्थपर्व ज्ञानप्रधान है, प्राणलक्षण अर्कपर्व क्रियाप्रधान है, एवं पशुलक्षण अशीतिपर्व भूतप्रधान है। इस दृष्टि से आठों हीं प्रजापतिसंस्थाओं में प्रत्येक में आत्मा, प्राण, भूत, तीन तीन पर्वों का उपभोग सिद्ध हो जाता है। आठों के ये त्रिक भिन्न भिन्न नामों से व्यवहृत हुए हैं। सबसे पहिला, तथा प्रधान आत्मपर्व है–परात्परप्रधान ईश्वरानुगत गूढोत्मा, जिसे हमनें अग्न्यात्मयुक्त साधक भूतात्मा की बुद्धियोगात्मिका बुद्धियोगचतुष्टयी का मूल लक्ष्य (साध्य) बतलाया है। इस प्रथम प्रजापति का आत्मभाग 'परात्परप्रधान **'गूढोत्मा'** है, प्राणभाग **'सत्यस्यसत्यम्'** है, एवं भूतभाग **'सत्यम्'** नाम से व्यवहृत हुआ है। दूसरा आत्मपर्व है—अव्ययप्रधान जीवानुगत गूढोत्मा, जिसे साधक भूतात्मा की ज्ञानयोगात्मिका योगचतुष्टयी का साध्य माना गया है। इसका आत्मभाग अव्ययप्रधान 'गूढोत्मा' नाम से, प्राणभाग 'जीव' नाम से, एवं भूतभाग **'पाप्मा'** नाम से व्यवहृत हुआ है। तीसरे अव्यक्तात्मा के तीनों पर्व क्रमशः **शान्तात्मा, अव्यक्त, आकाश,** नाम से, चौथे महानात्मा के पर्व क्रमशः **महानात्मा, सत्त्व, वायु,** नाम से, पाँचवें विज्ञानात्मा के पर्व क्रमशः **'विज्ञानात्मा, धिषणा, तेज,** नाम से, छठे प्रज्ञानात्मा के तीनों पर्व क्रमशः **प्रज्ञानात्मा, प्रज्ञा, जल,** नाम से, सातवें पार्थिव भूतात्मा के तीनों पर्व क्रमशः**कर्म्मात्मा, भूत, पृथिवी,** नाम से, तथा आठवें भौम अग्न्यात्मा के तीनों पर्व क्रमशः **भूतसत्यात्मा, प्राण, रस,** नामों व्यवहृत हुए हैं। सब के प्रभव–प्रतिष्ठा-योनि-आशय भी पृथक् पृथक् हैं, जिनका अन्यत्र विस्तार से विश्लेषण हुआ है। ❀।

❀ देखिए–खण्डचतुष्टयात्मक 'श्राद्धविज्ञान' ग्रन्थ का प्रथमखण्डान्तर्गत–**'आत्मविज्ञानोपनिषत्'** नामक प्रथमखण्ड

	आत्मा (उक्थम्)	प्राणः (अर्कः)	पशुः (अशीतिः)
	ज्ञानम्	क्रिया	अर्थः
१-परात्परप्रधानो गूढोत्मा-ईश्वरप्रजापतिः—	ईश्वरात्मा	सत्यस्यसत्यम्	सत्यम्
२-अव्ययप्रधानो गूढोत्मा-जीवप्रजापतिः—	जीवात्मा	जीवः	पाप्मा
३-अक्षरप्रधानोऽव्यक्तात्मप्रजापतिः—	ज्ञानात्मा	अव्यक्तः	आकाशः
४-अक्षरप्रधानो महानात्मप्रजापतिः—	महानात्मा	सत्त्वम्	वायुः
५-आत्मक्षरप्रधानो विज्ञानात्मप्रजापतिः—	विज्ञानात्मा	धिषणा	तेजः
६-आत्मक्षरप्रधानः-प्रज्ञानात्मप्रजापतिः—	प्रज्ञानात्मा	प्राज्ञः	जलम्
७-विकारक्षरप्रधानो भूतात्मप्रजापतिः—	कर्म्मात्मा	भूतम्	पृथिवी
८-वैकारिकक्षरप्रधानोऽग्न्यात्मप्रजापतिः—	भूतसत्यात्मा	प्राणः	रसः



७-जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त्यवस्थापरिचय—

बतलाया गया है कि, अधिदैवतवत् अध्यात्मसंस्था में भी विज्ञानज्योति ही प्रज्ञानज्योति की मूलप्रतिष्ठा बनती है। इसका प्रत्यक्षदृष्टि से प्रत्यक्ष कर लीजिए। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, भेद से आध्यात्मिक भूतात्मा तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। इन तीनों अवस्थाओं का क्रमशः प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा, अव्यक्त-गर्भित महानात्मा, इन तीन आत्माओं से सम्बन्ध है। महान्--विज्ञान--प्रज्ञान, तीनों की जाग्रदवस्था भूतात्मा की जाग्रदवस्था है। महान्-विज्ञान, दोनों की जाग्रदवस्था भूतात्मा की स्वप्नावस्था है। एवं महान् की जाग्रदवस्था भूतात्मा की सुषुप्त्यवस्था है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, महान्--विज्ञान से अनुगृहीत प्रज्ञान (मन) जब तक इन्द्रियों के द्वारा ऐन्द्रियक कर्म्म का सञ्चालक बना रहता है, जब तक वाक्-प्राण-चक्षुः--श्रोत्रादि ज्ञान-कर्मेन्द्रियाँ स्वव्यापार-सञ्चालन में प्रवृत्त रहतीं हैं, तबतक भूतात्मा जाग्रदवस्था का अनुगामी माना जाता है। इन्द्रियव्यापार-सञ्चालन का अर्थ है-इन्द्रियों के साथ प्रज्ञानमन का सहयोग। जब प्रज्ञानमन उपरत हो जाता है, तो इन्द्रियवर्ग अपना काम छोड़ देता है। यही प्रज्ञानमन की सुषुप्ति है। प्रज्ञानमन का (अन्तर्मुख बनते हुए इसका) विश्राम ही प्रज्ञान की सुषुप्ति है, यही स्वप्नावस्था है। प्रज्ञानमन अन्तर्मुख क्यों बना ?, इसके दो समाधान हैं। इन्द्रियव्यापार की तीव्रता से (अधिक ऐन्द्रियक व्यापार से) प्रज्ञानमन का ज्योतिर्भाग क्षीण हो जाता है। अतएव उस क्षीणावस्था में पहुँचने पर प्रज्ञानमन

स्वशक्ति–वितरण में असमर्थ हो जाता है । फलस्वरूप यह अन्तर्मुख बन जाता है । प्रज्ञान के अन्तर्मुख बनते ही इन्द्रियवर्ग स्वव्यापार से उपरत हो जाता है । इसी को लोकभाषा में 'सोना' कहा जाता है । सूर्य्यानुगत अहःकाल में प्रज्ञानमन इन्द्रियवर्ग की तीव्रता पर भी यथाकथञ्चित् इन्द्रियों को शक्तिप्रदान किया करता है । क्योंकि अहःकाल में सूर्य्यसत्ता (सूर्य्यज्योतिःसत्ता) के कारण तदुद्भूत विज्ञानात्मा (बुद्धि) को सूर्य्य से बल मिलता रहता है । विज्ञानज्योतिर्बल से ही तो प्रज्ञान सबल बना रहता है । रात्रि में सूर्य्यज्योतिर्लक्षण मघवेन्द्र के अव्यक्तभाव में परिणत हो जाने से विज्ञान को बल मिलना अवरुद्ध हो जाता है, विज्ञान अन्तर्मुख बन जाता है । फलतः प्रज्ञान का शक्तिस्रोत सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है । इसलिए भी प्रज्ञान इन्द्रियव्यापार–सञ्चालन से उपरत होता हुआ अन्तर्मुख बन जाता है । प्रज्ञान अन्तर्मुख बन गया, परन्तु अभीतक विज्ञान सर्वथा अन्तर्मुख (महन्मुख) नहीं बना । इस अवस्था में विज्ञानज्योति का अस्तव्यस्तरूप से अन्तर्मुख बने हुए प्रज्ञानमन पर अनुग्रह होता रहता है । विषयसंस्कारावच्छिन्न प्रज्ञानमन के वैषयिक संस्कार विज्ञानज्योति के अव्यवस्थित सम्पर्क से अव्यवस्थितरूप से ही संयुक्त–वियुक्त होते रहते हैं । यही अवस्था 'स्वप्नावस्था' कहलाई है । जब प्रज्ञानात्मा को स्वगर्भ में लेता हुआ विज्ञानात्मा पुरीतति–नाड़ीमार्ग से अव्यक्तगर्भित महानात्मा के गर्भ में अपीत हो जाता है (डूब जाता है), तो आत्यन्तिकरूप से अन्तर्मुख बने हुए विज्ञानप्रकाश से प्रज्ञानगत संस्कार सर्वथा वञ्चित हो जाते हैं । यही तीसरी सुषुप्ति है, जिसे 'स्वपिति' कहा जाता है, एवं जिसका निर्वचन किया जाता है—**'स्वमपीतो भवति'** यह ।

८–प्राकृतिकयोग, और प्रश्नोत्थान—

उक्त अवस्थात्रयी–स्वरूपदिग्दर्शन से यह प्रमाणित हो रहा है कि, प्रज्ञान का प्रज्ञानत्त्व, प्रज्ञान का इन्द्रियव्यापारसञ्चालकत्त्व विज्ञानसहयोग पर ही निर्भर है । विज्ञानसहयोग के बिना प्रज्ञानमन सर्वथा अकिञ्चित्कर है, निर्व्यापार है । विज्ञानात्मा से सम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा ही इन्द्रियव्यापार–सञ्चालन में समर्थ बनता है । सहजभाषानुसार–जिसप्रकार बिना इन्द्रियसहयोग के कर्म्मप्रवृत्ति असम्भव है, बिना प्रज्ञान-सहयोग के इन्द्रियप्रवृत्ति असम्भव है, एवमेव बिना विज्ञानसहयोग के प्रज्ञानप्रवृत्ति भी असम्भव है । विज्ञान प्रज्ञान मे जब आत्मसमर्पण कर देता है, तभी प्रज्ञान सशक्त बनता है । सशक्त प्रज्ञान जब इन्द्रियवर्ग के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है, तभी इन्द्रियवर्ग व्यापार–सञ्चालन में समर्थ बनता है । एवं समर्थ इन्द्रियवर्ग जब कर्म्म के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है, तभी कर्म्मस्वरूप सुसम्पन्न होता है । एक बात और । जिस प्रकार बिना विज्ञानसहयोग के प्रज्ञान पङ्गु है, एवमेव बिना प्रज्ञानप्रतिष्ठा के विज्ञान भी अविकसित ही रहता है । प्रज्ञानमन ही वह वीध्र धरातल है, जिस पर विज्ञानसूर्य्य विकसित होता है । विकसित विज्ञान (विज्ञानरश्मियाँ) हीं 'धी' नाम से व्यवहृत हुई हैं, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है । यह 'धी' प्रसार (विज्ञानरश्मिप्रसार) प्रज्ञान पर ही अवलम्बित है । इसी आधार पर उपनिषच्छ्रुति के द्वारा **'न हि प्रज्ञापेता धीः काचन सिध्येत्'–'न प्रज्ञातव्यं प्रज्ञायेत'** इत्यादि सिद्धान्त व्यवस्थित हुए हैं । **'एवमेवायं पुरुषः (विज्ञानात्मा) * प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः'** (बृ० उप० ४।३।२१)

* **"एष हि विज्ञानात्मा पुरुषः"** (प्रश्नोपनिषत् २।६।)

श्रुति भी विज्ञानात्मा को प्रज्ञानात्मा के साथ सम्परिष्वक्त बतलाती हुई दोनों के अनिवार्य्य सहयोग का ही समर्थन कर रही है ।

उक्त इन्द्रियवर्ग, प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा, तीनों की पारस्परिक सहयोग-मीमांसा से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि, लौकिक ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोग हो, अथवा तो शास्त्रीय ज्ञान-भक्ति-ज्ञानयोग, सर्वत्र विज्ञानगर्भित प्रज्ञानानुगत इन्द्रियव्यापार अपेक्षित है । ऐसी स्थिति में योगमात्र को इन्द्रियव्यापार-सापेक्ष होने से **'इन्द्रिययोग'**, इन्द्रियव्यापार के प्रज्ञानमनःसापेक्ष होने से **'मनोयोग'**, एवं प्रज्ञानमनोव्यापार के विज्ञानबुद्धिसापेक्ष होने से **'बुद्धियोग'** तीनों में से किसी भी नाम से व्यवहृत किया जा सकता है । बार बार हमारी ओर से यह आग्रह हो रहा है कि, गीताशास्त्र उस बुद्धियोग का निरूपण कर रहा है, जो शास्त्रीय ज्ञान-भक्ति-कर्म्म, तीनों योगों से सर्वथा अपूर्व-विलक्षण-एवं पूर्ण योग है । परन्तु जब 'बुद्धियोग' शब्द के अर्थ की मीमांसा करने लगते हैं, तो हमारा यह आग्रह दुराग्रहमूला केवल कल्पना से समतुलित प्रतीत होने लगता है । "जिस योगानुष्ठान में योगानुष्ठाता अग्न्यात्मयुक्त भूतात्मा के साथ बुद्धि का योग रहे, युक्ताबुद्धि-पूर्वक भूतात्मा जिस योग का अनुगमन करे, बुद्धियुक्त भूतात्मा का बुद्धिपूर्वक अनुष्ठित वही योग बुद्धियोग है" यही तो 'बुद्धियोग'-शब्दार्थ है । इस शब्दार्थ की दृष्टि से तो देखते हैं-लौकिक वैदिक सभी योग 'बुद्धियोग' हैं । बिना इन्द्रियों के कोई योग सम्पन्न हो नहीं हो सकता, बिना मन के इन्द्रिययोग असम्भव है, एवं बिना बुद्धि के योग के मनोयोग असम्भव है । इस दृष्टि से इन्द्रिय-मनः-सापेक्ष योगमात्र को जब 'बुद्धियोग' कहा जा सकता है, तो गीताशास्त्र ने इस सम्बन्ध में कौनसा अपूर्व पुरुषार्थ किया ?, यह प्रश्न दृढता के साथ हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है । केवल 'बुद्धियोग' शब्दोच्चारण से ही तो बुद्धियोग की अपूर्वता-विलक्षणता सिद्ध नहीं हो जाती । यही वह जटिल समस्या है, जिसका निराकरण लौकिक मनुष्यों से तो क्या, शास्त्रनिष्ठ निर्विशेषवादियों से भी नहीं हो सका है । और इसी जटिल समस्या के कारण गीताशास्त्रप्रतिपादित अपूर्व बुद्धियोग उक्त 'बुद्धियोग' शब्दार्थ के भ्रम से योगत्रयी के स्वरूप में ही अन्तर्भुक्त माना जा रहा है । साधारण व्यक्ति से पूँछ देखिए, अथवा तो किसी विद्वान् से प्रश्न कर लीजिए, गीताप्रतिपादित विषय के सम्बन्ध में दोनों का यही उत्तर होगा कि-'गीता में अधिकारी के भेद से ज्ञान-भक्ति-कर्म्म, इन तीन हीं योगों का प्रतिपादन हुआ है । उत्तर इसलिए तथ्यपूर्ण भी मान लिया जाता है कि, सामान्यदृष्टि से विचार करने पर तीन से पृथक् कोई चौथा 'बुद्धियोग' नामक योग उपलब्ध नहीं होता । फलतः गीतोक्त 'बुद्धियोग' शब्दों का समन्वय भी यही मान लिया जाता है कि-'भगवान् आदेश कर रहे हैं कि, 'हमें ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों का बुद्धिपूर्वक अनुगमन करना चाहिए' । इस काल्पनिक, अतएव वस्तुतः तथ्यशून्य तथ्यपूर्ण माने जाने वाले उत्तर से सन्तुष्ट हो जाने वाले जिज्ञासु में यह प्रश्न भी तो नहीं उठने पाता कि, 'जब बिना बुद्धि के योग के योगप्रवृत्ति असम्भव है, जब प्रत्येक योग का अनुष्ठान बुद्धियोगपूर्वक ही होता है, तो फिर भगवान् ने इस प्रकृतिसिद्ध बुद्धियोग का पिष्टपेषण क्यों किया ? । अधिकारयोग्यता के अनुसार अर्जुन जिस किसी भी योग में प्रवृत्त होता, वह प्रकृत्या 'बुद्धियोग' सम्पत्ति से अवश्यमेव युक्त मान लिया जाता । इस प्रकृतप्राप्त बुद्धियोग के लिए भगवान् ने **'ददामि बुद्धियोगं तं'-'बुद्धियोगमुपाश्रित्य'-'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते'-'बुद्धौ शरणमन्विच्छ-कृपणाः फलहेतवः'** इत्यादिरूप से बड़े आटोप के साथ अभिनय क्यों किया गया ? ।

प्रश्न उठना चाहिए था, परन्तु नहीं उठा, क्यों ? । व्याख्याताओं की विशेष कृपादृष्टि के अतिरिक्त इस क्यों ? का और क्या उत्तर हो सकता है । प्रस्थानत्रयी के सर्वमूर्द्धन्य व्याख्याता भगवान् शङ्कर से पहिले पहिले ऐसे प्रश्नों का उत्थान हुआ । क्योंकि, तबतक सन्तमत ने आर्षधर्म्म पर विशेषरूप से आक्रमण नहीं किया था । यही कारण था कि, उस युग में आर्षप्रजा की इस जिज्ञासा का अंशतः समाधान करने वाले व्याख्याता भी उत्पन्न हुए, जिनका आज यशःख्यापन भी लुप्त हो चला है । भगवान् शङ्कर ने जिस निर्विशेष-अनिर्वचनीय- तत्त्व को गीता का प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व मानते हुए वेदोक्त कर्म्ममार्ग का खण्डन, तथा सर्वकर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग को अन्तिम पुरुषार्थ माना है, महामाहेश्वर श्रीमदभिनवगुप्ताचार्य्य ने वहाँ कर्म्ममार्ग का सर्वात्मना समर्थन किया था । इसी आधार पर अभिनवगुप्ताचार्य्य को विद्वानों नें भगवान् शङ्कर का प्रतिस्पर्द्धी माना है * । देश के दुर्भाग्य से आगे जाकर साम्प्रदायिक भक्तिवाद पुष्पित-पल्लवित हुआ । जिन सनातन वैदिक-ज्ञानगर्भित वैज्ञानिक तत्त्वों के आधार पर सनातन आर्षधर्म्म प्रतिष्ठित था, उनका अध्ययनाध्यापन विलुप्त हो चला । व्यवच्छेदमूलक निर्णीत आत्म-देव-भूत-प्राणादि तत्त्ववाद अखण्डब्रह्म की उर्म्मि में बह निकला । सभी वैदिकतत्त्व बलप्रयोगपूर्वक एक ही अखण्डब्रह्म की कसौटी पर कसे जाने लगे । और इसप्रकार गीता का निगूढ बुद्धियोगतत्त्व लुप्त हो गया । आर्षप्रतिभा का स्थान सन्तमताभिनिवेश ने छीन लिया । राजनैतिक परतन्त्रता के साथ आत्मप्रतिभा भी परतन्त्र बन गई । वेदतत्त्ववादशून्या भारतीय प्रजा के आत्मा में यह शक्ति ही नहीं रही कि, वह स्वयं अपनी आत्मप्रतिभा का भी सदुपयोग कर सके । और आज ? ।

९-बुद्धियोगानुगामी महामाहेश्वर अभिनवगुप्ताचार्य्य—

आज तो, विगत शताब्दियों में व्याख्याताओं के द्वारा जो लीपापोती हो चुकी है, उसके विरुद्ध बोलना भी महापाप समझा जा रहा है । शास्त्रभक्ति परमावश्यक है, यह मानते हैं । शास्त्र ही हमारे कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निर्णय में मुख्य प्रमाण हैं, यह भी अनुभव कर रहे हैं । परन्तु शास्त्र कौन से ? । श्रुति-स्मृतिशास्त्र ?, अथवा तो जिस किसी भी संस्कृतभाषामात्रविज्ञ पण्डित के द्वारा संस्कृत-भाषामात्र में लिखे गए पत्रभार ? । यदि 'प्राचीन' नाम से ही प्रेम है, तो अभिनवगुप्त ने क्या अपराध किया है ? । क्यों नहीं बुद्धिगम्य उसी अर्थ का हम अनुसरण करें, जो आर्षधर्म्म का अनन्यपोषक सिद्ध हो रहा है । क्यों नहीं मूलभूत स्वयं वेदशास्त्र के आधार पर ही गीतातत्त्वों का समन्वय करने की चेष्टा करें, जिस वेदशास्त्र की मान्यता में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, जो वेदशास्त्र तत्त्वप्रधान बनता हुआ-**'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** के अनुसार बुद्धिगम्य शास्त्र है, जिसके तत्त्व पूर्ण परीक्षित हैं, व्यवस्थित हैं । श्रद्धा के आधार पर ही आत्मविकास सम्भव है, अन्धश्रद्धा के आधार पर नहीं ।

* काश्मीरजन्मा अभिनवगुप्ताचार्य्य शैवसम्प्रदायानुगामी थे । आप शङ्करसमकालिक थे । आपने **'गीतार्थसंग्रह'** नाम की एक संक्षिप्त व्याख्या गीता पर लिखी है । उपलब्ध यच्चयावत् भाष्यों, तथा व्याख्याओं में यही एक ऐसी व्याख्या है, जिसमें अंशतः बुद्धियोग की अपूर्वता का स्पष्टीकरण उपलब्ध हुआ है । यह व्याख्या उपलब्ध व्याख्याओं में सब से प्राचीन मानी गई है ।

१०–विषयविभागानुगता गीतायोगचतुष्टयी—

जिस बुद्धियोग का सत्ययुगारम्भ में अन्य शरीर से भगवान् नें सर्वप्रथम विवस्वान् को उपदेश दिया, आगे चलकर जो योगविद्या राजर्षिपरम्परा में प्रचलित रही, कालव्यवच्छेद से जिसका स्वरूप महाभारतयुग में पुनः विलुप्त हो गया, वासुदेवशरीर के द्वारा पुनः जिसका अर्जुन के प्रति उपदेश हुआ, जिस योग के लिए भगवान् ने साभिनिवेश 'अपना प्रातिस्विक मत' कहने में कोई संकोच न किया, वह बुद्धियोग कालव्यवच्छेद से, वेदतत्त्वपरिशीलनाभावमूला व्याख्याओं के दोष से, पराजनीतिमूला आत्मदाउता के दोष से, स्वार्थमूला प्रवृद्धतमा साम्प्रदायिकदृष्टि के अनुग्रह से, विद्यातत्त्वरक्षक भूदेवों के वेदानभ्यास–आचारपरित्याग–आलस्य–असत्–परिग्रहग्रहणजनित दिव्यप्रतिभावरणदोष से आज पुनः स्मृतिगर्भ में विलीन हो गया है। यही कारण है कि, गीताशास्त्र के प्रति अनन्य निष्ठा रखता हुआ भी आज का गीताभक्त समाज गीतार्थसम्बन्ध में अपनी कल्पनाओं का विस्तार करता हुआ नहीं अघा रहा।

जिसे सर्वसाधारण कर्म्मयोग कहते हैं, जिसे सर्वसामान्य 'ज्ञानयोग' नाम से व्यवहृत कर रहे हैं, वे दोनों भगवान् की दृष्टि में 'लोकनिष्ठा' हैं, जैसाकि–'**लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा॰**' इत्यादि भगवद्वचन से प्रमाणित है। लोकप्रचलित तीसरी भक्तिनिष्ठा ज्ञान–कर्म्मनिष्ठाओं के मध्य में है। अतएव तन्मध्यपतित न्याय से दोनों के ग्रहण से इस मध्य निष्ठा का ग्रहण स्वतः सिद्ध बन रहा है। अतएव भगवान् ने लोकनिष्ठा–परिगणन में केवल दो निष्ठाओं का उल्लेख कर देना ही पर्य्याप्त मान लिया है। इसप्रकार सर्वसामान्य में प्रतिष्ठिता काम्यकर्म्मात्मिका योगनिष्ठा (कर्म्मयोग), कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग), फलानुगता काम्या भक्तिनिष्ठा (भक्तियोग), तीनों हीं निष्ठाएँ लोकनिष्ठा बन रहीं हैं। इन्हें 'लोकनिष्ठा' नाम से व्यवहृत करते हुए भगवान् यही अभिप्राय सूचित कर रहे हैं कि, सामान्यबुद्धिपरायण, त्रिगुणभावापन्न मनुष्यों की दृष्टि में पुरुषार्थ के ये तीन मार्ग ही चिरकाल से प्रचलित हैं। कौशल–भावात्मक चौथा बुद्धियोग सर्वसाधारण के लिए अविदित है। वही वास्तविक शास्त्रनिष्ठा है, जो अपने अव्ययात्मानुगत, अतएव असङ्गभावात्मक बुद्धिभाव के प्राधान्य से लोकनिष्ठात्रयी को भी स्वकौशलप्रदान के द्वारा बुद्धियोगस्वरूप में परिणत कर रही है। यही चौथी बुद्धियोगनिष्ठा गीता की प्रधान निष्ठा है, जिसके समावेश से भगवान् ने लोकप्रचलिता निष्ठात्रयी का भी बुद्धियोगसम्पत्तिप्रदानद्वारा स्वशास्त्र (गीता) में संग्रह कर लिया है। यही संशोधित तीनों योग गीतापरि–भाषा में ज्ञान–भक्ति–कर्म्मयोग न कहला कर ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग–धर्म्मबुद्धियोग इन नामों से व्यवहृत होंगे। एवं मूलभूत बुद्धियोग '**वैराग्यबुद्धि**' योग माना जायगा, जिसका गीता में–'**योग**'–'**बुद्धियोग**' आदि नामों से उल्लेख हुआ है। इस दृष्टि से गीताशास्त्र में चार योगों का प्रतिपादन सिद्ध हो जाता है, जो लोकप्रचलित निष्ठात्रयी से सर्वथा अपूर्व एवं विलक्षण है। इसी आधार पर गीताको केवल 'बुद्धियोगशास्त्र' कहना ही समीचीन बनता है। इसी दृष्टि से $\frac{६}{१}$–$\frac{३}{२}$–$\frac{४}{३}$–$\frac{६}{४}$–इस क्रम से चारों योगों के प्रतिपादन के लिए १८ अध्यायों का विभाजन किया गया है। यही विभाग विज्ञानसम्मत है, जिसका गीताभूमिकाबहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्ड के–'**विषयविभागप्रदर्शन**' नामक प्रकरण में विस्तार से उपबृंहण किया जा चुका है। उधर निष्ठात्रयी के अभिनिष्टों नें लोकनिष्ठात्रयी के आवेश में पड़ कर गीताध्यायों का ६–६–६–इस क्रम से विभाजन करते हुए तीनों का क्रमशः '**कर्म्मकाण्डषट्क, उपासनाकाण्डषट्क, ज्ञानकाण्डषट्क**' यह नामकरण किया है, जो इत्थंभूत क्रमविभाजन, तथा नामकरण गीतातात्पर्य्यदृष्ट्या सर्वथा विपरीत जाता हुआ उपेक्षणीय है।

विज्ञानात्मकाः–योगविभागाः—

१–वैराग्यबुद्धियोगः (बुद्धियोगो भगवन्मतम्)–निष्कामसर्वकामानुगतिः— १–६ (६)
२–ज्ञानबुद्धियोगः (ज्ञानयोगः संशोधितः)–निष्कामज्ञानचर्य्या———७–८ (२)
३–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः(भक्तियोगः संशोधितः)–निष्कामोपासना————९–१२(४)
४–धर्म्मबुद्धियोगः (कर्म्मयोगः संशोधितः)–निष्कामकर्म्मयोगः———१३–१८(६)

× १८

——*——

अज्ञान (लोक) सम्मतयोगविभागाः

१–कर्म्मयोगः—कर्म्मकाण्डात्मकः–प्रथमविभागः———१–६
२–भक्तियोगः—भक्तिकाण्डात्मकः–द्वितीयविभागः ———७–१२
३–ज्ञानयोगः—ज्ञानकाण्डात्मकः–तृतीयविभागः———१३–१८

× १८

——*——

११–बुद्धियोगसम्पत्प्रदाता गीताशास्त्र—

विशुद्ध–तर्कमूलक वितण्डावाद में न जाकर यदि हम गीता के शब्दों पर ऋजुभाव से दृष्टि डालेंगे, तो हमें स्पष्टरूप से यह अनुभव होगा कि, गीता में तीनों हीं योगों के समर्थक वचन प्राप्त होते हैं *। तीनों के अतिरिक्त 'बुद्धियोग'–'योग'–समत्वयोग' इत्यादि नामों से एक चौथे अश्रुतपूर्व योग के समर्थक वचन भी प्राप्त होते हैं। इसप्रकार गीताशास्त्र में स्पष्टतः चारों योगों के वचन उपलब्ध हो रहे हैं। इस प्रत्यक्षोपलब्ध शब्दप्रामाण्य को देखते हुए भी गीताशास्त्र को केवल लोकनिष्ठात्रयी का प्रतिपादक मानते हुए तदनुसार ही विषयविभाग मान लेना कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है ?। इसके अतिरिक्त योगत्रयी का सामान्यरूप से समर्थन भी यही प्रतिपादन कर रहा है कि, अवश्य ही भगवान् किसी वैसे चतुर्थ अपूर्व–योग (बुद्धियोग) की ओर अर्जुन का ध्यान आकर्षित कराना चाहते हैं, जो तीनों विभिन्न योगों में अविभक्तरूप से व्याप्त होता हुआ तीनों को समकक्ष बना रहा है। बिना इस समतुलन के तीनों योगों की समानोपयोगिता कथमपि चरितार्थ नहीं बन सकती। तीनों विभिन्न योगों को समत्वसम्पत्ति–प्रदान करने वाला वही सुप्रसिद्ध 'बुद्धियोग' है, जिसका सुप्रसिद्ध 'वैराग्यबुद्धि' से सम्बन्ध है, एवं जो वैराग्यबुद्धि ज्ञान, ऐश्वर्य्य, धर्म्म–भावों के द्वारा लोकनिष्ठात्रयी को भी बुद्धियोगसम्पत् प्रदान कर रही हैं।

वेदसंहिताओं के अनेक वादों में से एक वाद 'दशवाद' नाम से प्रसिद्ध है, जिसका गीताभूमिका–द्वितीयखण्ड के 'ख' विभाग में–'दशवादरहस्य' नामक प्रकरण में वैज्ञानिक विवेचन किया जा चुका है।

* गीताभूमिकाप्रथमखण्ड में इन समर्थक वचनों का संग्रह किया जा चुका है।

सृष्टि किंमूला है ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए वैज्ञानिकों की ओर से परस्पर सर्वथा विभिन्न अहोरात्रवाद, व्योमवाद, अम्भोवाद, आवरणवाद, रजोवाद, अपरवाद, आदि १० वाद उपस्थित हुए हैं। सृष्टिमूलकारणता के सम्बन्ध में उपस्थित इन दशों वादों का निर्विरोध समन्वय तभी सम्भव हो सकता है, जब कि दसों का आधार कोई एक अविभिन्न तत्त्व मान लिया जाय। इसी आधार आगे जाकर इस सम्बन्ध में दसों में अविभिन्नरूप से व्याप्त 'ब्रह्मवाद' स्थापित हुआ है, जिसे–'सिद्धान्तवाद' माना गया है, एवं जिसका–**'ब्रह्माध्यतिष्ठत्–भुवनानि धारयन्'–'तपसस्तन्महिना जायतैकम्'–'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास'** इत्यादिरूप से स्पष्टीकरण हुआ है। ठीक यही परिस्थिति इन लोकनिष्ठाओं के सम्बन्ध में समझिए। पुरुष का पुरुषार्थ क्या ?, प्रश्न के समाधान के लिए तीन मार्ग सामने उपस्थित होते हैं, जो एक दूसरे से स्वरूपतः एवं अनुष्ठानप्रकारत:–सर्वथा विभिन्न हैं। इन विभिन्न तीन पुरुषार्थों का समन्वय तभी सम्भव है, जब कि तीनों को समानफलानुगामी बनाने वाला ब्रह्मवत् कोई वैसा अविभिन्न तत्त्व स्वीकार कर लिया जाय, जो तीनों का अविभिन्न सहयोगी बन रहा हो। वही गीताशास्त्र का चौथा अव्ययब्रह्मानुगत बुद्धियोग है। बिना इसे लक्ष्य बनाए तीनों योग परस्पर एक दूसरे से विभिन्नधर्म्मा बनते हुए एकत्वमूला अमृतभावनिष्पत्ति के स्थान में नानाभावमूला मृत्युभावप्रवृत्ति के कारण बन जाते है, जिसका प्रत्यक्षप्रमाण एक ही गीताशास्त्र को प्रमाणभूत मानने वाले साम्प्रदायिक आचार्य्यों का प्रचण्ड संघर्ष बन रहा है। ज्ञानयोगाभिनिविष्ट गीता को विशुद्ध 'ज्ञानयोगग्रन्थ' मानते हुए यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि, पुरुष का आत्यन्तिक पुरुषार्थ ज्ञानयोग ही है। गीताशास्त्र में संग्रहीत कर्म्म, और भक्तियोग गौण हैं। निम्न अधिकारियों के लिए ही भगवान् ने इनका संग्रह कर लिया है। वस्तुत: गीता मुख्यरूप से ज्ञानयोग का ही समर्थन कर रही है। अतएव गीता विशुद्ध 'ज्ञानयोगग्रन्थ है'। भक्तियोगाभिनिविष्ट साम्प्रदायिक गीता को भक्तियोगग्रन्थ मानने के लिए सन्नद्ध हैं। उनका कहना है कि–ज्ञान, वैराग्ययुक्त भक्तियोग ही पुरुष का आत्यन्तिक पुरुषार्थ है। गीताप्रतिपादित कर्म्म, और ज्ञान गौण हैं, जिनका लोकसंग्रहदृष्टि से भगवान् ने संग्रहमात्र कर लिया है। वस्तुत: गीता मुख्यरूप से भक्तियोग का ही समर्थन कर रही है। अतएव गीता विशुद्ध 'भक्तियोगग्रन्थ' ही है। कर्म्मयोगाभिनिविष्ट कर्म्मठ निष्कामकर्म्मयोग को ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य मान रहे हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान–भक्ति–योग गौण बने हुए हैं। फलतः इनकी दृष्टि में गीता विशुद्ध 'कर्म्मयोगशास्त्र' बन रहा है। इस रुच्यनुगता, तत्त्वशून्या विभिन्न दृष्टि का ही यह अनुग्रह हुआ है कि, एक ही भगवान् के मुख से विनिर्गत एक ही शास्त्र के अभिन्न-तत्त्वप्रतिपादक वचन परस्पर गौण–प्रधान बन गए। स्वमतपोषक वचन भगवत्सिद्धान्त के प्रतिपादक बन गए, स्वमतविरुद्धवचन लोकसंग्राहक बन गए। और इसप्रकार अभिन्नतत्त्वयोगशून्या निष्ठात्रयी के अनुग्रह से एक शास्त्र तीन विभिन्न शास्त्रों का जनक बनता हुआ पारस्परिक संघर्षद्वारा शान्ति के स्थान में क्रान्ति का प्रवर्त्तक बन गया। मोहनाश, और स्मृतिलाभ के स्थान में मोहप्रवृत्ति तथा स्मृतिविनष्टि का कारण बन गया। वासुदेवावतार से पहिले तत्त्वज्ञानवञ्चिता प्रजा के व्यामोह से लोकनिष्ठाओं की विभिन्नता के आधार पर जो संघर्ष उपस्थित हुआ था, जिसके निराकरण के लिए वासुदेवद्वारा बुद्धियोगमूलक–**'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति,-स पश्यति'-'यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं, तद्योगैरपि गम्यते'-'एकमप्यास्थितः सम्यगुभयो-र्विन्दते फलम्'** इत्यादि रूप से तीनों का सम समन्वय हुआ था, कालव्यवच्छेद से आज पुनः वही संघर्ष पुनरावृत्त बन रहा है। आज पुनः भगवान् का–**'स कालेन महता योगो नष्टः–परन्तप!'** चरितार्थ हो रहा है।

१२–व्याख्याताओं की संघर्षप्रवृत्ति—

संघर्ष केवल विद्वत्–समाज में हीं प्रचलित था। दूसरे शब्दों में संघर्ष उन परिगणित व्यक्तियों तक ही सीमित था, जो संस्कृतभाषा के जानकार थे। सामान्य प्रजा अपनी स्वाभाविक मनोवृत्ति के अनुरूप जिस वर्ग के आकर्षण से आकर्षित थी, उस मन्तव्य का अनुगमन करना श्रेयःपन्था समझ रही थी। इसप्रकार अव्यवस्थितरूप से ही सही, शास्त्रभक्ति यथाकथञ्चित् सुरक्षित थी। सम्भवतः इसी अन्धपरम्परा में वर्गत्रयी का संघर्ष यों हीं प्रवाहित रह भी जाता। परन्तु वर्त्तमान युग में एक ऐसी घटना घटित हो गई, जिससे संघर्ष सुरक्षित न रह सका, और संघर्ष एक ऐसे नवीन भाव में परिणत हो गया, जिससे शास्त्रनिष्ठा सर्वथैव विनाशोन्मुखा प्रतीत होने लग गई। घटना थी दो सभ्यताओं का परस्पर सम्मिलन। सम्मिलन न कह कर इसे भी पारस्परिक संघर्ष ही कहना उचित होगा। विदेशीसत्ता के अनुग्रह से सत्ता के साथ साथ ही तत्–सभ्यता–संस्कृति–साहित्य–आचार–व्यवहार–निष्ठ सम्मान्य अतिथियों नें भी हमारा आतिथ्य स्वीकार किया। अतिथि के रूप में नहीं, विजेता शासक के रूप में। उसने आते ही आते हमारी सभ्यता–संस्कृति–साहित्य पर आक्रमण किया। इस आक्रमण का फल वही हुआ, जो होना चाहिए था। यदि वैदिकतत्त्व हमारे हाथ में होता, यदि हमारा घर साम्प्रदायिक संघर्ष से विमुक्त रहता, तो निश्चयेन प्राच्य–प्रतीच्य–सभ्यताओं के इस अप्रत्याशित संघर्ष में प्राच्य विजेता ही बनता। परन्तु तत्त्ववादशून्या, अन्धःश्रद्धानुगता, पतनमूला, कल्पितशास्त्रनिष्ठा से जर्ज्जरित-शक्तिशून्य बना हुआ प्राच्य प्रतीच्य भौतिकतत्त्ववाद (विज्ञान) पूर्णा, लोकश्रद्धानुगता संसारोन्नतिमूला लोकनिष्ठा के प्रभाव से अपने बाह्यस्वरूप से प्राच्यापेक्षया सशक्त बने हुए प्रतीच्य के आक्रमण को न सह सका। नत मस्तक होकर इसे प्रतीच्य की उच्छिष्ट का सादर अभिवादन करना पड़ा। संघर्ष से पहिले लोकोन्नतिमूला जो व्यवहारनिष्ठा प्राच्य के अधिकार में थी, इस संघर्ष में पड़ कर वह भी शास्त्रनिष्ठा के साथ साथ ही इससे छिन गई, अथवा तो अयोग्य–असमर्थ–प्राच्य से योग्य–समर्थ प्रतीच्य ने बलपूर्वक छीन ली। न राम मिले, न रहीम। न उधर के रहे, न इधर के रहे। जो न होना था, वह हो गया। परन्तु प्राच्यसंस्कृति के भक्तों का उद्बोधन न हुआ, न हुआ। अपितु ठीक इसके विपरीत अपने आपको स्वयं आत्मदासता के निबिड पाश में आबद्ध करने वाले इन पुरुषार्थियों नें–**'गुणानां च परार्थत्वात्–असम्बन्धः समत्त्वात्'** को ही अपना आराध्य बना लिया, जिसका तात्पर्य्य यही है कि, एक स्वामी के दसों सेवक स्वामी के सेवक हैं, परस्पर कोई एक दूसरे का सेवक नहीं है, अतएव दसों का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्रत्येक उनके दास क्योंकि बन गए थे, फिर परस्पर मैत्रीभाव कैसे सुरक्षित रह सकता था। उनके लिए हम म्याऊँ, 'जो आज्ञा' के अनुमन्ता। परन्तु परस्पर में भूखे बाघ से भी भयानक। सुना है–जब सर्पिणी को आहार नहीं मिलता, तो वह अपनी सन्तति का ही निगरण करने लगती है। ठीक यही दशा हमारी हो गई। हम आपुस में ही अन्न–अन्नाद बन गए। और इसप्रकार उस अश्राव्य–अकीर्त्तिकर–इतिहास का हमने उपक्रम कर डाला, जिस इतिहास का अनुगमन करने वाली असंख्य जातियाँ स्मृतिगर्भ में विलीन हो चुकीं हैं।

पुण्यभूमि–भारतवर्ष, वह भारतवर्ष–जिसकी सभ्यता का मूल आधार आर्षधर्म्म है, वह आर्षधर्म्म जिसकी मूलप्रतिष्ठा वेदशास्त्र है, वह वेदशास्त्र–जिसकी प्रतिष्ठा प्रकृतिसिद्ध–नित्य–सनातनतत्त्व है, वह सनातनतत्त्व–जिसका मूल अनन्त धरातल में आबद्ध है, बाह्यसंघर्षमात्र से उखड़ जाय, यह असम्भव है। इतिहास साक्षी है, वर्त्तमान संघर्ष से भी कहीं भयानक संघर्ष इससे पहिले भी भारतवर्ष में हुए। परन्तु वे सब संघर्ष

इसके मूलोच्छेद में असमर्थ ही रहे। यही क्यों, आक्रमण करने वालों का अवश्य ही नामशेष रह गया, परन्तु इसके मूल पर कोई प्रहार न हो सका। जिन्होंनें इसके मूल का पता पा लिया, वे स्वयं आत्मसमर्पण कर बैठे। मानते हैं—आज का संघर्ष भी सामान्य नहीं है। यही क्यों, इसके सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि, शिक्षापारतन्त्र्यमूलक आत्मदासतारूप ब्रह्मास्त्र को अग्रणी बना कर आक्रमण करने वाला यह संघर्ष अपेक्षाकृत कहीं भयानक है। परन्तु ऋषियों के पुण्य से अभी प्राच्य का मूल सुरक्षित है। इसी आधार पर आत्मदासता की चरमसीमा पर पहुँचते ही प्राच्य का उद्बोधन हुआ। इसे यह बोध होने लगा कि, मैं वस्तुतः सशक्त हूँ। आत्मजागृति के अनुग्रह से देश में पुनः-'स्वतन्त्र' शब्द का विकास आरम्भ हुआ। कैसा था वह शुभ मुहूर्त्त। यदि देश के विद्वान् उस मुहूर्त्त का मूल्य समझते, तो···। जिन देशहितैषियों नें आत्मस्वतन्त्रता का बीजवपन किया था, यद्यपि प्रधानतः थे तो वे भी प्रतीच्यशिक्षापारङ्गत ही। तथापि उनका प्राच्यसंस्कृति के प्रति स्वाभाविक आकर्षण था। इनमें दो एक तो ऐसे भी व्यक्ति थे, जिनकी प्राच्यसाहित्य में भी गति थी। जिस क्षण में इन्होंनें प्राच्य के प्रातिनिध्य का घन्टाघोष किया, उसी क्षण देश के विद्वान् भी यदि सम्मिलित हो जाते, तो क्या हो जाता ?, इस खपुष्पकल्पना का आलोडन विलोडन अब व्यर्थ है। शताब्दियों से गृह्य संघर्ष ही जिनकी आजीविका का साधन बन रहा हो, भला वे विद्वान् यह भूल ? कैसे कर सकते थे। जिन विद्वानों के कन्धों पर प्राच्यसंस्कृति का उत्तरदायित्व था, उनकी न केवल तटस्थता ने हीं, अपितु विरोध ने देश के उस दल का मनोभाव प्राच्यसंस्कृति की ओर से तो नहीं, प्राच्यसंस्कृति के वास्तविक स्वरूप से परावर्तित कर दिया। वे यह अनुभव करने लगे कि, क्या यही प्राच्यसंस्कृति है ?, यही हमारी मौलिक सभ्यता है ?, जो आत्मस्वातन्त्र्य का विरोध करना हीं अपना प्रधान कर्त्तव्य मान रही हैं। वे पूँछने लगे अपने अन्तर्जगत् से कि, क्या इन्हीं विद्वानों के आदेश-उपदेश प्राच्यगौरव सुरक्षित रख सकेंगे ?। उत्तर वही मिलना था, जो मिलना चाहिए था। वस्तुतः विद्वानों नें अपने चिर-अभ्यस्त संघर्ष के अनुग्रह से वही शास्त्रनिष्ठा उपादेय मान रक्खी थी, जिसकी कृपा से प्रतीच्य अपने पाँव फैलाने में समर्थ हो सका था। परिणाम इसका क्या हुआ ?, क्या सम्मान्य विद्वान् सुनना चाहते हैं !, 'ओमित्येतत्'।

प्रतीच्यशिक्षादीक्षित-अग्रगामी दल ने विद्वानों की उपेक्षा की, उनके मन्तव्यों की अवहेलना की, उनकी संघर्षमूला शास्त्रनिष्ठा का अनादर किया, संस्कृतभाषा के प्रति उदासीनता प्रकट की, प्राचीन भाष्य-व्याख्याओं के प्रति गजनिमीलिका की, और प्राच्याकर्षणानुग्रह से स्वयं अपनी उस प्रज्ञाबुद्धि से-जो पश्चिमी शिक्षा-संस्कार से सुसंस्कृत ? थी-उपनिषत्, गीता, आदि परिगणित प्राच्य ग्रन्थों का अन्वेषण आरम्भ किया। प्रतीच्य शिक्षासंस्कार से उत्पन्न होने वाली 'बुद्धिमानी' ही इस अन्वेषण का मूल बनी, जिसका विश्लेषण इन शब्दों में किया जा सकता है कि, "शास्त्र के प्रणेता ऋषि हों, अथवा तो योगी, तत्त्वतः वे मनुष्य थे। मनुष्य बुद्धिपूर्वक ही कर्म्म करता है। फलतः उन बुद्धिमानों नें बुद्धिबल से ही यह ग्रन्थरचना की है। क्यों नहीं, मानवसुलभ-बुद्धिद्वारा हम भी अपनी बुद्धि से ही उन ग्रन्थों का अन्वेषण करैं। कोई कारण नहीं कि, हम प्राचीन व्याख्याताओं, भाष्यकारों की शैली का ही अनुसरण करैं। सम्भव है, उनसे भूल हो गई हो। तभी तो शास्त्रव्याख्यानिष्ठ विद्वत्समाज की ऐसी मनोवृत्ति हमारे सामने आरही है। हमें बुद्धिपूर्वक स्वयं ही प्राच्य ग्रन्थों के तात्पर्य्य का अन्वेषणके करना चाहिए। अन्वेषणकेद्वारा बुद्धि जिसे स्वीकार करे, वही तात्पर्य्य वास्तव में तात्पर्य्य मानना, और मनवाना चाहिए"। सौभाग्य से इसलिए कि, सर्वमूर्द्धन्य गीताशास्त्र को ही देशहितैषियों नें निर्दोष-प्रामाणिक-व्यावहारिक-तथा उपादेय शास्त्र मान कर, दुर्भाग्य से इसलिए कि, उस गीताशास्त्र को, आधार

बना कर-जिसका अक्षर अक्षर वेदशास्त्र के तत्त्वज्ञान से सम्बद्ध है, अतएव समस्त वैदिक वाङ्मय के तात्त्विक स्वाध्याय के बिना जिसका तात्पर्य्यार्थ लगा लेना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है,-व्याख्या का साहस कर डाला। इस साहस का हम दो भागों में विभाजन कर सकते हैं। 'सर्वश्रीबालगङ्गाधरतिलक' की सुप्रसिद्ध 'कर्म्मयोग-शास्त्र' नामक गीताव्याख्या (गीतारहस्य) एक विभिन्न दृष्टिकोण रखती है। तिलक प्रतीच्य साहित्य के साथ साथ संस्कृतसाहित्य के भी वर्त्तमानकोटि के अच्छे विद्वान् थे। उस स्वाभाविक विद्वत्ता के अनुग्रह से ही तिलक सनातनधर्म्म के सिद्धान्तों के अनन्य समर्थक थे। इसी धर्म्मनिष्ठा के कारण आपने महाभारत, रामायण, पुराण, स्मृति, आदि इतर शास्त्रों की प्रामाणिकता पर विश्वास रखते हुए स्वबुद्धिबल से गीतार्थ का समन्वय किया। इसके साथ साथ ही प्रतीच्य साहित्य की मर्म्मज्ञता के कारण पश्चिमी विद्वानों के द्वारा गीताशास्त्र पर होने वाले आक्षेपों का युक्तिपूर्वक निराकरण भी किया, जो प्रयास प्रत्येक भारतीय के लिए अभिनन्दनीय ही माना जाना चाहिए। यह स्पष्ट सत्य है कि, तिलक वैदिकतत्त्वों से दूर रह कर ही गीताव्याख्या में प्रवृत्त हुए थे। यही कारण है कि, एकाङ्गी भूत 'कर्म्मयोग' ही उनकी बुद्धि में गीता का वास्तविक सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो गया। पश्चिमी बुद्धि के स्वाभाविक आकर्षण से शाङ्करमतादि की स्पष्ट समालोचना करने वाले तिलक का यह व्याख्याप्रयास भारतीय दृष्टिकोण से किस स्थान का अधिकारी है ?, इस विवाद में न पड़ते हुए यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, अंशतः सनातन सिद्धान्तों का पोषण करती हुई भी तिलकव्याख्या वेदतत्त्वानुगता दृष्टि की अपेक्षा से अमान्य ही मानी जायगी।

१३–श्रीगांधीजी, और उनका अनासक्तियोग—

दूसरा विभाजन **'अनासक्तियोग'** नामक उस प्रसिद्ध व्याख्या से सम्बन्ध रखता है, जिसके निर्म्माण का श्रेय सर्वश्री गांधीजी को प्राप्त है। गान्धीजी की ईश्वरनिष्ठा, प्राच्यसंस्कृतिप्रेम, आदि पर अविश्वास न करते हुए भी हमें इस विश्वास में कोई आपत्ति नहीं हो रही कि, आप संस्कृतसाहित्य के विद्वान् नहीं थे। आपका ज्ञान आपही के कथनानुसार आपके वैय्यक्तिक अनुभव, तथा प्रयोगों पर ही निर्भर था *। गीतातत्त्व-परिशीलन आपने किन किन साधनों के द्वारा किया ?, इस समस्या का निराकरण भी आपकी गीताव्याख्या पर लिखी प्रस्तावना से हो जाता है। बात साधारण सी होती हुई भी अन्धःश्रद्धालु बहुसंख्यक जनसमाज की अपेक्षा से असाधारणवत् मानी जा सकती है। गांधीजी को देश का नेतृत्त्व प्राप्त था। अवश्य ही आपकी सर्वश्रेष्ठ-त्यागवृत्ति के लिए हम भी इस अंश में आप पर पूर्ण निष्ठा रखते हैं। और सम्भवतः आज के भावुक भारतदेश ने एकमात्र इसी हेतु से आपको वह सर्वोच्च पद प्रदान भी किया है, जो पद भारतीय परिभाषा में 'महात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। एक बार नहीं, शत-शत-बार यह कह देना प्रत्येक सात्त्विक भारतीय का कर्त्तव्य होना चाहिए कि, "हम आप पर निष्ठा रखते अवश्य हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि, सर्वथा अनधिकृत शास्त्रीय क्षेत्र में भी इस निष्ठा का दुरुपयोग करते हुए हम सर्वथा इत्थंभूत काल्पनिक पथ का अनुसरण करने लग पड़ें। **'गीता को मैंनें जैसा समझा है'** आपके इस प्रस्तावनावाक्य से ही आपकी गीताव्याख्या वास्तविक नहीं मानी जा सकती। आपका विश्वप्रेम सुप्रसिद्ध था। आप एक अंग्रेज का भी कल्याण चाहते थे। फिर

*–"जैसे स्वामी आनन्द आदि मित्रों के प्रेमवश होकर मैंने सत्य के प्रयोग भर के लिए आत्मकथा लिखना आरम्भ किया था, वैसी बात गीता के अनुवाद के सम्बन्ध में भी हुई है"।

अनासक्तियोग–प्रस्तावना—

आपकी यह संकुचित दृष्टि-'स्त्री-वैश्य-शूद्र सरीखे, जिन्हें अक्षरज्ञान थोड़ा ही है, जिन्हें मूल संस्कृत में गीता समझने का समय नहीं है, न इच्छा है, परन्तु जिन्हें गीतारूपी सहारे की आवश्यकता है, उन्हीं के लिए यह अनुवाद है' क्यों, और कैसे बनी ?। सह लेते हैं आपकी इस दृष्टि का भी आक्रमण। परन्तु आपको यह तत्त्व किस जगदीश्वर ने प्रदान किया कि-'यह ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, युद्ध को रोचक बनाने के लिए गढ़ी हुई कल्पना है'। आस्तां तावत्।

गीताशास्त्र, गीता के मुख्य श्रोता अर्जुन, उपदेशक पूर्णावतार भगवान् कृष्ण, गीता की जन्म-कर्म्मों-भयानुगता वर्णव्यवस्था, वर्णधर्म्म, गीतोपदेशफलस्वरूप अर्जुन की युद्ध में प्रवृत्ति, आदि भौतिक तथ्य-पूर्ण घटनाएँ हीं जिनकी दृष्टि में कल्पना है, उनकी व्याख्या का आस्तिक प्रजा कहाँतक समादर करेगी ?, कल्पनाप्रसूता यह व्याख्या स्त्री-वैश्य-शूद्रों का कैसा उपकार कर डालेगी ?, इन सब प्रश्नों का, किंवा गुप्तरहस्यों ! का उत्तर तो व्याख्याकार से ही सम्बद्ध है। हम अपने शब्दों में तो इस व्याख्या के लिए यही अभि-नन्दन कर सकते हैं कि,-परमात्मा करे, यह व्याख्या व्याख्याकार के ज्ञानक्षेत्र-पर्य्यन्त ही सीमित रहे, इसी में आर्षप्रजा का अभ्युदय है।

स्वतन्त्रता के इस स्वतन्त्र युग में जो न देखना-सुनना पड़े, स्वल्प है। ऐसा भी एक गीताभक्त समाज हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, जो गीता का प्रधान लक्ष्य 'साम्यवाद' मान रहा है। वह कहता है-गीता उस 'साम्यवाद' का ही प्रतिपादन करती है, जिसमें छोटा-बड़ा-अमीर-गरीब-राजा-प्रजा-आदि कक्षाविभाग सर्वथा विलुप्त हो रहे हैं। सब प्राणी समान, सबके समान कर्म्म, समान अधिकार, यही गीतासिद्धान्त है। इसप्रकार विद्वानों की उस प्रारम्भ की भूलने देशहितैषियों के द्वारा गीताशास्त्र के अनेक कल्पित-हानिकर-अनुपादेय-मतवादों की सृष्टि कराली। दुःख है कि, यह सब कुछ जानते हुए भी, मानते हुए भी आज भी विद्वत्समाज की ओर से उसी भूल की पुनरावृत्ति हो रही है। दृढ निष्ठापूर्वक यह कहा जासकता है कि, जब तक भारतीय विद्वत्समाज साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का अनुगामी बना रहेगा, तबतक उसका आर्षधर्म्म मूलक वैदिक तत्त्ववाद की ओर ध्यान आकर्षित न होगा। जबतक विज्ञान-निकषा पर पूर्ण परीक्षित वैदिक तत्त्वों के आधार पर शास्त्रों का समन्वय-प्रयास उपक्रान्त नहीं होगा, तब तक प्रतीच्य के सम्पर्क से प्राप्त होने वाले घातक दृष्टिकोणों का निराकरण असम्भव बना रहेगा। एवं जबतक इस दृष्टिकोण का निराकरण नहीं हो जायगा, तबतक आर्षप्रजा वास्तविक शान्ति-सुख की अधिकारिणी नहीं बन सकेगी।

१४-गीतासिद्धान्तविमर्श—

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः' इस वाक्य के आधार पर हमारा यह आत्मविश्वास दृढमूल बन चुका है कि, मन्त्रब्राह्मणात्मक वैदिक साहित्य में जिन तत्त्वों का विशदरूप से वैज्ञानिक निरूपण हुआ है, गीताशास्त्र उन सब तत्त्ववादों की सर्वतत्त्वसंग्राहिका एक तालिका है। गीता में प्रतिपादित तत्त्ववाद का किसी भी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से सम्बन्ध न होकर सीधा वैदिक तत्त्वों से सम्बन्ध है। अतएव बिना वैदिक तत्त्वज्ञान को आधार बनाए अन्य प्रयत्नसहस्रों से भी गीता के वास्तविक तात्पर्य्य का समन्वय नहीं किया जासकता। उदाहरण के लिए गीता के प्रधान निरूपणीयभूत 'बुद्धियोग' सिद्धान्त को ही लक्ष्य बनाइए। वैदिक बुद्धितत्त्व के, एवं उसके आत्मानुगत सहज योगस्वरूप के परिज्ञानाभाव का ही यह परि-

णाम हुआ है कि, आज 'बुद्धियोग' का स्वरूपज्ञान सर्वथा विलुप्त होचुका है। जैसा कि प्रारम्भ में स्पष्ट किया जाचुका है—शास्त्रीय दृष्टि से 'बुद्धियोग' का अधिक से अधिक यह अर्थ मान कर सन्तोष कर लिया जाता है कि-'शास्त्रज्ञान से सात्त्विक बनी हुई बुद्धि के द्वारा ही कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-योगों में प्रवृत्त होना चाहिए'। लोकदृष्टि से इसी का-'समझदारी से काम करना चाहिए' इस वाक्य पर विश्राम कर लिया जाता है। यही दुरवस्था 'अनासक्ति'-'निष्काम' 'फलकामत्याग' आदि सिद्धान्तों के सम्बन्ध में घटित हुई है। वैदिक तत्त्ववाद का यह पूर्ण परीक्षित सिद्धान्त है कि, विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा (बुद्धि-युक्त मन) का व्यापार ही कर्म्ममात्र का प्रथम मूलाधार बनता है। कर्म्म का प्रथम मूल मन की कामना है, जैसाकि-**'कामस्तदग्रे समवर्त्ताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'** इत्यादि ऋङ्मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। कर्म्मकर्त्ता आत्मा **'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'** इत्यादि बृहदारण्यक सिद्धान्तानुसार मनःप्राणवाङ्मय है। आत्मपर्वत्रयी की व्यापारत्रयी क्रमशः 'काम-तप-श्रम' नामों से व्यवहृत हुई है। 'इदं कुर्वीय'-'इदं मे स्यात्' इत्यादि रूप से सर्वप्रथम मनोव्यापाररूप काम (कामना, का उदय होता है। तदनन्तर प्राणव्यापाररूप तप होता है, जो अन्तर्व्यापार दर्शनभाषा में 'कृति'-'यत्न'-चेष्टा' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। सर्वान्त में वाग्व्यापार (शरीरव्यापार) होता है, जिसे 'श्रम' कहा गया है। इसप्रकार कामः-तपः-श्रम; तीनों के समन्वय से ही कर्म्मस्वरूप निष्पन्न होता है। स्पष्ट है कि बिना कामना के कर्म्म-प्रवृत्ति असम्भव है। ऐसी स्थिति में गीता के 'निष्कामभाव का क्या अर्थ ?,। 'कामना छोड़ दो' कहने मात्र से ही तो हमारा काम्यकर्म्म निष्काम नहीं बन सकता। फिर तत्त्वतः कामना छूट सकती भी नहीं। कामना के आत्यन्तिक उपराम से तो कर्म्मप्रवृत्ति का ही उच्छेद हो जायगा। ऐसी स्थिति में वर्त्तमान व्याख्या-कार 'निष्कामकर्म्म करो' अपनी इस घोषणा का कैसे समन्वय कर सकेंगे ?। क्या बिना वैदिक तत्त्वानुशीलन के वे समाधान कर सकेंगे ?। यही स्थिति फल की है। फलोद्देश्य ही कामना का मूल बनता है। यदि किसी को यह निश्चय हो जाय कि, अमुक कर्म्म निष्फल है, तो उस ओर कामना हीं नहीं होसकती। 'फल का परि-त्याग करदो' कहने मात्र से ही तो फलकामना का परित्याग सम्भव नहीं बन सकता। प्राकृतिक सिद्धान्तानुसार कामना अनिवार्य्य, तल्लक्षीभूत फल अनिवार्य्य, कर्म्मजनित संस्कारग्रहण अनिवार्य्य, फिर कैसे गीता के निष्काम-फलरहित-लेपशून्य योग का समन्वय किया जाय ?। वैदिकतत्त्वानुसन्धान के अतिरिक्त बड़े से बड़ा बुद्धिमान् भी, विद्वान् भी, नेता भी इन विप्रतिपत्तियों का निराकरण नहीं कर सकता। गीता में उद्धृत अमृत-शाश्वतधर्म्म-ब्रह्म-अव्यय-ऐकान्तिकसुख-अश्वत्थ-आदि शब्दों के तत्त्वार्थों का वैदिक तत्त्वदृष्टि के अभाव में कथमपि समन्वय सम्भव नहीं है। एक श्लोक में प्रतिपादित उत्तरायण-दक्षिणायनमूला आत्मगति के स्वरूप का क्या बिना वैदिक आत्मगतिविज्ञानपरिज्ञान के समन्वय सम्भव है ?। क्या वैदिक 'पथ्यास्वस्ति' (वर्ण-मातृकाविज्ञान) परिज्ञान की उपेक्षा कर **'अक्षराणामकारोऽस्मि'** का तात्त्विक समन्वय किया जासकता है ?। क्या ब्राह्मणग्रन्थ में प्रतिपादित यज्ञविज्ञान से परिचय प्राप्त किए बिना **'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः'** इत्यादि गीता-प्रतिपादित यज्ञरहस्य का विश्लेषण सम्भव है ?। गीताशास्त्र की इसी गभीर-गभीरतर-गभीरतमा वैदिकतत्त्वानु-गति के माहात्म्य को स्पष्ट करने के लिए ही-**'सम्यग्जानाति वै कृष्णः'-'सञ्जयो वेत्ति वा न वा'** इत्यादि प्ररोचनावाक्य व्यवहृत हुए हैं। गीताभक्ति का हम अभिनन्दन करते हैं। यह भी मान रहे हैं कि, गीतापारा-यण से 'शब्दशक्तिविज्ञान' की अपेक्षा से पुण्यलाभ होता है। परन्तु एतावता ही गीताभक्त-वे गीताभक्त जिन्हें वैदिक तत्त्वबोध की कथा तो दूर रही, संस्कृतभाषा का भी बोध नहीं है-गीता पर व्याख्या लिखें। उसकी समा-

लोचना करें, कल्पना के द्वारा उसमें काल्पानिक अहिंसावाद, साम्यवाद आदि वादों के अन्वेषण की चेष्टा करें, कैसे युक्तिसङ्गत कहा जा सकता है। प्रसिद्ध है कि, अनधिकारी का अनधिकृत कार्य्य में हाथ डालना उस कार्य्य का ध्वंस ही करना है *। दुःख है कि, गत शताब्दियों में विद्वानों की ओरसे भी गीता पर जो भाष्य-व्याख्याएँ हुईं, किसी ने गीता के इस वैदिकतत्त्वानुगत दृष्टिकोण को लक्ष्य न बनाया। यही कारण है कि, गीता पर ज्यों ज्यों अधिकाधिक व्याख्याएँ होतीं गईं, त्यों त्यों यह शास्त्र दुरधिगम्य, अतएव अव्यवहार्य्य ही बनता गया। और इसप्रकार वेदतत्त्व-वञ्चिता व्याख्याओं के अनुग्रह से गीतातत्त्व सर्वथा विलुप्त हो गया। यह माना जा सकता है कि, साम्प्रदायिक आचार्य्यों को भी गीताशास्त्र के आश्रय से स्वमतपोषण की सामग्री मिल सकती है। परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं है कि, भगवान् ने सम्प्रदायवादपोषण के उद्देश्य से ही गीताशास्त्र को जन्म दिया है। व्याख्याताओं की एक सबसे बड़ी भूल कहिए, अथवा तो स्वार्थसाधकता मानिए-यही है कि, पहिले वे अपनी कल्पना से एक साम्प्रदायिक सिद्धान्त की कल्पना कर लेते हैं। और उस अपने कल्पित सिद्धान्त की दृष्टि से शास्त्र की व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं। शास्त्र का प्रकृत-सिद्ध अर्थ क्या है ?, शास्त्र के शब्दों का उपक्रमोपसंहार-आदि मीमांसासम्मत प्रणाली से क्या प्राकृतिक अर्थ निकल रहा है ?, इत्यादि प्रश्नों की उपेक्षा कर ये व्याख्याता शास्त्र को अपने कल्पित सिद्धान्त की दृष्टि से खोजने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि, वहाँ जो जो सिद्धान्त इन्हें अपने सम्प्रदायसिद्धान्त के विरोधी प्रतीत होते हैं, उन्हें गौण मानते हुए ये लीपापोती को पुरुषार्थ बना डालते हैं। यही तो कारण है कि, ज्ञानयोगात्मक दृष्टिकोण को अग्रणी बना कर गीताव्याख्या में प्रवृत्त आचार्य्यों नें ज्ञानयोगसमर्थक वचनों को तो प्रधान बतलाया, भक्ति-कर्म्म-योग के समर्थक वचनों का गौणत्त्व सिद्ध करने की चेष्टा की। यही स्थिति कर्म्माभिनिविष्ट, तथा भक्त्यभिनिविष्ट व्याख्याताओं की रही। इस सबसे बड़ी भूल नें ही गीता की सार्वभौमिकता का अपहरण कर अपौरुषेय वेदशास्त्र से समतुलित रहने वाले ईश्वरीय ज्ञानात्मक गीताशास्त्र को एक साम्प्रदायिक मतवाद का पोषक ग्रन्थ बना डाला। **'हम मानते हैं, वही गीता में है'**, इस मोहपाश का परित्याग कर **'जो गीता कहती है, वह हमें मानना चाहिए'** इस दृष्टि को अपनाए बिना गीतातत्त्व का समन्वय असम्भव है। और यह असम्भव तभी सम्भव बन सकता है, जबकि हम तत्त्वानुगता आर्षदृष्टि (ऋषिदृष्टि) से सम्बद्ध वैदिक तत्त्ववाद-लक्षण, सहजबुद्ध्यनुगत, सहजज्ञानमूलक वेदशास्त्र को आधार बना कर ही गीतार्थसमन्वय की चेष्टा में प्रवृत्त हों। काल्पनिक ज्ञान कृत्रिम ज्ञान है, यही जीवज्ञान है, जो कभी एकान्ततः निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। प्राकृतिक ज्ञान सहजज्ञान है, यही ईश्वरीय ज्ञान है, जो कभी भ्रान्त नहीं हो सकता। निर्भ्रान्त ईश्वरीय ज्ञानदर्शन के लिए बुद्धियोग अपेक्षित है। ऋषियों नें इसी योग-प्रभाव से उस सहजज्ञान के दर्शन किए। सहजभाषा के द्वारा शब्दमर्य्यादा से सुसंघटित वही ईश्वरीय ज्ञानकोष 'वेदशास्त्र' कहलाया। वेदशास्त्र ने क्योंकि सहज-अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान का विश्लेषण किया, अतएव यह शास्त्र भी आगे जा कर 'अपौरुषेय' ही मान लिया गया, जिसका इतिवृत्त उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड के—**'क्या वेद अपौरुषेय है'** ? नामक प्रश्नमीमांसा में विस्तार से निरूपित हुआ है। उसी वेदानुगत तत्त्ववाद के आधार पर आज हमें गीता के 'बुद्धियोग'-स्वरूप का अन्वेषण करना है, जिसका अन्य किसी भी साम्प्रदायिक व्याख्या से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

---

* **'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति'** ।

१५-वेदशास्त्र-और 'बुद्धि' शब्द—

इसी सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण और कर लीजिए। गीता के 'बुद्धियोग' स्वरूप की हमें मीमांसा करनी है। साथ ही हमारा यह भी अभिनिवेश है कि, गीता का प्रत्येक सिद्धान्त वेदसिद्धान्त से समतुलित है। इस दिशा में गीतोक्त 'बुद्धियोग' के सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। उपलब्ध ऋग्-यजुः-साम-अथर्व, चारों मूल संहिताओं में (मन्त्रात्मक वेद भाग में) कहीं भी 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। दूसरा है ब्राह्मणात्मक वेद भाग। इसके विधि, आरण्यक, उपनिषत्, ये तीन काण्ड माने गए हैं। शतपथ-ऐतरेय-आदि सुप्रसिद्ध ब्राह्मण भाग ब्राह्मणात्मक वेदभाग का विधिकाण्ड है, ऐतरेयारण्यक, तै॰ आ॰ आदि आरण्यकभाग आरण्यक काण्ड है, एवं ईश-केन-कठ-प्रश्नादि उपनिषद्भाग उपनिषत्काण्ड है। ब्राह्मणात्मक वेदभाग के इन तीनों काण्डों में से आरम्भ के विधि (ब्राह्मण), और आरण्यक, इन दो भागों में भी 'बुद्धि' शब्द इसलिए अश्रुत-प्राय ही है कि, केवल **'मन्त्रब्राह्मण'** नामक ब्राह्मणग्रन्थ में, सो भी एक बार-'बुद्धि' शब्द का प्रयोग हुआ है-(मं॰ ब्रा॰ २।४।१४।)। ऐसी स्थिति में वेदमूलक गीताशास्त्र में 'बुद्धि' शब्द से सम्बन्ध रखने वाला 'बुद्धियोग' सिद्धान्त कैसे वेदशास्त्रसम्मत बन गया ?, यह विप्रतिपत्ति उपस्थित की जासकती है, जिसका प्रासाङ्गिक निराकरण कर लेना आवश्यक होगा।

१६-शास्त्रों के प्रतिपाद्य विभिन्न विषय—

गीता में प्रासङ्गिक यज्ञ, आत्मगति, विभूति, अश्वत्थ, आदि विषयों के निरूपण के साथ साथ प्रधानतः अव्ययानुगता ब्रह्मविद्या, तथा वैराग्यानुगत बुद्धियोग, इन दो विषयों का ही निरूपण हुआ है। अतएव गीता शास्त्र-**'ब्रह्मविद्यानुगत-योगशास्त्र'** (**अव्ययानुगत बुद्धियोगशास्त्र**) नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है, जैसा कि गीताध्यायोपसंहार में उद्धृत-**'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'** इत्यादि वाक्य से प्रमाणित है। **'गीताभूमिका-आत्मपरीक्षा-'क' विभाग'** नामक भूमिकाखण्ड में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, भारतीय शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है-'ब्रह्मकर्म्मरहस्यनिरूपणपूर्वक ब्रह्मकर्म्मानुगमनादेशद्वारा अभ्युदय-निःश्रेयस-प्राप्ति की अनुशासनलक्षणा शिक्षा प्रदान करना'। ब्रह्म नाम है 'आत्मा' का, एवं कर्म्म नाम है 'आत्मव्यापार' का। अध्यात्मसंस्था में अनेक आत्मा हैं, जिनके सोपाधिकरूप परस्पर विभिन्न हैं। फलतः आत्मव्यापारलक्षण कर्म्म भी विभिन्न बन रहे हैं। इसीलिए आत्मा, और तदनुगत कर्म्म, के भेद से एक ही भारतीय शास्त्र के अनेक विभाग होगए हैं, जिनका प्रधानतः विज्ञानशास्त्र, एवं दर्शनशास्त्र, इन दो स्थूल भागों में विभाजन किया जासकता है। केवल शाब्दिक ज्ञान के आधार पर ब्रह्मकर्म-परीक्षा करने वाला शास्त्र 'दर्शनशास्त्र' है, एवं शब्दानुगत तत्त्वों के आधार पर परीक्षा करने वाला शास्त्र विज्ञानशास्त्र है। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र विज्ञानशास्त्र है, वैशेषिक-प्राधानिक-शारीरकतन्त्र दर्शनशास्त्र है। परात्परप्रधान ईश्वरीय-गूढोत्मा, अव्ययप्रधान जीवानुगत गूढोत्मा, दोनों विवर्त्तों की समष्टि 'षोडशीपुरुष' है, यही व्यक्ताव्यक्तातीत पुरुषात्मा है, यही अश्वत्थब्रह्म का सर्वमूलभूत 'अमृतम्' (अमृतात्मसंस्था) है। पुरुषात्मगर्भित अक्षरप्रधान अव्यक्तात्मा, तथा महानात्मा, दोनों की समष्टि 'अव्यक्तप्रकृति' है, यही अव्यक्त प्राकृतात्मा है, यही अश्वत्थवृक्ष का विश्वमूलभूत 'ब्रह्म' (ब्रह्मात्मसंस्था) है। पुरुषात्म-प्राकृतात्मगर्भित आत्मक्षरप्रधान विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा, विकारक्षरप्रधान देवसत्यलक्षण वैश्वानरतैजसप्राज्ञमूर्त्ति भूतात्मा, वैकारिक क्षरप्रधान अग्न्यात्मा, इन चार आत्मपर्वों की समष्टि व्यक्ता विकृति है, यही व्यक्तात्मा है, यही अश्वत्थवृक्ष का विश्वरूप

'शुक्रम्' (शुक्रात्मसंस्था) है। इसप्रकार पूर्वपरिच्छेदोपवर्णित आठ आत्मपर्वों का ३/१, ३/२, ४/३, इस क्रम से तीन भागों में विभाजन किया जासकता है।

शुक्रप्रधान देवसत्यात्मा षोडशीपुरुष-विवर्त्त का क्षरविवर्त्त है, ब्रह्मप्रधान ब्रह्मसत्यात्मा पुरुष का अक्षर विवर्त्त है, एवं अमृतप्रधान सत्यस्य सत्यात्मलक्षण अमृतसत्यात्मा पुरुष का परात्परगर्भित अव्यय विवर्त्त है। ज्ञानतन्त्राध्यक्ष अव्यय विवर्त्त क्रियातन्त्राध्यक्ष अक्षर विवर्त्त से संश्लिष्ट है, एवं क्रियातन्त्राध्यक्ष अक्षर अर्थतन्त्राध्यक्ष क्षर विवर्त्त से संश्लिष्ट है। अक्षर से संश्लिष्ट क्षरात्मा कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा है, यही वेद के 'विधि' नामक ब्राह्मणभाग का प्रधान प्रतिपाद्य आत्मविवर्त्त है। विशुद्ध अक्षरात्मा (परस्थ अव्यय, तथा अपरस्थ क्षर, दोनों से युक्त रहता हुआ अव्ययानुगत अधिदैवत, क्षरानुगत अधिभूत धर्म्माक्रान्त बन कर) भक्तियोग की प्रतिष्ठा है, यही 'आरण्यक' नामक ब्राह्मणभाग का प्रधान प्रतिपाद्य आत्मविवर्त्त है। अव्यय से संश्लिष्ट अक्षरात्मा ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा है, यही वेद के उपनिषत् 'नामक' ब्राह्मणभाग का प्रधान प्रतिपाद्य आत्मविवर्त्त है। प्रत्यक्षतः तत्त्वविज्ञानात्मक, देवस्तुतिद्वारा तत्त्वविज्ञानात्मक, इतिहासद्वारा तत्त्वविज्ञानात्मक, ऋग्-यजुः-साम-अथर्व-संहितारूप मन्त्रात्मक विज्ञानप्रधान वेदभाग उक्त तीनों आत्मतन्त्रों की मूलप्रतिष्ठा है। इसप्रकार संहितानुगत विधि, आरण्यक, उपनिषत्, तीनों तन्त्र क्रमशः अक्षरसंश्लिष्ट क्षरात्मा, अक्षरात्मा, अक्षरसंश्लिष्ट अव्ययात्मा, इन तीन आत्मविवर्त्तों की कर्त्तव्यानुगति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। संहिताभाग ज्ञातव्य है, ब्राह्मणभाग कर्त्तव्य है। ज्ञातव्य विषय भी विज्ञान-स्तुति-इतिहास भेद से तीन हीं हैं, कर्त्तव्य विषय भी ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-भेद से तीन हीं हैं। ज्ञानात्मक कर्त्तव्य ज्ञातव्यात्मक विज्ञान से, भक्त्यात्मक कर्त्तव्य ज्ञातव्यात्मिका स्तुति से, एवं कर्म्मात्मक कर्त्तव्य ज्ञातव्यात्मक इतिहास से प्रधानरूपेण सम्बद्ध है। कर्म्मशिक्षाकौशल इतिहास से पुष्पित पल्लवित है, भक्तिशिक्षाकौशल स्तुति से, एवं ज्ञानशिक्षाकौशल विज्ञान से विकसित है। **'कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'** इत्यादिरूप से भगवान् नें भी कर्म्मयोग के सम्बन्ध में इतिवृत्त का स्मरण किया है। **'स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः'** (गी० ११।२१) इत्यादि रूप से भक्तियोग के साथ स्तुति का सम्बन्ध बतलाया है *। एवं **'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः'** इत्यादिरूप से ज्ञानयोग के साथ विज्ञान का सम्बन्ध स्वीकार किया है। वक्तव्य यही है कि, आठ आत्मपर्वों का ३ संस्थाओं में समन्वय, तीनों क्रमशः अव्ययाक्षर, अक्षर, अक्षरात्मक्षररूप, तीनों क्रमशः विज्ञान-स्तुति-इतिहासानुगत ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा, तीनों क्रमशः ज्ञान-क्रिया-अर्थ-तन्त्रात्मक, तीनों के प्रतिपादक क्रमशः संहितानुगत उपनिषत्-आरण्यक-विधि-तन्त्र, फलतः तीनों तन्त्रों की समष्टिरूप एक वेदशास्त्र, और यही विज्ञानशास्त्र का तत्त्वानुगत विश्लेषण।

वैशेषिकतन्त्र नें इतिहासानुगत, विधिभागोपवर्णित अक्षरसंश्लिष्ट क्षरात्मविवर्त्त को, प्राधानिक ने स्तुत्यनुगत आरण्यकभागोपवर्णित अक्षरात्मविवर्त्त को, एवं शारीरक ने विज्ञानानुगत उपनिषद्भागोपवर्णित अक्षरसंश्लिष्ट अव्यय को (अक्षरात्मक अव्यय को) शब्ददृष्टिद्वारा अपना प्रतिपाद्य बनाया। तीनों तन्त्रों की समष्टिरूप एक दर्शनशास्त्र का यही शब्दानुगत विश्लेषण है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

---

* ९+से १२ अध्याय पर्य्यन्त भक्तियोग का निरूपण हुआ है, इसी प्रकरण का यह उद्धरण है।

(१)

———————*

१
- १–परात्परप्रधानः–ईश्वरानुगतः–गूढोत्मा
- २–अव्ययप्रधानः–जीवानुगतः–गूढोत्मा

} ——षोडशीपुरुषः–सर्वमूलभूतममृतम् (अमृतात्मसंस्था)

(१) (सत्यस्यसत्यात्मा–ज्ञानतन्त्राध्यक्षः)

———————*

२
- ३–अक्षरप्रधानः–स्वायुम्भुवोऽव्यक्तात्मा
- ४–अक्षरप्रधानः पारमेष्ठ्यो महानात्मा

} ——अव्यक्तप्रकृतिः–विश्वमूलभूतं ब्रह्म (ब्रह्मात्मसंस्था)

(२) (ब्रह्मसत्यात्मा–क्रियातन्त्राध्यक्षः)

———————*

३
- ५–आत्मक्षरप्रधानः–सौरो विज्ञानात्मा
- ६–आत्मक्षरप्रधानः–चान्द्रः प्रज्ञानात्मा

} प्रकृतिविकृतिः

- ७–विकारक्षरप्रधानः–पार्थिवो भूतात्मा
- ८–वैकारिकक्षरप्रधानः भौमोऽन्यात्मा

} विकृतिः

} व्यक्तविकृतिः–विश्वरूपं शुक्रम् (शुक्रात्मसंस्था)

(३) (देवसत्यात्मा–अर्थतन्त्राध्यक्षः)

———————*

——*——

(२) १–अमृतात्मा (अक्षरसंश्लिष्टोऽव्ययात्मा)——ज्ञानतन्त्रं–मनोमयम् (ज्ञानयोगप्रतिष्ठा)
२–ब्रह्मात्मा (अव्ययक्षरधर्म्मानुगतोऽक्षरात्मा)–क्रियातन्त्रं प्राणमयम् (भक्तियोगप्रतिष्ठा)
३–शुक्रात्मा (अक्षरसंश्लिष्टः क्षरात्मा)——अर्थतन्त्रं वाङ्मयम् (कर्म्मयोगप्रतिष्ठा)

——*——

(३) मन्त्रसंहितानुगतः–विज्ञानसहकृतः–उपनिषद्भागः–अक्षरसंश्लिष्टाव्ययात्माधारेण ज्ञानयोगप्रतिपादकः
मन्त्रसंहितानुगतः–स्तुतिसहकृतः—आरण्यकभागः—अक्षराधारेण भक्तियोगप्रतिपादकः
मन्त्रसंहितानुगतः–ऐतिह्यसहकृतः–विधिभागः——अक्षरसंश्लिष्टक्षरात्माधारेण कर्म्मयोगप्रतिपादकः

——*——

(४) १–उपनिषत्तन्त्रम् (संहितागर्भितम्)—तदनुगतं शारीरकतन्त्रं–ज्ञानयोगप्रधानम्
२–आरण्यकतन्त्रम् (संहितागर्भितम्)—तदनुगतं प्राधानिकतन्त्रं-भक्तियोगप्रधानम्
३–विधितन्त्रम् (संहितागर्भितम्)—तदनुगतं वैशेषिकतन्त्रं–कर्म्मयोगप्रधानम्

——*——

(५)-

१-विज्ञानम्	ज्ञानम्	अक्षरात्मकः-अव्ययात्मा	उपनिषत्	शारीरकतन्त्रम्
२-स्तुतिः	भक्तिः	अक्षरात्मा	आरण्यकम्	प्राधानिकतन्त्रम्
३-इतिहासः	कर्म्म	अक्षरात्मकः-क्षरात्मा	ब्राह्मणम्	वैशेषिकतन्त्रम्
ज्ञातव्यविषयत्रयी	कर्त्तव्यविषयत्रयी	आत्मत्रयी	विज्ञानशास्त्रत्रयी	दर्शनशास्त्रत्रयी

*संहितानुगतानि त्रीणि विध्यारण्यकोपनिषद्रूपाणि तन्त्राणि, एकं वेदशास्त्रम्-तत्त्वानुगतम्
वेदशास्त्रानुगतानि त्रीणि वैशेषिक-प्राधानिक-शारीरकतन्त्राणि, एकं दर्शनशास्त्रम्-शब्दानुगतम्

(६)-

१-अक्षरभावापन्नमव्ययब्रह्म (ब्रह्मविद्या)	तत्प्रतिष्ठितो ज्ञानयोगः (योगशास्त्रम्)
२-अव्ययक्षरानुगृहीतमक्षरब्रह्म (ब्रह्मविद्या)	तत्प्रतिष्ठितो भक्तियोगः (योगशास्त्रम्)
३-अक्षरगर्भितं क्षरब्रह्म (ब्रह्मविद्या)	तत्प्रतिष्ठितः कर्म्मयोगः (योगशास्त्रम्)
सैषा ब्रह्मत्रयी, आत्मत्रयी वा,	सैषा योगत्रयी, कर्म्मत्रयी वा



१७-उपनिषदों की विद्या, और योग-

विधिभागानुगत वैशेषिकदर्शन नें अक्षरगर्भित क्षरब्रह्म का विश्लेषण किया, आरण्यकभागानुगत प्राधानिक (सौख्य) दर्शन नें अक्षरब्रह्म का प्रतिपादन किया, एवं शारीरक (वेदान्त) दर्शन नें **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** इत्यादिरूप से अक्षरात्मक अव्ययब्रह्म की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। इन तीन ब्रह्मों (आत्माओं) से क्रमशः सम्बद्ध कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-योगों का हमें शिक्षण प्राप्त हुआ, यह उक्त विवेचन से भली भाँति सिद्ध हो जाता है। उक्त विवेचन से पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि, जिस बुद्धियोग को गीता का प्रधान सिद्धान्त बतलाया जाता है, एवं जिस बुद्धियोग का आधार प्रधानतः परात्पर-प्रधान ईश्वरीय गूढोत्मा माना जाता है, उस योग, और ब्रह्म का स्पष्टतः विवेचन नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में अव्ययब्रह्म, एवं

*-देखिए गी० भू० आत्मपरीक्षा 'क' विभाग-दार्शनिक आत्मसमन्वय।

तदनुगत बुद्धियोग का प्रतिपादन करने वाला गीताशास्त्र कैसे वेदशास्त्रसम्मत बन गया ?, यह एक स्वाभाविक विप्रतिपत्ति उपस्थित हो जाती है।

विप्रतिपत्ति का निराकरण वेदशास्त्र के उपनिषद्-भाग के द्वारा ही सम्भव है। उपनिषदों में संक्षिप्त भाषा में सङ्केतरूप से अव्ययब्रह्म, एवं तदनुगत बुद्धियोग का निरूपण हुआ है। उस गुप्ततम अव्ययब्रह्म, तथा तदनुगत गुप्ततम ही बुद्धियोग को सम्पूर्ण उपनिषदों में से सारदृष्ट्या निकाल कर उसे विस्तृत रूप प्रदान करना, एवं उसे शिष्यपरम्परा के द्वारा प्रचारानुगत बनाना भगवान् का ही कर्त्तव्य है। यही कारण है कि, उपनिषदों में बीजरूप से रहती हुई भी अव्ययब्रह्मविद्या, तथा तदनुगत बुद्धियोग के प्रथमाविर्भाव का श्रेय भगवान् से ही सम्बद्ध मान लिया गया है। अतएव भगवान् विस्पष्ट शब्दों में इस ब्रह्मविद्यात्मक योग के सम्बन्ध में–'ये मे मतमिदं नित्यम्' इत्यादिरूप से ममत्त्व प्रकट कर रहे हैं। क्योंकि गीतानें औपनिषद पुरुष (अव्यय), एवं तदनुगत बुद्धियोग का गान (विस्तार) किया है, औपनिषद संक्षिप्त तत्त्व को विस्तृत रूप प्रदान किया है। अतएव यह शास्त्र **'भगवद्गीतोपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'** इस उपसंहारवचन का अधिकारी बन गया है। तत्त्व उपनिषदों का, इस दृष्टि से तो गीता वेदशास्त्रसम्मत शास्त्र। विस्तारप्रदान भगवान् का प्रातिस्विक कार्य्य, इस दृष्टि से गीता अपूर्व–विलक्षण–तथा पूर्ण शास्त्र। उपनिषदों में हीं प्रधानतः अव्यय, तदा बुद्धियोग का प्रतिपादन हुआ है। फलतः गीता का बुद्धियोग शब्द उपनिषदों के प्रामाण्य पर ही अवलम्बित बन रहा है। कुछ एक औपनिषद्वचन ऐसे उपस्थित किए जा रहे हैं, जिनसे स्पष्टतः अव्ययब्रह्म, एवं तदनुगत बुद्धियोग का समर्थन हो रहा है।

अव्ययब्रह्मसमर्थक वचन—

१–"यजूदरः सामशिरा असावृङ्मूर्त्तिरव्ययः।
स ब्रह्मेति हि विज्ञेय ऋषिर्ब्रह्ममयो महानिति॥"

—कौ० ब्रा० उप० १।७।

२–"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥"

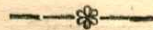
—कठो० १।३।१५।

३–"गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्म्माणि, विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥"

—मुण्डक ३।२।७।

४–"यत्तत्–अद्रेश्यं, अग्राह्यं, अगोत्रं, अवर्णं, अचक्षुःश्रोत्रं, तदपाणिपादं,
नित्यं, विभुं, सर्वगतं, सुसूक्ष्मं, तदव्ययम्—
तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः"

—मुण्डक १।१।६।



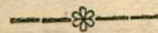
बुद्धियोगसमर्थक वचन—

१–आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
—कठ० १।३।३।

२–यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥
—कठ० १।३।८।

३–एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
—कठ० १।३।१२।

४–यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥
—श्वेता० ३।४।



वेद का मन्त्रभाग विज्ञान–स्तुति–इतिहास–परक है, अतएव उसमें कर्त्तव्ययोगलक्षण बुद्धियोगस्वरूप अश्रुत है। वेद के ब्राह्मणात्मक विधिभाग, तथा आरण्यकभागों में क्षराक्षरात्माओं का प्राधान्य है, अतएव इनमें भी गीता के बुद्धियोग का मूल अनुपलब्धवत् है। वेद के उपनिषत्–भाग में अवश्य ही अव्ययब्रह्म, एवं तदनुगत बुद्धियोग का उल्लेख प्राप्त है। गीता इस औपनिषद तत्त्व का ही विस्तार से प्रतिपादन कर रही है। अतएव यह 'भगवद्गीतसंहितासु,–भगवद्गीतब्राह्मणेषु–आरण्यकेषु' न कहला कर 'भगवद्गीतोपनिषत्सु' इस उपनिषत्–नाम से ही प्रसिद्ध हुई है। एवं इसी दृष्टि से (वेद के उपनिषत् भाग की दृष्टि से) गीता अवश्यमेव वेदशास्त्रमूलक अपूर्व शास्त्र है। यही पूर्वविप्रतिपत्ति का संक्षिप्त निराकरण है, जिस निराकरण से एक नवीन विप्रतिपत्ति हमारे सामने और उपस्थित हो रही है।

१८–पूर्वापरविरोधनिराकरण—

'योगचतुष्टयी का तात्त्विक स्वरूप' नामक पूर्व स्तम्भ में यह स्पष्ट किया गया है कि, परात्पर-प्रधान ईश्वरानुगत गूढोत्मा बुद्धियोगात्मिका बुद्धियोगचतुष्टयी का, अव्ययप्रधान जीवानुगत गूढोत्मा ज्ञानयोगात्मिका ज्ञानयोगचतुष्टयी का, अक्षरप्रधान अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मा भक्तियोगात्मिका भक्तियोग-चतुष्टयी का, एवं आत्मक्षरप्रधान विज्ञानात्मगर्भित प्रज्ञानात्मा कर्म्मयोगात्मिका कर्म्मयोगचतुष्टयी का मूल-लक्ष्यात्मक साध्य बनता है। चारों के साधक क्रमशः आनन्दविज्ञानमनःप्रधान भूतात्मा, प्राज्ञप्रधान भूतात्मा, तैजसप्रधान भूतात्मा, एवं वैश्वानरप्रधान भूतात्मा बनते हैं। इस स्पष्टीकरण के अनुसार गीताप्रतिपादित बुद्धियोग का तो परात्पर से, ज्ञानयोग का अव्यय से, भक्तियोग का अक्षर से, एवं कर्म्मयोग का क्षर से ही

सम्बन्ध सिद्ध हो रहा है । प्रकृत में यह कहा जा रहा है कि, बुद्धि–ज्ञान–भक्ति–कर्म्म, चारों योगों का क्रमशः अव्यय, अक्षरात्मक अव्यय, अक्षर, क्षर, से सम्बन्ध है । इस कथन से पूर्व स्पष्टीकरण के क्षरप्रधान कर्म्मयोग, अक्षरप्रधान भक्तियोग, ये दो योग तो निर्विरोध समन्वित हो रहे हैं। परन्तु वहाँ बुद्धि–ज्ञानयोग–द्वयी का परात्पर, अव्यय से सम्बन्ध बतलाना, और यहाँ इनका अव्यय–अक्षर से सम्बन्ध बतलाना विरोधी बन रहा है । यही एक प्रासङ्गिक विप्रतिपत्ति और है, जिसका निराकरण भी आवश्यक है ।

परात्पर तत्त्व वास्तव में विश्वातीत तत्त्व है । उस अमायी, विश्वातीत, व्यापक परात्पर का, जो गीता में 'शाश्वतधर्म्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, जो उपनिषदों में अखण्ड, निराकार, अमूर्त्त, आदि लक्षणों के द्वारा अनिर्वचनीय घोषित हुआ है । शास्त्रानधिकृत–अतद्व्यावृत्त–मायातीत–उस परात्पर का 'आत्मन्वी' रूप 'प्रजापति' भाव से अणुमात्र भी सम्पर्क नहीं है । योग का आधार 'प्रजापति' बनता है, प्रजापति आत्मन्वी ही कहलाया है, एवं उसके आत्मा–प्राण–पशु–लक्षण उक्थ–अर्क–अशीति, ये तीन कलाविभाग आवश्यकरूप से अनिवार्य्य बनते हैं । कलाविभाग योगमाया–सापेक्ष है । क्योंकि खण्डभाव ही कलाभाव है, एवं यह खण्डप्रवृत्ति योगमाया के सम्बन्ध पर ही निर्भर है । योगमाया महामायोदय के अनन्तर प्रादुर्भूत होती है । जबकि विश्वातीत परात्पर महामाया से भी अतीत है, तो उसमें योगमायानुबन्धी कलाभाव का समावेश कैसे सम्भव हो सकता है । जब कलाभाव नहीं, तो प्रजापतिभाव नहीं । प्रजापतिभाव नहीं, तो आत्मन्वीभाव नहीं । फलतः मायातीत परात्परतत्त्व का योगातीतत्त्व भलीभाँति सिद्ध हो जाता है । इस दृष्टि से एवंविध मायातीत परात्पर को किसी भी योग का साध्य नहीं माना जा सकता ।

मायातीत परात्पर का यत्किञ्चित् वह प्रदेश, जिसमें मितिभाव (सीमाभाव) प्रवर्त्तक मायाबल का उदय हो जाता है, सीमित बनता हुआ 'मायी' कहलाने लगता है । अभी कलाभाव का उदय नहीं हुआ है, केवल महामाया का उदय हुआ है । इस प्राथमिक अवस्था को ही हमनें 'परात्पर' नाम से व्यवहृत कर दिया है । क्योंकि जब तक योगमाया के द्वारा कलापरिग्रह का उदय नहीं हो जाता, तब तक महामायोदय हो जाने पर भी उस मायीतत्त्व में कलात्मक वैविध्य का समावेश नही होने पाता । अतएव यह मायीतत्त्व उस अमायी निष्कल परात्पर से समतुलित माना जा सकता है, माना गया है । मायायुक्त, किन्तु योगमायाविमुक्त, अतएव निष्कल, अतएव विविधभावरहित, अतएव मायातीत–निष्कल परात्परतत्त्व से समतुलित इस तत्त्व को **'अव्यय'** कहा गया है । मायापुर के सम्बन्ध से यही **'पुरुष'** कहलाया है । यह अव्ययपुरुष अपनी निष्कलता से उस मायातीत परात्पर से समतुलित है, अतएव श्रुति ने–**'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्'** इत्यादिरूप से इसे 'पुरुष' कहने के साथ साथ ही परात्पर नाम से भी व्यवहृत कर दिया है । तत्त्वदृष्ट्या यह पुरुष वस्तुतः यद्यपि 'पर' नामक अव्यय ही है । तथापि अपनी प्रारम्भिक निष्कलता से यह परात्परसम बना हुआ है। पूर्वपरिच्छेद में जिस परात्पर को हमनें बुद्धियोग का लक्ष्य बतलाया था, वह परात्पर यह मायावच्छिन्न निष्कल अव्ययपुरुष ही है । इसप्रकार वहाँ परात्पर को बुद्धियोगानुगत बतलाना, और यहाँ अव्यय को बुद्धियोगानुगत बतलाना, निर्विरोध समन्वित हो जाता है ।

अब ज्ञानयोगानुगत अव्यय का समन्वय कीजिए । मायी अव्यय (परात्परलक्षण निष्कल अव्यय) का हृ–द–यम्–लक्षण हृदयबल ही 'प्रकृति' कहलाया है, जो मायोदय के अव्यवहितोत्तरकाल में ही उद्भूत

होता हुआ-'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि' को चरितार्थ कर रहा है। हृदयबलात्मिका यही प्रकृति तान्त्रिकों की योगमाया है, वैज्ञानिकों का अक्षरतत्त्व है, दार्शनिकों का 'चेतना' तत्त्व है। इस चेतना-लक्षणा प्रकृति के बलगर्भित रसप्रधान, रसगर्भित बलप्रधान भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। बलगर्भित-रसप्रधाना वही प्रकृति अमृता प्रकृति है, यही अव्यक्त अक्षर है। रसगर्भित-बलप्रधाना वही प्रकृति मर्त्या प्रकृति है, यही व्यक्त आत्मक्षर है। आत्मक्षरगर्भित अव्यक्त अक्षर के व्यापार से उस महामायी निष्कल अव्यय पर रस-बल की चितियाँ होतीं हैं। इस चितिभाव से वह निष्कल अव्यय आनन्द-विज्ञान-अन्तर्मन, बहिर्मन-प्राण-वाक्-इन कलाभावों में परिणत हो जाता है। आनन्दविज्ञानमनोमय वही अव्यय विद्याव्यय कहलाया है, मनःप्राणवाङ्मय वही अव्यय कर्म्माव्यय कहलाया है। विद्याव्यय निष्कल अव्यय से समतुलित है, कर्म्माव्यय योगमायात्मक अक्षर से समतुलित है। अतएव इस सृष्टिसाक्षी कर्म्माव्यय को हम अवश्य ही अक्षरात्मक कह सकते हैं। यही अक्षरात्मक अव्यय-'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां-जीवभूतां, महाबाहो! ययेदं धार्य्यते जगत्' सिद्धान्तानुसार जीवानुगत गूढोत्मा की मूलप्रतिष्ठा बनता है। परात्परसमतुलित-आनन्दविज्ञानमनोमय विद्याव्ययाभिन्न निष्कल अव्यय ईश्वरानुगत गूढोत्मा है, यही बुद्धियोगप्रतिष्ठा बनता है। मनःप्राणवाङ्मय-कर्म्माव्यय से समतुलित मनःप्राणवाङ्मय अक्षर जीवानुगत गूढोत्मा है, यही ज्ञानयोगप्रतिष्ठा-तत्त्व है।

आनन्दविज्ञानमनोमय विद्याव्यय जहाँ अज है, वहाँ मनःप्राणवाङ्मय कर्म्माव्यय जीवभूता योगामायात्मिका अक्षरप्रकृति के द्वारा जन्मानुगत बनता हुआ-'जन्माद्यस्य यतः' को सार्थक बना रहा है *। परात्परसमतुलित निष्कल महामायी का अवतार असम्भव है। अवतार होता है अक्षरात्मक सकल मनःप्राणवाङ्मय योगमायावच्छिन्न अव्यय का, जैसा कि-'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः', 'वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः (रासपञ्चाध्यायी) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। इसप्रकार वहाँ जीवानुगत अव्यय को ज्ञानयोगानुगत बतलाना, एवं यहाँ अक्षरसंश्लिष्ट अव्यय को ज्ञानयोगानुगत बतलाना निर्विरोध सुसपन्वित होजाता है।

१९-बुद्धियोगप्रतिष्ठाभूमि (१)—

(१) अब एक अन्यदृष्टि से योगचतुष्टयी के चारों साध्यों का स्वरूप पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जाता है, जिससे सर्वविध पूर्वापरविरोधों का आत्यन्तिक उन्मूलन होजायगा। बुद्धि-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म, चारों योगों के सम्बन्ध में इस परिभाषा को सदा लक्ष्य में रखिए कि, जिस योग में आधिदैविक-आध्यात्मिक-आधिभौतिक, तीनों साधन हों, एवं तीनों हीं साध्य हों, वही सर्वसाध्य-सर्वसाधनलक्षण सर्वयोग 'बुद्धियोग' है। जिस योग में आधिदैविक ही साध्य हो, आधिदैविक ही साधन हों, वह आधिदैविक '**ज्ञानयोग**' है। जिस योग में साध्य आधिदैविक हो, साधन आधिदैविक हों, वह आधिदैविकाधिभौतिक योग '**भक्तियोग**' है। एवं जिस योग में साधन-साध्य, दोनों आधिभौतिक हों, वह आधिभौतिक योग '**कर्म्मयोग**' है। चारों में प्रथम

---

*-अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
गीता ४।६।

गीतायोग है, शेष तीनों योग लोकनिष्ठात्मक हैं, जिनका क्रमशः कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-योगपरीक्षाखण्डों विस्तार से उपबृंहण हुआ है। सर्वात्मक (दैविक, आत्मिक भौतिक) वही तत्त्व हो सकता है, जो विश्वव्यापक हो। विश्वव्यापक है-परात्परसमतुलित ईश्वरानुगत षोडशीपुरुष, जिसके महामायावच्छिन्न अर्द्धमात्रिक परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, ये चार पर्व मानें गए हैं। आत्मक्षरपर्व से यह ईश्वर भौतिकप्रपञ्च में, अक्षर पर्व से आत्मिक प्रपञ्च में, आनन्दविज्ञानमनोमय अव्यय पर्व से दैविकप्रपञ्च में, एवं तदभिन्न परात्पररूप मायी निष्कल अव्ययपर्व से सर्वप्रपञ्च में व्याप्त हो रहा है। चारों पर्व ही यद्यपि ईश्वराव्ययानुगत बनते हुए बुद्धि-योगानुगत हैं, तथापि ४ में से पूर्ण सर्वता परात्परलक्षण निष्कल अव्ययपर्व से ही सम्बद्ध है। इसप्रकार परात्परसमतुलित निष्कल अव्यय का विभूतिरूप निष्कल अव्यय (परात्पर), आनन्दविज्ञानमनोमय विद्याव्यय, मनःप्राणवाङ्मय अक्षर, वाक्-आपः-अग्नि-मय आत्मक्षर, इन ईश्वरानुगत गूढोत्मा अव्यय के चार पर्वों से क्रमशः वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य्य-धर्म्म-लक्षण चारों बुद्धियोग समतुलित हैं। यही सर्वसाधन-सर्वसाध्यरूपा गीता-प्रतिपादिता पहिली बुद्धियोगात्मिका बुद्धियोगचतुष्टयी है। चारों हीं सहजबुद्धि से सम्बन्ध रखते हुए निष्कामयोग हैं। इसे ही हम **'ईश्वरयोगचतुष्टयी'** नाम से व्यवहृत करेंगे, जो सर्वथा अबन्धनलक्षणा बनती हुई परम-पुरुषार्थसाधिका मानी गई है। परात्परात्मक अव्यय, अव्ययात्मक अव्यय, अक्षरात्मक अव्यय, आत्मक्षरात्मक-अव्ययरूप से चारों ईश्वरयोगों का साध्य तत्त्वतः सर्वरूप ईश्वरानुगत परात्परसमतुलित अव्यय ही बना हुआ है, जिसका चतुर्विध विद्याबुद्धियों से क्रमिक सम्बन्ध है।

(१)-परात्परसमतुलित-निष्कलाव्ययानुगत-ईश्वरीयगूढोत्मानुगता योगचतुष्टयी प्रथमा-- (बुद्धियोगचतुष्टयी)

१—परात्परात्मकोऽव्ययः--निष्कलः————वैराग्यबुद्धियोगानुगतः (सर्वम्)————सिद्धान्तभूता-बुद्धिनिष्ठा

२—अव्ययात्मकोऽव्ययः——आनन्दविज्ञानमयः—ज्ञानबुद्धियोगानुगतः (मनः) —आनन्दात्मकम् (संशोधिता सांख्यनिष्ठा)

३—अक्षरात्मकोऽव्ययः ———मनःप्राणवाङ्मयः—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगतः (प्राणः)—विज्ञानात्मकः (सं० भक्तिनिष्ठा)

४—आत्मक्षरात्मकोऽव्ययः ——वागापोऽग्निमयः——धर्म्मबुद्धियोगानुगतः (वाक्)— अन्तर्म्मनोमयी (सं०कर्म्मनिष्ठा)

——*——

२०—ज्ञानयोगप्रतिष्ठाभूमि (२)—

(२) जिस प्रकार अव्यय पारिभाषिक दृष्टि से दैविक आत्मिक-भौतिक-समष्टिरूप 'सर्वम्' है, एवमेव-मनः-प्राणवाङ्मय कर्म्माव्ययगर्भित अक्षर 'आधिदैविक' तत्त्व है। इस अव्ययात्मक अक्षर की भी चार ही संस्थाएँ हैं। मनःप्राणवाङ्मय अव्ययानुगत समष्टिलक्षण अक्षर 'सर्वम्' की प्रतिच्छाया से युक्त बनता हुआ मनःप्राण-वाङ्मय है। इसी समष्टयक्षर को सर्वज्ञ (ज्ञानमय), सर्वशक्ति (क्रियामय), सर्ववित् (अर्थमय) माना गया है। इसी सर्वमूर्त्ति समष्ट्यक्षर से प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्म, ज्योतिर्लक्षण नामरूप, एवं यज्ञलक्षण अन्न, इन तीन भावों

से युक्त सृष्टिसर्जन हुआ है ×। मनःप्राणवाङ्मय, अतएव सर्वरूप यही समष्टयक्षर ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग की प्रतिष्ठा बनता है। मनोमय, व्यष्टिलक्षण अक्षर मनोमय अव्यय से अनुगृहीत रहता हुआ आधिदैविक है। तदनुगत योग आधिदैविक साध्यसाधनत्वेन ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग है। प्राणमय, व्यष्टिलक्षण अक्षर प्राणमय अक्षरप्रधान बनता हुआ मध्यस्थ होने से पूर्वस्थानीय मनोमय अव्यय के आधिदैविक धर्म्म से, परस्थानीय क्षर के आधिभौतिक धर्म्म से, दोनों से आक्रान्त रहता हुआ आधिदैविकाधिभौतिकोभयमूर्त्ति है। अतएव यह उभय-भावानुगत ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग की प्रतिष्ठा है। वाङ्मय व्यष्टिलक्षण अक्षर वाङ्मय आत्मक्षर बनता हुआ आधिभौतिक है। तदनुगत योग आधिभौतिक साध्य-साधनत्त्वेन ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग है। चारों योगों में प्रधान लक्ष्य अव्ययात्मक अक्षर है, इसलिए तो चारों ज्ञानयोग हैं। साथ ही चारों क्रमशः सर्व, देव, देवभूत, भूत-लक्षण अव्यय-अव्ययानुगत अक्षर-अक्षर-क्षरात्मक बनते हुए बुद्धि-ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोग हैं। इसप्रकार अव्ययानुगत आधिदैविक अक्षरलक्ष्य से ज्ञानयोगचतुष्टयी प्रतिष्ठित है, जिस चतुष्टयी का सर्वानुगत बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग ही शास्त्रीय ज्ञानयोग (सांख्यनिष्ठा) माना गया है—जिसका संशोधितरूप ही ज्ञानबुद्धियोग है।

(२)-अव्ययसमतुलित-कर्म्माव्ययानुगत-जैवगूढोत्मानुगता योगचतुष्टयी द्वितीया—

(ज्ञानयोग[२]चतुष्टयी)

२	१-अव्ययात्मकोऽक्षरः-कर्म्माव्ययात्मकोऽक्षरः	(सर्वम्)-ज्ञानयोगात्मको बुद्धियोगः			]-सांख्यनिष्ठा
	२-मनोमयोऽक्षरः——मनोमयाव्ययात्मकोऽक्षरः	(दैविकः)-	,,	ज्ञानयोगः	व्यवहारनिष्ठात्रयी
	३-प्राणमयोऽक्षरः——प्राणमयाक्षरात्मकोऽक्षरः	(उभयः)-	,,	भक्तियोगः	
	४-वाङ्मयोऽक्षरः ——वाङ्मयात्मक्षरात्मकोऽक्षरः	(भौतिकः)	,,	कर्म्मयोगः	

—○:○:○—

२१-भक्तियोगप्रतिष्ठाभूमि—(३)

(३) परिभाषादृष्ट्या अक्षरगर्भित आत्मक्षर दैविक, एवं भौतिक है। अतएव इसे भक्तियोगानुगत माना जा सकता है। इसके भी अवान्तर चार ही योग हो जाते हैं। मनःप्राणवाङ्मय अक्षरानुगत वाक्-आपः-अग्नि-मूर्त्ति समष्टिलक्षण आत्मक्षर 'सर्व' छाया से युक्त बनता हुआ भक्तियोगात्मक बुद्धियोग का साध्य है। मनोमय-अक्षरानुगत व्यष्टिलक्षण वाग्रूप आत्मक्षर आधिदैविक-मनस्त्वेन भक्तियोगात्मक ज्ञानयोग का साध्य बन रहा है। प्राणमय-अक्षरानुगत व्यष्टिलक्षण आपोरूप मध्यस्थ आत्मक्षर पूर्वस्थानीय वागनुगत दैविक आत्मक्षर से, परःस्थानीय अग्न्यनुगत भौतिक आत्मक्षर से उभयात्मक बनता हुआ भक्तियोगात्मक भक्तियोग का साध्य बन रहा है। एवं वाङ्मय अक्षरानुगत व्यष्टिलक्षण अग्निरूप आत्मक्षर आधिभौतिकत्वेन भक्तियोगात्मक कर्म्मयोग का साध्य बना हुआ है। अक्षरात्मक क्षरधर्म्मत्त्वेन यह योगचतुष्टयी जहाँ अक्षरानुगत दैविक, क्षरानुगत भौतिक-भेदेन उभयधर्म्माक्रान्ता बनती हुई भक्तियोगचतुष्टयी कहला रही है, वहाँ समष्टि, व्यष्टि-भावानुगत सर्व, दैविक,

---

×-यः सर्वज्ञः सर्ववित्-यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म-नामरूप-मन्नं च जायते ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।९।

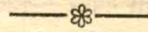
उभय, भौतिक-भावानुगति से इस भक्तियोगचतुष्टयी के चारों योग क्रमशः बुद्धि-ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोग-नामों से व्यवहृत हो रहे हैं। चारों में से सर्वानुगत बुद्धियोगात्मक भक्तियोग ही शास्त्रीय भक्तियोग (उभयनिष्ठा) माना गया है, जिसका संशोधितरूप 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' है।

(३)-अक्षरसमतुलित-अव्यक्तगर्भित-महानात्मानुगता योगचतुष्टयी तृतीया-

३

(भक्तियोगचतुष्टयी)

१-सर्वरूपः क्षरः-अव्यक्ताक्षरात्मकः-आत्मक्षरः(सर्वम्)-भक्तियोगात्मको		बुद्धियोगः	} उभयनिष्ठा
२-वाग्रूपः क्षरः-मनोमयाक्षरात्मकः-आत्मक्षरः(दैविकः)	,,	ज्ञानयोगः	व्यवहार-निष्ठात्रयी
३-आपोरूपः क्षरः-प्राणमयाक्षरात्मकः-आत्मक्षरः(उभयः)	,,	भक्तियोगः	
४-अग्निरूपः क्षरः-वाङ्मयाक्षरात्मकः-आत्मक्षरः(भौतिकः)	,,	कर्म्मयोगः	



२२-कर्म्मयोगप्रतिष्ठाभूमि—(४)

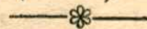
(४) आत्मक्षरगर्भित विकारक्षर भौतिक तत्त्व है। अतएव इसे कर्म्मयोगानुगत माना जायगा। एवं इसके भी अवान्तर चार ही विवर्त्त मानें जायँगे। वाक्-आपः-अग्नि-रूप आत्मक्षर से अनुगत वाक्-आपः-अग्नि-मय समष्टिलक्षण विकारक्षर सर्वात्मक बनता हुआ कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग का साध्य है। वाग्रूप आत्मक्षरानुगत-व्यष्टिलक्षण वाङ्मय विकारक्षर आधिदैविकत्वेन कर्म्मयोगात्मक ज्ञानयोग का साध्य है। आपोरूप आत्मक्षरानुगत व्यष्टिलक्षण-आपोमय विकारक्षर पूर्वस्थानीय वागनुगत दैविक से, परःस्थानीय अग्न्यनुगत भौतिक से उभयात्मक बनता हुआ कर्म्मयोगात्मक भक्तियोग का साध्य माना गया है। एवं अग्निरूप आत्मक्षरानुगत-व्यष्टिलक्षण-अग्निमय विकारक्षर आधिभौतिकत्वेन कर्म्मयोगात्मक कर्म्मयोग का साध्य माना गया है। आत्मक्षरात्मक विकारधर्म्म से यह योगचतुष्टयी जहाँ आत्मक्षरानुगत भौतिक, विकारक्षरानुगत भौतिकत्वेन कर्म्मयोगचतुष्टयी कहला रही है, वहाँ समष्टि, व्यष्टि-भावानुगति से इसके अवान्तर चार योग क्रमशः बुद्धि-ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोग नामों से व्यवहृत हो रहे हैं। चारों में से सर्वानुगत बुद्धियोगात्मक कर्म्मयोग ही (वैदिक काम्यकर्म्मयोग ही) शास्त्रीय योगनिष्ठा मानी गई है, जिसका संशोधितरूप धर्म्मबुद्धियोग माना गया है।

(४)-आत्मक्षरसमतुलित-विज्ञानात्मगर्भित-प्रज्ञानात्मानुगता योगचतुष्टयी चतुर्थी-

४

(कर्म्मयोगचतुष्टयी)

१-सर्वरूपो विकारक्षरः-आत्मक्षरात्मकः (सर्वम्) कर्म्मयोगात्मको		बुद्धियोगः	} योगनिष्ठा
२-वाङ्मयो विकारक्षरः-वागरूपक्षरात्मकः (दैवः)	,,	ज्ञानयोगः	च्युतनिष्ठात्रयी
३-आपोमयो विकारक्षरः-आपोरूपक्षरात्मकः(उभयः)	,,	भक्तियोगः	
४-अग्निमयो विकारक्षरः-अग्निरूपक्षरात्मकः(भौतिकः)	,,	कर्म्मयोगः	



२३–मनःप्राणवाक् का त्रिवृद्भाव, और आत्मसंस्था-विभाजन—

उक्त वर्गीकरण के सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति और उपस्थित की जा सकती है। वर्गीकरण काल्पनिक है, अथवा प्रामाणिक ?। निराकरण इसलिए कठिन हो रहा है कि, विज्ञानदृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला एवंविध वर्गीकरण आज शास्त्रज्ञ विद्वानों के लिए भी एक जटिल समस्या बन सकता है। कारण–जिस पारिभाषिक–विज्ञानानुगत–वैदिकतत्त्व के आधार पर वर्गीकरण प्रतिष्ठित है, वह तत्त्ववाद आज सर्वथा विलुप्त है। फिर भी परितोष के लिए इस सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना समीचीन प्रतीत होता है। 'ब्रह्म वै त्रिवृत्' (ताण्ड्यमहाब्रा०२।१६।४।) इस अनुगमश्रुति के अनुसार प्रजापतिलक्षण आत्मब्रह्म त्रिवृत् माना गया है। 'तीन संख्या का त्रिगुणन' ही त्रिवृद्भाव है। **'आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयम्'** (शत०१४।४।४।३।) के अनुसार सृष्टि से पूर्व एकाकी रहने वाला आत्मब्रह्म सृष्टिदशा में त्रिपर्वा बन जाता है। आत्मतत्त्व के वे तीनों पर्व क्रमशः **'ज्ञान, क्रिया, अर्थ'** इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। तीनों शक्तिपुञ्जों के क्रमशः **'मनः, प्राण, वाक्'** ये तीन नाम रख लिए गए हैं, जैसाकि **'स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयो, मनोमयः'** (बृ०उपनिषत्) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। तीनों नाम अनुगमभावापन्न हैं। अतएव ज्ञानप्रधान यच्चयावत् तत्त्व मनो नाम से, क्रियाप्रधान यच्चयावत् तत्त्व प्राण नाम से, एवं अर्थप्रधान यच्चयावत् तत्त्व वाक् नाम से व्यवहृत हुए हैं। 'आत्मब्रह्म के इन तीन पर्वों का त्रिरावर्त्तन' ही त्रिवृत्–शब्दार्थ है, जिसका पर्य्यवसान ९ संख्या पर विश्रान्त है। इस परिभाषा को लक्ष्य बना कर ही उक्त वर्गीकरण की प्रामाणिकता का समन्वय कीजिए।

महामायावच्छिन्न निष्कल अव्यय सृष्टि से पूर्वावस्था में स्थित एक आत्मब्रह्म है, जैसाकि–**'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास'** इत्यादि ऋग्वर्णन से प्रमाणित है। इस एक का योगमाया के सम्बन्ध से त्रिधा व्याकरण हुआ, एक तीन विवर्त्तभावों में परिणत हुआ। वे ही आरम्भ के तीनों रूप क्रमशः आनन्द, विज्ञान, मन, नाम से व्यवहृत हुए, जिन्हें क्रमशः ज्ञान–क्रिया–अर्थ–प्रधान होने से हम मनः–प्राण–वाक् नामों से व्यवहृत करेंगे। यही आत्मब्रह्म का पहिला मनःप्राणवाक्तन्त्र माना जायगा। मनोरूप वाक्-नामक तीसरे पर्व का पुनः त्रिधा व्याकरण हुआ, वाक्स्थानीय मन तीन भावों में परिणत हो गया, यही आत्मब्रह्म का दूसरा मनःप्राण-वाङ्मय तन्त्र माना गया। वाक् नामक तीसरे पर्व का पुनः व्याकरण हुआ, वाक्तत्त्व वाक्–आपः–अग्नि–रूप से तीन भागों में विभक्त हो गया, जिसे पूर्वपरिभाषानुसार हम मनः–प्राण–वाक्-नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। इसप्रकार एक ही निष्कल अव्ययब्रह्म रसबलचिति के तारतम्य से तीन विवर्त्तभावों में परिणत होता हुआ मनःप्राणवाग्रूप ज्ञानक्रियार्थभावों के स्वाभाविक त्रिवृत्करण से ९ भावों में परिणत हो गया, जो त्रिवृद्भाव–**'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि'** (छां०उप०६।३।३।) इत्यादि श्रुतिरहस्यज्ञ विद्वानों के लिए सर्वथा परिज्ञात ही माना जायगा।

एक तत्त्व सर्वप्रथम तीन सर्गों का प्रवर्त्तक बना, तीनों को उत्पन्न कर **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** सिद्धान्तानुसार उन तीनों सर्गों में प्रविष्ट होगया। तीनों सर्ग उसका शरीर कहलाया, वह स्वयं इस शरीरगुहा में प्रविष्ट आत्मा कहलाया–**'आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्'**। आत्मा, और शरीर दोनों की समष्टि ही आत्मन्वी प्रजापति नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका तुरीय आत्मपर्व अमृतमात्रा कहलाई, शेष तीनों पर्व **'तिस्रो**

मात्रा मृत्युमत्य: प्रयुक्ताः' के अनुसार मृत्युमात्रा कहलाईं। शरीरस्थानीया तीनों मात्राएँ क्रमशः कारणशरीर-सूक्ष्मशरीर-स्थूलशरीर बने, आत्मतत्त्व सर्वान्तरतम बनता हुआ गूढोत्मा कहलाया। और यहाँ आकर **'तस्य वाचकः प्रणवः'** यह योगराद्धान्त चरितार्थ हुआ। समष्टि एक पर्व, व्यष्टि तीन पर्व, चार पर्व हो गए। क्योंकि समष्टि अवारपारीणा है, अतएव उसे स्वतन्त्र न मान कर श्रुति ने **'एकः सन्नेतत् त्रयम्'** सिद्धान्त स्थापित कर दिया। यदि वस्तुगत्या पर्वान्वेषण किया जायगा तो, एक मूल, तीन तूल पर्व, इसप्रकार प्रत्येक प्राजापत्यसंस्था के चार विभाग मानने पड़ेंगे। इसी आधार पर श्रुति का **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** यह सिद्धान्त स्थापित हुआ। पूर्व पूर्व प्रजापति समष्टिरूप से उत्तरोत्तर की प्राजापत्यसंस्था का मूल आत्मा बनता है, जैसा कि-**'तस्यैष एव शारीर आत्मा-यः पूर्वस्य'** (तैत्तिरीयोपनिषत्) इत्यादि से स्पष्ट है। इस क्रम से तीन प्राजापत्य संस्थाएँ होनीं चाहिएं थीं, परन्तु कारणविशेष से चार संस्था होजातीं हैं।

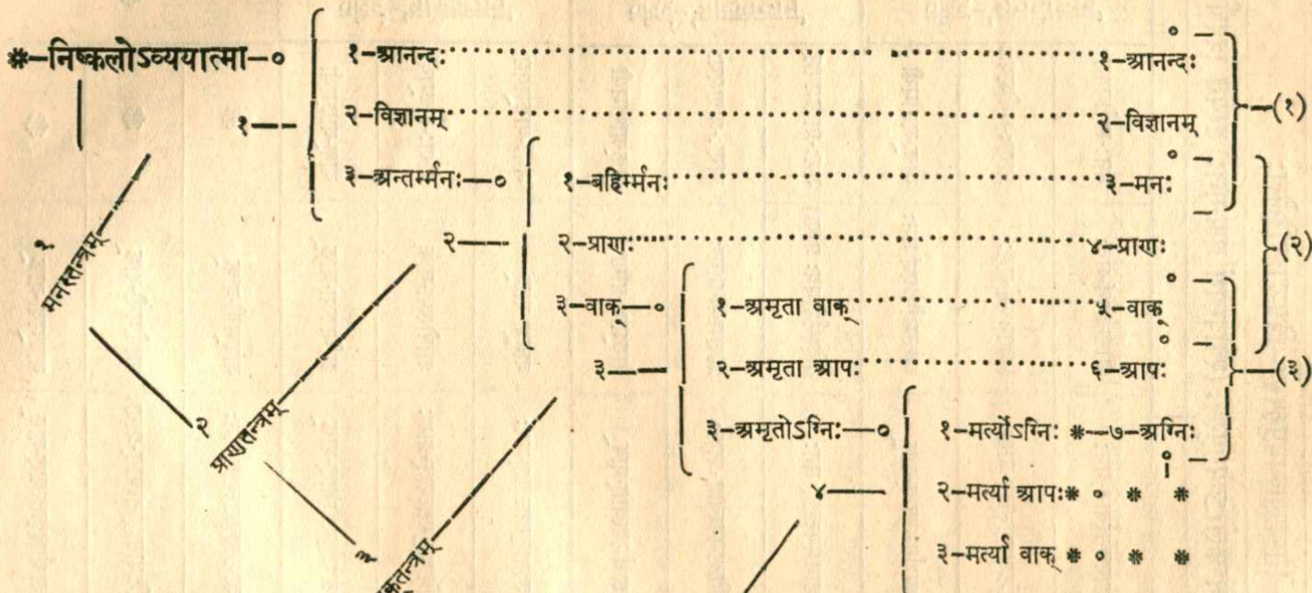
वाक्-आपः-अग्नि-समष्टि 'शुक्र' है। यह अमृत-मर्त्य भेद से द्विधा विभक्त माना गया है। शुक्र ही सृष्टि का सृष्टरूप है। स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य, तीनों क्रमशः अमृत-वाक्, आपः, अग्निरूप हैं। एवं अधोऽवस्थित सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, तीनों क्रमशः मर्त्य-अग्निः, आपः, वाक् हैं। यही विश्व का स्वरूप है। सूर्य्य मध्यस्थ रहने से उभयात्मक है-**'निवेशयन्नमृतं, मर्त्यञ्च'**। इसप्रकार अमृतशुक्रत्रयी, मर्त्यशुक्रत्रयी, भेद से वाक्- आपः-अग्नि-पर्वत्रयात्मिका तृतीय संस्था के दो विवर्त्त हो जाते हैं। फलतः तीन के चार विवर्त्त होजाते हैं। यहाँ भी **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** अनुगमवचन समन्वित होरहा है। **'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्'** इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार वह एक निष्कल ही इस सर्वरूप में परिणत होरहा है। यही निष्कलाव्ययानुगता प्रथमा प्राजापत्यसंस्था की सर्वरूपता है, पूर्णता है, जिसके सम्बन्ध से बुद्धियोग सर्वात्मक बना हुआ है। चारों संस्थाएँ क्रमशः अमृत, ब्रह्म, देव, भूत-प्रधाना बनतीं हुईं क्रमशः बुद्धि-ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोग-चतुष्टयी की प्रतिष्ठा बन रहीं हैं। अमृतात्मा निष्कल अव्ययप्रधान है। इसके चारों पर्व क्रमशः निष्कल अव्यय, आनन्द, विज्ञान, मन हैं। ब्रह्मात्मा सकलाव्ययगर्भित अक्षरप्रधान है। इसके चारों पर्व अव्यय, मन, प्राण, वाक् हैं। देवात्मा अक्षरगर्भित आत्मक्षरप्रधान है। इसके चारों पर्व अक्षर, अमृता वाक्, अमृता आपः, अमृताग्नि हैं। भूतात्मा आत्मक्षरगर्भित विकारक्षरप्रधान हैं। इसके चारों पर्व आत्मक्षर, मर्त्या वाक्, मर्त्या आपः, मर्त्य अग्नि हैं। निष्कलाव्ययानुगत अमृतात्मा ईश्वरीय गूढोत्मा है, सकलाव्ययगर्भिताक्षरानुगत ब्रह्मात्मा जैवगूढोत्मा है, अक्षरगर्भित आत्मक्षरानुगत दैवात्मा अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मा है। आत्मक्षरगर्भित विकारक्षरानुगत भूतात्मा विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा है। इसप्रकार पूर्वपरिच्छेदोपवर्णित आठों आत्मपर्वों में से सात आत्मपर्वों का भी इसी विभागचतुष्टयी में अन्तर्भाव होजाता है। केवल वैकारिक अग्न्यात्मसंस्था शेष रहती है, जिसे स्वतन्त्र प्रजापति नहीं माना जासकता। जिस प्रकार विश्वातीत परात्पर केवल 'आत्म' तत्त्व होने से प्रजापति नहीं है, एवमेव सर्वान्तभूत वैकारिकाग्नि केवल 'शरीर' तत्त्व होने से प्रजापति नहीं माना जासकता। यही वह नवीन दृष्टिकोण है, जिसके सम्यक्-मनन से पूर्वापरविरोध स्वतः एव उच्छिन्न होजाता है। परिलेखों पर दृष्टि डालिए, और उनके द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोण का समन्वय कीजिए।

(१)-परात्परसमतुलितस्य–निष्कलाव्ययपुरुषस्य–त्रिवृद्भावपरिलेखः

* *–महामायावच्छिन्नो निष्कलोऽव्ययपुरुषः (श्वोवस्यसं ब्रह्म-मनः) तस्यैते विवर्त्तभावाः *

१	१	१	आनन्दः	ज्ञानघनत्त्वात्-मनः	आनन्दघनं-मनः	मनः-मनोमयम्	तदिदं–'मनस्तन्त्रम्' मनसस्त्रिवृद्भावानुगतम्	१
	२	२	विज्ञानम्	क्रियाघनत्त्वात्-प्राणः	विज्ञानघनं-मनः	प्राणः-मनोमयः		
	३	३	अन्तर्मनः	अर्थघनत्त्वात्-वाक्	अन्तर्म्मनोघनं मनः	वाक्-मनोमयी		
२	४	१	बहिर्मनः	ज्ञानमयत्त्वात्-मनः	बहिर्म्मनोमयः प्राणः	मनः-प्राणमयम्	तदिदं–'प्राणतन्त्रम्' प्राणस्य त्रिवृद्भावानुगतम्	२
	५	२	प्राणः	क्रियामयत्त्वात्-प्राणः	प्राणमयः प्राणः	प्राणः-प्राणमयः		
	६	३	वाक्	अर्थमयत्त्वात्-वाक्	वाङ्मयः-प्राणः	वाक्-प्राणमयी		
३	७	१	अमृता वाक्	ज्ञानानुगतत्त्वात्-मनः	वाग्रूपा-वाक्	मनः-वाङ्मयम्	तदिदं–'वाक्तन्त्रम्' वाचस्त्रिवृद्भावानुगतम्	३
	८	२	अमृता आपः	क्रियानुगतत्त्वात्-प्राणः	आपोरूपा-वाक्	प्राणः-वाङ्मयः		
	९	३	अमृतोऽग्निः	अर्थानुगतत्त्वात्-वाक्	अग्निरूपा-वाक्	वाक्-वाङ्मयी		
❀	*	१	मर्त्योऽग्निः	ज्ञानसहकृतत्त्वात्-मनः	वाङ्मयी-वाक्	❀	❀	४
	❀	२	मर्त्या आपः	क्रियासहकृतत्त्वात्-प्राणः	आपोमयी-वाक्	❀		
	❀	३	मर्त्या वाक्	अर्थसहकृतत्त्वात्-वाक्	वाङ्मयी-वाक्	❀		

(२)–परात्परसमतुलितस्य निष्कलाव्ययस्य विवर्त्तभावानां त्रिवृत्करणप्रक्रियाप्रदर्शनपरिलेखः—ग्रन्थिबन्धनपरिलेखो वा



(३)—सृष्टानुप्रविष्टभावानुगतप्रजापतिपर्वचतुष्टयी-प्रदर्शनपरिलेखः—

१	* निष्कलोऽव्ययपुरुषः—आत्मा		सर्वात्मकः	—प्रविष्टात्मा—आत्मा १	१ —आत्मन्वी—प्रजापतिः
	१—आनन्दात्मा	—कारणशरीरम्	मनोमयः	—सृष्टात्मा—शरीरम् २	
	२—विज्ञानात्मा	—सूक्ष्मशरीरम्	प्राणमयम्		
	३—मानसात्मा	—स्थूलशरीरम्	वाङ्मयम्		
२	*—प्रथमः—आत्मन्वीप्रजापतिः—आत्मा		सर्वात्मकः	—प्रविष्टात्मा—आत्मा १	२ —आत्मन्वी—प्रजापतिः
	१—मनोमयात्मा	—कारणश०	मनोमयम्	—सृष्टात्मा—शरीरम् २	
	२—प्राणमयात्मा	—सूक्ष्मश०	प्राणमयम्		
	३—वाङ्मयात्मा	—स्थूलश०	वाङ्मयम्		
३	*—द्वितीयः—आत्मन्वीप्र०—आत्मा		सर्वात्मकः	—प्रविष्टात्मा—आत्मा १	३ —आत्मन्वी—प्रजापतिः
	१—अमृतवाङ्मयात्मा	—कारणश०	मनोमयम्	—सृष्टात्मा—शरीरम् २	
	२—अमृतापोमयात्मा	—सूक्ष्मश०	प्राणमयम्		
	३—अमृताग्निमयात्मा	—स्थूलश०	वाङ्मयम्		
४	*—तृतीयः—आत्मन्वीप्र०—आत्मा		सर्वात्मकः	—प्रविष्टात्मा—आत्मा १	४ —आत्मन्वी—प्रजापतिः
	१—मर्त्याग्निमयात्मा	—कारणश०	मनोमयम्	—सृष्टात्मा—शरीरम् २	
	२—मर्त्यापोमयात्मा	—सूक्ष्मश०	प्राणमयम्		
	३—मर्त्यवाङ्मयात्मा	—स्थूलश०	वाङ्मयम्		

२४–शब्दपर्य्यायसम्बन्ध की अवैज्ञानिकता—

वेदशास्त्र के उपनिषद्भाग में अव्ययब्रह्म एवं तद्विद्यानुगत जो बुद्धियोग उपनिषदों की स्वाभाविकी संक्षिप्त–गभीरार्थ–गर्भिता भाषा के कारण सर्वसाधारण के लिए अज्ञात बना रहा, जिस योग का अव्ययब्रह्म के पूर्णावतार साक्षात् ईश्वर (श्रीकृष्ण) ने समाधिस्थ होकर अर्जुन के प्रति उपदेश किया, उस बुद्धियोग का स्वरूप यदि आज भी सर्वसाधारण के लिए अज्ञात बना रहे, तो इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं है । जैसाकि, आरम्भ में हीं स्पष्ट कर दिया गया है–जबकि कोई भी योग–चाहे वह लौकिक हो, अथवा शास्त्रीय, विज्ञानात्म-सम्परिष्वक्त प्रज्ञानानुगत इन्द्रियसहयोग की अपेक्षा रखता हुआ परम्परया बुद्धियोगसम्पत्ति से वञ्चित नहीं है, तो ऐसी दशा में गीता नें क्या पुरुषार्थ किया !, इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए सर्वप्रथम बुद्धितत्त्व हमारे लिए विजिज्ञास्य बन जाता है । प्रासङ्गिक अन्यान्य विप्रतिपत्तियों के निराकरण के अनन्तर उसी मुख्य प्रतिपाद्य बुद्धितत्त्व की ओर बुद्धिप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

'बुद्धियोग' शब्द के **'बुद्धि'–'योग'** ये दो विभाग हैं । पहिले क्रमसिद्ध 'बुद्धि' शब्द का तात्त्विक अन्वेषण कीजिए, अनन्तर 'योग' शब्द का । संस्कृतसाहित्य में 'बुद्धि' तत्त्व के सम्बन्ध में **"[१]बुद्धि–[२]मनीषा–[३]धिषणा–[४]धीः–[५]प्रज्ञा–[६]शेमुषी–[७]मति–[८]प्रेक्षा–[९]उपलब्धि—[१०]चित्–[११]संवित्–[१२]प्रतिपत्–[१३]ज्ञप्ति–[१४]चेतना–[१५]विज्ञान–"** इत्यादि शब्द उपलब्ध होते हैं । साम्प्रदायिक दृष्टिपथानुगामी भारतीय विद्वानों की दृष्टि में ये सब शब्द अभिन्नार्थ के (एक ही अर्थ के) वाचक बनते हुए परस्पर एक दूसरे के पर्य्याय हैं । यही कारण है कि, वर्त्तमान संस्कृत–भाष्य, व्याख्या, निबन्धों में बुद्धितत्त्व के लिए उक्त शब्दों में से किसी भी शब्द का प्रयोग उपलब्ध हो रहा है । किसी सीमापर्य्यन्त यह पर्य्याय सम्बन्ध मान्य कहा जा सकता है । परन्तु विज्ञानदृष्टि हमें बतला रही है कि, प्रत्येक शब्द विभिन्नार्थ का ही वाचक है । प्रत्येक शब्द का वर्णसमाम्नाय–अक्षरसंघटन–बाह्यस्वरूप जब एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न है, तो यह स्थूलदृष्टि ही यह प्रमाणित करने के लिए पर्य्याप्त हेतु है कि, परस्पर विभिन्नाकार शब्द कभी समानार्थक नहीं बन सकते । उदाहरण के लिए लौकिक वाक्यों पर ही दृष्टि डालिए । **'चल रे'–'चल'–'चलिए'–'पधारिए'** शब्दों का तात्पर्य्य है चलने से । चलनार्थक सब वाक्यों का समान अर्थ है, और इस सीमा पर्य्यन्त इन शब्दों को अभिन्नार्थक कहा भी जा सकता है । इस सीमाबद्ध समानार्थकता के रहने पर भी सब शब्द विभिन्न उद्देश्य बना रहे हैं । सब के लिए अभिन्नरूप से इनका प्रयोग नहीं किया जा सकता । अपने सेवकवर्ग के लिए 'चलरे' नियत है । अपने से निम्नाधिकार में प्रतिष्ठित शिष्य, पुत्रादि के लिए 'चल' नियत है । समानयोग्यता वालों के लिए 'चलिए' नियत है । एवं शिष्ट–मान्य–वर्ग के लिए 'पधारिए' शब्द नियत है । क्या 'पधारिए' के स्थान में 'चलिए' कहना शिष्टता होगी ? । क्या इस क्षेत्र में 'चल'–'चलरे' शब्दों का प्रयोग किया जा सकेगा ? । क्या सेवक, पुत्रादि को 'चलिए' 'पधारिए' शब्दों से सम्बोधित करना मर्य्यादासङ्गत माना जायगा ? । नहीं । इसीलिए कहना, और मानना पड़ेगा कि, शब्दों का परस्पर पर्य्याय सम्बन्ध तत्त्वदृष्ट्या असङ्गत है । संस्कृतभाषा के शब्दों को उदाहरण बनाए । **'स्वयम्भू–परमेष्ठी–हिरण्यगर्भ–पद्मभूः–निधन'** आदि शब्द केन्द्रस्थ-स्थिति-लक्षण ब्रह्मतत्त्व (ब्रह्मा) के लिए नियत हैं । सब शब्दों में सामान्यरूप से व्याप्त ब्रह्मतत्त्व–दृष्टि से किसी सीमा पर्य्यन्त इन्हें अभिन्नार्थक माना जा सकता है । परन्तु आकाशमण्डलात्मक प्राणमय अण्ड, वायुमण्डलात्मक आपोमय पिण्ड, तेजोमण्डलात्मक वाङ्मय पिण्ड, जलमण्डलात्मक अन्नमय पिण्ड, एवं मृन्मण्डलात्मक

अन्नादमय पिण्ड, इन स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-भू-पिण्डों के केन्द्रानुगत ब्रह्मतत्त्वों के भेद से ही क्रमशः 'स्वयंम्भू-परमेष्ठी-हिरण्यगर्भ-पद्मभूः-निधन' शब्द नियत हैं । चन्द्रमा पर सृष्टिक्रम का अवसान है, अवसान का अधिष्ठाता **'ददाद्यमोऽवसानं पृथिव्याः'-'यमो वै अवसानस्येष्टे'** इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मण-श्रुतियों के अनुसार 'यम' है, यही निधनलक्षण मृत्यु का प्रवर्त्तक है । अतएव चान्द्र ब्रह्मतत्त्व 'निधन' कहलाया है । क्या सौर-पारमेष्ठ्यादि को भी 'निधन' कहा जा सकेगा ? । नहीं । वेदभाषा-शब्दों को उदाहरण बनाइए । वर्णाधिकारमर्य्यादानुसार स्वयं वेद ने भी लोकभाषावत् आह्वानार्थक शब्दों में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रों के लिए क्रमशः **'एहि'** (पधारिए)-**'आगहि'**-(आइए)-**'आद्रव'** (चलिए) **'आधाव'** (दौड़-चल) ये शब्द मर्य्यादित करते हुए पर्य्याय सम्बन्ध की अवैज्ञानिकता घोषित की है * । इसी प्रकार **'स्वाहा-स्वधा-वौषट्'** आदि वैदिक शब्द अन्नदान-समय में प्रयुक्त हुए हैं । तात्पर्य्य सबका यही है कि-'आप इस प्रदत्त अन्न का ग्रहण कीजिए' । इस सामान्य-अन्नप्रदान-दृष्टि से किसी सीमा पर्य्यन्त तीनों शब्दों को अभिन्नार्थक कहा जा सकता है । परन्तु तत्त्वतः तीनों शब्द क्रमशः आग्नेय देवदेवता, पितर, तथा इन्द्र के लिए ही नियत हैं । कभी इनमें पर्य्याय सम्बन्ध का समावेश नहीं किया जा सकता ।

एवमेव मघवा, मरुत्वान्, वासव, वृत्रहा, आदि शब्द इन्द्रार्थक मानें गए हैं । गतिसामान्यधर्म्म-व्याप्ति से इस सीमापर्य्यन्त ये इन्द्रार्थक शब्द परस्पर अभिन्नार्थ के समर्थक बनते हुए भी तत्त्वदृष्ट्या परस्पर सर्वथा विभिन्न अर्थों में हीं नियत हैं । सौर आहवनीयाग्निमय स्वज्योतिर्घन इन्द्र को ही 'मघवा' कहा जायगा । आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्निमय अज्योतिर्लक्षण वायव्येन्द्र को ही 'मरुत्वान्' माना जायगा । पार्थिव गार्हपत्याग्निमय रूपज्योतिर्लक्षण वस्वग्निरूप इन्द्र को ही 'वासव' नाम से व्यवहृत किया जायगा, एवं परज्योतिर्म्मय चान्द्र इन्द्र को ही 'वृत्रहा' कहा जायगा । इसप्रकार विज्ञानानुगता तत्त्वदृष्टि के अनुसार प्रत्येक शब्द विभिन्नार्थ का ही वाचक माना जायगा । इस दृष्टि का निष्कर्ष यही निकलता है कि, "एक शब्द एक ही अर्थ का वाचक है, प्रत्येक शब्द अपना स्वतन्त्र अर्थ रखता है" । फलतः अनुगमभावात्मक शब्दों को छोड़ कर *निगमभावात्मक एक एक शब्द के अनेक अर्थ लगा लेना, साथ ही इन शब्दों का परस्पर पर्य्याय-सम्बन्ध मान बैठना सर्वथा विज्ञानविरुद्ध है ।* ***'सर्वे सर्वार्थवाचकाः-दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः'*** *सूक्ति का सामान्यधर्म्मानुगता समानव्याप्ति के आधार पर समन्वय हो जाता है । शब्द का अर्थ के साथ* उत्पन्नसृष्ट सम्बन्ध नहीं, अपितु उत्पत्तिसृष्ट (औत्पत्तिक) सम्बन्ध है, नित्य सम्बन्ध है । 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' सूक्ति केवल इस नित्य सम्बन्ध में ही उपयुक्त है । उपाधि का सम्बन्ध ही आगे जाकर इस विभिन्न शब्द, एवं तदनुगत विभिन्नार्थ का विभाजक बन जाता है, जिस औपाधिक भेद को 'अवस्थाभेद' कहा गया है । यही अवस्थाभेद शब्दार्थविभिन्नता की प्रतिष्ठा बनता है । अन्न, और मल, एक ही अन्न की दो विभिन्ना-वस्थाएँ हैं । अतएव अन्न, और मल, दोनों शब्द विभिन्नार्थों में नियत हैं । एक ही ब्रह्म अवस्थाभेद से नानातत्त्वों में परिणत हो रहा है । अवश्य ही योगानुष्ठान में यह अवस्थाभेद सर्वथा मान्य है । नहीं, तो मन ही बुद्धि क्यों न मान ली जाय ?, बुद्धि को मन का पर्य्याय क्यों नहीं कह दिया जाय ? ।

---

*-**"तानि वा ऽएतानि चत्वारि वाचः-'एहि' इति ब्राह्मणस्य, 'आगहि' इति राजन्यबन्धोः (क्षत्रियस्य), 'आद्रव' इति वैश्यस्य, 'आधाव' इति शूद्रस्य"** ।

—शत० ब्रा० १।१।४।१२। ।

'प्रौढिवाद' शब्दमात्र से पाठक इस तत्त्वानुगता अवस्थाभेदनिबन्धना शब्दार्थविभिन्नता की उपेक्षा नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में हम तो यह कहने में भी कोई संकोच नहीं कर रहे कि, इस शब्दार्थ-विभिन्नता की उपेक्षा करने से ही भारतीय शास्त्र का तत्त्ववाद विलुप्त हुआ है। इसी पर्य्यायभ्रान्ति में पड़ कर व्याख्याताओं नें परात्पर-अव्यय-अव्यक्त-महान्-विज्ञान-प्रज्ञान-आदि सर्वथा विभक्त तत्त्वों को अभिन्न मान लिया है। इसी भ्रान्ति के अनुग्रह से '**व्यवच्छेदो हि पाण्डित्यम्**' की उपेक्षा हुई है। अतएव आज आर्षधर्म्मानुगत आत्म-देव-प्राण-भूतादि लक्षण विभिन्न तत्त्ववाद सन्देहनिवृत्ति के स्थान में सन्देहप्रवृत्ति का कारण बना हुआ है। आस्तां तावत्। प्रकृत में हमे बुद्धितत्त्वानुगत पूर्वोद्धृत बुद्धि-मनीषा-आदि शब्दों की विभिन्नार्थकता के विश्लेषण-द्वारा यही प्रमाणित करना है कि, उक्थ स्थानीय बुद्धितत्त्व के अर्क स्थानीय मनीषा-धिषणा-आदि तत्त्वों में समानरूप से अनुस्यूत रहने के कारण जहाँ इस सीमा पर्य्यन्त इन शब्दों को अभिन्नार्थक माना जा सकता है, वहाँ तत्त्वानुगत अवस्थाभेद के द्वारा इन्हें विभिन्नार्थक ही माना जायगा, जैसाकि आगे के निर्वचन प्रकरण से स्पष्ट है ❀।

❀ '**वाग्वै ब्रह्म**' (ऐतरेय ब्रा० ६।३।)—'**वाग्वै प्रजापतिः**' (शत० ५।१।५।६।)–'**तत्सर्वं आत्मा वाचमप्येति, वाङ्मयो भवति**' (कौ० ब्रा० २।७।) इत्यादि ब्राह्मणश्रुतियों के अनुसार मनःप्राणगर्भिता 'वौक्' लक्षणा वाक् ही आत्मा की स्वरूपाभिव्यक्ति का मूलाधार है, जिस इत्थंभूता वाग्देवी के '**परा-पश्यन्ती मध्यमा-वैखरी–**' भेद से चार विवर्त्त मानें गए हैं, जिन चारों विवर्त्तों का—**चत्वारि वाक्परिमिता पदानि०**' इत्यादि अनुगममन्त्र से ग्यारह प्रकार से समन्वय हुआ है, जैसाकि उपनिषद्भूमिका-तृतीयखण्ड में विस्तार से प्रतिपादित है। वाक् ही व्यक्ति के व्यक्तित्व की प्रधान परिचायिका है। वाक् के द्वारा ही जड़-चेतन-पदार्थों के नामों, तथा रूपों की व्याकृति व्यवस्थित हुई है। नाम-रूप-कर्म्मानुबन्धिनी वाक् ही प्रत्येक पदार्थ की स्वरूपविभाजिका है। तत्तद्वस्तुस्वरूप की अधिष्ठात्री विभक्ता वाक् ही तत्तद्वस्तु का मौलिक इतिहास है, जिसे हम—'**वाङ्मय शब्देतिहास**' कह सकते हैं। प्रत्येक शब्द (नाम) का आविर्भाव तन्मूलभूता वाक् के वैय्यक्तिक इतिहास को आधार बना कर ही हुआ है। अतएव प्रत्येक शब्द अपना स्वतन्त्र वाङ्मय इतिहास रखता है। इसी शब्देतिहास के आधार पर भारतीय शब्दव्यवहारमर्य्यादा व्यवस्थित हुई है। जहाँ जिस इतिहास की अपेक्षा है, वहीं वह शब्द प्रयुक्त हुआ है। और यही भारतीय आर्षशास्त्र का ज्ञानविज्ञानसिद्ध वह महान् कौशल है, जिसके अनुग्रह से आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) का प्रत्येक शब्द प्रकृतिसिद्ध नित्य विभक्त तत्त्व का ही संग्राहक बन रहा है। एक स्वर मात्रा-अक्षर-व्यञ्जन-आदि के विपर्य्यय से तच्छब्देतिहास अभिभूत हो जाता है। एवं परिणामतः स्वेतिहास से च्युत तच्छब्द अर्थ के स्थान में अनर्थ का जनक बन जाता है, जैसाकि—'**स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह**' इत्यादि से स्पष्ट है। इसी आर्ष-शास्त्रीय धरातल के आधार पर भारतीय लोकशब्दमर्य्यादा व्यवस्थित हुई है। वाक्प्रयोगकौशल जहाँ लोकवैभव का मूलाधार है, वहाँ वाक्प्रयोगशैथिल्य-वाक्प्रयोगाव्यवस्था-आदि ही लोकवैभवविनष्टि के महान् कारण हैं। शब्देतिहासविज्ञानशून्य मानव अलग्लवाक्-प्रयोग करता हुआ पदे पदे लक्ष्यभ्रष्ट ही होता रहता है। किस समय, किसके लिए, कैसे, कहाँ, क्यों, कब, क्या बोलना चाहिए ?, इस प्रश्न का समाधान शब्दों के इतिहास पर ही अवलम्बित है, जिसे जाने बिना मानव किसी भी लौकिक-पारलौकिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। दुःख है कि, आर्षशास्त्र की विस्मृति के कारण आज भारतीय मानव का शब्देतिहासमूलक तथाविध वाक्कौशल सर्वथैव अभिभूत हो गया है, जिसके दुष्परिणाम सर्वथा अद्धा हैं।

२५–'बुद्धि' शब्दनिर्वचनोपक्रम (१)—

अवगमनार्थक 'बुध' ('बुध' अवगमने–दिवादि) धातु से–'**स्त्रियां क्तिन्**' (पा० सू० ३।३।९४) सूत्र से '**क्तिन्**' प्रत्यय के द्वारा '**बुद्धि**' शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका निर्वचनार्थ है–'**बुद्ध्यतेऽनया सा बुद्धिः**' (जिससे जाना जाता है, वह बुद्धि है) । अध्यात्मसंस्था में जो तत्त्व किसी नियत स्थान में प्रतिष्ठित हो कर स्वव्यापार से विषयों का ज्ञान प्राप्त करता रहता है, वही तत्त्वविशेष विषय को अवगत करता हुआ, जानता हुआ–'बुद्धि' नाम से व्यवहृत हुआ है । जिसप्रकार मन का मूलप्रभव चन्द्रमा माना गया है, एवमेव बुद्धि का मूलप्रभव सूर्य्य माना गया है । अतएव आध्यात्मिक बुद्धितत्त्व की तात्त्विक स्वरूपमीमांसा के लिए तत्प्रभवभूत आधिदैविक तत्त्व की मीमांसा का ही अनुगमन करना चाहिए ।

२६–बुद्धिप्रवर्त्तक विश्वमध्यस्थ सूर्य्य—

ज्योतिश्चक्र (खगोल) विज्ञानानुसार सूर्य्य जहाँ विष्वद्वृत्त नामक बृहतीछन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित है, वहाँ वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार यही सूर्य्य विश्व का हृदय बना हुआ है, जैसाकि–'**नैवोदेता नास्तमेता, एकल एव मध्ये स्थाता**' (छां० उप० ३।११।१) '**बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः**) * '**सूर्य्यो बृहती मध्यूढस्तपति**' '**आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्**' इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मण-श्रुतियों से प्रमाणित है । प्रत्यक्ष दृष्टि से भी यही प्रमाणित है । विश्व भूतप्रधान है । वे भूत, आकाश, वायु, तेज, जल, मृत्, भेद से पाँच भागों में विभक्त हैं, एवं यही इनका स्थितिक्रम है । पाँचों में आकाश–वायु ऊर्ध्वभूत हैं, जल-मृत् अधोभूत हैं, तेज मध्यभूत है । आकाशानुगत-आकाशात्मा स्वयम्भू, वाय्वनुगत वाय्वात्मा परमेष्ठी, दोनों ऊर्ध्वस्थिति के कारण विश्वचर षोडशी-विश्वकर्म्मा के 'परमधाम' कहलाए हैं । तेजोऽनुगत–तेजोलक्षणात्मा सूर्य्य मध्यस्थिति के कारण 'मध्यमधाम' माना गया है । एवं जलानुगत जलात्मा चन्द्रमा, मृदनुगत मृदात्मा भूपिण्ड, दोनों अधःस्थिति के कारण 'अवमधाम' कहलाए हैं, जैसाकि—'**या ते धामानि परमाणि, यावमा०**' इत्यादि यजुर्मन्त्र से प्रमाणित है । स्वयम्भू-परमेष्ठी की समष्टिरूप-परमधाम प्रकृतिकला की दृष्टि से प्राण-आपोमय हैं । चन्द्रमा-भूपिण्ड की समष्टिरूप अवमधाम अन्न–अन्नादमय हैं । एवं सूर्य्यरूप मध्यमधाम वाङ्मय है । अव्ययलक्षण ज्ञानात्मा अमृतप्रधान है, अमृतात्मा है । स्वयम्भू–परमेष्ठी इन दोनों परमधामों में इसी का प्राधान्य है, अतएव इसे 'अमृतसंस्था' माना गया है । आत्मक्षरलक्षण भूतात्मा मृत्युप्रधान है, मर्त्यात्मा है । चन्द्रमा–भूपिण्ड, इन दोनों अवमधामों में इसका प्राधान्य है, अतएव इसे 'मर्त्यसंस्था' माना गया है । अक्षरलक्षण कर्म्मात्मा पूर्व स्थानीय अमृतात्मा से, तथा परस्थानीय मर्त्यात्मा से, दोनों से अनुगृहीत रहता हुआ उभयात्मा है, अमृतमर्त्यात्मा है । अतएव इसे 'अमृतमर्त्यसंस्था' माना जा सकता है । तात्पर्य्य–स्व० पर० दोनों अव्ययानुगृहीत हैं, सूर्य्य अक्षरानुगृहीत हैं, चन्द्रमा–भूपिण्ड–दोनों क्षरानुगृहीत हैं । अव्ययात्मा मनःप्रधान है, अक्षरात्मा प्राणप्रधान है, क्षरात्मा वाक्प्रधान है । फलतः तदनुगत स्वयम्भू–परमेष्ठी मनःप्रधान हैं, सूर्य्य प्राणप्रधान है, चन्द्रमा-भूपिण्ड वाक्-

---

*–**प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे ।**
बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश ॥

—ऋक्सं० ८।१०१।१४।

प्रधान हैं। तीनों क्रमशः ज्ञान-क्रिया-अर्थ-तत्त्वों की मूलप्रतिष्ठा बनें हुए हैं। ज्ञान ज्ञानत्त्वेन निर्व्यापार रहता हुआ सृष्टिकर्तृत्त्वधर्म्म से असंस्पृष्ट है, अर्थ जड़त्वेन सृष्टिकर्तृत्त्व में असमर्थ है। सृष्टिकर्तृत्त्व क्रियात्मक मध्यस्थ अक्षरानुगत सूर्य्य का ही प्रातिस्विक धर्म्म है। यही हिरण्यगर्भमूला, सूर्य्यानुगता, हृदयभावानुगता सृष्टिप्रवृत्ति का मौलिक रहस्य है, जिसका हिरण्यगर्भविद्याप्रतिपादिका मुण्डकोपनिषत् में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। इस प्राकृतिक विश्वस्थिति को लक्ष्य बना कर ही हमें बुद्धितत्त्व का समन्वय करना है।

१	१–स्वयम्भूः (प्राणमयः)–आकाशः	–परमधाम (अव्ययात्मा–ज्ञानात्मा)-मनोमयः-ज्ञानप्रधानः।
२	२–परमेष्ठी (आपोमयः)–वायुः	
३	१–सूर्य्यः (वाङ्मयः)–तेजः	–मध्यमधाम(अक्षरात्मा-कर्म्मात्मा)प्राणमयः-क्रियाप्रधानः।
४	१–चन्द्रमाः (अन्नमयः)–जलम्	–अवमधाम (क्षरात्मा-भूतात्मा)-वाङ्मयः-अर्थप्रधानः।
५	२–भूपिण्डः (अन्नादमयः)–मृत्	

२७–क्षराक्षराव्ययात्मक-सर्वात्मक अक्षर, और सूर्य्य—

अमृतसंस्थानुगत–अव्ययप्रधान–मनोमय–आकाशवाय्वात्मक–ज्ञानतन्त्र **'ब्रह्मतन्त्र'** है। उभयसंस्थानुगत–अक्षरप्रधान–प्राणमय–तेजोलक्षणात्मक–क्रियातन्त्र **'विष्णुतन्त्र'** है। एवं मर्त्यसंस्थानुगत–क्षरप्रधान–वाङ्मय–जल–मृदात्मक–अर्थतन्त्र **'शिवतन्त्र'** है। ब्रह्मा ज्ञानपति हैं, विष्णु क्रियापति हैं, शिव भूतपति हैं। मध्यस्थ अक्षर अव्यय और क्षर से, मध्यस्थ प्राण मन और वाक् से, मध्यस्था क्रिया ज्ञान और अर्थ से, मध्यस्थ विष्णु ब्रह्मा और शिव से, मध्यस्थ तेज आकाशवायू, और जल-मृत् से, मध्यस्थ सूर्य्य स्वयम्भू-परमेष्ठी, और चन्द्रमा–भूपिण्ड से अनुगृहीत है। इसप्रकार मध्यस्थ सूर्य्य मध्यस्थ होने से सर्वात्मक बना हुआ है। सृष्टि होती है क्रिया से। परन्तु क्रिया केवल निमित्त बनती है। उपादान अर्थ बनता है, आलम्बन ज्ञान बनता है। मध्यस्थ सूर्य्य ऊर्ध्वस्थ ज्ञान से, अधोऽवस्थित अर्थ से ज्ञानक्रियार्थमय बनता हुआ सृष्टिकर्म्मानुबन्धी ज्ञान–क्रिया–अर्थरूप–आलम्बन–निमित्त–उपादान, तीनों धर्म्मों से युक्त है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि, अर्थप्रधान 'ब्रह्म' (क्षरात्मा), ज्ञानप्रधान 'पर' (अव्ययात्मा), दोनों का इस क्रियाप्रधान सौर अक्षरात्मा में समन्वय है। अतएव श्रुति ने अक्षरग्रहण से सब की प्राप्ति का समर्थन कर दिया है, जैसाकि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

"एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म (क्षरात्मा)-एतद्धयेवाक्षरं परं (अव्ययात्मा) ।
एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्" ॥

—कठोपनिषत् ।१।२।१६

२८—त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः—

'मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते' के अनुसार सर्वदेवमूर्त्ति मध्यस्थ सूर्य्य ही 'ईश्वर-जीव-जगत्' तीनों तन्त्रों का प्रवर्त्तक बनता है । यद्यपि तीनों हीं तन्त्र-'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार पूर्णात्मक हैं, सर्वात्मक हैं, अव्ययाक्षरात्मक्षरात्मक हैं, मनःप्राणवाङ्मय हैं, पञ्चभूतात्मक हैं । तथापि तीनों में क्रमशः ईश्वरतन्त्र में मनोमय अव्यय, जीवतन्त्र में प्राणमय अक्षर, जगत्तन्त्र में वाङ्मय क्षर का ही प्राधान्य है । तीनों तन्त्र हीं क्रमशः अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत-नामों से व्यवहृत हुए हैं । 'पर' नाम से प्रसिद्ध अव्यय, 'अवर' नाम से प्रसिद्ध क्षर, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित होने से, अतएव-पर-अवर, दोनों धर्म्मों से आक्रान्त रहता हुआ ही अक्षरात्मा 'परावर' नाम से व्यवहृत हुआ है । इस परावर के ज्ञान से वास्तव में सब कुछ गतार्थ है * । क्षराक्षरगर्भित अव्ययप्रधान ईश्वर, क्षराव्ययगर्भित अक्षरप्रधान जीव,एवं अव्ययाक्षरगर्भित क्षरप्रधान जगत्, तीनों की प्रथमप्रवृत्ति का,दूसरे शब्दों में तीनों सर्गों की प्रवृत्ति का प्रधान श्रेय मध्यस्थ सौर तत्त्व को ही प्राप्त है । अव्ययधर्म्मानुगति से सत्त्वमूर्त्ति बनता हुआ यही आधिदैविक ईश्वरतन्त्र का प्रवर्त्तक बना हुआ है । स्व (अक्षर) धर्म्मानुगति से रजोमूर्त्ति बनता हुआ यही आध्यात्मिक जीवतन्त्र की प्रतिष्ठा बना हुआ है । एवं क्षरधर्म्मानुगति से तमोमूर्त्ति बनता हुआ यही आधिभौतिक जगत्तन्त्र की प्रतिष्ठा बना हुआ है । अतएव वैज्ञानिक लोग इस अक्षरप्रधान, विश्वमध्यस्थ, गायत्रीमात्रिक-वेदमूर्त्ति, त्रिगुणभावापन्न तत्त्व की-'त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः' रूप से स्तुति किया करते हैं ।

---

* —'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ (अक्षरे)

—मुण्डकोपनिषत् २।२।८।

१	अव्ययः (मनः) अक्षरः (प्राणः) क्षरः (वाक्)	–क्षराक्षरगर्भितोऽव्ययः—ईश्वरः (सत्त्वानुगतः)–परधर्म्माक्रान्तः	सर्वधर्म्मा-क्रान्तः
२	अक्षरः (प्राणः) अव्ययः (मनः) क्षरः (वाक्)	–अव्ययक्षरगर्भितोऽक्षरः-जीवः(रजोऽनुगतः)-स्वधर्म्माक्रान्तः	
३	क्षरः (वाक्) अक्षरः (प्राणः) अव्ययः (मनः)	–अव्ययाक्षरगर्भितः क्षरः–जगत् (तमोऽनुगतः)–अवरधर्म्माक्रान्तः	

२६–प्रसङ्गोपात्त 'स्वधर्म्म', एवं उसके तीन विवर्त्तभाव—

'स्वधर्म्म' शब्द की चर्चा उपस्थित हो गई। अतः प्रसङ्गोपात्त इस सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अनावश्यक न माना जायगा। 'स्वधर्म्म' शब्द को आधार बना कर आज अनेक प्रकार के विसंवाद खड़े हो रहे हैं। इन विसंवादों का एकमात्र कारण है-'स्वधर्म्म' शब्द के वैज्ञानिक अर्थ का परिज्ञानाभाव। किसी की दृष्टिमें सत्य–दया-अहिंसा–अस्तेयादि स्मार्त्त सामान्य धर्म्म हीं स्वधर्म्म है। किसी की दृष्टि में वेदशास्त्रोपवर्णित काम्य कर्म्म, भक्ति, ज्ञान हीं स्वधर्म्म है। किसी की दृष्टि में वर्णधर्म्म ही स्वधर्म्म है। इन सब विसंवादों के परिहार के लिए **'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः'** इत्याभाणकमूलक **'श्रेयान्–स्वधर्म्मो विगुणः, पर–धर्म्मात् स्वनुष्ठितात्'** इत्यादि श्लोकानुगत गीतामूलभाष्य का ही अवलोकन करना चाहिए। यहाँ तो प्रसङ्गवश इसका स्वरूपसङ्केतमात्र ही पर्य्याप्त होगा। 'स्व' का अर्थ है–'अपना'। और 'धर्म्म' का अर्थ है–'धारक'। सहजभाषा के अनुसार दोनों विभागों का यही अर्थ निकलता है कि, 'जो तत्त्व, जो कर्म्म, जो ज्ञान, जो भक्ति, जो योग अपने आपको स्वस्वरूप में धारण किए रहता है, स्व को धारण किए रहता है, वही उस 'स्व' का अपना धर्म्म है, यही स्वधर्म्म है। ईश्वर-जीव–जगत्, तीनों हीं अपने अपने स्वरूपकी अपेक्षा से 'स्व' बन रहे हैं। साथ ही तीनों का स्वरूप–(स्व–रूप–अपनारूप अपनापन) परस्पर विभिन्न है। विभिन्न स्वरूपों को

धारण करने वाले तीनों विभिन्नों के धर्म्म भी पृथक्-पृथक ही मानें जायँगे। फलतः तीन तन्त्रों के क्रमशः **ईश्वरधर्म्म, जीवधर्म्म, जगद्धर्म्म,** ये तीन स्वाभाविक विभाग हो जायँगे।

३०-सर्वधर्म्मोपपन्न विश्वेश्वरात्मा—

अपने आधिदैविक विवर्त्त, जीवानुगत आध्यात्मिक विवर्त्त, एवं जगदनुगत आध्यात्मिक विवर्त्त, तीनों में समानरूप से व्याप्त रहते हुए (गीता के शब्दों में विभक्त तन्त्रों में अविभक्तरूप से व्याप्त रहते हुए) तीनों तन्त्रों के नियत योगों का असङ्गभाव से (निष्कामभावात्मिका उत्थिताकाङ्क्षा से) सञ्चालन करते रहना हीं ईश्वर का स्वधर्म्म है। ऋषि, पितर, देवदेवता, चान्द्रदेवता, आदि सात्त्विक आधिदैविक प्राणलक्षण दिव्य प्रजाओं के सत्वानुगत आधिदैविक कर्म्मों का, गन्धर्व-यक्षादि राजस-प्राणलक्षण दिव्य प्रजाओं के रजोऽनुगत आधिदैविक कर्म्मों का, असुर-राक्षस-पिशाचादि तामस-प्राणलक्षण दिव्य प्रजाओं के तमोऽनुगत आधिदैविक कर्म्मों का साक्षी बने रहना, राजस प्राणी-लक्षण आध्यात्मिक जीवप्रजा के राजस आध्यात्मिक कर्म्मों का, तथा तामस-भूतलक्षण-आधिभौतिक लोष्ट-पाषाणादि जगत्लक्षणा प्रजा के आधिभौतिक कर्म्मों का साक्षी बने रहना, तत्त्वतः यच्चयावत् विभिन्न धर्म्मियों के यच्चयावत् विभिन्न धर्म्मात्मक विभिन्न कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-भावों का साक्षी बने रहना हीं ईश्वर का 'स्वधर्म्म' है। सर्वधर्म्मसमष्टि ही ईश्वरधर्म्म है। क्योंकि वह सर्वव्यापक बनता हुआ सर्वमूर्त्ति है। सत्-असत्-अच्छा-बुरा सब-कुछ ईश्वरधर्म्म के गर्भ में समाविष्ट है। इसी आधार पर ईश्वरधर्म्म के सम्बन्ध में भगवान् व्यास के द्वारा-**'सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च'** यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इसी दृष्टि से यह भी कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती कि, पाञ्चभौतिक विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीटादि यच्चयावत् प्राणी अच्छा-बुरा-जो भी कुछ कर रहे हैं, वे सब ईश्वरधर्म्म का ही अनुगमन कर रहे हैं। यदि ऐसा है, तो अधर्म्म-परधर्म्म-विधर्म्म-आदि शब्दों का जन्म ही क्यों, और कैसे हुआ ?, यह एक समस्या उपस्थित हो जाती है, जिसका तब भलीभाँति निराकरण हो जाता है, जब कि जीवधर्म्म, और जगद्धर्म्म के तात्त्विक स्वरूप की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है।

३१-प्राकृत जीवात्मा, और उसके स्वधर्म्म-परधर्म्म—

जीव ईश्वर का अंश अवश्य है, परन्तु व्यापक नहीं। ईश्वर जहाँ महामायावच्छिन्न बनता हुआ विश्व-व्यापक है, वहाँ जीव अक्षरानुगता योगमाया से समावृत रहता हुआ शरीरमात्र में सीमित है। अतएव यह तो सिद्ध विषय है कि, इसके लिए सर्वधर्म्मानुगमन असम्भव है। यह उसी परिच्छिन्न-सीमित धर्म्म का अनुगमन कर सकता है, जिस धर्म्म का इसके अपने तन्त्र से सम्बन्ध है। इसका अपना तन्त्र है वह अक्षर, जो योगमायात्मक है। योगमाया वह तत्त्व है, जिसके अपने त्रैगुण्य भेद से असंख्य विवर्त्त हो रहे हैं। इसप्रकार गुणोपाधिकृत आनन्त्य से योगमायात्मक अक्षर के अनन्त विवर्त्त हो जाते हैं। यह अक्षरानन्त्य ही अंशात्मक जीव के आनन्त्य का मूल कारण है। त्रिगुणातीत,+ निर्गुणभावापन्न, अतएव सर्वगुणाधारभूत, अतएव सर्वधर्म्मोपपन्न-

---

+ अनादित्वान्निर्गुणत्वात्-परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥
--गीता १३।३१

अव्ययपुरुष ही एकत्वानुगता महामाया के सम्बन्ध से विश्व में एक आत्मतत्त्व है। अव्ययातिरिक्त त्रिगुणाक्षर-क्षर तो योगमायानन्त्य से अनेक ही सिद्ध हो रहे हैं। अतएव अनन्ताक्षरानुगत अंशभूत जीववर्ग के लिए-'**अंशो-नानात्त्वात्**' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। अंशी ही एक होता है। अंश सदा अनेक होते हैं। जीव ईश्वर का अंश है, एतावता ही जीवनानात्त्व सिद्ध है। प्रत्येक जीव का अपना आत्मा अक्षर है, प्रत्येक अक्षर गुण-भेद से विभिन्न है। फलतः प्रत्येक जीव के स्व-धर्म्म (अक्षरधर्म्म) का विभिन्नत्त्व सिद्ध हो रहा है। जितनें जीव, उनके उतने हीं धर्म्म। जो जीव यदक्षरानुगत, उसका तदक्षर-गुणानुगत ही धर्म्म, एवं वही उस जीव का 'स्वधर्म्म'। इस स्वधर्म्मातिरिक्त यचयावत् धर्म्म परधर्म्म-अधर्म्म-विधर्म्मादि में से कोई सा भी धर्म्म। इस दृष्टि से एक जीवातिरिक्त अन्य यचयावत् जीवों के धर्म्म इस जीव के लिए परधर्म्म, जगद्धर्म्म भी परधर्म्म, और ईश्वरधर्म्म भी परधर्म्म। इन परधर्म्मों में से जो धर्म्म जीवस्वरूप के विघातक हैं, वे इसके लिए अधर्म्म। एवं जिन परधर्म्मों से इस एक जीव के स्वधर्म्म का स्वरूप विकृत हो जाय, वे विरुद्ध धर्म्म इसके लिए विधर्म्म।

३२-प्रकृतिसिद्ध स्वधर्म्म-परधर्म्म- भावों की स्वरूपव्यवस्था—

परधर्म्मों में से कितनें एक धर्म्म ऐसे भी हैं, जिनसे जीवसंस्था का विकास भी सम्भव है। वे उपादेय परधर्म्म भी स्वधर्म्मोंपकारक बनते हुए स्वधर्म्मकोटि में हीं प्रविष्ट मानें जायँगे। निष्कर्ष यह निकला कि— ईश्वरधर्म्म क्योंकि सर्वधर्म्मलक्षण है। अतएव जीवानुगत, तथा जगदनुगत यचयावत् धर्म्म इसके लिए स्वधर्म्म ही बन रहे हैं। वह केवल सर्वधर्म्मसाक्षी है। अतएव तत्त्वतः धर्म्म-परधर्म्म-अधर्म्मादि सब भावों में रहता हुआ भी सर्वधर्म्मविनिर्मुक्त है। जीवधर्म्म क्योंकि नियत गुण-कर्म्मानुगत नियता-क्षरानुबन्धी है। अतएव जीवधर्म्म के लिए ईश्वरधर्म्म, तथा जगद्धर्म्म, साथ ही स्वातिरिक्त यचयायत् अन्य जीवधर्म्म परधर्म्म ही बन रहे हैं। यही अवस्था नियत गुण-कर्म्मानुगत नियत क्षरानुबन्धी जगद्धर्म्म की है। क्षरानुगत जल का स्वधर्म्म है निम्न स्थान में प्रवाहित होना, क्षरानुगत अग्नि का स्वधर्म्म है—ऊर्ध्वभाग की ओर जाना। ताप अग्नि का स्वधर्म्म है, शैत्य जल का स्वधर्म्म है। जल में आग्नेय ताप का समावेश हुआ। इसका अर्थ हुआ जल के स्वधर्म्मभूत शैत्य में अग्नि के स्वधर्म्मभूत ताप का समाविष्ट होना। जलीय स्वधर्म्म (शैत्य) की दृष्टि से तत्प्रविष्ट यह आग्नेय धर्म्म उस सीमा पर्य्यन्त तो केवल 'परधर्म्म' ही माना जायगा, जिस सीमा पर्य्यन्त इससे जलस्वरूप की क्षति नहीं होती। ताप ने जल के शैत्य पर आक्रमण अवश्य कर दिया, जलस्वरूप के लिए भय उपस्थित कर दिया, इसी आधार पर-'**परधर्म्मो भयावहः**' सिद्धान्त नें जन्म लिया। यदि प्रवृद्ध ताप ने जल को क्षीण करना आरम्भ कर दिया, तो जलस्वरूप के विरुद्ध जाता हुआ यही आग्नेय तापरूप परधर्म्म जल के लिए 'विधर्म्म' (विरुद्ध-धर्म्म) बन गया। यदि अतिशयरूपेण प्रवृद्ध-तापधर्म्म ने जल को बाष्परूप में परिणत कर उसका स्वरूप ही उच्छिन्न कर दिया, तो इस अवस्था में में आकर यही आग्नेय तापलक्षण परधर्म्म जल के लिए 'अधर्म्म बन गया। परधर्म्म भले ही स्वयं भय न हो। परन्तु अपने भावी विधर्म्म-अधर्म्म स्वरूपों से यह भयावह (भय का आह्वान करने वाला) अवश्य ही है। उदाहरणमात्र है। यचयावत्-क्षरानुगत-जगद्धर्म्म, तथा जीवधर्म्मों के सम्बन्ध में यही व्यवस्था व्यवस्थित है।

३३-स्फोट-स्वर-वर्ण-निबन्धना पञ्चधर्म्मसृष्टि—

ईश्वरानुगत स्वभाव 'अव्यय' प्रधान है, यही शब्दमर्य्यादया **'अखण्डस्फोट'** कहलाया है । जीवानुगत स्व-भाव 'अक्षर' प्रधान है, यही **'स्वरोऽक्षरम्'** इस प्रातिशाख्य सिद्धान्तानुसार'स्वर'कहलाया है । जगदनुगत स्वभाव 'आत्मक्षर' प्रधान है, जो विकारक्षर से नित्य संश्लिष्ट है । आत्मक्षर **'वर्ण'** कहलाया है, विकारक्षर **'व्यञ्जन'** कहलाया है । विकारक्षरगर्भित आत्मक्षर 'वर्णसृष्टि' का प्रवर्त्तक बनता है, आत्मक्षरगर्भित विकारक्षर अवर्णसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है । दोनों सृष्टियों का निमित्त बनता है अक्षर, जिसके वर्णानुगत स्वरविवर्त्त के 'अ-इ-उ-ऋ-लृ' ये पाँच विवर्त्त मानें गए हैं । इन पाँचों स्वरों में से 'अ-इ-उ' तीनों विशुद्ध स्वर हैं, व्यञ्जन (मर्त्य) धर्म्म से आत्यन्तिकरूप से वियुक्त हैं, कण्ठताल्वादि से असंस्पृष्ट हैं । **'ऋ'** स्वर 'लृ' की अपेक्षा असङ्ग, किन्तु स्वरत्रयी की अपेक्षा ससङ्ग बनता हुआ ससङ्गासङ्ग है । 'लृ' स्वर दन्तस्थान से संश्लिष्ट बन कर आत्यन्तिकरूप से ससङ्ग है । आत्मक्षरानुगत इन पाँचों स्वरविवर्त्तों के इस दृष्टि से 'अ-इ-उ'(१)-'ऋ'(२)-'लृ'(३) ये तीन विभाग होजाते हैं । प्रथम विभाग व्यञ्जनासंस्पृष्ट स्वरप्रधान बनता हुआ अक्षरप्रधान है । द्वितीय विभाग व्यञ्जनगर्भित वर्णप्रधान बनता हुआ आत्मक्षरप्रधान है । तृतीय विभाग वर्णगर्भित व्यञ्जनप्रधान बनता हुआ विकारक्षरप्रधान है । इस दृष्टि से अक्षरानुगत जीवविवर्त्त, तथा आत्मक्षरसंश्लिष्ट विकारक्षरानुगत जगद्विवर्त्त, दोनों के पाँच पाँच मुख्य विवर्त्त होजाते हैं । जीवसृष्टि का भी प्रत्येक प्राणी पाँच भागों में विभक्त है, जगत्सृष्टि का भी प्रत्येक भूत पाँच हीं भागों में विभक्त हैं । अनन्तविध जीवों का, तथा अनन्तविध भूतों का इन पाँचों में ही अन्तर्भाव होरहा है । फलतः दोनों विभागों का (जीवानुगत जीवधर्म्म, जगदनुगत जगद्धर्म्म दोनों का) पाँच-पाँच धर्म्मों में हीं अन्तर्भाव होजाता है ।

३४-वर्णावर्णधर्म्मस्वरूप की व्यवस्थिति—

स्वरप्रधान अकार अग्निसहकृत ब्रह्माक्षर से संश्लिष्ट बनता हुआ 'ब्रह्मतत्त्व' है, यही ब्राह्मणवर्ण है, यही जीवभूतानुगत ब्राह्मण की मूलप्रतिष्ठा बनता है, तदनुगत स्व-धर्म्म ही **'ब्राह्मणधर्म्म'** है । स्वरप्रधान 'उकार' विश्वेदेवसहकृत विष्णवक्षर से संश्लिष्ट बनता हुआ 'विट्तत्त्व' है, यही वैश्यवर्ण की प्रतिष्ठा बनता है, तदनुगत स्व-धर्म्म ही **'वैश्यधर्म्म'** है । स्वरप्रधान 'उकार' वाय्वात्मक मरुत्वानिन्द्रसहकृत इन्द्राक्षर से संश्लिष्ट बनता हुआ 'क्षत्रतत्त्व' है, यही क्षत्रियवर्ण है, यही जीव-भूतानुगत क्षत्रियवर्ण की प्रतिष्ठा बनता है, तदनुगत स्व-धर्म्म ही **'क्षत्रियधर्म्म'** है । 'ब्रह्म-विट्-क्षत्र' तीनों में सृष्टिक्रम तो 'ब्रह्म-क्षत्र-विट्' यह है, किन्तु स्थितिक्रम 'ब्रह्म-विट्-क्षत्र' है । 'अ-इ-उ' रूप से इस स्थितिक्रम का ही समर्थन होरहा है । इस ओर ब्रह्म है, उस ओर क्षत्र है, मध्य में विट् है । ब्रह्मवीर्य्य(ज्ञान)चर्म्मरूप रक्षक बनता हुआ शर्म्मन् है, क्षत्रवीर्य्य(पौरुष)वर्म्मरूप रक्षक बनता हुआ 'वर्म्मन्' है, दोनों से सुरक्षित मध्यस्थ शरीररूप विट् सुगुप्त (सुरक्षित) रहता हुआ 'गुप्त' है । व्यञ्जनगर्भित वर्णप्रधान 'ऋ' पूषाप्राणात्मक सूर्य्यानुगत दिव्य भूभागसे संश्लिष्ट बनता हुआ 'सच्छूद्र' (स्पृश्य शूद्र) तत्त्व है, यही **'सच्छूद्रधर्म्म'** है । वर्णगर्भित व्यञ्जनप्रधान, अतएव अवर्णात्मक लृकार सूर्य्यविरुद्ध-दिगनुगत आसुर भूतप्रधान भूभाग से संश्लिष्ट बनता हुआ **'अवर्ण'** तत्त्व है, यही अवर्णात्मक-असच्छूद्र (अस्पृश्य शूद्र)है, यही जीवभूतानुगत असदवर्णशूद्र की प्रतिष्ठा बनता है, तदनुगत स्व-धर्म्म ही **'असच्छूद्रधर्म्म'** है ।

३५–स्वधर्म्मानुगत सामान्य-विशेषभाव—

इसप्रकार स्फोटस्थानीय अव्ययालम्बन पर प्रतिष्ठित स्वरस्थानीय गुणात्मक **अक्षर**, वर्णस्थानीय कर्म्मात्मक **आत्मक्षर**, व्यञ्जनस्थानीय अवर्णात्मक-भूतमय-**विकारक्षर**, इन तीन विवर्त्तों से अक्षर-क्षरानुगत जीव-जगद्विवर्त्तों के द्विजाति, सच्छूद्र, असच्छूद्र, ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं । ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य, तीनों द्विजातिवर्ग, सच्छूद्रवर्ग, चारों वर्णात्मक जीव, एवं भूत हैं । अन्त्यज-अन्त्यावसायी-दस्यु-म्लेच्छ, चार अवर्ण-असच्छूद्र हैं । प्रत्येक वर्ण की, प्रत्येक अवर्ण की मूलप्रतिष्ठा उसका 'स्व-धर्म्म' ही है, जो ब्रह्म-क्षत्रादि भेद से परस्पर सर्वथा विभिन्न है । साथ ही प्रत्येक वर्ण तथा अवर्ण के स्वधर्म्म की अपेक्षा अन्य यच्चयावत् वर्ण-अवर्णों के स्वधर्म्म पूर्वपरिभाषानुसार परधर्म्म-विधर्म्म-अधर्म्म ही बन रहे हैं । यही प्राकृतिक-जन्मसिद्ध-गुणकर्म्मानुगत वर्णावर्णात्मक स्वधर्म्म का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसका गीताभूमिका-कर्म्मयोगपरीक्षा-'ख' विभाग में विस्तार से विश्लेषण हुआ है । आगे जाकर स्त्रीत्व-बालत्व-पितृत्व-पुत्रत्व-कन्यात्व-पतित्वादि विशेष गुण-कर्म्मों से इस स्वधर्म्म के अवान्तर अनेक भेद हो जाते हैं । पूर्व पूर्व धर्म्म सामान्य कहलाए हैं, उत्तर उत्तर धर्म्म विशेष कहलाए हैं । विशेष स्वधर्म्म विशेषभावों के संरक्षक हैं, सामान्य धर्म्म सामान्यभावों के संरक्षक हैं । दोनों में संघर्ष उपस्थित होने पर विशेषधर्म्म ग्राह्य बन जाता है, सामान्य धर्म्म त्याज्य हो जाता है । क्योंकि सामान्यस्वरूप की अपेक्षा विशेषस्वरूप स्वरूपरक्षा में विशेषरूप से प्रधान माना गया है ।

उदाहरण के लिए यों स्पष्ट कीजिए कि, सत्यभाषण, अहिंसा, आदि मनुष्यसामान्य के स्वधर्म्म हैं । साथ ही विभिन्न राष्ट्रों के देश-काल-शिक्षा-संस्कृति-सभ्यता-आचार-आदि भेदों से सम्बन्ध रखने वाला राष्ट्रधर्म्म प्रत्येक देश का राष्ट्रीय धर्म्म (स्वतन्त्रता) विभिन्न है । यही विभिन्न राष्ट्रीय स्वधर्म्म प्रत्येक राष्ट्र का अपना प्रातिस्विक विशेष-स्वधर्म्म है । यदि कोई दुष्ट राष्ट्र किसी अन्य शान्त-सुसमृद्ध राष्ट्र पर आक्रमण करता है, उसकी श्री का अपहरण करना चाहता है, तो उस दशा में सत्य-अहिंसादि सामान्य स्वधर्म्मों की उपेक्षा कर उस शान्त राष्ट्र को अपने विशेष राष्ट्रीय स्वधर्म्म को आततायी के आक्रमण से बचाना पहिला, एवं प्रधान कर्त्तव्य होगा । अवसर आने पर परिस्थिति के अनुसार इस विशेषभावापन्न, अतएव प्रातिस्विक स्वरूपभूत तत्त्व की रक्षा में इसे असत्य-अहिंसा-आदि का भी अनुगमन करना पड़ेगा । जीवनार्पण करके भी स्वविशेषधर्म्म की रक्षा करना इसका सर्वतोमुख्य कर्त्तव्य होगा । और **'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः, परधर्म्मो भयावहः'** को चरितार्थ करना पड़ेगा । मान लीजिए उस शान्त राष्ट्र में वर्णप्रजा भी निवास करती है, जिसके ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य धर्म्मादि स्वधर्म्म राष्ट्रधर्म्म की अपेक्षा विशेषधर्म्म बने हुए हैं, एवं इन विशेषों की अपेक्षा राष्ट्रीय धर्म्म एक सामान्यधर्म्म । दुर्भाग्य से राष्ट्रधर्म्मवादियों नें यदि इन वर्णधर्म्मों पर आक्रमण कर दिया, तो पहिले इनकी रक्षा करना अनिवार्य्य होगा । स्मरण रखिए, व्यक्ति-धर्म्म ही कुटुम्बधर्म्म की, कुटुम्बधर्म्म ही जातिधर्म्म की, जातिधर्म्म ही देशधर्म्म की, एवं देशधर्म्म ही राष्ट्रधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा बनता है । व्यक्ति के गुणों का ही परम्परया राष्ट्रीय गुणरूप में विकास होता है । व्यक्तिधर्म्म ही परम्परया राष्ट्रधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है । विशेषधर्म्म ही सामान्यधर्म्म का रक्षक है । यही कारण है कि, जिस राष्ट्र का व्यक्तितन्त्र सुपरिष्कृत होता है, वही राष्ट्र सु-योग्य बनता है । ठीक इसके विपरीत जिस राष्ट्र की व्यक्तिसम्पत् अपरिष्कृत रहती है, उस राष्ट्र का, वैसे राष्ट्र की वैसी अयोग्य प्रजा के

आन्दोलनों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारा वह वर्त्तमान राष्ट्रीय आन्दोलन है, जिसने व्यक्तिविकासमूलक आश्रमधर्म्म की, समाजविकासमूलक वर्णधर्म्मरूप विशेषधर्म्मों की न केवल उपेक्षा ही कर रक्खी है, अपितु प्रत्यक्षरूप से आक्रमण करते हुए अपने आपको निस्तत्त्व बना लिया है। निष्कर्षतः-विशेषधर्म्म सदा प्रधान रहता है, एवं सामान्य धर्म्म इसकी तुलना में सदा गौण बना रहता है। विश्वधर्म्म विश्व के लिए स्वधर्म्म है, राष्ट्रीय धर्म्म तद्‌राष्ट्र के लिए स्वधर्म्म है, देशधर्म्म देश का, जातिधर्म्म जाति का, समाजधर्म्म समाज का, कुटुम्बधर्म्म कुटुम्ब का, एवं व्यक्तिधर्म्म व्यक्ति का स्वधर्म्म है। पूर्व पूर्व स्वधर्म्म उत्तरोत्तर के स्वधर्म्मों की अपेक्षा सामान्य बनते हुए गौणकोटि में प्रविष्ट हैं। एवं उत्तर-उत्तर स्वधर्म्म पूर्व पूर्व के स्वधर्म्मों की अपेक्षा विशेष बनते हुए प्रधानकोटि में निविष्ट हैं।

३६–स्वधर्म्मानुगत स्वातन्त्र्य, एवं परधर्म्मानुगत पारतन्त्र्य—

'स्व' का प्रधान अर्थ है–'आत्मा', जिसका व्यक्ति से सम्बन्ध है। आत्मतन्त्रात्मक व्यक्तितन्त्र ही स्व-तन्त्र है। इसकी रक्षा-विकास से ही आगे के सामान्य-परतन्त्र स्व-तन्त्र में भुक्त रहते हैं। जब हम ही स्व-तन्त्र में प्रतिष्ठित नहीं, तो अन्य तन्त्र कैसे हमारे तन्त्र बन सकेंगे ?, एवं उस दशा में उन परधर्म्मों को हम कैसे स्वधर्म्म बना सकेंगे ?, यह उन्हीं स्वतन्त्रताप्रेमियों से पूँछना चाहिए, जो स्वतन्त्रतामूलक स्वधर्म्म का तात्त्विक स्वरूप न जान कर व्यक्तितन्त्र की उपेक्षा कर अपना, और अपने साथ राष्ट्र का भी सर्वस्व नष्ट करने के भगीरथ प्रयास में तल्लीन हैं। निम्न लिखित परिलेखों से निरूपित स्वधर्म्मादि के स्वरूपों का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो रहा है।

अखण्डस्फोटरूपाव्ययाधारेण–अक्षरानुगतगुण,–क्षरानुगतकर्म्मभ्यां समुत्पन्ना-वर्णावर्णसृष्टिः, तदनुगताः स्वधर्म्माश्च

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥

१–(अव्ययानुगतः)——अखण्डस्फोटः—सर्वात्मकः—वर्णावर्णसृष्टेरालम्बनम् (१)

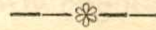
२–(अक्षरानुगताः)——स्वराः——सौराः
३–(आत्मक्षरानुगताः)—-वर्णाः——पार्थिवाः } —-वर्णसृष्टेः प्रतिष्ठाभूमिः (२)
४–(विकारक्षरानुगतानि)-व्यञ्जनानि-भौमानि } —-अवर्णसृष्टेः प्रतिष्ठाभूमिः (३)

——❀——

(१) 'अ' कारः-ब्रह्मानुगतोऽग्निः———तदनुगतं ब्रह्म
(२) 'इ' कारः-विश्वानुगता विश्वेदेवाः—तदनुगतो विट् — अक्षरप्रधाना वर्णसृष्टिः (१)
(३) 'उ' कारः-इन्द्रानुगतः-इन्द्रः———तदनुगतं क्षत्रम्

(४) 'ऋ' कारः-दिव्यभूतम्————तदनुगतः सच्छूद्रः]-विकारगर्भितात्मक्षरप्रधाना वर्ण-सृष्टिः (२)

(५) 'लृ'कारः-आसुरभूतम्————तगनुगतः-असच्छूद्रः]-आत्मक्षरगर्भितविकारक्षरप्रधाना अवर्णसृष्टिः (३)



१	१-ब्राह्मणः (अ)-ब्रह्म-अग्निः—तदनुगतो धर्म्मः-ब्राह्मणजातेः स्वधर्म्मः			-द्विजातिवर्गः		-वर्णसृष्टिः
	२-क्षत्रियः (उ)-इन्द्रः-मरुत्वान्	,,	-क्षत्रियजातेः ,,			
	३-वैश्यः (इ)-विष्णुः-इन्द्रः	,,	-वैश्यजातेः ,,			
	४-सच्छूद्रः (ऋ)-अग्निः-पूषा	,,	-सच्छूद्रजातेः ,,	—सच्छूद्रवर्गः		
२	५-अन्त्यजः (लृ)-सोमः-भूतम्	,,	-अन्त्यजानां ,,	-असच्छूद्रवर्गः]-अवर्णसृष्टिः		
	६-अन्त्यावसायी (लृ)-सोमः-भूतम्	,,	-अन्त्यावसायिनां ,,			
	७-दस्युः (लृ)-सोमः-भूतम्	,,	-दस्यूनां ,,			
	८-म्लेच्छः (लृ)-सोमः-भूतम्	,,	-म्लेच्छानां ,,			

३७-मर्त्य--अमृत-भावात्मिका जीवसंस्था—

महामाया की सर्वव्याप्ति के कारण ईश्वर को सर्वधर्म्ममूर्त्ति बतलाया गया है। यही सर्वता इसकी पूर्णता है। यद्यपि तदंशभूत जीव, और जगत्, दोनों ईश्वरविवर्त्त भी **'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'** सिद्धान्तानुसार पूर्ण ही हैं। तथापि इस पूर्णता का पूर्ण विकास जीवविवर्त्त में हीं हुआ है। कारण पूर्व में बत-लाया जाचुका है। जो मध्यस्थ होता है, उसमें दोनों ओर के धर्म्मों का पूर्ण समन्वय रहता है। त्रिपुरुष-विवर्त्त में अक्षर मध्यस्थ है। जीव का अपना स्वरूप अक्षरानुगत है। अतएव इसमें ऊर्ध्वस्थानीय अव्यय-प्रधान ईश्वरधर्म्म का भी समावेश होरहा है। एवं अधः स्थानीय क्षरप्रधान जगद्धर्म्म का भी समावेश होरहा है। योगेश्वर के तात्त्विकस्वरूप-निरूपण में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, जो अखण्ड-सखण्ड-आत्मपर्व-

विभाग ईश्वरानुगत हैं, उन सबका जीव में भी समन्वय है। इस पूर्णता-सम्पत्ति का प्रधान साधन है विज्ञानात्मा नामक बुद्धितत्त्व। मध्यस्थ, अतएव अक्षरानुगत, सूर्य्य से प्रभूत बुद्धितत्त्व भी मध्य में प्रतिष्ठित है। इससे ऊर्ध्वभाग में अव्यक्तगर्भित महानात्मानुगत अमृतात्मलक्षण ईश्वरतत्त्व प्रतिष्ठित है, एवं अधोभाग में प्रज्ञानात्मगर्भित भूतात्मानुगत मर्त्यलक्षण जगत्तत्त्व प्रतिष्ठित है। मध्यस्थ अक्षरानुगत जीवतत्त्व मध्यस्था बुद्धि से युक्त रहता हुआ दोनों तत्वों से अनुगृहीत होरहा है। बुद्धिगत अमृतसम्पत्ति से अव्ययानुगत ईश्वरभाव का, बुद्धिगत मर्त्यसम्पत्ति से क्षरानुगत जगद्भाव का इस उभयात्मिका जीवसंस्था में समावेश होरहा है।

३८-मनुष्य-पशु-पक्षी-कीट-कृमि-सर्ग, और बुद्धितारतम्य—

उक्त विवेचन से एक निष्कर्ष और निकल आया। जिन जीवों में बुद्धि का विकास रहेगा, उनमें हीं उक्त उभयविध पूर्णत्व का विकास रहेगा। कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य, इन पञ्चविध-रजोविशाल-मध्यस्थ जीव सर्गों में बुद्धिविकास तारतम्य से प्रतिष्ठित है। कृमिजीवों में बुद्धितत्त्व प्रज्ञानमन से सर्वथा अभिभूत है। इनकी अपेक्षा कीटजीवों में थोड़ा विकास है, तदपेक्षया पक्षियों में, तदपेक्षया पशुओं में बुद्धि उत्तरोत्तर अधिकमात्रा में विकसित है। इस क्रमिक विकास का पूर्ण विश्राम मनुष्यजीव पर होरहा है। अतएव जीवसर्गमात्र में पुरुषविध जीव ही बुद्धिमान् माना गया है। बुद्धिगत चिदंश का विकसित रहना ही बुद्धि का विकास है। चिदंश उस पुरुषात्मा (अव्ययात्मा) का अंश है, जो **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** सिद्धान्तानुसार बुद्धि से परे प्रतिष्ठित है। बुद्धि से परे अव्यक्तात्मगर्भित पारमेष्ठ्य महानात्मा प्रतिष्ठित है। सर्वव्यापक, अव्ययप्रधान चिदात्मा (ईश्वर) का इस अव्यक्तगर्भित वीध्र महानात्मा पर ही अंशात्मना प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित होता है, जैसा कि **'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्'** इत्यादि गीताराद्धान्त से प्रमाणित है। महद्गर्भित चिदात्मा ही **'प्रत्यगात्मा'** कहलाया है, यही अव्ययप्रधान पुरुषात्मा है, यही आध्यात्मिक ईश्वरात्मा है। सर्वप्रथम इसके चिद्भाव का अनुग्रह बुद्धि पर होता है। क्योंकि-बुद्धि, मन, भूतात्मा, आदि खण्डात्माओं में बुद्धि ही उसके सन्निकट है। बुद्धिलक्षण विज्ञानात्मा के अमृतविज्ञानात्मा, मर्त्यविज्ञानात्मा, ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। अमृतविज्ञान विद्याबुद्धि नाम से, मर्त्यविज्ञान अविद्याबुद्धि नाम से व्यवहृत हुआ है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। इस दृष्टि से अमृतसूर्य्यानुगत विद्याप्रधान **विज्ञानात्मा** (विद्याबुद्धि), मर्त्यसूर्य्यानुगत अविद्याप्रधान **विज्ञानात्मा** (अविद्याबुद्धि), **चान्द्र प्रज्ञानात्मा**, पार्थिव **भूतात्मा**, भौम **अग्न्यात्मा**, ये पाँच खण्डात्मा हो जाते हैं। अध्यात्मसंस्था में ईश्वरीय गूढोत्मा, जैव गूढोत्मा, अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा, अग्न्यात्मा, जिन इन आठ पर्वों का पूर्व में अनेकधा स्वरूपविश्लेषण हुआ है, उन आठों में से पाँचवाँ विज्ञानात्मा उभयविध बन रहा है। फलतः ८ के ९ आत्मपर्व हो जाते हैं। इन ९ आत्मपर्वों में से आरम्भ के चार आत्मपर्वों का तो अव्ययप्रधान ईश्वरात्मविवर्त्त में भोग हो रहा है। शेष रह जाते हैं पाँच आत्मपर्व। इन पाँचों का क्रमशः मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, कृमि, इन पांच जीववर्गों में प्राधान्य रहता है। जिसका अर्थ यह होता है कि, विद्याबुद्धिरूप अमृतविज्ञानात्मप्रधान मनुष्य में सौर चैतन्य सर्वापेक्षया अधिक है। अतएव यह सीधा खड़ा रहता है। अविद्याबुद्धिरूप मर्त्यविज्ञानात्मप्रधान पशुवर्ग में मनुष्यापेक्षया सौर चैतन्य कम है। तदपेक्षया प्रज्ञानप्रधान पक्षी में, तदपेक्षया भूतात्मप्रधान कीट में, एवं तदपेक्षया अग्न्यात्मप्रधान कृमि में सौर चैतन्य अल्पमात्रा से प्रविष्ट है। सूर्य्योपलक्षिता द्यु जीवसृष्टि का पिता है, पृथिवी माता है। इस द्यावापृथिव्य रस से ही जीवसर्ग प्रवृत्त हुआ है। द्यावापृथिव्य रस के तारतम्य से ही जीवसर्ग पाँच भागों में विभक्त हो रहा

है। जिन जीवों में सौररस स्वल्पातिस्वल्पमात्रा में प्रविष्ट है, पार्थिवरस का ही जिनमें प्राधान्य है, विज्ञानभाषा में भौम अग्न्यात्मा ही जिनमें प्रधान है, पार्थिवरसप्रधान वे ही जीव 'कृमि' कहलाए हैं। क्योंकि इनमें पार्थिवरस का ही प्राधान्य है, अतएव ये भूतल को नहीं छोड़ सकते। पृथिवी पर रेंग रेंग कर ही इनकी जीवनयात्रा का निर्वाह होता है। यही प्रथम जीवसर्ग है। सौर तत्त्व कुछ अधिक मात्रा में आया, फलस्वरूप पार्थिव बन्धन अंशतः शिथिल हुआ। यही विज्ञानभाषा में पार्थिव भूतात्मप्रधान 'कीट' नामक जीव कहलाए है। सौर रसाधिक्य से ही इनमें भूतल को छोड़ कर उड़ने की भी शक्ति का समावेश हुआ। और अधिक सौर-रस का आगमन हुआ। इससे चान्द्र प्रज्ञानानुगत पक्षी नामक जीवसर्ग का विकास हुआ। प्रज्ञान-विकास के सम्बन्ध से ही इस जीवसर्ग में प्रज्ञानानुगत–ऐन्द्रियक–आहार–निद्रा–भय–मैथुन–धर्म्मों का स्पष्टरूप से विकास हुआ। आगे चल कर सौर पार्थिव रसों का समतुलन हुआ। जितना हीं सौर रस, उतना हीं पार्थिव रस। फलतः शिरोभाग, और पुच्छभाग, दोनों समतुलित हो गए। ये ही मर्त्यसौरविज्ञानात्मप्रधान 'पशु' नामक जीव कहलाए। अब आगे चल कर सौर रस तो प्रवृद्ध हुआ, और पार्थिव रस क्षयिष्णु बना। यही अमृतसौरविज्ञानात्म-प्रधान 'मनुष्य' नामक जीव कहलाया। क्योंकि इसमें सौर रस पार्थिव रसापेक्षया अधिक मात्रा में प्रविष्ट हुआ, अतएव पशुसर्गवत् मस्तक–पुच्छ भागों से समतुलित न रह कर यह सौरभावानुगत मस्तक भाग से खड़ा हो गया। तात्पर्य्य-जीवसृष्टि का उपक्रमस्थान सूर्य्य है, जो सूर्य्य मध्यस्थ बनता हुआ मध्यस्थ अक्षर से अनुगृहीत है। अमृतात्मक सौर रस, मर्त्यसौर रस, चान्द्र रससंश्लिष्ट सौर रस, पार्थिवरससंश्लिष्ट सौर रस, एवं भौम भूत-संश्लिष्ट सौर रस, भेद से इसकी पाँच अवस्था हो गईं। इन पाँचों से ही क्रमशः उक्त पाँच जीवसर्गों का विकास हुआ। इसी आधार पर–**'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः'–'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः'–'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** इत्यादि नैगमिक सिद्धान्त स्थापित हुए।

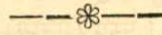
१
- १ १–ईश्वरीयगूढोत्मा (सर्वव्यापकः)
- २ २–जैवगूढोत्मा (शरीरपरिच्छिन्नः)
- ३ ३–अव्यक्तात्मा (स्वायम्भुवः)
- ४ ४–महानात्मा (पारमेष्ठ्यः)

—अव्ययप्रधानः—ईश्वरात्मा

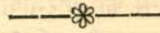
२
- ५ ५–अमृतविज्ञानात्मा (सौरः)]–(मनुष्यः)
- ६–मर्त्यविज्ञानात्मा (सौरः)]–(पशुः)
- ६ ७–प्रज्ञानात्मा (चान्द्रः)]–(पक्षी)
- ७ ८–भूतात्मा (पार्थिवः)]–(कीटः)
- ८ ९–अग्न्यात्मा (भौमः)]–(कृमिः)

—अक्षरप्रधानः—जीवसर्गः

३ *-भूपिण्डः.................................]-क्षरप्रधानं—जगत्



१-अमृतविज्ञानात्मप्रधाना जीवाः	-सौररसप्रधानाः	-विज्ञानयुक्ताः	-मनुष्याः
२-मर्त्यविज्ञानात्मप्रधाना जीवाः	-सौरपार्थिवरससमतुलिताः	-बुद्धिमन्तः	-पशवः
३-प्रज्ञानात्मप्रधाना जीवाः	-सौररसगर्भितचान्द्ररसप्र०	-प्रज्ञोपजीविनः	-पक्षिणः
४-भूतात्मप्रधाना जीवाः	-सौररसगर्भितपार्थिवर०	-अन्नपरायणाः	-कीटाः
५-अग्न्यात्मप्रधाना जीवाः	-सौररसगर्भितभौमरस०	-शरीरपरायणाः	-कृमयः



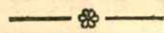
प्रकारान्तरेण समन्वयः—

१— १-स्वयम्भूः (अव्यक्तात्मा)—अव्यक्तम्
२-परमेष्ठी (महानात्मा)—महत्
—तत्प्रधानो मानवः (ईश्वरनेदिष्ठः:)
—ईश्वरः (स्वयम्भूः) -अव्ययानुगतः(पुरुषः)

३-सूर्य्यः (अमृतविज्ञानात्मा)-विद्याबुद्धिः—तत्प्रधाना मनुष्याः-जीवाः

२— १-सूर्य्यः (मर्त्यविज्ञानात्मा)-अविद्याबुद्धिः—तत्प्रधानाः पशवः-जीवाः
२-चन्द्रमाः (प्रज्ञानात्मा)-मनः—तत्प्रधानाः-पक्षिणः-जीवाः
३-पृथिवी (भूतात्मा)-शरीरी—तत्प्रधानाः कीटाः-जीवाः
४-भूपिण्डः (चित्यात्मा)-शरीरम्—तत्प्रधानाः कृमयः जीवाः
—जीवः(सूर्य्यः)-अक्षरानुगतः (प्रकृतिः)

३— १-भौमपदार्थाः (चित्याः)-विषयाः—तत्प्रधानाः पाषाणलोष्टादयः जगत्
—जगत् (भूपिण्डः)-क्षरानुगतः (विकृतिः)



३६-पुरुषार्थी मानव, एवं भोगार्थी जीव-

उक्त समन्वय-परिलेख को लक्ष्य बना कर प्रक्रान्त विषय का समन्वय कीजिए। परिलेख में पाठक देखेंगे कि, पञ्चविध जीवसर्गों में से बुद्धि का पूर्ण विकास भी अमृतविज्ञानात्मप्रधान मनुष्यविध जीवसर्ग

में ही है, साथ ही चिदात्मलक्षण-पुरुष (ईश्वर) के निकटतम भी पाँचों में मनुष्य ही है। इसी आधार पर श्रुति का—'पुरुषो (मानवो) वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इसी निकटतम सम्बन्ध के कारण अक्षररूप प्रकृतितत्त्व को अपनी मूलप्रतिष्ठा रखता हुआ भी मनुष्य अव्ययात्मक पुरुषधर्म्मानुगति से 'पुरुष' नाम से व्यवहृत होने लगा है। पुरुष (मनुष्य) के अतिरिक्त शेष पश्वादि चारों सर्ग विशुद्ध प्राकृतिक जीव हैं। प्रकृति ही इनका सञ्चालन करती है। ये स्वतन्त्र पुरुषार्थ करने में असमर्थ हैं। पुरुष (अव्यय) गत पौरुष (मुक्ति) ही पुरुषार्थ कहलाया है। प्रकृतितन्त्र-प्राधान्य से ये प्राकृत जीव पुरुषार्थ नहीं कर सकते। इन्हें प्रकृति जिस जीवनधारा में प्रवाहित रखती है, उसी ओर इन्हें प्रवाहित रहना पड़ता है। परन्तु पुरुष (मनुष्य) विद्याबुद्धि के अनुग्रह से, साथ ही पुरुष (अव्यय) धर्म्मानुगति से पुरुषार्थशाली बनता हुआ स्वमुक्तिपथान्वेषण में समर्थ हो जाता है। पुरुष (मनुष्य) ही पुरुषार्थ (अव्ययार्थ) सम्पादन कर सकता है। पश्वादि जीव पुरुषार्थसाधन में असमर्थ रहते हुए केवल 'भोगजीव' ही मानें गए हैं।

४०–प्राकृत–भोगार्थी जीवों की प्राकृत-धर्म्मानुगति–

उक्त विवेचन ने यहाँ आकर स्वधर्म्म की परिभाषा अंशतः बदल डाली। जीव का 'स्व' भाव (आत्मा) अक्षरप्रधान है। अक्षर प्रकृति है। प्रकृतिधर्म्म ही जीव का 'स्वधर्म्म' है। एवं अक्षरानुगत जीव-सर्ग की अपेक्षा से 'स्वधर्म्म' का अर्थ जीवधर्म्म ही माना जायगा। क्योंकि अव्ययानुगत ईश्वरधर्म्म, तथा क्षरानुगत जगद्धर्म्म, दोनों इस अक्षरधर्म्मापेक्षया 'परधर्म्म' ही बन रहे हैं। शास्त्रोपदेश का लक्ष्य है जीव, न कि ईश्वर, और जगत्। फलतः **'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः'** वाक्य में पठित 'स्वधर्म्म' का अर्थ निकलता है एकमात्र-अक्षर-धर्म्म, प्रकृतिधर्म्म। शुक्रशोणित के मिथुनरूप में कर्म्मभोक्ता-औपपातिक जीवात्मा प्रविष्ट हो कर नवमासानन्तर भूमिष्ठ बनता है, जन्म लेता है। प्रत्यक्षतः इसमें इन्द्रियाँ रहतीं हैं। फलतः सर्वप्रथम इन्द्रियव्यापारलक्षण-श्रवण, दर्शन, रुदन, हसन, हस्तपादसञ्चालनादि इसके प्राकृतिक धर्म्म बनते हैं। मलमूत्रोत्सर्ग, बुभुक्षा, पिपासा, निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य, आदि भी इसी प्रकृतिमर्य्यादा में प्रविष्ट हैं। समय पाकर यह बड़ा होता है। प्राप्तवयस्क होने पर शुक्र-शोणित (वृषा में शुक्र, एवं योषा में शोणित) का वेग प्रवृद्ध होता है। 'जाया मे स्यात्' कामना से दाम्पत्यभाव होता है। सन्तति होती है। उसके पालन-पोषण के लिए दम्पती उद्योग में प्रवृत्त होते हैं। सञ्चय करते हैं, आप खाते पीते हैं, सन्तति का पालन करते हैं। इसप्रकार यावदायुर्भोगपर्य्यन्त यही सब कुछ होता रहता है। अन्त में जीवात्मा शरीर से उत्क्रान्त हो जाता है। (आगे क्या होता है ?, इस प्रश्न को छोड़ते हुए) ये ही तो सब कुछ जीवप्रकृति के प्राकृतिक धर्म्म हैं। यही तो स्वधर्म्म है। कौन प्राणी इस स्वधर्म्म से वञ्चित है। सभी तो एवंविध स्वधर्म्म का पालन करते करते ही एक दिन निधनावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। और इस दृष्टिकोण से जीवमात्र श्रेयःपन्था का ही तो अनुगमन कर रहे हैं। फलतः-**'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः'** का बिना आदेश के ही पालन सिद्ध हो रहा है। ओमित्येतत्। जीवमात्र का यह स्वधर्म्म है, यह निर्विवाद, साथ ही शास्त्रसम्मत भी। ऐसे स्वधर्म्म का अनुगमन, ऐसे स्वधर्म्मानुगमन के योग्य ज्ञान प्राणिमात्र में है। इस जीवसामान्य के सामान्य स्वधर्म्म-की मूल प्रतिष्ठा अक्षरानुगता, किंवा अक्षरात्मिका वह योगमाया है, जिसने अक्षरानुगत मोहसाधन के द्वारा प्राणिमात्र को एवंविध स्वधर्म्म में निमग्न कर रक्खा है, जिसका रहस्यशास्त्र में निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है।

ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे ॥
विषयश्च महाभाग ! याति चैवं पृथक् पृथक् ॥१॥
दिवान्धाः प्राणिनः केचिद्रात्रावन्धास्तथापरे ॥
केचिद्दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टयः ॥२॥
ज्ञानिनो मनुजाः सत्यं, किन्तु ते नहि केवलम् ॥
यतो हि ज्ञानिनः सर्वे पशु-पक्षिमृगादयः ॥३॥
ज्ञानं च तन्मनुष्याणां यत्तेषां मृगपक्षिणाम् ॥
मनुष्याणाञ्च यत्तेषां तुल्यमन्यत्तथोभयोः ॥४॥
ज्ञानेऽपि सति पश्यैतान् पतङ्गाञ्चावचञ्चुषु ॥
कणमोहादृतान् मोहात् पीड्यमानानपि क्षुधा ॥५॥
मानुषा मनुजव्याघ्रा साभिलाषाः सुतान् प्रति ॥
लोभात् प्रत्युपकाराय नन्वेतान् किं न पश्यसि ॥६॥

❀ ❀ ❀

तथापि ममतावर्त्ते मोहगर्त्ते निपातिताः ॥
महामायाप्रभावेण संसारस्थितिकारिणा ॥७॥
तन्नात्र विस्मयः कार्य्यो योगनिद्राजगत्पतेः ॥
महामाया हरेश्चैषा तथा संमोह्यते जगत् ॥८॥

❀ ❀ ❀

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥९॥

❀ ❀ ❀

४१–प्राकृत–धर्म्मातिक्रान्त स्वतन्त्रप्रज्ञ भोगार्थी मानव–

वर्त्तमान दृष्टिकोण के अनुसार–यों कह लीजिए कि, 'खाना–पीना–मौज उड़ाना–ऐसा करते करते एक दिन मर जाना' यही जीवमात्र का वह अनाद्यनन्त प्राकृतिक स्वधर्म्म है, जिसका ज्ञान जन्मतः सब को प्राप्त है। एवं जिसे वर्त्तमानशिक्षा पुष्पित–पल्लवितमात्र कर देती है। सभी तो इस दृष्टि से धर्म्मात्मा हैं। सभी तो स्वधर्म्म के लिए जीते और मरते हैं। क्या यही वह 'स्वधर्म्म' है !, जिसका पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा गीताशास्त्र में स्पष्टीकरण हुआ है !, क्या यही वह स्वधर्म्म है, जिसके स्पष्टीकरण के लिए मन्वादि धर्म्मशास्त्रोंका महारम्भ प्रयास प्रवृत्त हुआ है ?। यदि हाँ, तो शास्त्र अनावश्यक हैं। पशु-पक्षी कब शास्त्र पढ़ते हैं?,

कहाँ शिक्षा प्राप्त करते हैं ? । फिर भी मे स्वधर्म्मपालन तो करते ही हैं । फिर मनुष्य नामक जन्तुविशेषने, जिसे **'ज्ञानिनो मनुजाः सत्यम्'**के अनुसार इतर प्राणियों की अपेक्षा जन्मतः अधिक ज्ञानसम्पत्ति मिली है, क्या वह मनुष्य बिना शास्त्र के स्वधर्म्म का पालन नहीं कर सकता ? । कर सकता है, करता है, भविष्य में भी करता रहेगा । अपने यथाजात ज्ञान से पश्वादि जिस स्वधर्म्म का पालन जैसे सहजभाव से करते चले आरहे है, वैसे ही मनुष्य भी बिना शास्त्र के केवल अपने सहजज्ञान से ही इस स्वधर्म्मपालन में दक्ष है । किन्तु······।

इस 'किन्तु' ने थोड़ी विप्रतिपत्ति उपस्थित कर दी । जीवसामान्य के जीवत्त्वानुगत उक्त सामान्य-भावात्मक स्वधर्म्म के साथ साथ प्रत्येक जाति के जीवों की प्रकृति विभिन्न है । इसी प्रातिस्विक प्रकृति के अनुरोध पर उस जीव को चलना पड़ता है । वही प्रातिस्विक प्रकृति उस जीववर्ग का 'स्वधर्म्म' है । अन्न सब खाते हैं, परन्तु प्रकृतिभेद से सभी अन्न सब वर्गों के लिए नियत नहीं है । पशु घास खाएँगे, पक्षी अन्नकण खाएँगे, कीट ओषधि-वनस्पतिरस का पान करेंगे, कृमि मिट्टी-मलभागादि खाएँगे । इसी प्रकृतिभेद के अनुपात से मनुष्यजन्तु के भी आहारविहारादि नियत हैं । यच्चयावत् प्राणी स्व–स्व–प्रकृत्यनुगत नियत स्व–स्व आहारादि लक्षण स्वधर्म्मपालन में हीं प्रवृत्त रहते है । परन्तु मनुष्य इस प्राकृतिक नियम का अपवाद बन जाता है । क्यों ?, ज्ञानमात्रा जो इसको अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक मिली है । इसी से यह स्वतन्त्रप्रज्ञ बन कर प्राकृतिक मर्य्यादा का उल्लंघन कर जाता है । **'न देवा अतिक्रामन्ति, न असुराः, न पशवः, न पितरः, मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति'** (शत० ब्रा०) इत्यादि श्रुति ने भी मानवीय मन की इस अमर्य्यादा का ही समन्वय किया है । मनुष्य पशु खालेगा, पक्षी खा जायगा, कीट–कृमि खाजायगा, सब कुछ खाजायगा, पी जायगा, न करने का काम कर लेगा, और इसप्रकार अपने ज्ञानविकास का दुरुपयोग करता हुआ यह स्वधर्म्म का अतिक्रमण कर डालेगा । इसप्रकार यह श्रेष्ठ मानव स्वधर्म्मभूत मानवधर्म्म की उपेक्षा कर पशुधर्म्मादि अन्य परधर्म्मों का अनुगामी बनता हुआ **'मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति'** को सार्थक बना देगा ।

४२–आधिकारिक, कर्म्मानुगत, भोगानुगत त्रिविध जीव, एवं मानव का बुद्धियोग–

वैज्ञानिकों नें हमें बतलाया है कि-आधिकारिक, कर्म्मानुगत, भोगानुगत, भेद से जीववर्ग तीन भागों में विभक्त है । प्रकृतितन्त्र की ओर से विभिन्न सृष्टिकर्म्माधिकारों पर आरूढ़ सूर्य्य-चन्द्र-ग्रहादि जीव आधिकारिक जीव हैं । **'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्'** (वेदान्तसूत्र) सिद्धान्तानुसार आविर्भाव-समय से आरम्भ कर निधनपर्य्यन्त अपने अधिकृत कर्म्म में नियमतः आरूढ रहने वाले ये जीव कर्म्मबन्धन से असंस्पृष्ट हैं । कर्म्मस्वातन्त्र्य में असमर्थ, केवल फलभोक्ता पश्वादि जीव भोगजीव हैं । आधिकरिक, तथा भोगजीव, दोनों के स्वधर्म्मपालन का उत्तरदायित्त्व ईश्वरीय प्रकृतितन्त्र पर अवलम्बित है, जिस तन्त्र का **'भीषास्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्य्यः'** इत्यादि वचन से समर्थन हुआ है । शेष रह जाता है–कर्म्मजीववर्ग, जिसे 'मानव' उपाधि प्राप्त है । ऋत के प्रथमज होने के गौरव से विभूषित इस मानवजीवसंस्था में ईश्वरवत् जीव भी तन्त्रायी बन जाता है । अपने तन्त्र का स्वातन्त्र्य ही इसे प्रकृतिधर्म्म से वञ्चित कर देता है । और इस वञ्चना का मूलद्वार बनता है–क्षरानुगत प्रज्ञानमन । प्रज्ञानमन इन्द्रियों के द्वारा बहिर्मुख बना रहता है । जीवानुगत स्वलक्षणतत्त्व का मध्यस्था विज्ञानात्मिका विद्याबुद्धि से सम्बन्ध बतलाया गया है । यदि मन स्वतन्त्र बन जाता है, तो बुद्धिरूप स्वधर्म्म को मन के प्रति आत्मसमर्पण कर देना पड़ता है । मन क्षरप्रधान होने

से मर्त्यभावापन्न है । इसके प्रति आत्मसमर्पण करते ही बुद्धि उस ऊर्ध्वस्थानीय अव्ययधर्म्म से पृथक् होकर अविद्या (मर्त्य) भावापन्ना होजाती है । बुद्धि का स्वाभाविक सदसद्विवेकलक्षण धर्म्म अभिभूत होजाता है, जिसके बल पर जीव स्वधर्म्मपालन में समर्थन हुआ करता है । बुद्धि के प्रति यदि जीवात्मा का आत्मसमर्पण रहता है, तो इस योग से अव्ययद्वारा बुद्धि का स्वाभाविक विद्याभाग विकसित रहता है । ऐसी विद्याबुद्धि पर मन विजय प्राप्त नहीं कर सकता । अपितु बुद्धि मन पर विजय प्राप्त कर लेती है । बुद्धि मन के साथ रहे, यह एक दृष्टिकोण है । मन बुद्धि के साथ रहे, यह एक दृष्टिकोण है । 'बुद्धियोग' शब्द दोनों स्थानों में प्रयुक्त होसकता है । और इसी आधार पर मनुष्य के यच्चयावत् योगों को 'बुद्धियोग' कहा जासकता है । परन्तु बुद्धिगर्भित मन से युक्त बुद्धियोग आत्मयोग से भी वञ्चित है, साथ ही सहजयोग का विरोधी बनता हुआ योगविरोधी भी है । अव्ययात्मा से बुद्धि युक्ता है, बुद्धि से मन, मन से इन्द्रियवर्ग, इससे कर्म्म, युक्त है । एवं यह है सहजपरम्परानुगत सहज बुद्धियोग । अक्षरात्मा मन से, मन के गर्भ में बुद्धि, बुद्धिगर्भित मन का इन्द्रिय-वशवर्तित्व, इन्द्रियों की विषयारामता, यह कृत्रिम परम्परा है । यहाँ भी बुद्धि युक्त अवश्य है, परन्तु अपने रूप से नहीं, अपितु मनःप्राध्यान्य से । यही अयोगात्मक बुद्धियोग है, जो स्वधर्म्ममर्य्यादा से एकान्ततः बहिष्कृत है । स्वधर्म्मानुगत तात्त्विक योग प्रकृतितत्त्वपरिज्ञानसापेक्ष है । इसे प्राप्त कर तदनुरूप कर्म्मानुष्ठान करना ही मानवधर्म्म है, यही इसका स्वधर्म्म है । सौभाग्य से प्रकृतितत्त्व-परिज्ञान प्राप्त करने योग्य विद्याबुद्धि भी इस में प्रकृत्या प्राप्त है । परन्तु इसका स्वधर्म्म में उपयोग न कर यह परधर्म्म (मनोऽनुगत इन्द्रियादि धर्म्म) में उपयोग कर इसे अविद्याभाव में परिणत कर देता है । यही इसके पतन का मूल कारण है, जिस कारण के निदान के लिए ही गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है, जिसका मूलसूत्र है वह बुद्धियोग, जिसका अव्ययानुगति से सम्बन्ध है । वह बुद्धितत्त्व, जिसका प्रभव आधिदैविक बुद्धितत्त्व है । उसी (सूर्य्य, की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है ।

४३-सूर्य्य के जन्मदाता परमेष्ठी—

प्रसङ्गोपात्त 'स्वधर्म्म' का स्वरूपविश्लेषण किया गया । बुद्धिशब्दनिर्वचनोपक्रम में कहा गया है कि, आधिदैविक बुद्धितत्त्व (सूर्य्य) विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित है । जिस प्रकार बुद्धि का प्रभव सूर्य्य है, वैसे सूर्य्य का प्रभव कौन ?, प्रश्न के उत्तर में श्रुति ने-आपोमय 'परमेष्ठी' की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है । श्रुति ने वतलाया है कि, पारमेष्ठ्यमण्डल वह मण्डल है, जिसके गर्भ में पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व से सूर्य्य का प्रादुर्भाव हुआ है । **'आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्'** सिद्धान्तानुसार अप्तत्त्व भृगु-अङ्गिरा भेद से दो भागों में विभक्त है । आपः-वायुः-सोम-समष्टि भृगुत्रयी है, अग्नि-यम-आदित्य-समष्टि अङ्गिरात्रयी है । आपः का-आदित्य से, वायु का यम से, एवं सोम का अग्नि से सम्बन्ध है । पारमेष्ठ्य सोम भी ऋत है, पारमेष्ठ्य अग्नि भी ऋत है । इस ऋत सोम की ऋताग्नि (परमाणुरूप से आपोमय समुद्र में व्याप्त अग्नि) में आहुति हुई, अग्नि बलशाली बन कर पुञ्जीभूत होने लगा । चिरकालिक इस व्यापार से परमेष्ठीमण्डल के गर्भ में बलवान् ऋताग्नि घनपिण्डरूप में परिणत हो गया । प्रत्यक्षदृष्ट स्वज्योतिर्घन वही सत्यभावात्मक केन्द्रीय अग्नि पिण्ड 'सूर्य्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

४४-परमेष्ठी के जन्मदाता स्वयम्भू, एवं सर्वप्रभव आत्मपुरुष—

यह तो हुआ उस भौतिक प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्य के जन्मेतिवृत्त का विश्लेषण, जिसका वर्त्तमान भौतिक-विज्ञानवादी भी अपनी स्थूलदृष्टि से समर्थन कर सकेंगे। अब उस आधिदैविक तत्त्वात्मक सूर्य्यस्वरूप का विचार कीजिए, जिसका बुद्धितत्त्व से सम्बन्ध है। सूर्य्य के जन्मदात्मा परमेष्ठी का जन्मदाता कौन ?, वैज्ञानिकों नें समाधान किया-आकाशात्मा प्राणमूर्त्ति स्वयम्भू। प्राणमूर्त्ति स्वयम्भू का जन्मदाता कौन ?, उत्तर मिला 'आत्मा'। आत्मा का जन्मदाता कौन ?, उत्तर मिला, 'मातिप्राक्षीः'। आत्मा स्वयं सबका जन्मदाता है, अतएव वह नित्य है, शाश्वत है, अजन्मा है, अनुच्छित्तिधर्म्मा है। एवंविध आत्मा का क्या स्वरूप ?, प्रश्न का उत्तर मिला-क्षराक्षरगर्भित अव्ययपुरुष। इसने कैसे और किससे स्वयम्भू उत्पन्न किया ?, प्रश्न का उत्तर मिला-इसने अपनी अव्ययानुगता मानस कामना से अक्षरानुगत प्राणात्मक तप से, क्षरानुगत वाङ्मय श्रम से, इन तीन व्यापारों से, तथा क्षरात्मक तीसरे वाग्भागोपादान से स्वयम्भू उत्पन्न किया। इसे उत्पन्न कर आत्मा कहाँ रहा ?, उत्तर मिला-**'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'**-उत्पन्न कर वह उसी में प्रविष्ट होगया। आगे क्या हुआ ?, प्रश्न का समाधान हुआ-**'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत'**-स्वायम्भुवी आकाशात्मिका वाक् ही यत्किञ्चित्-प्रदेश से द्रुत होकर ऋत-अप्तत्त्वरूप में परिणत हो गई, यही अपतत्त्वमण्डल 'सरिर' (सलिल) नाम का आपोमय मण्डल कहलाया, एवं 'तत्सृष्ट्वान्याय' से आत्मगर्भित स्वयम्भू इस परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित हो गया। इसप्रकार-पुरुषात्मा, स्वयम्भू, परमेष्ठी, तीनों की समष्टि एक तत्त्वात्मिका बन गई। यहाँ तक भूतज्योति का अभाव था, अतएव इस तत्त्व का अव्यक्तत्त्व प्रकृतिसिद्ध बना रहा। यही कारण है कि आज भी यह तत्त्वत्रयी स्थूलदृष्टि के लिए अव्यक्त ही बनी हुई है। व्यक्त तत्त्व की ही इन्द्रियद्वारा उपलब्धि होती है। उपलब्ध वस्तु का ही-'अयम्'-इदं-इयं-असौ-रूप से अभिनय हुआ करता है। उपलब्धि के अनन्तर ही हम-'हम अमुक को जान गए, जानते हैं' व्यवहार होता है-जिसे 'अवगमन'-'अवगत' शब्दों से व्यवहृत किया गया है। अवगमन की प्रतिष्ठा उपलब्धि ही है। उपलब्धि का व्यक्तभाव से ही सम्बन्ध है। अव्यक्तोपलब्धि भी **'व्यक्तमव्यक्तानां लिङ्गम्'** न्याय से व्यक्त के द्वारा ही होती है। अतएव व्यक्तभाव को सर्वोपलब्धि का द्वार माना गया है। यह व्यक्तीभाव आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित अग्नि-सोममूर्त्ति सूर्य्य से ही सम्बन्ध रखता है। सूर्य्य ही व्यक्त विश्व का प्रथम व्यक्त रूप है, जैसाकि-**'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। सौरज्योति ही उपलब्धि का प्रधान आलम्बन बनती है, अतएव सौरगायत्रीमात्रिक वेदतत्त्व विज्ञानपरिभाषा में **'उपलब्धिवेद'** नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसका उपनिषद्विज्ञानभाष्य-भूमिका में विस्तार विश्लेषण हुआ है।

४५-सूर्य्य का भौतिक, एवं दैविक स्वरूप—

भूतोपलब्धि, ज्ञानोपलब्धि, भेद से उपलब्धि तत्त्व दो भागों में विभक्त है। घट सामने रक्खा है। इसकी उपलब्धि (ज्ञान) तब तक असम्भव है, जब तक कि सूर्य्य-चन्द्रमा-विद्युत्-अग्नि-दीपक-आदि किसी एक प्रकाश का इसके साथ सम्बन्ध न हो। प्रकाशरश्मियाँ भौतिक घट से संक्रान्त होंगीं, घटाकाररूप में परिणत उन प्रकाशरश्मियों का प्रतिफलन होगा। वे प्रतिफलित रश्मियाँ ही सूर्य्यज्योति से प्रादुर्भूत चक्षुर्म्मण्डल में प्रविष्ट होकर-'अयं घटः' इस भूतोपलब्धि का कारण बनेगीं। प्रकाश कोई सा भी हो, परम्परया सूर्य्य की ही सम्पत्ति है। अतएव कहा जा सकता है कि, सूर्य्यात्मक भूतज्योति ही भूतोपलब्धि का कारण है। 'घटमहं-

जानामि' इस सामान्य ऐन्द्रियक घट ज्ञान का ही नाम 'भूतोपलब्धि' है। इन्द्रियद्वारा यह भूतोपलब्धि मन पर संस्काररूप से प्रतिष्ठित हो जाती है। इसी को दर्शनभाषा में-'पार्ष्टिज्ञान' कहा गया है। 'घटमहं जानामि', इत्यपि जानामि' यही इस पार्ष्टिज्ञान का स्वरूप है। 'मैं घड़ा जानता हूँ' यह भूतोपलब्धि है, 'जानता हूँ'-यह भी जानता हूँ,' यह ज्ञानोपलब्धि है। विषयावच्छिन्न अवगम (बोध) भूतोपलब्धि है, संस्कारावच्छिन्न अवगम ज्ञानोपलब्धि है। इस ज्ञानोपलब्धि का मूल भी परम्परया सूर्य्यज्योति ही है। '**पञ्चज्योतिरयं पुरुषः**' सिद्धान्तानुसार हमारा आत्मा सूर्य्य, चन्द्रमा, अग्नि, वाक् (विद्युत्), आत्मा (संस्कार), इन पाँचों ज्योतियों में से स्वप्रतिष्ठा के लिए अवश्य ही किसी एक ज्योति की अपेक्षा रखता है। इनमें आत्मज्योति का ही नाम संस्कार-ज्योति है, यही ज्ञानज्योति है। संस्कारों का आगमन सूर्य्यद्वारा ही होता है। अतएव ज्ञानज्योतिर्लक्षण संस्कार-ज्योति (आत्मज्योति) का भी परम्परया सूर्य्यात्मक भूतज्योतिर्मूलकत्व ही सिद्ध होजाता है। भूतज्योतिर्म्मय सूर्य्य में ज्ञानज्योति को बलप्रदान करने का धर्म्म कहाँ से आया?, यह प्रश्न है। ऋषियों नें समाधान किया है कि, भूतज्योतिर्घन सूर्य्य जिस सोममय पारमेष्ठ्य तत्त्व से उत्पन्न हुआ है, उस 'महत्सोम' के गर्भ में 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से ज्ञानज्योतिर्घन चिदात्मा प्रविष्ट रहता है। यही-'**योऽसावादित्ये पुरुषः**' के अनुसार अधिदैवत में 'आदित्यपुरुष' कहलाया है। इसी के सम्बन्ध से भूतज्योतिर्घन दृश्य सूर्य्य ज्ञानज्योतिर्गर्भित बना हुआ है। इसी ज्ञानज्योतिर्गर्भ-भाव से भूतज्योतिर्घन-सूर्य्य अपने बाह्य भूतज्योतिर्भाग से भूतोपलब्धि का, एवं आभ्यन्तर ज्ञानज्योतिर्भाग से ज्ञानोपलब्धि का कारण बना हुआ है। तात्पर्य्य-स्वयम्भूरूप अव्यक्तगर्भित परमेष्ठीरूप महान् के गर्भ में प्रतिष्ठित सूर्य्य में महद्गर्भित चिदात्मा भी प्रतिष्ठित रहता है। यही क्यों, पारमेष्ठ्य यज्ञ सोमप्रधान बनता हुआ 'सुत्या' है। यहाँ चिदात्मा विकसित नहीं होता, अपितु अपीत रहता है। सौर यज्ञ अग्निप्रधान बनता हुआ 'चित्या' है। अग्न्यनुगता चिति के सम्बन्ध से यहाँ आकर महदगर्भित चिदात्मलक्षण षोडशीपुरुष का पूर्ण विकास हो जाता है। अतएव सौर इन्द्र तत्त्व-'**इन्द्रो ह वै षोडशी**' के अनुसार 'षोडशी' कहलाया है। भूतोपलब्धि का आधार दृश्य भौतिक सूर्य्य आधिभौतिक सूर्य्य है, एवं ज्ञानोपलब्धि का प्रवर्त्तक षोडशी-इन्द्र-प्राणात्मक हिरण्यगर्भरूप अव्यक्त सूर्य्य आधिदैविक सूर्य्य है। दैविक अव्यक्त सूर्य्य आत्मा है, जिसे लक्ष्य बना कर-'**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**,' '**योऽसावादित्ये पुरुषः, सोऽहम्**,' इत्यादि श्रुतियाँ व्यवस्थित हैं। भौतिक दृश्य सूर्य्य अव्यक्त-दैविक सूर्य्य का शरीर है, जिसे लक्ष्य बना कर-'**नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः-अयन्नर्थः कृण्वन्नपांसि**'-'**हिरण्मयेन सविता रथेन**' इत्यादि श्रुतियाँ व्यवस्थित हैं।

४६-ज्योति-गौ-आयु-र्म्मनोतामय, बुद्धिप्रभव सूर्य्य—

परमेष्ठी के गर्भ में समुत्पन्न सूर्य्य ही उभयोपलब्धि का कारण बनता हुआ '**बुद्ध्यते अनया**' निर्वचन से समतुलित है। अवगमन उपलब्धिमूलक है, उपलब्धि बोधमूला है, बोध सूर्य्यमूलक है। अतएव उपलब्ध्याधारभूत आत्मज्योतिर्गर्भित भूतज्योतिर्म्मय सूर्य्य को अवश्य ही आधिदैविक 'बुद्धि' तत्त्व कहा जासकता है। बुद्धिरूप इस आधिदैविक सूर्य्य में ताप, प्रकाश ये दो तत्त्व प्रत्यक्ष दृष्ट हैं। ताप अग्नितत्त्व है, प्रकाश इन्द्रतत्त्व है। प्रकाश का मूल है-सोमाहुति। फलतः सोमतत्त्व की सत्ता भी स्वतः सिद्ध है। चौथे चिदंश की सत्ता का स्पष्टीकरण पूर्व में किया ही जा चुका है। इसप्रकार सूर्य्य में प्रधानतः-चित्, सोम, अग्नि, इन्द्र, इन चार तत्त्वों का समन्वय सिद्ध हो जाता है। सोम, अग्नि, दोनों भूत हैं, । इन्द्र प्राण है, चित् मन है। भूत अर्थप्रधान है, प्राण क्रियाप्रधान है, मन ज्ञानप्रधान है। अक्षरप्रधान सूर्य्य से ऊपर अव्ययप्रधान मनोमय ज्ञानात्मा का

ही साम्राज्य है, जो अमृतात्मा कहलाया है। सूर्य्य से नीचे क्षरप्रधान वाङ्मय भूतात्मा का ही साम्राज्य है, जो-'तद्यत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्' के अनुसार मर्त्यात्मा कहलाया है। किन्तु अक्षरप्रधान-प्राणमय-सौर कर्म्मात्मा मध्यस्थ होने से उभयधर्म्माक्रान्त बनता हुआ मनःप्राणवाङ्मयत्वेन सर्वात्मक है। यहीं पूर्वकथनानुसार षोडशी का पूर्ण विकास है। अतएव-'**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' के अनुसार इसे ही 'आत्मसृष्टि' की प्रतिष्ठा माना गया है। सौर आत्मा जब तक उदित न था, तब तक सब कुछ अव्यक्त रहता हुआ नानात्वेन अनुपलब्ध था। उस समय तो '**आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्-अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः**' लक्षण अविज्ञात तम का ही साम्राज्य था। सूर्य्यात्मद्वारा ही नानाज्ञानोपलब्धियों का व्यक्तीभाव हुआ। अयं सूर्य्यः, अयं चन्द्रमाः, इयं पृथिवी, असौ द्यौः, इत्यादि विभिन्न-विविध ज्ञानों का उदय क्योंकि स्वज्योतिर्घन व्यक्त सूर्य्य के द्वारा हुआ है, अतएव बुद्धिरूप इस सूर्य्यात्मा को इस विवध ज्ञानापेक्षया '**विज्ञानात्मा**' नाम से व्यवहृत करना भी अन्वर्थ बनता है। सामान्य नाम बुद्धयात्मा है, विविधज्ञानपेक्षया नाम विज्ञानात्मा है। दोनों हीं नामों का 'उक्थ' (मूलसूर्य्यबिम्ब) से सम्बन्ध है। आगे जिन नामों का निर्वचन होने वाला है, वे सब अर्करूप मानें जायँगे, जैसा कि तत्रापि स्पष्ट कर दिया जायगा। चिद्रूप-सौर मनोमय ज्ञानभाग 'आयुर्म्मय' है, प्रकाशरूप सौर प्राणमय क्रियाभाग ज्योतिर्म्मय है, सोमगर्भित अग्निलक्षण वाङ्मय अर्थभाग गौर्म्मय है। मनोमय आयुर्भाग का आत्मसृष्टि से, प्राणमय ज्योतिर्भाग का देवसृष्टि से, तथा वाङ्मय गौर्भाग का भूतसृष्टि से सम्बन्ध है। ज्यौति-र्गौः-आयुर्लक्षण ये ही तीनों तत्त्व 'सौरमनोता' कहलाए हैं, जिनके आधार पर क्रमशः ज्योतिष्टोम, गोष्टोम, आयुष्टोम, नामक तीनों स्तोमयज्ञ वितत होते हैं। यज्ञानुगत सौर आत्मविवर्त्त जहाँ '**दैवात्मा**' कहलाया है, वहाँ सृष्टयनुगत सौर आत्मा '**विज्ञानात्मा**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जैसा कि 'श्राद्धविज्ञानादि' निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है। आत्म-भूत-देव-सर्गप्रभवभूत, विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित, विश्वाध्यक्ष इसी सौर विज्ञानात्मा का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है-

१-अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

—श्वे० ५।१३।

२-यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति॥
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्राविवेश॥

—ऋक् सं १।१६४।२१।

३-एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

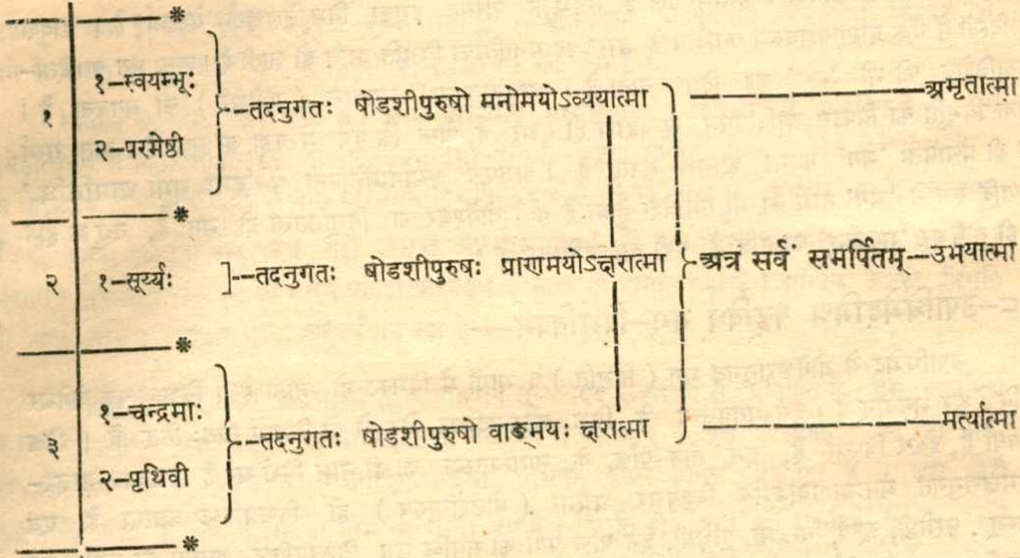
—श्वे० ६।१५।

४-यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी॥

—श्वे० ४।१८।

५–विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश ॥
--प्रश्नोप० ४।११।

६–मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥
--मुण्डको० २।२। ७।



सूर्य्यविवर्त्तभावाः—

१–चित्]–(१) मनोमयं ज्ञानविवर्त्तम्–अव्ययानुगतम् । आयुः–ततः-आत्मसृष्टिः-आयुष्टोमवितानञ्च
२–इन्द्रः]–(२) प्राणमयं क्रियाविवर्त्तम्-अक्षरानुगतम् । ज्योतिः-ततः-देवसृष्टिः---ज्योतिष्टोमवितानञ्च
३–सोमः
४–अग्निः } --(३) वाङ्मयमर्थविवर्त्तम्--क्षरानुगतम् । गौः—-ततः-भूतसृष्टिः--गोष्टोमवितानञ्च

४७–योगेश्वर की भगवत्तालक्षणा 'भग' विभूति—

बुद्धिशब्दनिर्वचनपूर्वक आधिदैविक बुद्धि (सूर्य्य) तत्त्व का स्वरूप बतलाया गया । कहा जाता है कि, बुद्धितत्त्व आठ भागों में विभक्त है । इनमें चार विद्याबुद्धियाँ हैं, चार ही अविद्याबुद्धियाँ हैं । प्रश्न

होता है कि, एक ही बुद्धितत्त्व के आठ विवर्त्त कैसे हो गए ? । प्रसङ्गोपात्त दो शब्दों में प्रश्न का समाधान कर बुद्धिशब्दनिर्वचनप्रकरण समाप्त किया जारहा है । समाधान श्रुतपूर्व है, केवल समन्वय कर देना है। विश्वाधिष्ठाता विश्वेश्वर ही 'योगेश्वर' कहलाए हैं, ये ही सर्वसाधारण में '**भगवान्**' नाम से प्रसिद्ध हैं, जिस शब्द का अर्थ होता है-'भगयुक्त' । आत्मविभूति का ही नाम 'भग' है, जिसका महिमारूप साहस्रीमण्डल से सम्बन्ध माना गया है । उदाहरण के लिए दीपार्चि (लौ) को आत्मा समझिए, जहाँ तक दीपप्रभा (प्रकाश) व्याप्त है, उस बहिर्मण्डल को 'महिमामण्डल' समझिए। महिमामण्डल में व्याप्त प्रभा (ज्योति) को 'विभूति' समझिए । विभूति का शास्ता मूलबिम्ब होता है, उक्थरूप मूलबिम्ब से ही अर्कात्मिका विभूति का वितान होता है । अतएव अपनी अर्कात्मिका विभूति का उक्थरूप मूलबिम्ब ईश्वर का ऐश्वर्य्य है । राजा ईश्वर है, उसका राज्यप्रदेश महिमामण्डल है, तत्रभुक्त परिग्रह इसका विभूतिलक्षण ऐश्वर्य्य है। द्वादश आदित्यों में एक प्राणविशेषरूप आदित्य के द्वारा यह भगात्मिका विभूति प्राप्त हो जाती है । अतः उस आदित्य-प्राणविशेष को भी 'भग' कह दिया जाता है। वस्तुतस्तु यही भगवान् (योगेश्वर) की भगवत्ता है। व्यक्त विभूति का विकास आदित्यघन सूर्य्यद्वारा ही हुआ है, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है । अतः सूर्य्य को ही प्रधानतः 'भग' कहना अन्वर्थ बनता है । अतएव सूर्य्यनामगणना में-'**इनो भगो धामनिधिः**' इत्यादि रूप से 'भग' नाम का भी समावेश हुआ है * । योगेश्वर का विभूतितत्त्व ही 'भग' है, तद्युक्त होने से ही योगेश्वर 'भगवान्' कहलाए हैं, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है ।

४८-उपाधिभेदभिन्न षड्विध भग-विभूतिवर्ग—

उपाधिभेद से योगेश्वरानुगत भग (विभूति) ६ भागों में विभक्त हो जाता है । विश्वव्यापक योगेश्वर ही विश्वेश्वर भगवान् है । इस भगवत्तत्त्व के विश्व, और तदीश्वर भेद से दो विभाग स्वतः सिद्ध हैं । विश्व पञ्चपर्वा है, ईश्वर त्रिपर्वा है, इन तीन-पाँच के समन्वितरूप का ही नाम विश्वेश्वर है । अव्यय-अक्षर-आत्मक्षरानुगत मनःप्राणवाङ्मय विश्वचर आत्मा (षोडशीपुरुष) ही विश्वप्रविष्ट आत्मा है, एवं स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, इन पाँच पर्वों की समष्टि उस विश्वप्रविष्ट आत्मा का शरीरात्मक विश्व है । इस दृष्टि से योगेश्वर के आरम्भ के आत्मा, शरीर, ये दो विभाग हो जाते हैं । विश्व के पाँच विभाग हो जाते हैं । आत्मा के भी यद्यपि तीन पर्व हैं, परन्तु उनकी स्वतन्त्र गणना न होकर तीनों की समष्टि एक 'आत्मा' नाम से ही व्यवहृत हुई है। कारण प्राणमय अक्षर-वाङ्मय-क्षर को गर्भ में रखते हुए मनोमय अव्यय अवारपारीण बनता हुआ '**बिभर्त्यव्यय ईश्वरः**' सिद्धान्तानुसार सम्पूर्ण विश्व का एक आत्मा बना हुआ है । उधर विश्वानुगत पाँचों पर्व व्यष्टिलक्षण खण्डात्मा पाँच ही हैं । इस दृष्टि से आत्म-विश्वसमष्टिलक्षण योगेश्वर के हम षोडशीपुरुष, स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ये छ विभाग ही विज्ञानानुगत मानेंगे । आत्मरूप स्वयं षोडशीपुरुष विश्वहृदय में उक्थरूप से व्याप्त है । इसका विभूतिस्वरूप अर्करूप से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है । यही पुरुषविभूति, किंवा अव्ययेश्वरविभूतिलक्षण विश्वेश्वर

---

* **भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।**
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुर एता भवेह ॥

—**तै० आ० २।५।५।१,२,**

भगवान् का विभूतिलक्षण प्रथम 'भग' है, जो 'वैराग्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। उक्थ आत्मा असङ्ग है, रागशून्य है। फलतः इसकी अर्करूपा विभूति भी असङ्ग ही है। अतएव आत्मविभूति को 'वैराग्य' कहना अन्वर्थ बनता है।

अब विश्वविभूति का समन्वय कीजिए। विश्व का पहिला पर्व अव्यक्त स्वयम्भू है। उक्थरूप से यह परमेष्ठी के ऊर्ध्वभाग में प्रतिष्ठित रहता हुआ 'परोरजा' नाम से प्रसिद्ध है। इस स्वयम्भू उक्थ से विनिर्गत प्राणमय अर्क सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। इस स्वायम्भुव प्राणमण्डल का ही नाम स्वायम्भुव विभूतिमण्डल है, जिसके गर्भ में परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–चारों विश्वपर्व (समहिम) प्रतिष्ठित हैं। यही स्वायम्भुवी विभूति स्वायम्भुव 'भग' है, यही 'ज्ञान' नामक दूसरा भग है। ज्ञानप्रधान अव्ययात्मा के प्रथम सम्पर्क में आने के कारण ही स्वायम्भुव भग को 'ज्ञान' कहना अन्वर्थ बन रहा है।

स्वयम्भू से नीचे, और सूर्य्य से ऊपर आपोमय परमेष्ठीपिण्ड उक्थरूप से प्रतिष्ठित है। इस परमेष्ठी उक्थ से विनिर्गत आपोमय अर्क सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–लक्षण सम्पूर्ण रोदसीत्रैलोक्य में व्याप्त है। इस पारमेष्ठ्य आपोमण्डल का ही नाम पारमेष्ठ्य विभूतिमण्डल है, जिसके गर्भ में समहिम सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, तीनों पर्व प्रतिष्ठित हैं। यही विभूति पारमेष्ठ्य 'भग' है, यही 'धर्म्म' नामक तीसरा भग है। सत्यात्मक नियतिर्लक्षण धर्म्म की प्रथम प्रतिष्ठा पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व ही माना गया है। अतएव इसकी विभूति को 'धर्म्म' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन रहा है।

परमेष्ठी से नीचे, और चन्द्रमा से ऊपर वाङ्मय सूर्य्यपिण्ड उक्थरूप से प्रतिष्ठित है। इस सूर्य्योक्थ से विनिर्गत वाङ्मय अर्क सौर–चान्द्र–पार्थिव–तीनों मण्डलों में व्याप्त हैं। इस सौरमण्डल का ही नाम सौर–विभूतिमण्डल है, जिसके गर्भ में समहिम चन्द्रमा, पृथिवी, दोनों विवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। यही सौरी विभूति सौर 'भग' है, यही 'ऐश्वर्य्य' नाम का चौथा भग है। विभूति ही ईश्वर का ऐश्वर्य्य है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। ईश्वर (षोडशी आत्मा) का पूर्ण विकास चितिलक्षण सूर्य्य में ही होता है। अतएव सौर इन्द्रतत्त्व 'षोडशी' कहलाया है। इसीलिए सौरी विभूति को 'ऐश्वर्य्य' कहना अन्वर्थ बनता है। अपिच विभूतिरूप ऐश्वर्य्य का व्यक्तीभाव व्यक्त सूर्य्य पर ही अवलम्बित है। व्यक्त सूर्य्य ही अव्यक्त-स्वयम्भू–परमेष्ठी, तथा व्यक्त–चन्द्रमा–पृथिवी, चारों का व्यञ्जक बनता है। इसलिए भी सौरविभूति को 'ऐश्वर्य्य' कहना अन्वर्थ बनता है।

सूर्य्य से नीचे (दृष्टिमूला सृष्टिविद्यानुसार) अन्नमय चन्द्रपिण्ड उक्थरूप से प्रतिष्ठित है। इस चन्द्रोक्थ से विनिर्गत अन्नमय अर्क चान्द्र और पार्थिव मण्डल में व्याप्त हैं। इस चान्द्र–अन्नमण्डल का ही नाम चान्द्रविभूतिमण्डल है, जिसके गर्भ में समहिम पृथिवीमण्डल भुक्त है। यही चान्द्री विभूति चान्द्र भग है, यही 'यश' नाम का पाँचवाँ भग है। चान्द्रमनोता रेतः–श्रद्धा–यशः–नाम से प्रसिद्ध हैं। रेतोमनोता का चान्द्र सोमरूप भूतभाग से, श्रद्धामनोता का चान्द्र सौम्य प्रज्ञाभाग से, तथा यशोमनोता का चान्द्र सौम्यप्राण-भाग से सम्बन्ध है। चान्द्रप्राण ही यश कहलाया है। प्राण ही विभूति है। अतएव विभूतिलक्षण चान्द्र-प्राणरूप भग को अवश्य ही 'यशो'–नाम से व्यवहृत किया जा सकता है।

दृष्टिमूला सृष्टिविद्या के अनुसार अन्नादमय भूपिण्ड उक्थरूप से सर्वान्त में प्रतिष्ठित है । इस भूपिण्डोक्थ से विनिर्गत अन्नादमय अर्क पार्थिवमण्डल में, तथा अस्मदादि पार्थिवप्रजा में व्याप्त हैं । इस पार्थिव अन्नादमण्डल का ही नाम पार्थिव विभूतिमण्डल है, जिसके गर्भ में स्तोम्यत्रैलोक्य प्रतिष्ठित है। यही पार्थिवी विभूति पार्थिव 'भग' है, यही 'श्री' नाम का ६ ठा भग है । बाह्यविभूति ही विज्ञानभाषा में 'श्री' कहलाई है, जैसाकि–'बहिर्द्धेव वै श्रीः' (जै० उ० ब्रा० १।४।६।) इत्यादि वचन से प्रमाणित है । वारुणविभूति ही 'श्री' कहलाई है। पृथिवी आपोमयी होने से वारुण-श्री भाव से युक्त है । इसलिए भी इस विभूति को 'श्री' कहना अन्वर्थ बनता है। साथ ही वैराग्यादि पाँचों विभूतियों का जहाँ अध्यात्मसंस्था के अन्तःपर्वों से सम्बन्ध है, वहाँ इस पार्थिवी श्री विभूति का बाह्यपर्व (शरीर) से सम्बन्ध है । इसलिए भी इसे 'श्री' कहना अन्वर्थ बनता है।

४९–षड्विध विभूतिभावों के समर्थक वचन—

इसप्रकार स्वानुगत (षोडशीपुरुषानुगत) **वैराग्य**, अव्यक्तस्वयम्भू-विश्वपर्वानुगत **ज्ञान**, अव्यक्त-परमेष्ठी-विश्वपर्वानुगत **धर्म्म**, व्यक्त सूर्य्यविश्वपर्वानुगत **ऐश्वर्य्य**, व्यक्त चन्द्रविश्वपर्वानुगत **'यश'** व्यक्त भूविश्वपर्वानुगत **श्री**, इन ६ विभूतिलक्षण भगों से आत्मन्वी विश्वेश्वर 'भगवान्' बन रहा है। षड्भग-युक्तता ही भगवान् की भगवत्ता है *। वैश्वरूप्य, साहस्री, पुनःपद, महिमा, विभूति, भग, ये सब शब्द अंशतः समानार्थक हैं। उक्त ६ ओं विभागों के ६ ओं विभूतिमण्डल विज्ञानभाषा में क्रमशः **'स्वमहिमा, परमाकाश, महासमुद्र, सम्वत्सर, नक्षत्र, आन्दम्'** इन नामों से व्यवहृत हुए हैं, जिन विभूति-मण्डलों में क्रमशः **'वैराग्य-ज्ञान-धर्म्म-ऐश्वर्य्य-यश-श्री'** ये ६ भग प्रतिष्ठित हैं । इन ६ ओं की क्रमिक प्रामाणिकता का समर्थन करने वाले कुछ एक वचन इसलिए यहाँ उद्धृत कर देना आवश्यक है कि, विज्ञानपरम्परा के विलुप्त हो जाने से कल्पनारसिक विद्वान् इन वैज्ञानिक विषयों को भी काल्पनिक कहने का दुस्साहस कर बैठते हैं।

(१)–षोडशीपुरुषानुगतं विभूतिमण्डलं–'स्वमहिमा'–तत्र 'वैराग्य'–भगः प्रतिष्ठितः—

१–"स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः–इति ?। 'स्वे महिम्नि' प्रतिष्ठितः। नाह-मेवं ब्रवीमि। ब्रवीमीति होवाच–अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठितः" ।

—छां० उ० ७।२४।१,२।

२–"अथातो 'वैराग्य'-संस्कृते शरीरे ब्रह्मयज्ञनिष्ठो भवेत् , अप पुनर्मृत्युं-जयति। तदु ह वा आत्मा द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः"।

—शाङ्खायनारण्यक १३।१।

————

*–ऐश्वर्य्यस्य च समग्रस्य, धर्म्मस्य, यशसः, श्रियः।
ज्ञान–वैराग्ययोश्चैव षण्णां 'भग' इतीरणा ॥

(२)-स्वयम्भ्वनुगतं विभूतिमण्डलं-'परमाकाशः'-तत्र 'ज्ञान'-भगः प्रतिष्ठितः—

१-"योऽस्याध्यक्षः 'परमे व्योमन्' सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद" ।

—ऋक्सं० १०।१२६।७।

२-'ज्ञानेना'-काशकल्पेन धर्म्मान् यो गगनोपमान् ।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥

—गौडपादीयकारिका ४।१।

——❀——

(३)—परमेष्ठ्यनुगतं विभूतिमण्डलं-'महासमुद्रः'-तत्र 'धर्म्म'-भगः प्रतिष्ठितः-

"१-परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यत् । स आपोऽभवत् । आपो वा इदं सर्वम् (शत० ११।१।६।१६।) । आपः स्थ समुद्रे श्रिताः"—तै० ब्रा० ३।११।१।५।

"२-यो वै धर्म्मः, सत्यं वै" (शत० १४।४।२।२६) -आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्" (तै० ब्रा० १।१।३।८।)-"तद्यत्-तत् सत्यं-आप-एव तत् । आपो हि वै सत्यम् । (शत० ७।४।१।६।) -"वरुण धर्म्मणां पते" (तै० ब्रा० ३।११।४।१।)।

——❀——

(४)—सूर्य्यानुगतं विभूतिमण्डलं-'सम्वत्सरः'-तत्र-'ऐश्वर्य्य'-भगः प्रतिष्ठितः—

१-"बृहती हि सम्वत्सरः" (श० ६।४।२।१०।) -"एष वै सम्वात्सरो-य एष-तपति" (शत० १४।१।१।२७) ।

२-"मध्ये ह सम्वत्सरस्य स्वर्गो लोकः (सूर्य्यात्मकः)" (शत० ६।७।४।११)-
"सर्वैर्यज्ञैर्यजमानं स्वर्गं लोकमभिवहन्ति । तद्यत्रास्यैश्वर्य्यं स्यात्, यत्र वैनमभिवहेयुः, एवंविदमेव तत्र ब्रह्माणं वृणीयात्" । (गो० ब्रा० पू० १।३।१०)।

——❀——

(५)—चन्द्रानुगतं विभूतिमण्डलं-'नक्षत्रम्'-तत्र 'यशो'-भगः प्रतिष्ठितः—

१-"तस्मात् सोमो राजा (चन्द्रमाः) सर्वाणि नक्षत्राण्युपैति" (षड्विं०ब्रा० ३।१२)।-
"नक्षत्राणि स्थ-चन्द्रमसि श्रितानि" (तै० ब्रा० ३।११।१।१३)।

२-"यशो वै सोमो राजा" (ऐ० ब्रा० १।१३।)-"यश उ वै सोमो राजा-अन्नाद्यम्" (कौ० ब्रा० ६।६।)।

——❀——

(६)—पृथिव्यनुगतं–विभूतिमण्डलं–'आन्दम्'–तत्र 'श्री'-भगः प्रतिष्ठितः—

१–"पुरुषो ह वा अयं सर्व 'आन्दम्'–द्वे बिदले भवतः–इत्याहुः। तस्येदमेव पृथिव्या रूपम्"–(ऐ० आ०३।१।२।)।

२–"पृथिव्यप्सु प्रतिष्ठिता" (ऐ०ब्रा०३।६।)-"समुद्रो हीमामभितः पिन्वते"(शत० ७।४।१।६)- "आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्" (तै०ब्रा० १।१।३।८।)– "श्री–र्वै वरुणः"–(कौ० ब्रा० १८।६।)।



विश्वेश्वरो भगवान्—(विशुद्धविभूतिलक्षणः)—

(१) अव्ययप्रधानो विश्वेश्वरः	–मनःप्राणवाङ्मयः	–स्वमहिमा	–वैराग्यम्	–आत्मा—ईश्वरः	विश्वेश्वरो भगवान्
(२) अव्यक्तस्वयम्भूः	–प्राणमयः (ब्रह्मा)	–परमाकाशः	–ज्ञानम्	–शरीरम्–विश्वम्	
(३) अव्यक्तपरमेष्ठी	–आपोमयः (विष्णुः)	–महासमुद्रः	–धर्म्मः		
(४) व्यक्तसूर्य्यः	–वाङ्मयः (इन्द्रः)	–सम्वत्सरः	–ऐश्वर्य्यम्		
(५) व्यक्तचन्द्रमाः	–अन्नमयः (सोमः)	–नक्षत्रम्	–यशः		
(६) व्यक्तभूपिण्डः	–अन्नादमयः(अग्निः)	–आन्दम्	–श्रीः		



५०–विश्वेश्वर के चतुर्थांश से जीव का स्वरूप निर्म्माण—

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' सिद्धान्तानुसार शरीरेश्वर जीव विश्वेश्वर भगवान् का पूर्णात्मक अंश है। अतएव जो कलाविभाग, जो विभूतिमण्डल, एवं जो भगसम्पत्तियाँ उसमें हैं, वे कलाएँ, वे विभूतिमण्डल, वे भग इसमें भी प्रतिष्ठित हैं, और यहाँ तक–'योऽसौ–सोऽहम्' के अनुसार जो वह है, वही यह है। जैसा स्वरूप उसका है, वैसा ही स्वरूप इसका है। दोनों में एक ऐसा अन्तर प्रविष्ट हो रहा है, जिससे दोनों अभिन्न बनते हुए भी विभिन्न हो रहे हैं। वह अन्तर है–पूर्णेन्द्रत्व, और अर्द्धेन्द्रत्व। विश्वेश्वर सर्वतः परिपूर्ण होने से सर्वतः पाणिपादाक्षिशिरोमुख बनता हुआ, स्वायम्भुव परमाकाशमण्डल में सर्वतः व्याप्त रहता हुआ कृत्स्नाकाशव्याप्त्या सर्वेन्द्र है। इस पूर्णविभूति के कारण इसमें पाप्मा का सम्पर्क नहीं होने पाता। इधर जीवसर्ग अर्द्धाकाश से सम्बन्ध रखता हुआ अर्द्धेन्द्र है। अर्द्धाकाश से ही क्या, अर्द्धाकाश के भी अर्द्धाकाश से, अर्थात् एक चतुर्थांश से इसकी प्रसूति हुई है। परमाकाशात्मक स्वयम्भू-मण्डल चतुरस्रभाव से युक्त माना गया है, इसी आधार पर विश्वेश्वर भगवान् चतुर्भुज कहलाए हैं।

इस आकाशात्मक महाब्रह्माण्ड का विभाजक मध्यस्थ सूर्य्य है। सूर्य्यबिन्दु से इस ब्रह्माण्ड के दो विभाजन हो रहे हैं। वे ही दोनों विभाग पुराणपरिभाषा में 'अण्डकटाह' नाम से व्यवहृत हुए हैं। स्वयम्भू-परमेष्ठी, इन दो विवर्त्तों का ऊर्ध्वकटाह से सम्बन्ध है, यही अमृतात्मप्रधान अमृतकटाह है। चन्द्रमा-भूपिण्ड, इन दो विवर्त्तों का अधःकटाह से सम्बन्ध है। यही मर्त्यात्मप्रधान मर्त्यकटाह है। पूर्णाकाश (पूर्णब्रह्माण्ड) के इन अमृत-मर्त्य-कटाहों का विभाजक मध्यस्थ सूर्य्य है। अमृतकटाह से संश्लिष्ट सौरतत्त्व अमृतप्रधान बनता हुआ अमृतात्म-संस्था में भुक्त है। मर्त्यकटाह से संश्लिष्ट सौरतत्त्व मर्त्यप्रधान बनता हुआ मर्त्यात्मसंस्था में भुक्त है। इसप्रकार ऊर्ध्वकटाहरूप अर्द्ध अमृताकाश में स्वयम्भू, परमेष्ठी, अमृत सूर्य्य इनकी, तथा अधःकटाहरूप अर्द्ध मर्त्याकाश में मर्त्य सूर्य्य, चन्द्रमा, भूपिण्ड इनकी प्रधानता सिद्ध हो जाती है। इन दोनों में से मर्त्याकाशानुगत मर्त्य-सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड ही जीवसर्ग के उपादान बनते हैं, शेष तीनों अमृत भाग गर्भीभूत रहते हैं। भूपिण्ड योनि बनता है, मर्त्य सौर चान्द्ररस रेत बनते हैं, और इस द्यावापृथिव्य रसकी आहुति से जीवसर्ग उत्पन्न होता है, यही इसकी पहिली अर्द्धेन्द्रता है। वृषा-योषा के भेद से जीवसर्ग दो भागों में विभक्त है। अर्द्धाकाशात्मक मर्त्य सौर-मण्डल 'सम्वत्सर' कहलाया है। अहोरात्र के भेद से इस अर्द्धाकाशात्मक सम्वत्सरचक्र के भी दो खण्ड हो रहे हैं। अहश्चक्र चान्द्ररसगर्भित सौररसप्रधान है, रात्रिचक्र सौररसगर्भित चान्द्ररसप्रधान है। सौररस आग्नेय है, इसी से पुरुषसृष्टि होती है। चान्द्ररस सौम्य है, इसी से स्त्रीसृष्टि होती है। इसप्रकार केवल सौर अर्द्धाकाश के भी अर्द्ध सौर आकाश (अहश्चक्र), अर्द्ध चान्द्र आकाश (रात्रिचक्र) से जीव का निर्म्माण हुआ है। यही इसका दूसरा अर्द्धेन्द्रत्त्व है, जिसका निष्कर्ष यह निकलता है कि, पूर्णाकाश के चतुर्थांश से जीवसर्ग का विकास हुआ है, जैसाकि-'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत् पुनः' (यजुः) इत्यादि मन्त्रश्रुति से प्रमाणित है।

५१-अर्द्धेन्द्रात्मक जीव की दुःखप्रवृत्ति के मूलकारण —

अर्द्धेन्द्रानुगता अपूर्णता के अनुग्रह से जीव स्वाभाविक बुद्धियोगसम्पत्ति से वञ्चित होता हुआ इन्द्रिया-राम बन जाता है। यही पाप्मा का प्रवेशद्वार है। इस पाप्मा के समावेश से इसका स्वाभाविक विभूतिषट्क उसी प्रकार अभिभूत हो जाता है, जैसे कि मेघावरण से आवृत सूर्य्य प्रकाश-विकास से अभिभूत हो जाता है। कैसा आश्चर्य्य है—जितनें विभूतिरूप भग हैं, उतनें हीं पाप्मारूप 'क्लेश' हैं। इनसे आत्मा 'क्लिश्यति', अतएव ये क्लेश कहलाए हैं। जिस प्रकार क्लेशनिवृत्ति, और भगविकास का मूल बुद्धितत्त्व है, तथैव भगाभि-भव, एवं क्लेशप्रवृत्ति का मूलद्वार विषयासक्त मन है। ६ भगों के क्रमशः रागद्वेषात्मिका आसक्ति, अज्ञान-लक्षणा अविद्या, अनैश्वर्य्यलक्षणा अस्मिता, अधर्म्मलक्षण अभिनिवेश, अपयशलक्षणा अकीर्त्ति, एवं दारिद्रय-लक्षणा अलक्ष्मी, ये ६ विपर्य्यय हैं। इन्हीं पाप्माओं के अनुग्रह से जीव उस ईश्वरानुगता विशुद्ध विभूतिरूपा पूर्णता से वञ्चित रहता हुआ क्लेश के द्वारा दुःखी बन रहा है।

शरीरेश्वरो जीवः—विभूति-पाप्मा--लक्षणः--

(१)-प्रत्यगात्मा-जीवाव्ययः -पुरुषः -वैराग्यम् -आसक्तिः

(१)-अव्याक्तात्मा -अव्यक्तः -ज्ञानम् -अविद्या

(२)–महानात्मा –महत् –धर्म्मः –अभिनिवेशः

(३)–विज्ञानात्मा –बुद्धिः –ऐश्वर्य्यम् –अस्मिता

(४)–प्रज्ञानसम्परिष्वक्तो भूतात्मा-मनोऽनुगतो देही –यशः –अपकीर्त्तिः

(५)–भूतम् –शरीरम् –श्रीः –अलक्ष्मीः

५२–बुद्धियोगानुबन्धिनी भगचतुष्टयी—

क्लेशषट्क के अतिरिक्त इसमें कर्म्मविपाक-आशयादि अन्यान्य और भी पाप्माओं का समावेश रहता हैं, जिनका 'योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप' नामक स्तम्भ में दिग्दर्शन करा दिया गया है। प्रकृत में इस विवेचन से यही बतलाना है कि, बुद्धियोग के सम्बन्ध में वैराग्यादि चार विभूतियाँ हीं संग्रहीत हुईं हैं। कारण यही है कि मनोऽनुगत यश, एवं शरीरानुगता श्री, इन दो भगों का प्रधानतः जीवसंस्था से सम्बन्ध है। कारण-ईश्वरतत्त्व अमृतात्मप्रधान है, जीव मर्त्यात्मप्रधान है। वैराग्य, ज्ञान धर्म्म, तीन का तो अमृतात्मा से सम्बन्ध सिद्ध ही है। चौथा सूर्य्यानुगत ऐश्वर्य्य भी अपने अमृतभाग से अमृतात्मकोटि में ही अन्तर्भूत हो रहा है। आत्मविकासलक्षण आत्मैश्वर्य्य अमृतसूर्य्यानुगत है, लोकविकासलक्षण लोकैश्वर्य्य मर्त्यसूर्य्यानुगत है। इस दृष्टि से वैराग्य, ज्ञान, धर्म्म, आत्मैश्वर्य्य, इन चार का तो ईशप्राधान्यत्त्व सिद्ध हो जाता है। एवं लोकैश्वर्य्य, यश, श्री, इन तीन का जीवप्राधान्यत्त्व सिद्ध हो रहा हैं। लोकैश्वर्य्य का यश में अन्तर्भाव है। फलतः जीवानुगत भग यश, और श्री, ये दो ही शेष रह जाते हैं। चार भग ईश्वरानुगत बनते हुए अमृतबुद्धिप्रधान हैं। अतएव बुद्धियोग में चार ही भगों का संग्रह विज्ञानसम्मत माना गया है। केवल सूर्य्यानुगता बुद्धि के साथ ही चारों का सम्बन्ध क्यों मान लिया गया ?, प्रश्न का भी समाधान कर लीजिए।

५३–अमृतसूर्य्यानुगता विद्याबुद्धिचतुष्टयी, एवं तदभिन्ना भगचतुष्टयी—

बतलाया गया है कि, सूर्य्य ही (अक्षरप्रधान होने से) हमारा प्रभव बनता है। सूर्य्य में **चित्, सोम, इन्द्र, अग्नि,** इन चार तत्त्वों का समन्वय बतलाया गया है। षोडशीपुरुषलक्षण, वैराग्यभगप्रधान चिदात्मा का सौर चिद्भाग से सम्बन्ध होता है। स्वायम्भुव–सत्याग्निलक्षण ज्ञानभगप्रधान अव्यक्तात्मा का सौर अग्निभाग से सम्बन्ध होता है। पारमेष्ठ्य–सोमलक्षण–धर्म्मभगप्रधान–महानात्मा का सौर सोमभाग से सम्बन्ध होता है। एवं अमृतसौर–इन्द्रलक्षण–आत्मैश्वर्य्यप्रधान–विज्ञानात्मा (विद्याबुद्धि) का सौर इन्द्रभाग से सम्बन्ध रहता है। इसप्रकार मध्यस्थ, अतएव सर्वमूर्त्ति सौर विज्ञानात्मा में हीं पौरुष–स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्य–सौर–चारों भगों का समन्वय सिद्ध हो जाता है। इन चार भगों के कारण हीं सौर विज्ञानात्मा के वैराग्यबुद्धि, ज्ञानबुद्धि, धर्म्मबुद्धि, ऐश्वर्य्यबुद्धि, ये चार विवर्त्त हो जाते हैं। इन चारों में अव्ययात्मा के आनन्दविज्ञान–मनोमय विद्याभाग का समावेश रहता है, इसलिए, तथा इन चारों से अव्ययात्मा का विद्याभाग विकसित होता है, इसलिए इन्हें–**'विद्याबुद्धि'** (अव्ययविद्याभागानुगृहीतत्त्वात्, अव्ययविद्याविकाससाधकत्वात्) कहना अन्वर्थ बनता है।

५४–विज्ञानात्मिका एक ही बुद्धि के आठ विवर्त्त—

लोकैश्वर्य्यप्रधान मर्त्यसूर्य्य, यशःप्रधान चन्द्रमा, श्रीप्रधान भूपिण्ड, तीनों अध्यात्मदृष्ट्या क्रमशः अविद्याबुद्धि, प्रज्ञानमन, शरीर हैं। तात्पर्य्य इसका यही हुआ कि, हमारी बुद्धि में वैराग्यादि चारों भग सूर्य्य से आते हैं। दूसरे शब्दों में सूर्य्य से आगता भगचतुष्टयी बुद्धि में प्रतिष्ठित होती है। चन्द्रमा से आगत यश मन में प्रतिष्ठित होता है, एवं पृथिवी से आने वाला श्रीभाग शरीर में प्रतिष्ठित होता है। प्रज्ञानमन के द्वारा पाप्माओं का समावेश होता है, जो पाप्मा 'क्लेश' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन ६ पाप्माओं में से अलक्ष्मी का शरीर से सम्बन्ध रहता है, अपकीर्ति का मन से सम्बन्ध रहता है। एवं रागद्वेषलक्षणा आसक्ति, अज्ञान-लक्षणा अविद्या, अधर्मलक्षणा अभिनिवेश, एवं अनैश्वर्य्यलक्षणा अस्मिता, इन चारों का मर्त्य विज्ञानात्मा (अविद्या-बुद्धि) से सम्बन्ध रहता है। इन चारों में अव्ययात्मा के मनःप्राणवाङ्मय अविद्याभाग (कर्म्म) का समावेश रहता है, इसलिए, तथा इन चारों से अव्ययात्मा का अविद्याभाग उपकृत होता है, इसलिए इन्हें **'अविद्याबुद्धि'** (अव्यय–अविद्याभागानुगृहीतत्त्वात् , अव्यय–अविद्याभागोपकारकत्वात्) कहना अन्वर्थ बनता है। इसप्रकार एक ही बुद्धितत्त्व के विद्यात्मिका भगचतुष्टयी, अविद्यात्मिका क्लेशचतुष्टयी सम्बन्ध से आठ विवर्त्त हो जाते हैं। उक्थरूपा बुद्धि इन भग–क्लेशोपाधियों के सम्बन्ध से आठ विवर्त्तभावों में परिणत हो रही है। यदुपाधिक उक्थ रहता है, इससे तदुपाधिक ही अर्क निकलते हैं। एक ही बुद्धितत्त्व के ये आठ सोपाधिक उक्थ विवर्त्त हैं, जिनके लिए प्राधानिकशास्त्र में–**'अष्टौ बुद्धयः'** सिद्धान्त स्थापित हुआ है। बुद्धि एक ही है, एक ही रहती है। आठ उपाधियों के सम्बन्ध से इस एक की आठ ही अवस्थाएँ हो जातीं हैं।

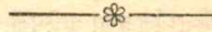
अध्यात्मम्—

१–पुरुषात्मा	–प्रत्यगात्मा	–वैराग्योपेतः	–पुरुषः
२–स्वयम्भूः	–अव्यक्तात्मा	–ज्ञानोपेतः	–अव्यक्तः
३–परमेष्ठी	–महानात्मा	–धर्म्मोपेतः	–महान्
४–अमृतसूर्य्यः	–विज्ञानात्मा	–आत्मैश्वर्य्योपेतः	–बुद्धिः
५–मर्त्यसूर्य्यः	–विज्ञानात्मा	–लोकैश्वर्य्योपेतः	–बुद्धिः
६–चन्द्रमाः	–प्रज्ञानात्मा	–यश उपेतः	–मनः
७–भूपिण्डः	–अग्न्यात्मा	–श्रीयुक्तः	–शरीरम्

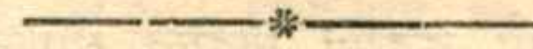


अष्टौ बुद्धयः—

(१)-अमृत-सौरचिद्भागः-पुरुषानुगतः-—वैराग्योपेता बुद्धिः—-वैराग्यबुद्धिः--	—विद्याबुद्धिचतुष्टयी अमृतसौरानुगता
(२)-अमृत-सौराग्निभागः--अव्यक्तानुगतः-ज्ञानोपेता बुद्धिः——ज्ञानबुद्धिः-—	
(३)-अमृत-सौरसोमभागः--महदनुगतः-—धर्म्मोपेता बुद्धिः——धर्म्मबुद्धिः-—	
(४)-अमृत-सौरेन्द्रभागः-—विज्ञानानुगतः--आत्मैश्वर्य्योपेता बुद्धिः-ऐश्वर्य्यबुद्धिः-	



(१)-मर्त्य-सौरचिद्भागः-पुरुषानुगतः-—आसक्त्युपेता बुद्धिः -आसक्तिबुद्धिः —	-अविद्याबुद्धिचतुष्टयी (मर्त्यसौरानुगता)
(२)-मर्त्य-सौराग्निभागः--अव्यक्तानुगतः-अविद्योपेता बुद्धिः—अविद्याबुद्धिः——	
(३)-मर्त्य-सौरसोमभागः-महदनुगतः——अभिनिवेशोपेता बुद्धिः-अभिनिवेशबुद्धिः-	
(४)-मर्त्य-सौरेन्द्रभागः—विज्ञानानुगतः--अस्मितोपेता बुद्धिः---अस्मिताबुद्धिः—	



१—वैराग्यबुद्धिः--तद्विपर्य्ययः—		(२)-आसक्तिबुद्धिः	--अवस्थाष्टकोपेता बुद्धिः--
१—ज्ञानबुद्धिः—	,,	(२)-अविद्याबुद्धिः	
१—धर्म्मबुद्धिः—	,,	(२)-अभिनिवेशबुद्धिः	
१—ऐश्वर्य्यबुद्धिः-	,,	(२)-अस्मिताबुद्धिः	

इति-'बुद्धि'-शब्दनिर्वचनम् (१)



५५-'मनीषा'-शब्दनिर्वचनम् (२)—

मन की इषा (गति) का ही नाम 'मनीषा' है, जो मनीषा अमरकारद्वारा बुद्धितत्त्वसंग्राहक शब्द मान लिया गया है। तात्पर्य्य यही है कि, इन्द्रियों के द्वार से मन बाहिर की ओर गमन किया करता है। इस गमन में-बुद्धितत्त्व अर्करूप से सहायक बनता है। उक्थरूप से एकत्र प्रतिष्ठिता बुद्धि से निकलने वाले अर्करूप प्राण का धर्म्म है 'गति'। मानसतत्त्व संकोचधर्म्मा बनता हुआ जहाँ स्थितिप्रधान है, वहाँ बुद्धितत्त्व अग्निगर्भित

इन्द्रप्रधान बनता हुआ गतिप्रधान है । स्नेहलक्षण सोमात्मक मन विषय से संश्लिष्ट होना (चिपकना) जानता है । तेजोलक्षणा अग्न्यात्मिका इन्द्ररूपा बुद्धि के सहयोग से ही इसमें गतिभाव का उदय होता है । मानसगति वस्तुतः बुद्धिगति है । गतिभावात्मिका बुद्धिरश्मिगर्भिता मानसगति ही 'मनीषा' है, एवं यही 'मनीषा' शब्द का दार्शनिक निर्वचन है ।

बहिर्जगत् में प्रतिष्ठित बाह्य भौतिक विषयों का इन्द्रियों के द्वारा सर्वप्रथम इन्द्रियाध्यक्ष-सर्वेन्द्रिय-प्रज्ञान मन से (संस्काररूप में) सम्बन्ध होता है । ज्ञानजनित भावनासंस्कार, एवं कर्म्मजनित वासनासंस्कार, दोनों वैषयिक संस्कार मनोधरातल पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं । संस्कारावच्छिन्न इस मन का बुद्धि अपने अर्करूप से भोग करती है । तात्पर्य्य-इन्द्रियद्वारा मन पर आए हुए विषयों का बुद्धि से सम्बन्ध होता है । यहाँ आकर संस्कारात्मक मन बुद्धि का अन्न बन जाता है । "अन्नं वा इडः" (ऐ०ब्रा० २।८।) इस सिद्धान्तानुसार अन्न 'इट्' (इष्) कहलाया है । संस्कारावच्छिन्न मन बुद्धि का 'इट्' बना रहता है । यही बुद्धि न कहला कर 'मनीषा' कहलाई है । निर्विषयलक्षणा, स्वस्थाने प्रतिष्ठिता उक्थात्मिका विशुद्धा बुद्धि बुद्धि है । एवं सविषया, अर्करूपेण मनसि प्रतिष्ठिता सोपाधिका बुद्धि 'मनीषा' है । मनको बुद्धि अपना अन्न बना लेती है, यह एक पक्ष है । इस पक्ष में मन बुद्धि का वशवर्त्ती है । अतएव बुद्धिसहकृत ऐसा मन कभी बन्धन का कारण नहीं बनता । यही मन 'विज्ञानवान्' कहलाया है । यही मनोगर्भिता विद्याबुद्धि है, जो सारासारविवेक में समर्थ रहती है । यह कब सम्भव है, जबकि इन्द्रियसंयमपूर्वक मन को विषयासक्ति से सुरक्षित रक्खा जाता है । सांसारिक सुख को ही प्रधान मानने वाले यथाजात मनुष्य इन्द्रियसंयम में असमर्थ रहते हुए विषयासक्त बन जाते हैं । विषयासक्त मन बुद्धि से प्रबल बनता हुआ उसे अपना अन्न बना लेता है । बुद्धि मन के प्रति आत्मसमर्पण कर देती है । ऐसा मन ही अविज्ञानवान् कहलाया है, ऐसी बुद्धि ही अविद्याबुद्धि कहलाई है । इन्द्रियसंयम बुद्धिसापेक्ष है । बुद्धि के आत्मसमर्पण कर देने पर मन प्रबल हो जाता है, इन्द्रियसंयम टूट जाता है । उसी प्रकार इन्द्रियवर्ग उच्छृङ्खल बन जाता है, जैसे बिना सारथि के रथाश्व । यदि मन का बुद्धि के प्रति आत्म-समर्पण है, तो बुद्धिरूप सारथि स्वस्थ है, फलतः इन्द्रियाश्व भी सन्मार्गानुगामीं हैं । शास्त्रज्ञान, शुभसंस्कार, सुसङ्गति, उपासना, आदि के द्वारा जिनकी बुद्धि मन को अन्न बना लेती है, उन्हीं की बुद्धि 'मनीषा' है, वे ही मनीषी हैं, विवेकशील हैं, युक्तात्मा हैं । अज्ञान, कुसंस्कार, कुसङ्ग, नास्तिक्य, आदि के द्वारा जिनका मन बुद्धि को अन्न बना लेता है, वे ही यथाजात-मूढ हैं, विवेकशून्य हैं, अयुक्तात्मा हैं । निम्न लिखित दो मन्त्रों से ऋषि ने इन्हीं दोनों वर्गों का स्वरूपविश्लेषण किया है—

युक्तात्मा-मनीषी—यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥

—कठोप० १।३।६।

अयुक्तात्मा-मूढः—यस्त्वविज्ञानवान् भवति, अयुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥

—कठोप० १।३।५